स्व० माता-पिता

की

पुण्य स्मृति को

प्रीता [illegible]

प्रीता

प्राक्कथन

मानव को पूर्णरूपेण समझने के लिये हमारे पूर्वजों ने शताब्दियों तक चिन्तन, अध्ययन तथा परिश्रम किया है। इसी के फलस्वरूप दर्शन-शास्त्र का जन्म हुआ। दर्शन-शास्त्र का क्षेत्र दिन पर दिन बढ़ता ही गया और बढ़ता जा रहा है, क्योंकि मानव-सम्बन्धी हमारी जिज्ञासाओं का अभी तक समाधान नहीं हो सका है। इस समाधान के प्रयत्न में दर्शन-शास्त्र की छत्रछाया में मनोविज्ञान का भी बहुत प्रारम्भ से ही हाथ रहा है, और अब तो मनोविज्ञान व्यक्ति को भली प्रकार समझने का दावा करने लगा है। इस जड़वादी संसार में मनोविज्ञान ने जो रुख अपनाया है, अर्थात् जिस प्रकार वह व्यक्ति के स्वभाव तथा व्यवहार का अध्ययन कर उसके भविष्य की ओर संकेत करता है उससे कदाचित् प्राचीन भारतीय संस्कृति में पला हुआ व्यक्ति सहमत न होगा। इतना ही नहीं, वरन् थोड़ी देर सोचने के बाद पाश्चात्य विद्वान भी मान लेते हैं कि मनोविज्ञान के निष्कर्ष व्यक्ति की सम्भावनाओं की ओर पूर्णतः संकेत नहीं कर पाते, क्योंकि मानव पर किसी जड़ पदार्थ के सदृश् प्रयोगशाला में कोई ठीक ठीक परीक्षण नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि उसकी मानसिक स्थिति पर पूर्ण नियन्त्रण कठिन ही नहीं; वरन् असम्भव भी है, क्योंकि वह चेतन है। यहाँ दार्शनिक यह भी कह बैठता है कि उसकी सम्भावनायें असीमित हैं। कदाचित् इसी परस्पर झगड़े के कारण इस शताब्दी के प्रारम्भ में ही मनोवैज्ञानिकों ने दार्शनिकों से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और अपने विषय का अध्ययन एकदम स्वतन्त्र कर डाला। वस्तुतः मानव को समझने के लिये केवल मनोविज्ञान का ही अध्ययन पर्याप्त नहीं है। अतः किसी का यह समझना कि मनोविज्ञान के अध्ययन से मानव को पूर्णरूप से समझा जा सकता है नितान्त भ्रम है। परन्तु हाँ, यह सत्य है कि उसे समझने के लिये यह बड़ी ही आवश्यक और प्रथम सीढ़ी है। इसी सीढ़ी को हिन्दी भाषा-भाषी व्यक्तियों के लिये सुलभ करने के लिये इस पुस्तक की रचना की गई है।

दर्शन-शास्त्र से अलग होने पर अपने दृष्टिकोण के अनुसार मनोविज्ञान की दिन पर दिन उन्नति होने लगी। फलतः थोड़े ही दिनों में मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र की दासता से मुक्त हो गया और अब वह विभिन्न उच्च विद्या-केन्द्रों में स्वतन्त्र अध्ययन का विषय होने लगा है। इस विषय में तो पाश्चात्य विश्वविद्यालय बहुत ही बढ़े हुये हैं। अब हमारे देशीय विश्वविद्यालय भी इसी पथ का अनुसरण करने लगे हैं।

यद्यपि मनोविज्ञान के निष्कर्ष व्यक्ति को सम्पूर्णतः समझने में हमारे सहायक नहीं होते, पर उनके सहारे व्यक्ति के बारे में हमें जो कुछ भी पता चलता है उसका भारी महत्त्व है, क्योंकि मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों के आधार पर संचालित शिक्षा से हमें आशातीत सफलता मिली है। यही कारण है कि आज का कोई भी सभ्य राष्ट्र मनोविज्ञान की उपादेयता की उपेक्षा नहीं कर सकता। मनोविज्ञान से केवल बालकों के शिक्षा-क्रम में ही सहायता नहीं मिलती, वरन् अन्य क्षेत्रों में भी इसकी उपादेयता अमान्य नहीं। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्धों में सैनिकों तथा विभिन्न कोटि के अधिकारियों के चुनाव में मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों से कितनी सहायता ली गई है यह किसी शिक्षित व्यक्ति से छिपा नहीं। इन सब कारणों से मनोविज्ञान का अध्ययन किसी भी उन्नतिशील राष्ट्र के शिक्षकों, कर्णधारों एवं नागरिकों के लिये अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

शिक्षा-क्षेत्र में मनोविज्ञान का अध्ययन महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसीलिये तो प्रत्येक शिक्षक के लिये मनोविज्ञान का कुछ न कुछ ज्ञान अपेक्षित है। बालक को किसी प्रकार की शिक्षा देने के पूर्व हमें उसके स्वभाव को भली-भाँति समझ लेना है, अन्यथा हमारा शिक्षा-श्रम उसी प्रकार निष्फल जायगा जैसे, कुम्हार या बढ़ई का कार्य व्यर्थ जाता है जब वह बिना उपकरण को पहचाने ही इच्छित वस्तु बनाने बैठ जाता है। बाल-स्वभाव को समझने में मनोविज्ञान हमारा एक मात्र सहायक है। मनोविज्ञान हमें यह बतलाता है कि "बालक कोरी पटिया नहीं कि उस पर जो चाहा लिख दिया।" वंशानुक्रम के अनुसार बालक कुछ गुणों व अवगुणों अर्थात् सम्भावनाओं को जन्म से ही लेकर आता है। बालक की इन सम्भावनाओं को समझे बिना उसे शिक्षा देने का प्रयत्न करना मानो बिना पेंदी के घड़े में पानी डालना है। बालक की शिक्षा का उत्तरदायित्व अभिभावक और शिक्षक पर ही नहीं, वरन् उसके सम्पर्क में आने वाले सभी सुजान व्यक्तियों पर है। बालक के स्वभाव को अच्छी तरह समझे बिना ही इस उत्तरदायित्व का निभाना असम्भव ही नहीं, प्रत्युत पाप भी है। बाल-स्वभाव का मर्म मनोविज्ञान के अध्ययन बिना अच्छी प्रकार नहीं जाना जा सकता। स्पष्ट है कि मनोविज्ञान का अध्ययन केवल अभिभावक और शिक्षकों के लिये ही नहीं, वरन् अन्य उत्तरदायी व्यक्तियों के लिये भी आवश्यक है। कदाचित् यहाँ पर यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मनोविज्ञान के अध्ययन से केवल बाल व्यापार का ही ज्ञान नहीं होता, वरन् अध्येता को अपनी कुछ गत विषम क्रियाओं, व्यवहार तथा मनःस्थिति का भी बोध हो जाता है। फलतः इस ज्ञान के आधार पर वह अपने "आत्म" के समझने के पहले सोपान की ओर भी अग्रसर हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से मनोविज्ञान के अध्ययन की महत्ता स्पष्ट है। पाश्चात्य देशों में तो इसका पर्याप्त प्रचार हो चला है। प्रायः सभी पाश्चात्य बड़े

नगरों में मनोवैज्ञानिक परीक्षण-शालायें खुल गई हैं जहाँ भावना-ग्रन्थियों से भाजित व्यक्तियों के उपचार का आयोजन रहता है। फलतः मनोविज्ञान का क्षेत्र; बहुत ही विस्तृत हो चला है और इससे वयस्कों की पुनर्शिक्षा में पर्याप्त सहायता मिलती है। हमारा देश तो इस क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है। परन्तु हर्ष है कि स्वराज्य-प्राप्ति के फलस्वरूप हमारी राष्ट्रीय व प्रदेशीय सरकारें तथा देश के विश्वविद्यालय अब मनोविज्ञान के अध्ययनार्थ आवश्यक आयोजन करके के लिये प्रयत्नशील हैं।

मनोविज्ञान की परीधि अब बहुत बढ़ गयी है फलतः इसके कई अंग कर दिये गये हैं। इन विभिन्न अंगों का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक व सम्भव नहीं। प्रस्तुत पुस्तक में केवल आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान (जनरल साइकॉलॉजी) के आधार पर शिक्षा मनोविज्ञान की एक संक्षिप्त रूपरेखा खींचने की चेष्टा की गई है। इसीलिए इसका नामकरण 'मनोविज्ञान व शिक्षा" किया गया है। मनोविज्ञान के विद्यार्थियों के दृष्टिकोण के साथ साथ इसमें शिक्षा-शास्त्रियों, शिक्षकों तथा अभिभावकों, के दृष्टिकोणों का भी यथा-सम्भव आदर करने का प्रयत्न किया गया है। अतः आशा है पुस्तक सभी वर्ग के अध्येता के लिये उपादेय होगी।

अब यह निश्चित हो चुका है कि देश के हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों के विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम हिन्दी होगा तथा अन्य प्रदेशों के विश्व-विद्यालयों में भी हिन्दी को एक प्रमुख स्थान मिलेगा। फलतः हिन्दी में शास्त्रीय ढंग पर लिखी गई विभिन्न विषयों की पुस्तकों की माँग है। अतः अब हमें हिन्दी का वाङ्मय सभी दृष्टिकोणों से पूर्ण करना है जिससे दीक्षा (डिग्री) कक्षाओं के लिये उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें सुलभ हो सकें। इस उद्देश्य की आंशिक पूर्ति के लिए भी इस पुस्तक की रचना की गयी है।

इस पुस्तक में पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों व मान्य विद्वानों की उक्तियों एवं मतों को स्थान देते हुये लेखक ने अपनी अनुभूतियों और अन्वेषणों का भी यथास्थान उल्लेख किया है। ऐसे ही स्थलों पर वह कुछ मौलिकता का अधिकारी है। लेखक का यह प्रयत्न रहा है कि पुस्तक अपने क्षेत्र में सभी दृष्टिकोण से शास्त्रीय होकर विशेषकर एम० एड० तथा एम० ए० (मनोविज्ञान और दर्शन-शास्त्र) के छात्रों के लिए सहायक हो। दूसरे अध्याय के लिखने में तो केवल उन्हीं की आवश्यकता पर ध्यान रक्खा गया है। अतः साधारण पाठक उसे सबसे अन्त में पढ़ने के लिए स्थगित कर सकते हैं। पुस्तक के अन्य अध्याय बी० एड०, बी० टी० तथा एल० टी० के विद्यार्थियों तथा अन्य पाठकों के लिये भी सहायक होंगे।

विभिन्न अध्यायों में विषय का अनुशीलन व स्पष्टीकरण किस प्रकार किया गया है इस पर संकेत करना पाठक की अध्ययन-शक्ति और क्षमता पर आक्षेप करना होगा। ऊपर यह कहा जा चुका है कि यह पुस्तक मनोविज्ञान के विद्यार्थियों, शिक्षा-शास्त्रियों, अध्यापकों तथा अभिभावकों के लिए लिखी गई है। अतः इस पुस्तक सम्बन्धी प्रत्येक के विशिष्ट क्षेत्र की ओर संकेत करना आवश्यक जान पड़ता है। परन्तु प्रथम तीन श्रेणी के पाठकों के लिये तो ऐसा संकेत आवश्यक नहीं, क्योंकि बालक के विकास-क्रम और शिक्षा-सिद्धान्त को समझने के लिए उन्हें पूरी ही पुस्तक पढ़ने को कहा जा सकता है। परन्तु अभिभावकों के लिए अध्याय ३-१०, १४ और २४ विशेष उपयोगी हो सकते हैं।

लेखक अपने उपर्युक्त उद्देश्यों में कहाँ तक सफल हुआ है यह तो पाठक ही जानें; पर यदि इससे किसी को इस क्षेत्र में आगे कार्य करने अथवा जानने की प्रेरणा मिल सकी तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

पुस्तक के प्रथम दो अध्याय लेखक "की नियो-हार्मिक फ़ाउण्डेशन आव् एडुकेशन" नामक एम० एड० के डिज़र्टेशन के पहले और तीसरे अध्यायों के आधार पर लिखे गये हैं। इसकी स्वतन्त्रता पाने के लिये लेखक 'इलाहाबाद विश्व-विद्यालय' के वाइसचान्सलर का आभारी है।

पाण्डुलिपि के दोहराने का कठिन कार्य लेखक के मित्र श्री प्यारे लाल रावत, एम० ए०, एल० टी० ने किया है। रावत जी को केवल धन्यवाद देकर उनसे उऋण होना सम्भव नहीं। अतः इस विषय में लेखक मूक ही रहना चाहता है।

पारिभाषिक शब्दों की सूची के क्रम को वर्णानुसार-संशोधन में श्री शिव प्रसाद सिंह एम० एस्सी० ने बड़ी सहायता की है। लेखक इनका बड़ा अनुगृहीत है। अनुक्रमणिका के वर्णानुसार-क्रम को सुधारने में सर्वश्री रमेश पाण्डेय, भगवान सिंह भदौरिया, भूप सिंह, नरेन्द्र सिंह, जगरूप सहाय जैन, साहसकरन महेश्वरी, निर्भय स्वरूप वर्मा, रघुवीर सिंह चौहान, रामनाथ सिंह, हर प्रसाद गुप्त और भगवान सिंह बुन्देल से बड़ी सहायता मिली है। इनके प्रति लेखक आभारी है।

पुस्तक के इस रूप में प्रकाशन और छपाई में सहयोग के लिए प्रकाशक, मुद्रक तथा प्रेस के और अध्यक्ष को लेखक हृदय से धन्यवाद देता है।

सरयू प्रसाद चौबे

मार्च १, १९५३।
बलवन्त राजपूत कॉलेज ऑव् एडुकेशन,
आगरा।

अध्याय १

शिक्षा का मनोविज्ञान से सम्बन्ध १–२५

शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार की आवश्यकता

अध्याय २

कुछ मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय और शिक्षा २६–८४

अध्याय ३

विकास का रूप ८५–१०६

अध्याय ४

वंशानुक्रम और वातावरण १०७-१२६

अध्याय ५

मूलप्रवृत्तियाँ और शिक्षा १२७-१५५

अध्याय ६

कुछ मूलप्रवृत्तियाँ १५६–१७९

अध्याय ७

कुछ सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ १८०–२३८

अध्याय ८

संवेग २३६—२५१

अध्याय ६

स्थायीभाव और भावना-ग्रन्थियाँ २५२—२७३

अध्याय १०

संकल्प-शक्ति और चरित्र २७४—२६१

अध्याय ११

10

समूह मनोविज्ञान २६२—३०३

अध्याय १२

वैयक्तिक भेद और शिक्षा में उसकी व्यवस्था ३०४—३१०

अध्याय १३

व्यक्तित्व ३११—३२६

अध्याय १४

अन्तर्द्वन्द ३२७-३४३

अध्याय १५

सीखना ३४४-३६२

अध्याय १६

शिक्षा का स्थानान्तरीकरण ३६३-३७१

अध्याय १७

स्मृति ३७२—३६७

अध्याय १८

अवधान, रुचि और थकान ३९८-४१६

अध्याय १९

कल्पना ४२०-४३१

अध्याय २०

निर्विकल्पक, सविकल्पक और पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान ४३२-४४८

अध्याय २१

चिन्तन, तर्क और भाषा ४४६-४७०

अध्याय २२

बुद्धि और उसकी परीक्षा ४७१-५११

अध्याय २३

ज्ञान, स्वभाव व झुकाव-परीक्षा ५१३-५२९

अध्याय २४

विशिष्ट बालक ५३०–५४१

१

शिक्षा का मनोविज्ञान से सम्बन्ध

१—मनोविज्ञान है क्या ?

'आत्मा', 'मस्तिष्क', 'चेतनता', 'व्यवहार', 'मानव' व 'पशु' व्यवहार का विज्ञान।

यों तो मनोविज्ञान लगभग दो हज़ार वर्षों से एक स्वतन्त्र विषय माना जाता है, परन्तु वस्तुतः यह सदैव दर्शन-शास्त्र का ही सहचर बना रहा। पिछले पचीस वर्षों से मनोवैज्ञानिकों ने कड़ा रुख लिया और मनोविज्ञान को 'विज्ञान' के रूप में ला दिया। यही कारण है कि अब विश्व-विद्यालयों में 'मनोविज्ञान' के भी अलग अलग विभाग खुलने लगे हैं। पहले विज्ञान का सम्बन्ध 'आत्मा' से समझा जाता था। 'आत्मा' के ही विषय में 'अन्वेषण' तथा 'विचार' करना इसका प्रधान ध्येय था। फलतः मनोविज्ञान सम्बन्धी प्राचीन विचारों में हम अध्यात्मवाद का पुट पाते हैं। मनोवैज्ञानिक जब तक अध्यात्मवाद के सहारे लटके रहे तब तक मनोविज्ञान की वैज्ञानिक उन्नति न हो सकी। सोलहवीं शताब्दी तक प्रायः यही दशा रही। तत्पश्चात् 'आत्मा' का स्थान 'मस्तिष्क' ने ले लिया। 'मस्तिष्क' के बारे में पता लगाना मनोविज्ञान का क्षेत्र माना गया। परन्तु 'आत्मा' के सदृश 'मस्तिष्क' की भी ठीक ठीक परिभाषा न की जा सकी। अतः मनोविज्ञान की विशेष उन्नति न हो पाई। यह 'शुद्ध' वैज्ञानिक विषय न हो सका। कुछ विद्वानों ने 'मनोविज्ञान' को 'चेतनता' का विज्ञान माना। परन्तु इस विषय में भी बहुत मतभेद रहा। क्योंकि 'चेतनता' के अतिरिक्त 'अचेतनता' को भी मानसिक जीवन का एक अंग माना गया। इस प्रकार मनोविज्ञान की परिभाषा प्रायः समय समय पर बदलती रही। आजकल की परिभाषा पहले से बहुत भिन्न है। अब मनोविज्ञान को मानव तथा पशु के व्यवहार का विज्ञान माना जाता है। इस प्रकार मनोविज्ञान के अन्तर्गत केवल मानव व्यवहार की ही चर्चा नहीं आती, वरन् 'पशु के व्यवहार' की भी भली भाँति विवेचना की जाती है। पशु के 'व्यवहार' के आधार पर 'मानव व्यवहार' विषयक बहुत सी बातों की पुष्टि होती है। हमारे व्यवहार दो प्रकार के होते हैं—एक स्वाभाविक और

दूसरे 'अर्जित' अथवा 'सीखे हुए'। मनोविज्ञान इन दोनों प्रकार के व्यवहारों पर अपनी दृष्टि डालता है।

२—मनोविज्ञान के भाग—

उपर्युक्त विवेचन से हम मनोविज्ञान के 'विषय' का अनुमान कर सकते हैं। इसके अन्तर्गत 'व्यवहार' विषयक सभी बातों पर विचार किया जाता है। अध्ययन तथा गहन अन्वेषण के आधार पर कुछ सिद्धान्त तथा नियमों को स्वीकृत कर लिया गया है। इन्हीं के आधार पर हम किसी 'व्यवहार' के 'भूत' और 'भविष्य' की सम्भावित बातों का अनुमान लगाते हैं। इन्हीं के सहारे हम किसी 'व्यवहार' के कारण की खोज करते हैं। किसी 'व्यवहार' के कारणों को बतलाना ही मनोविज्ञान का प्रधान विषय है। अपने इस प्रयत्न में मनोवैज्ञानिक विज्ञान की विधियों का आश्रय लेता है। कोरे विचार के आधार पर वह कुछ भी नहीं मानता। उसे प्रत्येक बात के प्रमाण की आवश्यकता है। अतएव मनोविज्ञान को विज्ञान माना गया है।

मनोविज्ञान का 'विषय', व्यवहार विषयक सभी बातें—व्यवहार का कारण बतलाना—कोरे विचार नहीं—प्रमाण आवश्यक।

इसके प्रायः दो भाग किये जाते हैं—'साधारण' (नॉर्मल) और 'असाधारण' (ऐबनॉर्मल)। 'साधारण' मनोविज्ञान में मनुष्य और पशु के सभी व्यवहारों का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। 'असाधारण' मनोविज्ञान में विशेषकर मनुष्य की अस्वस्थ अवस्था का विश्लेषण कर उसके कारणों के समझने का प्रयत्न किया जाता है। साधारण मनोविज्ञान के 'शुद्ध', 'वैयक्तिक', 'सामूहिक', 'सामाजिक', और 'क्रियात्मक' नामक अंग माने गये हैं। 'असाधारण' मनोविज्ञान में भी 'वैयक्तिक' और 'सामूहिक' दो भाग किये जाते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में हमारा प्रयोजन विशेषकर 'क्रियात्मक' मनोविज्ञान से ही रहता है। 'क्रियात्मक' मनोविज्ञान के अन्तर्गत 'शिक्षा', 'व्यावसायिक' और 'धर्म' मनोविज्ञान आते हैं। हमारा क्षेत्र यहाँ विशेषकर शिक्षा-मनोविज्ञान ही तक सीमित है। अतः हम इसी ओर अपनी दृष्टि लगाते हैं।

३—शिक्षा-मनोविज्ञान क्या है ?

शिक्षा-मनोविज्ञान 'मनोविज्ञान' का एक अत्यन्त विस्तृत अङ्ग है। शिक्षा-क्षेत्र में मनोविज्ञान के सभी अङ्गों से सहायता अपेक्षित है। मनुष्य सदा कुछ न कुछ सीखा ही करता है। अतः शिक्षा-मनोविज्ञान 'मनोविज्ञान' के सभी अङ्गों से अधिक उपयोगी सिद्ध हो रहा है। सीखने की कला के विषय में सारी बातों का पता लगाना शिक्षा-मनोविज्ञान का प्रधान कार्य है। यहाँ सीखने के अन्तर्गत अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की आदतें

मनोविज्ञान का विस्तृत अंग, 'सीखने' के बारे में सभी बातों का पता लगाना,

कक्षा तक ही सीमित नहीं, विधि के अर्थ में यह एक विज्ञान।

निहित हैं। सीखने के विषय में 'सिद्धान्त' और नियमों को निर्धारित करना शिक्षा-मनोविज्ञान के आगे सबसे बड़ी समस्या है। शिक्षा-मनोविज्ञान का कार्य केवल पाठशाला की कक्षा तक ही सीमित नहीं है। प्रत्येक परिस्थिति में मनुष्य के सीखने के लिये वातावरण उपस्थित रहता है। शिक्षा-मनोविज्ञान को मनुष्य की सभी सम्भावित परिस्थितियों को अपनी सीमा में लेना होगा। केवल छोटे छोटे बालक ही नहीं सीखते, अपितु युवा अथवा वृद्ध जन भी कुछ परिस्थितियों में सीखते ही रहते हैं। इसका भी शिक्षा-मनोवैज्ञानिक को ध्यान रखना चाहिये। जहाँ तक विधि का सम्बन्ध है शिक्षा-मनोविज्ञान एक विज्ञान है, क्योंकि इसमें सभी कार्य कठिन निरीक्षण, गहन विचार तथा वास्तविक प्रमाण के आधार पर किये जाते हैं और इसके सभी नियम और सिद्धान्त एक क्रम में बद्ध कर दिये जाते हैं। हाँ, यह सत्य है कि शिक्षा-मनोविज्ञान गणित अथवा खगोलविद्या के सदृश् शुद्ध विज्ञान नहीं है, क्योंकि मनुष्य तो परिवर्तनशील है। उसकी मानसिक क्रियाएँ किसी भी प्रयोगशाला में पूर्णतः नियन्त्रित नहीं की जा सकतीं। वातावरण में भिन्नता और परिवर्तन आते रहने के कारण भी इसके शुद्ध विज्ञान होने में अड़चन पड़ती है। तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इसकी विधि और कार्य-प्रणाली विज्ञान जैसी है। परन्तु विज्ञान की वास्तविक एकता तो उसकी विधि में है, न कि उसके संचित ज्ञान में। विज्ञान की विधि क्या है? वैज्ञानिक पहले तत्व को इकट्ठा करता है, तत्पश्चात् उसका वर्गीकरण करके एक ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचना चाहता है जो सदा के लिये सत्य हो। मनोवैज्ञानिक की भी विधि यही है। यह सत्य है कि गणित तथा भौतिक शास्त्र के सदृश् मनोविज्ञान में निश्चित ज्ञान का अभाव है। परन्तु मनोवैज्ञानिक भी विज्ञान की सभी विधियों की अपनी प्रयोगशाला में सहायता लेता है। यही कारण है कि शिक्षा-मनोविज्ञान को विज्ञान मानने में हमें आपत्ति नहीं।

बहुत से विषयों से सहायता, जीव-विद्या, शरीर-विद्या और समाज-शास्त्र, परिगणन-विद्या, विभिन्न सिद्धान्तों का निरूपण, शिक्षा सम्बन्धी सभी समस्याओं पर विचार।

मनुष्य बड़ा व्यापक प्राणी है। इसलिये शिक्षा-मनोविज्ञान को बहुत-से विषयों से सहायता मिलती है। बालक और बालिकाओं की शिक्षा से जीव-विद्या शरीर-विद्या तथा समाज-शास्त्र की खोजों का घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। उनके 'सीखने' की बहुत सी समस्याओं पर ये प्रकाश डालते हैं। परिगणन-विद्या (स्टैटिस्टिक्स) से भी शिक्षा सम्बन्धी कुछ नियमों के निर्धारण में बहुत सहायता मिली है। इस प्रकार शिक्षा-मनोविज्ञान का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। इसकी सीमा बड़ी विस्तृत है। शिक्षा-क्षेत्र के सभी अङ्गों पर इसका प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। मानसिक विकास के सिद्धान्तों का निरूपण, सीखने का साधारण रूप, मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक प्रकार,

मार्ग-प्रदर्शन-विधि, नाप, अध्यापन का मनोविज्ञान, मानसिक योग्यता तथा वैयक्तिक भिन्नता और शिक्षा की विभिन्न समस्याओं पर विचार कर उनका समाधान निकालना शिक्षा-मनोविज्ञान के क्षेत्र के अन्दर आता है।

शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार की आवश्यकता

४—शिक्षा में मनोविज्ञान की अवहेलना—

पूर्व स्थिति—शिक्षा में मनोविज्ञान की अवहेलना, सुन्दर शब्दावली सब कुछ, वैयक्तिक भिन्नता का ज्ञान नहीं, मस्तिष्क विषयक भ्रमात्मक ज्ञान, रटना और दोहराना सर्वोत्तम साधन।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार की आवश्यकता पर दृष्टिपात करना असङ्गत न होगा। पहले शिक्षा में मनोविज्ञान को विशेष महत्व नहीं दिया जाता था। बाल मनोविज्ञान से अध्यापक बिलकुल अपरिचित रहते थे। कक्षा का पाठ्य-क्रम बड़ा अमनोवैज्ञानिक होता था। अध्यापकों का विश्वास था कि सुन्दर शब्दावली में वस्तु को व्यक्त कर देने से ही बालक अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। सभी बालक समान योग्यता के समझे जाते थे। असामान्य बालकों के लिये कुछ अलग शिक्षा की व्यवस्था नहीं की जाती थी। 'सभी धान बाईस पसेरी' वाली कहावत पूर्णतः चरितार्थ होती थी। यदि कोई अध्यापक किसी मन्द-बुद्धि विद्यार्थी की योग्यता अथवा आवश्यकतानुसार शिक्षा की व्यवस्था करता तो यह उसकी अयोग्यता का चिह्न माना जाता था। अध्यापक का एकमात्र उद्देश्य विद्यार्थी को परीक्षा में उत्तीर्ण होने योग्य बनाना था। 'परीक्षा-समिति' अथवा 'शिक्षा-विभाग' द्वारा निर्धारित नियम ही उसके लिये ब्रह्म-वाक्य था। वातावरण को वे सदा के लिये स्थायी समझते थे। उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की वे अपेक्षा न करते थे। मस्तिष्क विभिन्न शक्तियों का एक समूह माना जाता था। शिक्षा का अभिप्राय इन शक्तियों के विकास से था। निरीक्षण का एकमात्र उद्देश्य ज्ञानेन्द्रियों को विकसित करना था। स्मरण-शक्ति की वृद्धि के लिये 'रटना' और 'दोहराना' सर्वोत्तम साधन माना जाता था। विवेक 'शक्ति' की प्रौढ़ता के लिये कठिन से कठिन प्रश्नों का बालकों को अभ्यास कराया जाता था।

५—आधुनिक स्थिति—

मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों के कारण स्थिति में महान्

मनोविज्ञान के क्षेत्र में कुछ नये अन्वेषणों के कारण अब स्थिति एकदम बदल गई है। शिक्षा के प्राचीन सिद्धान्त या तो आवश्यकतानुसार परिवर्द्धित कर लिये गये हैं या पूर्णतः अस्वीकृत कर दिये गये हैं। फलतः अध्यापक के सामने अब नई नई विधियाँ आने लगी हैं, उसके शुष्क कार्य में अब जीवन आ गया है। अब सारा काम वैज्ञानिक होता जा रहा है। अध्यापक के कर्त्तव्य और उत्तर

परिवर्तन, अध्यापक को बालकों के वातावरण से परिचित होना, समाज-हित का ध्यान रखना, वैयक्तिक भिन्नता के आधार पर शिक्षा का पुनर्सङ्गठन, बालक सम्बन्धी सारी बातें निर्णयात्मक न होकर सांकेतिक।

दायित्व में अब पहले से बहुत परिवर्तन हो चला है। अब उसे अपने को बालकों के वैयक्तिक और सामाजिक आदि वातावरण से परिचित करना है। अध्यापक को अब यह जानना है कि वे किस कुटुम्ब से आये हैं। उन्हें यह जानना है कि उनके रहने का वातावरण कैसा है। जिस समाज और देश से बालक आता है उसके भी हित का अध्यापक को भली भाँति ध्यान रखना है। अब यह चारों ओर ध्वनि सुनाई पड़ती है कि वैयक्तिक भिन्नता के आधार पर शिक्षा का पुनर्सङ्गठन करना परमावश्यक है। सभी एक धातु के नहीं बने होते। कोई तीव्र है तो कोई मन्द, कोई कुशाग्र-बुद्धि है तो कोई मन्द-बुद्धि। जब तक परिगणन-विद्या और मनोविज्ञान की कसौटी पर बालकों की योग्यता और सम्भावनाओं की परीक्षा नहीं हो जाती तब तक उनके विषय में कुछ निश्चित निर्णय देना शिक्षा के न्यायालय में अक्षम्य अपराध माना जाता है। अब लोग एक स्वर से स्वीकार करने लगे हैं कि मानव परिवर्तनशील है। अतः बालक विषयक सारी बातें निर्णयात्मक न होकर सांकेतिक होनी चाहियें। बालक सम्बन्धी सभी बुराइयों के कारण को समझने की अध्यापक में पूर्ण योग्यता होनी चाहिये। उन्हें दूर करने के उपायों से भी उसे परिचित होना आवश्यक है। 'सीखने के सिद्धान्त' को ही अध्यापक को अपना प्रधान मार्ग-प्रदर्शक समझना चाहिये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अध्यापक को शरीर-विद्या, समाज-शास्त्र तथा मनोविज्ञान का कुछ न कुछ ज्ञान होना आवश्यक है।

८—बड़े बड़े शिक्षकों के अनुसार भी शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार आवश्यक—

प्लैटो—मानव-स्वभाव का ज्ञान आवश्यक; रूसो—बालकों का निरीक्षण; पेस्तालॉज़ी—बाल-मन का ज्ञान, सर्वांगीण विकास; हरबार्ट; फ्रौबेल—स्वाभाविक मानव-प्रवृत्तियों का ज्ञान; मॉन्टेसरी प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक।

पूर्व काल के शिक्षा-विशेषज्ञ भी शिक्षा और मनोविज्ञान के परस्पर सम्बन्ध को अच्छी प्रकार समझते थे। प्लैटो के अनुसार शिक्षा का अभिप्राय स्त्री व पुरुष के चरित्र का उचित निर्माण करना है। उसका विश्वास था कि यह तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कि शिक्षक मानव-स्वभाव से भली भाँति परिचित न हो। अपनी 'रिपब्लिक' नामक पुस्तक में वह मानव स्वभाव का वैज्ञानिक विश्लेषण करता है और शिक्षा के उद्देश्य का उल्लेख करता है। उसका कहना है कि शिक्षक को विषय-ज्ञान के साथ ही साथ विद्यार्थी के स्वभाव का ज्ञान भी आवश्यक है। अपने समय की शिक्षा में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की अवहेलना रूसो को बड़ी खटकती थी। वह कहता है, "मैं चाहता हूँ कि कोई विचारशील पुरुष बालकों के निरीक्षण की कला पर-

एक पुस्तक लिखता। यह कला हम लोगों के लिये अत्यन्त उपयोगी होता। इसके विषय में अभी स्कूल और बच्चों के पिता कुछ भी नहीं जानते।"* पेस्तालॉज़ी के अनुसार शिक्षा का अभिप्राय बालक के सर्वांगीण उन्नति से था। इस उद्देश्य में सफलता के लिये शिक्षक को बालक के मस्तिष्क का अच्छा ज्ञान आवश्यक है। उसकी आवश्यकता, इच्छा तथा योग्यता से उसे भली भाँति परिचित होना चाहिये। शिक्षक को यह जानना चाहिये कि बालक अमुक परिस्थिति में कैसा व्यवहार करेगा तथा क्या करना उसका साधारण स्वभाव है। हरबार्ट अपने समय की शिक्षा-प्रणाली को दोषपूर्ण समझता था, क्योंकि उसका आधार मनोवैज्ञानिक न था। उसका पक्का विश्वास था कि शिक्षा-सिद्धान्त का आधार मनोविज्ञान ही हो सकता है। अतएव शिक्षा सम्बन्धी उसके सभी कार्य मनोविज्ञान पर आधारित दिखलाई पड़ते हैं। फ्रोबेल ने समझा कि शिक्षक को मनुष्य को स्वाभाविक प्रवृत्तियों का ठीक ठीक ज्ञान होना आवश्यक है। उसका पक्का विश्वास था कि यदि पढ़ाते समय इन प्रवृत्तियों को प्रेरित करने का प्रयत्न किया जाय तो बालक के लिये शिक्षा एक मनोरंजन हो जायगी। फ्रोबेल का कहना है कि "जीवन की प्रत्येक अवस्था किसी भविष्य की ओर संकेत नहीं करती। उसका उद्देश्य उसी में सीमित रहता है। बच्चा किसी विशिष्ट अवस्था के प्राप्त करने पर ही बालक नहीं कहलाता अथवा युवक युवावस्था प्राप्त करने पर युवक कहलाने का अधिकारी नहीं बनता तथा वृद्ध युवावस्था के ढलने से ही वृद्ध नहीं हो जाता, वरन् अवस्था विशेष के अनुभवों से परिचित होने के नाते ही हमें किसी को बालक, युवक अथवा वृद्ध कहना चाहिये।"† मॉन्तेसरी के समय तक मनोविज्ञान की उन्नति पर्याप्त हो चुकी थी। तब मनोविज्ञान का स्वतन्त्र अस्तित्व प्रायः सब को मान्य था। मॉन्तेसरी के अनुसार शिक्षक को अपने कार्य के सफल सम्पादन के लिये प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक है। मॉन्तेसरी-शिक्षा-प्रणाली मनोविज्ञान के ज्ञान बिना चलाई ही नहीं जा सकती। मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि की सहायता से शिक्षक उचित अवसर पर बालक के कार्य में हस्तक्षेप कर सकेगा और इस प्रकार उसकी शिक्षा मनोवैज्ञानिक ढङ्ग पर चलने लगेगी।

७—शिक्षा का नया अर्थ—

पहले शिक्षा का तात्पर्य मस्तिष्क को ज्ञान से भरना था। अब यह अभिप्राय नहीं रह गया। अनिश्चित भविष्य की ओर अब बहुत कम ध्यान दिया जाता है। बालक के जीवन को भारपूर्ण नहीं बनाना है। उसे युवक और वृद्ध के कर्त्तव्यों में शिक्षा नहीं देनी है। अब सब लोग यह बात अच्छी प्रकार समझने लगे हैं कि बालकों से अधिक परिश्रम कराने से उन में सदैव के लिये निर्बलता आ जाती है।

अनिश्चित भविष्य की ओर ध्यान नहीं, प्राणी

* एमील, तीसरा अध्याय। † 'एडूकेशन ऑव् मैन'—२२।

का विकास स्वतः, अमनोवैज्ञानिक हस्तक्षेप भयानक, कार्य उत्पादकता और विचार में मौलिकता, अध्यापक कठिन नियम निर्धारक नहीं, वह बालकों का मित्र और मार्ग-प्रदर्शक, बालक अपने को और समाज-हित को पहचान सकें, पूरे व्यक्तित्व का विकास।

जीवन-आनन्द को वे सदा के लिये भूल जाते हैं। उनकी प्रवृत्ति सदा के लिये अस्वस्थ हो जाती है। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन लाना बड़ा कठिन हो जाता है। इस प्रकार अब शिक्षा के उद्देश्य और अर्थ में बहुत परिवर्तन आ गया है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप अब लोग समझने लगे हैं कि प्राणी का विकास स्वतः होता है और उसमें अमनोवैज्ञानिक हस्तक्षेप भयानक होता है। शिक्षा का यही उद्देश्य है कि यह विकास निरन्तर एक रस से उन्नतिशील रहे। इसके लिये बालकों को परिश्रमी और अध्यवसायी बनाना है। यह देखना है कि उनमें मानसिक आलस्य न आने पाये। उन्हें स्वतन्त्र विचार के लिये उत्साहित करना है जिससे वे समाज-हित में योग दे सकें। उनके कार्य में उत्पादकता लानी है और विचार में मौलिकता। यदि शिक्षा के इन उद्देश्यों की पूर्ति करनी है तो बालकों के स्वाभाविक विकास में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करना है। उन्हें कुछ कार्यों में पूर्णतः स्वतन्त्र छोड़ देना है। अध्यापक को कठिन नियम-निर्धारक नहीं होना है। उसे तो बालकों का मित्र और मार्ग-प्रदर्शक होना है। बालकों के सामने ऐसी समस्याएँ उपस्थित करनी हैं जिन्हें हल करने के हेतु वे हर समय क्रियाशील रह सकें, जिनसे वे अपने को पहचान सकें और समाज-हित को भली भाँति समझ सकें। शिक्षा बालकों को इतना समर्थ बना दे कि वे अपनी समस्याओं का हल स्वयं निकाल लें, अपने कार्यक्रम को पूरा कर लें और अपनी नीति निर्धारित करने का उनमें आत्म-विश्वास आ जाये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिक्षा से पूर्ण व्यक्तित्व का विकास होना चाहिये। अतः स्कूलों में शिक्षा का रूप इतना विस्तृत हो कि प्रत्येक बालक के व्यक्तित्व का विकास सरलता से हो सके। हमारा उद्देश्य उन्हें केवल भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल आदि पढ़ा देना ही नहीं है, वरन् स्कूल में शिक्षा का ऐसा वातावरण उपस्थित करना है कि बालक का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक विकास अविरल गति से चलता रहे। शिक्षा के इस नये अभिप्राय के कार्यान्वित करने में बहुत से परिवर्तन आवश्यक होंगे। ये परिवर्तन ऐसी समस्याएँ उपस्थित करेंगे जिनका समाधान मनोविज्ञान की सहायता बिना नहीं हो सकता। अतः शिक्षा का आधार मनोवैज्ञानिक होना नितान्त आवश्यक है।

८—बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ और शिक्षा में उनका महत्व—

यदि हम बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर दृष्टिपात करें तो शिक्षा में मनोविज्ञान का महत्व अधिक स्पष्ट हो जायगा। शैशव में बालक की क्रियाएँ बहुत सीमित होती हैं। उसके व्यवहार-

प्रायः मूलप्रवृत्तियों के आधार पर ही होते हैं। सबसे पहले वह 'भूख' से ही अभिप्रेरित होता है। ज्यों ज्यों वह बढ़ता है त्यों त्यों उसके व्यवहार में गूढ़ता आती जाती है। उसकी बड़ी बड़ी योग्यताएं विभिन्न प्रकार से अपने रूप दिखलाती हैं। विशेषकर यहीं से शिक्षक का कर्त्तव्य प्रारम्भ होता है। यह कहा जाता है कि "बालक प्रथम दो या तीन वर्षों में अपने जीवन की किसी भी अवस्था से अधिक सीखता है।" शिक्षक भले ही इस बात को न पहचान सके, परन्तु इसकी सर्वथा अवहेलना करना विकास के क्षेत्र में घातक सिद्ध होगा। सात वर्ष का हो जाने पर बालक 'खेल' और 'कार्य' के अन्तर को समझने लगता है। अब वह अपनी रुचि समझने लगता है, और दूसरों की रुचियों से अपनी रुचि की तुलना करने लगता है। इसमें अपने 'ध्यान' को एकाग्र करने की कुछ शक्ति आ जाती है। स्मरण-शक्ति का अभी यथेष्ट विकास नहीं हुआ रहता, परन्तु अब अपने अनुभवों की छाप उसे पहले से अधिक काल तक स्मरण रहती है। उसके विचारों की उड़ान भी धीरे धीरे इसी समय से प्रारम्भ हो जाती है। जगत की मानसिक जील में वह तल्लीन हो जाता है। यदि स्वास्थ्य अच्छा रहा तो आठ या नव वर्ष के होने पर उसमें कुछ आत्म-नियन्त्रण आने लगता है। अब वह बड़ों की आज्ञा का पालन करना प्रारम्भ कर देता है। आज्ञा-पालन में अपने विवेक से कुछ काम लेने की उसमें कुछ शक्ति आ जाती है। पहले के सदृश् वह आज्ञा का तर्कहीन पालन नहीं करता। बड़ों के व्यवहार को वह आदर्श मानने लगता है और उसी के अनुसार अपने को ढालने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार उसका नैतिक विकास बड़ों के अनुकरण करने तक ही सीमित रहता है। अपनी आचार-नीति का निर्धारण वह अपने विवेक से नहीं करता। इस विषय में किसी व्यक्ति के प्रति उसकी भक्ति ही उसका मार्ग-प्रदर्शक होती है। यदि शिक्षक विभिन्न अवस्थाओं की इन छोटी छोटी बातों को नहीं समझता तो वह अपना उत्तरदायित्व नहीं निभा सकता। इन अवस्थाओं से सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से जब तक शिक्षक अपने को परिचित नहीं कर लेता तब तक वह अपने कर्त्तव्य को अच्छी प्रकार समझ ही नहीं सकता।

शैशव में उनके व्यवहार स्वाभाविक प्रवृत्तियों के आधार पर, सात वर्ष के होने पर अपनी रुचि को समझना, आठ या नव वर्ष में आत्म-नियन्त्रण, बड़ों का व्यवहार उसके लिये आदर्श रूप, आचार-नीति का निर्धारण अपने विवेक द्वारा नहीं।

ग्यारह और चौदह वर्ष की अवस्था के भीतर मानसिक विकास में 'रूप' और 'संकेत' का विशेष हाथ होता है। किशोरावस्था में बालक या बालिका को अपने भविष्य के सम्बन्ध में अधिक ध्यान रहता है। वर्तमान उसके लिये एक प्रकार से पीछे रहता है। हर समय उसे अपने भविष्य की ही चिन्ता रहती है। उसका मस्तिष्क आशा, स्वप्न, इच्छा तथा आकांक्षा आदि से आक्रान्त रहता है। वह अपने भावी व्यवसाय अथवा

किशोरावस्था में वर्तमान की अपेक्षा भविष्य का अधिक ध्यान, भावनाओं

का पुनर्संङ्गठन, आन्तरिक माँग और वाह्य-स्थिति में द्वन्द, स्वतन्त्रता की इच्छा, आत्मनिर्भरता का भाव, व्यक्तित्व स्थापित करने के लिये व्याकुल, किशोरावस्था में विषम परिस्थितियाँ, अतः इस काल में क्रियाशीलता पर अधिक बल, उच्च भावनाओं का संचार, बौद्धिक, सौन्दर्य तथा प्रेम-भावना के विकास की नींव।

जीवन-वृत्ति के सम्बन्ध में चिन्तित-सा दिखलाई पड़ता है। सामाजिक चेतना के विकास से आचार व व्यवहार के नैतिक मूल्य को भी वह समझने लगता है। इस समय उसकी भावनाओं का पुनर्संङ्गठन प्रारम्भ हो जाता है। इस पुनर्संङ्गठन में हमें उसकी शारीरिक व मानसिक शक्ति का आभास मिल सकता है। उसकी आन्तरिक माँग और वाह्य वस्तु-स्थिति में घोर द्वन्द चलता है। वह स्वतन्त्रता का इच्छुक हो जाता है। अपने संरक्षक से पूर्णतः अलग सा होना चाहता है। कभी वह परदेश भाग जाना चाहता है। कभी वह सोचता है कि अपने अभिभावक से एक पैसा भी न लूँ और स्वयं कमाऊँ। अपने विचारों पर उसे आत्म-विश्वास की अनुभूति होती है। किसी की आलोचना से उसे भारी चिढ़ हो जाती है। वह अपना व्यक्तित्व स्थापित करने के लिये व्याकुल हो जाता है। अपने से छोटों को वह डाँटना प्रारम्भ कर देता है और चाहता है कि वे उसकी आज्ञाओं का पालन करें। उसमें एक ऐंठ आ जाती है। इस ऐंठ में वह कभी अपने से बड़ों की आज्ञाओं का उल्लंघन भी कर बैठता है। इसी अवस्था में उसमें स्त्री-पुरुष सम्बन्धी बातों को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि किशोरावस्था में व्यक्ति चारों ओर से विषम परिस्थितियों से घिरा रहता है। इन विषम परिस्थितियों से निकाल कर उसे उचित मार्ग प्रदर्शित करना शिक्षक का कर्त्तव्य है। यदि बालक किशोरावस्था में सँभल गया तो पौ बारह, यदि नहीं तो उसकी जीवन-नौका किनारे शीघ्र नहीं लगेगी। शिक्षक का कार्य यहाँ अत्यन्त दुष्कर है। यहाँ शिक्षक को मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से बड़ी सहायता मिलेगी। मनोविज्ञान के अनुसार किशोरावस्था में शिक्षा का तात्पर्य विभिन्न प्रकार का ज्ञान ही नहीं देना है, वरन् बालक को क्रियाशील भी बनाना है, जिससे उसे अपनी अन्तर्हित भावनाओं और विचारों को व्यक्त करने का पूर्ण अवसर मिल सके। कभी कभी उसे ऐसे कार्य में लगा देना चाहिये जिससे उसके शारीरिक अथवा मानसिक शक्तियों का यथाशक्ति उपयोग हो सके। ऐसे ही समय में भाँति भाँति के खेल और व्यायाम उसे कराये जा सकते हैं। प्रयोगशाला में प्रयोग करने में पर्याप्त समय देना मानसिक द्वन्द और व्यतिरेक को रोकने का अच्छा साधन होगा। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार किशोरावस्था में ही बालक में सदा के लिये उच्च भावनाओं का सञ्चार किया जा सकता है। उसके बौद्धिक, सौन्दर्य तथा प्रेम-भावना के विकास की नींव इस समय बड़ी दृढ़ डाली जा सकती है। मनोविज्ञान कहता है कि अन्तःप्रेरणा की प्रवृत्ति क्रियाशीलता से और अतिरञ्जित आकांक्षा की प्रवृत्ति गम्भीर अध्ययन से रोकनी चाहिये। कहना न

होगा कि मनोवैज्ञानिक आधार के बिना शिक्षा-भवन की नींव बालू पर खड़ी की हुई दीवाल के समान होगी।

९—मनोविज्ञान शिक्षक के लिये क्या कर सकता है ?

मनोविज्ञान के सम्बन्ध में कुछ लोगों के विचार भ्रमात्मक हैं। शिक्षा में इसके रूप और महत्व को वे नहीं समझ सके हैं। इसके रूप और महत्व को ठीक ठीक समझना सरल नहीं। तथापि इसके क्षेत्र की ओर हम संकेत कर सकते हैं और यह समझ सकते हैं कि शिक्षा में वह किस प्रकार सहायक है। शिक्षा-मनोविज्ञान का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। 'घर' और 'समाज' दोनों के सम्बन्ध में इसमें चर्चा रहती है। इसकी सीमा के अन्तर्गत विद्यार्थी, उसकी मानसिक योग्यता, व्यक्तित्व-निर्माण, सीखने, विभिन्न विषयों का अध्यापन तथा शिक्षक और विद्यार्थियों से सम्बन्धित सारी बातों का उल्लेख रहता है। शिक्षा-मनोविज्ञान की सहायता से कुशाग्र, मन्द, दोषयुक्त तथा अच्छे सभी प्रकार के बालकों की समस्याओं का वैज्ञानिक हल हमें मिलता है। इस की सहायता से शिक्षक अपने विद्यार्थी के बारे में सारी बातों का पता लगा सकता है। इससे वह जान सकता है कि उसे कब 'क्या' और 'कैसे' पढ़ाना चाहिये। मनोविज्ञान की सहायता से वह समझ सकता है कि व्यक्तित्व-निर्माण किस प्रकार करना चाहिये। मनोविज्ञान के ज्ञान से शिक्षक बालकों को उत्साहित कर सकता है, उनकी रुचि के स्थायित्व में उचित योग दे सकता है और पाठन-विधि को उत्तम बना सकता है।

शिक्षा-मनोविज्ञान का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत—घर, समाज, मानसिक-विकास, व्यक्तित्व-निर्माण ··· बालकों की समस्याओं का हल; 'कब', 'क्या' और 'कैसे' पढ़ाना, रुचि के स्थायित्व में योग, पाठन-विधि का उत्तम बनाना।

शिक्षा-मनोविज्ञान 'अचेतनता' पर भी कुछ दृष्टि डालता है, परन्तु इसके क्षेत्र में इसे विशेष रुचि नहीं। अन्तर्लोकित और दार्शनिक प्रमाण से यह विशेष सहमत नहीं। विशेषकर शिक्षक और विद्यार्थी की सम्भावित समस्याओं पर विचार करना ही इसका प्रयोजन है। माता-पिता तथा पुत्र सम्बन्धी बातों पर भी शिक्षा-मनोविज्ञान में चर्चा रहती है। इस प्रकार शिक्षक शिक्षा-मनोविज्ञान के प्रति उदासीन रह ही नहीं सकता।

अचेतनता पर दृष्टिपात, अन्तर्लोकित और दार्शनिक प्रमाण से असहमत, शिक्षक और विद्यार्थी की सम्भावित समस्याएँ।

१०—मनोविज्ञान की देन—

यदि हम मनोविज्ञान की 'देन' पर दृष्टिपात करें तो शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार की आवश्यकता हमें और अधिक स्पष्ट हो जायगी। मनोविज्ञान की सहायता से हमें अधोलिखित बातों का ज्ञान होता है :—

१—बालकों की वैयक्तिक भिन्नता।
२—स्कूल-जीवन के सभी क्षेत्र में बालकों की भावनाओं का महत्त्व।
३—विभिन्न अवस्थाओं में बालकों की आवश्यकताएँ, इन आवश्यकताओं के ज्ञान का महत्त्व, सभी प्रकार के बालकों की मानसिक स्थितियाँ।
४—बुद्धि का रूप। बुद्धि-परीक्षा से स्कूल समस्याओं का हल कैसे निकाला जा सकता है?
५—बालकों की विशेष योग्यताओं का रूप और महत्व।
६—मन्द बालकों की समस्याएँ।
७—'विद्या-परीक्षा' के सिद्धान्त।
८—बालकों के दोषों का पता लगाने के लिये प्रश्नों का चुनाव।
९—पाठन-सिद्धान्त और उसका उपयोग।
१०—परीक्षा-विधि।
११—कुशाग्र तथा मन्द-बुद्धि बालकों का स्वभाव और उनके लिये शिक्षा-विधि।

११—प्रत्येक बालक का अपना पृथक व्यक्तित्व—

'बालक-अध्ययन-आन्दोलन' (चाइल्ड स्टडी मूवमेण्ट) के कार्य से यह स्पष्ट हो गया है कि प्रत्येक बालक का अपना अलग व्यक्तित्व होता है। उसकी रुचि, स्वभाव तथा योग्यता दूसरे से भिन्न होती है। बालक के व्यक्तित्व का विकास उसके जन्म से ही चार बातों पर निर्भर करता है: उसके स्वास्थ्य की दशा, उसका वाह्य-वातावरण, उसकी बुद्धि और स्वभाव। मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षक यह समझ सकता है कि ये चारों बातें एक दूसरे पर निर्भर हैं। किसी का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। इन बातों का शिक्षा पर बहुत ही प्रभाव पड़ा है। वैयक्तिक भिन्नता के प्रमाण का शिक्षा के पूरे संगठन पर प्रभाव दिखलाई पड़ा है। अब लोग आवश्यकतानुसार स्कूल और कक्षा की व्यवस्था पर ध्यान देने लगे हैं।

'विकास' स्वास्थ्य, वातावरण, बुद्धि और स्वभाव पर निर्भर; सभी बालक समान योग्यता के नहीं; मनोविज्ञान के कारण शिक्षक के पूरे दृष्टिकोण में परिवर्तन।

शिक्षक पहले से अब अधिक दयालु हो गये हैं। उनमें बालकों के प्रति सहानुभूति दिखलाई पड़ती है। अब लोग समझने लगे हैं कि सभी बालक समान योग्यता के नहीं होते। तीव्र, साधारण और मन्द तीनों प्रकार के बालकों के प्रति उचित सहानुभूति दिखलाना शिक्षकों ने सीख लिया है। कहना न होगा कि मनोविज्ञान ने अध्यापक के पूरे दृष्टिकोण में महान् परिवर्तन ला दिया है। अतः शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार की अत्यन्त आवश्यकता है।

१२—बालकों की भावना के अध्ययन का महत्त्व—

बालकों की भावनाओं का उनके स्कूल-जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

उनकी वैयक्तिक भिन्नता के ज्ञान के अतिरिक्त उनकी भावनाओं का भी अध्यापक को ज्ञान होना चाहिये, क्योंकि उनके विकास में उनका बड़ा महत्व होता है।

बालकों की भावनाओं का ज्ञान आवश्यक, बालक की असफलताएँ और विकट समस्याएँ उनकी भावना की अवहेलना का कुफल।

दुर्भाग्यवश बहुत से अभिभावक और शिक्षक इस बात को अभी ठीक से नहीं समझ सके हैं। फलतः बच्चों का पालन-पोषण वे अमनोवैज्ञानिक ढंग पर करते हैं। आजकल बहुत से ऐसे सम्प्रदाय हैं जो बालकों की शिक्षा में उनकी भावनाओं पर विशेष ध्यान देते हैं। इनमें पहला नाम प्रगतिशील सम्प्रदाय (प्रोग्रेसिव् स्कूल) का है। ये बालकों की भावनाओं का आदर करते हैं, और प्राचीन प्रणाली पर उन्हें दण्ड देना अनुचित समझते हैं। इन सम्प्रदायों से ऐसे बालक निकलते हैं जिनमें आह्लाद दिखलाई पड़ता है। वे स्वस्थ होते हैं और जान पड़ता है कि वे अपना व्यक्तित्व स्थापित कर सुखमय जीवन व्यतीत कर सकेंगे। एक दूसरे प्रकार का भी सम्प्रदाय मिलता है जिसमें बालकों की भावनाओं का आदर किया जाता है। इसमें हस्तकला, नाटक तथा संगीत आदि की सहायता से उन्हें अपनी भावनाओं के प्रदर्शन का पूर्ण अवसर दिया जाता है। इसका फल यह होता है कि आगे चल कर बालक जीवन में शीघ्र व्यवस्थित हो जाते हैं, और कुशल नागरिकों में उनकी गणना होने लगती है। कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय होते हैं जहाँ बालकों की आवश्यकताओं पर सबसे पहले ध्यान दिया जाता है। अध्यापक और विद्यार्थी का सम्बन्ध इन्हीं आवश्यकताओं के समझने पर निर्भर होता है। योग्यता और कठिनाई के प्रति हर समय सहानुभूति का वातावरण रहता है। चौथे प्रकार के सम्प्रदाय में विभिन्न प्रकार के दोष-युक्त बालकों की शिक्षा की व्यवस्था रहती है। इन सम्प्रदायों द्वारा किये गये अन्वेषणों से हमें यह भली भाँति ज्ञात हो गया है कि व्यक्तित्व के विकास में 'भावना' का कितना बड़ा हाथ है। उनसे हमें यह भी ज्ञात होता है कि शारीरिक तथा मानसिक भावना का विकास एक दूसरे पर निर्भर है। एक की भी अवहेलना करने से दूसरे की हानि हुए बिना नहीं रहती। इन अध्ययनों से अब हमारा यह विश्वास हो गया है कि बालक की प्रायः सभी असफलताएँ और विकट समस्याएँ उनकी भावना की अवहेलना के ही कुफल हैं। कोई भी शिक्षक इन सब बातों को अच्छी प्रकार नहीं समझ सकता; यदि वह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से परिचित नहीं।

अब यह सप्रमाण सिद्ध बात है कि बालक अथवा युवा पुरुष के मानसिक कार्य के लिये भावनाओं में द्वन्द नहीं होना चाहिये, अन्यथा मन किसी बात पर एकाग्र हो ही नहीं सकता। सफलता की भावना से ही अच्छे व्यक्तित्व का विकास सम्भव हो सकता है। शान्त वातावरण में ही हम अपनी रुचियों तथा शक्तियों का सदुपयोग कर सकते हैं। अति मन्द बालक भी बहुत लाभ उठा सकता है, यदि उसकी कठिनाइयों को समझ कर उसके

भावनाओं में द्वन्द मानसिक कार्य में बाधक, सहानुभूति आवश्यक।

साथ सहानुभूति का व्यवहार किया जाय। जब तक असफलता, भय, निराशा, आलोचना, व्यङ्ग, दण्ड और प्रतियोगिता की भावना बालकों में चलती रहेगी तब तक कुछ भी उन्नति सम्भव नहीं, तब तक उनमें आत्म-निर्भरता और आत्म-संयम की भावना का संचार हो ही नहीं सकता। अतः प्रत्येक अध्यापक का यह परम कर्त्तव्य है कि वह इन सब बातों को समझे और तदनुसार आचरण करने की चेष्टा में सदैव रत रहे, तभी वह अपने उत्तरदायित्व को निभा सकता है, अन्यथा नहीं।

१३—बालकों की प्रधान आवश्यकताएँ और शिक्षा में उनका महत्व—

जेसेल, बूलर, शर्ली, मेंज़आइज़क्स, वैलेन्टाइन तथा बारबरालो आदि मनोवैज्ञानिकों ने घोर परिश्रम कर बालकों के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। पाँच अथवा छः साल की अवस्था के बालकों की आवश्यकता के सम्बन्ध में वे एक स्वर से सहमत हैं। इन आवश्यकताओं का उल्लेख हम नीचे कर रहे हैं:—

१—रक्षा की आवश्यकता।

२—खेल की आवश्यकता।

३—दूसरे बालकों से सम्बन्ध। इसका बालक के सामाजिक तथा मानसिक विकास में योग।

४—कुछ निश्चित कार्यक्रम इच्छा-शक्ति बढ़ाने का साधन।

५—बालक में आत्म-विश्वास, मौलिकता और स्वातन्त्र्य-भाव की वृद्धि।

६—बालक के साथ मनोवैज्ञानिक व्यवहार—

(१) उसके प्रश्नों को धैर्यपूर्वक सुनना और उसके समझने योग्य उनका उत्तर देना।

(२) उसकी तर्क-शक्ति की उचित अवसर पर प्रशंसा करते रहना।

(३) उसके भय को प्रमाण के सहारे धीरे धीरे दूर करना।

इन आवश्यकताओं के पता लग जाने से अब अभिभावकगण बालक के प्रारम्भिक काल का महत्व भली भाँति समझने लगे हैं। फलतः बालकों के पालन-पोषण में पहले से बहुत अधिक उन्नति दिखलाई पड़ती है। स्पष्ट है कि शिक्षा का आधार मनोवैज्ञानिक ही होना चाहिये। माता-पिता तो अब भी पालन-पोषण विषयक बहुत से मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हैं, परन्तु शिशु-पाठशाला (नर्सरी स्कूल) के बहुत से शिक्षक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को समझने लगे हैं। पर ऐसी पाठशालाएँ अभी बहुत कम हैं, और हमारे उद्देश्य की पूर्ति अभी नहीं दिखलाई पड़ती। यदि ऐसी पाठशालाएँ बढ़ जाँय तो हमारे देश में सुखी बालक पहले से अधिक दिखलाई पड़ेंगे। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब हम उनकी मनोवैज्ञानिक और शारीरिक आवश्यकताओं का ध्यान रक्खें।

१४—बालकों का सहज स्वभाव क्या है ?

अन्वेषण के आधार पर सात और चौदह वर्ष के भीतर बालकों का सहज स्वभाव इस प्रकार बतलाया गया है :—

१—आत्म-प्रकाशन की उत्कट इच्छा।
२—शारीरिक क्रियाशीलता की आवश्यकता।
३—सामाजिक भावना का धीरे धीरे विकास।
४—विचार-मग्न होने की प्रवृत्ति।
५—मानसिक जिज्ञासा की अभिवृद्धि।
६—लयमय गति में आनन्द का अनुभव।
७—नई वस्तुओं को बनाने तथा इकट्ठा करने की प्रवृत्ति।
८—साहसिक कार्य करने की भावना की जागृति।

हमारे देश में बहुत कम ऐसे स्कूल हैं जो बालकों की विचार-भावना तथा मानसिक जिज्ञासा के अनुकूल शिक्षा देते हैं। अब भी विषयों के परस्पर-सम्बन्ध (कॉरीलेशन) से अध्यापक अनभिज्ञ से दिखलाई पड़ते हैं। स्कूलों में क्रियाशीलता को बहुत कम स्थान दिया जाता है। बालकों में आत्म-प्रकाशन की शक्ति बढ़ाने की चेष्टा बहुत कम की जाती है। इसके अतिरिक्त, हमारे यहाँ मनोविज्ञान के क्षेत्र में जो कुछ अन्वेषण किये गये हैं वे एक सूत्र में बँधे नहीं मालूम होते। हम अपने स्कूलों में बहुत-सी ऐसी बातें देखते हैं जिनका कुछ मनोवैज्ञानिक आधार ही नहीं मिलता। यदि अपने बालकों को कुशल नागरिक बनाना है तो हमें उनकी शिक्षा का प्रबन्ध मनोवैज्ञानिक ढंग से करना ही होगा।

हमारे देश के स्कूलों की बुरी दशा।

१५—शिक्षक और प्राकृतिक शक्तियाँ—

बालक की विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों का विकास स्कूल में तब तक अच्छी प्रकार नहीं हो सकता जब तक अध्यापक को मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान नहीं है। यदि बालक कक्षा में कही हुई बात को अच्छी प्रकार नहीं सुनता तो अध्यापक प्रश्नों के सहारे उसमें जिज्ञासा उत्पन्न करना चाहता है। यदि किसी शंका के समाधान के लिये बालकों में एक प्रवृत्ति उत्पन्न की जा सके तो वे कठिन से कठिन कार्यों के समझने में अपना उत्साह दिखला सकते हैं और उसके सम्पादन में नये ज्ञान को भी सरलता से ग्रहण कर सकते हैं।

शंका-समाधान के लिये जिज्ञासा का उत्पन्न करना आवश्यक।

जिज्ञासा-शक्ति के साथ साथ निर्माण-शक्ति के विकास में भी योग दिया जा सकता है। इस प्रकार बालक सदैव कुछ न कुछ काम करते रहेंगे और उनमें

'आत्म-अनुभव' से 'सीखने' की प्रवृत्ति आ जायगी। कभी कभी बालकों में आत्महीनता की भावना (इनफ़ीरियॉरिटी कॉम्प्लेक्स) आने लगती है। यदि इस भावना का प्रतिकार मनोवैज्ञानिक ढंग पर नहीं किया गया तो उनमें हीनता की भावना-ग्रन्थि आ जायगी जिसे सरलतापूर्वक खोला नहीं जा सकता। यदि शिक्षक मनोविज्ञान से परिचित है तो इन सब बातों पर वह उचित ध्यान दे सकता है।

'निर्माण-शक्ति' के विकास में योग, 'आत्म-अनुभव' से 'सीखने' की प्रवृत्ति, आत्महीनता की भावना-ग्रन्थि का उचित प्रतिकार करना।

शिक्षक को यह नहीं कहना है कि 'इस समस्या का हल निकालो'। यदि वह कहता है कि आओ हम इस समस्या का हल निकालें तो वह बालक में आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति को उसकाता है। बालकों में यह प्रवृत्ति बड़ी ही उत्साहवर्द्धक होती है। यदि शिक्षक में मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि है तो वह बालक की सफलता पर उसकी अवश्य प्रशंसा करेगा। यदि अपने दल की सफलता व असफलता उन्हीं के परिश्रम पर निर्भर रहती है तो वे 'दल-भावना' से अभिप्रेरित हो जाते हैं। जो अध्यापक उनमें इस भावना को भरता है वह उनकी मनः शारीरिक शक्ति को तीक्ष्ण करता है। सहयोग और दल-भावना 'समुदाय में रहने की प्रवृत्ति' का दूसरा नाम है। शिक्षा में इसका बड़ा महत्व है।

आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति को उसकाना, सफलता पर बालक की प्रशंसा करना, सहयोग और दल-भावना जागृत करना।

यदि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाय तो बालकों की भावना उनकी शिक्षा का अच्छा साधन हो सकती है। शैशव में दूसरों का बालक पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि उसकी मूलप्रवृत्तियों को उसकाया जाय तो वे शीघ्र ही प्रभावित हो जाते हैं। बच्चे छोटे छोटे पालतू जानवरों, बच्चों तथा खिलौने से खेलते हुए पाये जाते हैं। कभी कभी वे अपनी माँ के अनुकरण में अपने खिलौने को ऐसा प्यार करते हुए दिखलाई पड़ते हैं मानो वे उनके बच्चे हों। वे उसके प्रति दया और सहानुभूति का व्यवहार करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। यदि बालक किसी वस्तु में रुचि नहीं दिखलाता तो उस वस्तु का उसके खिलौने या पालतू जानवर से सम्बन्ध दिखला कर उसमें उसके लिये रुचि उत्पन्न की जा सकती है। यदि बालक को यह विश्वास दिलाया जाय कि अमुक काम करने से वे अपनी प्रिय वस्तु की सेवा करेंगे तो वे उस काम को सहर्ष करेंगे। उदाहरणतः चतुर माँ अपने बच्चे से उसके खिलौने के लिये यह कह कर कुछ कपड़े बनवा सकती है कि जाड़े में उसे जाड़ा लगेगा। इस प्रकार

बालकों की भावना उनकी शिक्षा का अच्छा साधन, उनकी मूल प्रवृत्तियों को उसकाना, उत्पादक भावना का संचार करना, खेल में उचित क्रियाशीलता लाना।

बालक में रचनात्मक भावना का संचार होगा, और उसके खेल में उचित क्रियाशीलता आ जायगी।

किशोरावस्था में स्त्री-पुरुष सम्बन्धी जिज्ञासा का निवारण करना बड़ा ही कठिन है। यदि शिक्षक या अभिभावक इस जिज्ञासा का उचित ढङ्ग से समाधान न कर सके तो बालकों के व्यक्तित्व का विकास अधूरा रह जायगा। उनमें बुरी भावना-ग्रन्थियाँ (कॉम्प्लेक्सेज़) पड़ जायगीं। बाद में उन्हें दूर करना अत्यन्त कठिन हो जायगा। शिक्षक को बालकों के युयुत्सा, अनुकरण, निर्देश तथा खेल आदि प्रवृत्तियों के प्रति उचित व्यवहार करना अत्यन्त आवश्यक है। 'खेल-शक्ति' का बालकों की शिक्षा में विशेष महत्व है। गॉडफ्रे थॉमसन का कथन है कि "मनुष्यों ने पशुओं को अपनी 'मूलप्रवृत्तियों' के कारण जीत लिया है, क्योंकि उनका बचपन खेल का ही समय कहा जाता है।" मौलिकता को क्रियाशील बनाने के लिये खेल-शक्ति का उचित उपयोग नितान्त आवश्यक है। प्रारम्भिक स्कूलों तथा कक्षाओं में इन खेलों का उचित उपयोग करना समीचीन दिखलाई पड़ता है। वर्तमान शिक्षा-विशेषज्ञों का भी यही कहना है। यदि हम बालकों से कहें कि आओ तुम्हें 'अक्षर लिखना' सिखलायें तो उन्हें यह प्रस्ताव अरुचिकर लगेगा; परन्तु यदि हम उनसे कहें कि आओ हम लोग खेल खेलें तो वे कूद पड़ेंगे।

स्त्री-पुरुष सम्बन्धी जिज्ञासा का निवारण पूर्ण व्यक्तित्व-निर्माण के लिये आवश्यक, विभिन्न मूलप्रवृत्तियों के प्रति उचित व्यवहार, 'खेल-शक्ति' का महत्व, मौलिकता को क्रियाशील बनाना।

बच्चों की अनुकरण-शक्ति अत्यन्त प्रबल होती है। दूसरे जैसा करते या सोचते हैं वैसा ही वे भी करना अथवा सोचना चाहते हैं। फलतः शिक्षक उनके लिये आदर्श रूप हो जाता है। वे शिक्षक के सदृश लिखना, पढ़ना, बोलना, चलना, बैठना इत्यादि अनजान में सीखने लगते हैं। शिक्षकों के विचार को भी वे धीरे धीरे अपनाने लगते हैं। अतः शिक्षक को अपने सभी व्यवहारों में बड़ा सतर्क रहना चाहिये, विशेषकर जब वे बालकों के साथ हों। यदि शिक्षकों को मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का ज्ञान है तो वे इन बातों को कभी नहीं भूल सकते। कुछ लोगों का कहना है कि बालकों में अनुकरण-शक्ति को प्रोत्साहन देना उचित नहीं, क्योंकि इससे उनकी मौलिकता मारी जायगी। इस विचार के पक्ष में हमें कोई मनोवैज्ञानिक प्रमाण नहीं मिलता। ऐसी धारणा भ्रमात्मक प्रतीत होती है। वस्तुतः 'अनुकरण करना' तो किसी भी मनः शारीरिक प्राणी के विकास में एक आवश्यक 'स्थिति' है। शिक्षक को इन सब बातों का समझना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा बालकों की शिक्षा में वह उचित योग न दे सकेगा।

बच्चों की 'अनुकरण-शक्ति' प्रबल, शिक्षकों का अनुकरण अनजान में, अतः शिक्षकों को सतर्क रहना, अनुकरण 'मौलिकता' में बाधक नहीं।

कभी कभी बालक को दण्ड भी देना आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थिति में शिक्षक उसकी भय-प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता है। विनय-स्थापन में शिक्षक को इस प्रवृत्ति का सहारा लेना पड़ता है। भय देकर शिक्षक बालक से कई काम कराता है। भय से बालक काम में अपनी सारी शक्ति लगा देता है और कक्षा में उद्दण्डता दिखाने का साहस नहीं करता। यदि बालक स्वस्थ और बली हुआ तो भय से काम कराना विशेष हानिकर नहीं। परन्तु निर्बल बालक से बार बार भय दिखा कर काम लेना ठीक नहीं, क्योंकि यह उसकी उन्नति में घातक होगा। इससे बालक का नैतिक पतन हो जाता है। उसकी सारी शक्ति जाती रहती है। इस प्रकार शिक्षक के हाथ में 'भय' बड़ा अमोघ और भयानक अस्त्र है। यदि इसका वह उचित प्रयोग न कर सका तो बालकों के व्यक्तित्व-निर्माण में सहायता के स्थान पर वह बाधा पहुँचायेगा। अतः मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करना शिक्षक का परम कर्त्तव्य है।

विनय-स्थापन (डिस्सीप्लिन) में भय-प्रवृत्ति का सहारा, बार बार भय दिखाने से नैतिक पतन।

१६—मनुष्य की शक्तियाँ.—

प्रतिदिन हम कुछ न कुछ सफलतापूर्वक कार्य किया करते हैं। स्पष्ट है कि हमारी 'शक्तियाँ' इसमें सहायक होती हैं। हम साँस लेते हैं, भोजन पचाते हैं, हमारे सारे शरीर में रुधिर का दौरा हो जाता है, हम शत्रुओं से अपनी रक्षा कर लेते हैं। अपने वातावरण की वस्तुओं को देख कर उन्हें हम पहचान लेते हैं। अपनी आवश्यकतानुसार हम योजना बनाते हैं और उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते हैं। मनुष्य की इन विभिन्न शक्तियों में से शिक्षक को अपनी आवश्यकतानुसार कुछ ऐसी शक्तियों को चुनना है जो कि बालक के सभी कार्यों के मूल में हों, तभी वह शिक्षा की उचित व्यवस्था कर सकता है क्या चलना, कूदना, दौड़ना, बोलना, पढ़ना, लिखना तथा नई वस्तुओं को बनाना आदि हमारी पृथक पृथक शक्तियाँ हैं या कुछ विशेष शक्तियाँ उनके मूल में निहित हैं? मनोवैज्ञानिक अन्वेषण से यह पता चला है कि मनुष्य की शक्तियाँ सीमित होती हैं और उन्हीं के आधार पर उसके सब कार्य हुआ करते हैं। एक ही शक्ति मनुष्य को 'जोड़ना', 'घटाना' और 'गुणा'-'भाग' कराना सिखाती है। इनके लिये अलग अलग शक्तियाँ नहीं होतीं। यदि यह एक शक्ति उसमें अन्य शक्तियों से प्रबलतर हुई तो इन सब कार्यों को वह अधिक कुशलता से कर सकेगा। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हमारी विभिन्न रुचियों और शक्तियों के पीछे कुल चार शक्तियाँ हैं:—

मनुष्य की शक्तियाँ, सीमित चार प्रधान शक्तियाँ:—
१—यान्त्रिक शक्ति,
२—अंकगणित-शक्ति,
३—कल्पना-शक्ति,
४—शाब्दिक शक्ति,
बालकों का वर्गीकरण इन शक्तियों के अनुसार।

(१) यान्त्रिक शक्ति, (२) अंकगणित-शक्ति, (३) कल्पना-शक्ति, तथा (४) शाब्दिक शक्ति। शिक्षक को बालकों का वर्गीकरण उनकी योग्यतानुसार करने में समर्थ होना चाहिये। कहना न होगा कि अपने इस प्रयत्न में उसे बालकों की विभिन्न शक्तियों का ज्ञान करना आवश्यक होगा और उसे मनोविज्ञान से बड़ी सहायता मिलेगी।

१७—सिद्धान्ततः और वस्तुतः शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार की आवश्यकता—

शिक्षक की स्थिति माली के सदृश, विकास-ढंग का ज्ञान आवश्यक।

शिक्षक की स्थिति प्रायः माली के सदृश है। माली के लिये पौधों के विषय में पूरा ज्ञान आवश्यक है। उसी प्रकार शिक्षक को बालक का पूरा ज्ञान होना चाहिये। माली को यह देखना है कि सभी पौधे बढ़ कर ठीक से फूल-फल इत्यादि देते हैं। इसी प्रकार शिक्षक को बालकों के सभी सद्गुणों को एक ओर केन्द्रित कर उनके 'व्यक्तित्व-निर्माण' में योग देना है। परन्तु इसमें वह सफल नहीं हो सकता यदि वह नहीं जानता कि मनः शारीरिक प्राणी का विकास किस ढंग से होता है।

शिक्षक एक मित्र अथवा मार्ग-प्रदर्शक, अनुकूल वातावरण उपस्थित करना, बालक का 'स्थिति' का स्वयं समझना और उसका हल निकालना, नियन्त्रण वातावरण पर,—बालक पर नहीं, शिक्षक को बालक के व्यवहार को समझना।

शिक्षक न तो स्वामी है और न शासन-कर्ता। उसकी स्थिति एक मित्र अथवा मार्ग-प्रदर्शक की है। स्वतः विकास के सिद्धान्त की यही माँग है। शिक्षक को केवल अनुकूल वातावरण उपस्थित कर देना है जिसमें बालक अपनी मूलप्रवृत्तियों का सदुपयोग करते हुए अपनी जिज्ञासा का समाधान कर सकें। बालकों को किसी 'स्थिति' को स्वयं समझना है और शिक्षक को देखना है कि वे समस्याओं का हल स्वयं निकालने में सफल होते हैं। इस प्रकार शिक्षक को अब केवल वातावरणों को ही अपने नियन्त्रण में रखना है, बालकों को नहीं। अतः मनोविज्ञान का ज्ञान उसके लिये बहुत ही आवश्यक है। शिक्षक को यह जानना चाहिये कि बाल-मन किस प्रकार कार्य करता है जिससे वह पढ़ाने के लिये अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर सके। उसे यह जानना चाहिये कि बालकों का व्यवहार किस प्रकार का होता है और वे अपने अनुभवों की प्रतिक्रिया में उसमें किस प्रकार का परिवर्तन ला सकते हैं। उसमें भले और बुरे अनुभवों को पहचानने तथा तदनुसार उचित आयोजन करने की सामर्थ्य होनी चाहिये। उसे यह समझना चाहिये कि चरित्र-निर्माण के लिये किन अनुभवों को दोहराना आवश्यक होगा।

केवल अध्यापन-विधि का ज्ञान ही किसी को सफल शिक्षक नहीं बना सकता। उसके लिये मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का परिचय आवश्यक है। शिक्षक को यह समझना चाहिये कि अध्यापन में अमुक विधि का अनुसरण क्यों आवश्यक है। इसके लिये उसे बाल-मन का अध्ययन करना होगा। शिक्षक अध्यापन के नियमों और विधियों को कण्ठाग्र कर सकता है। परन्तु 'कब' 'कौन सा' नियम लगाना होगा यह वह मनोविज्ञान के सहारे ही जान सकता है। शिक्षक को यह जानना चाहिये कि अमुक विधि का बाल-मन पर क्या प्रभाव पड़ेगा। अपने मनोवैज्ञानिक ज्ञान से शिक्षक यह समझ सकता है कि विधियों का प्रयोग उचित किया जा रहा है अथवा नहीं। इस प्रकार वह अपनी तथा अपने सहयोगियों की त्रुटियों को सुधार सकता है।

अध्यापन के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से परिचय आवश्यक, बाल-मन का अध्ययन, 'कब' 'किस' नियम का प्रयोग आवश्यक ?

पाठ्य-क्रम के निर्माण में मनोविज्ञान की सहायता अमूल्य है। किसी 'अवस्था' की शक्ति के ज्ञान बिना उसके लिये विषयों को चुनना कठिन है। इसके लिये हमें विभिन्न 'अवस्थाओं' की शक्तियों का ज्ञान होना आवश्यक है। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हमारी दशा उस बढ़ई के समान होगी जो बिना लकड़ी पहचाने काम करने बैठ जाता है। पाठ्य-क्रम के निर्माताओं को बाल-मन का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। विकास की प्रत्येक अवस्था की अपनी अलग अलग माँग होती है और उसके लिये विशेष ध्यान की आवश्यकता होती है। अतः निर्माताओं को यह समझना चाहिये कि बालकों का कल्याण सबसे अधिक किस में है। ये सब बातें मनोविज्ञान के ज्ञान बिना नहीं जानी जा सकतीं। Bal Mohan Nagpur B.A.

पाठ्य-क्रम के निर्माण में मनोविज्ञान की सहायता, विभिन्न अवस्थाओं की शक्तियों का ज्ञान आवश्यक।

आजकल शिक्षा में 'सिद्धान्त' तथा 'परीक्षण' की दिन प्रति दिन उन्नति हो रही है। इस क्षेत्र में मनोविज्ञान का हाथ भी बढ़ता चला जा रहा है। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के कारण स्मरण-शक्ति, बुद्धि, ध्यान, कल्पना-शक्ति, तथा रुचि आदि में हमारा ज्ञान विस्तृत होता जा रहा है। इन अन्वेषणों का हमारी शिक्षा पर पूरा प्रभाव पड़ रहा है। अतः शिक्षक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की अवहेलना कर ही नहीं सकता।

'सिद्धान्त' तथा 'परीक्षण' की अविरल गति से उन्नति।

१८—कुछ आपत्तियों के उत्तर—

पहले शिक्षक मनोविज्ञान के प्रति उदासीन थे और समझते थे कि कुशल अध्यापन में मनोविज्ञान कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। आजकल भी कुछ

Pushpa

दार्शनिकों का कहना है कि शिक्षक को मनोविज्ञान के पचड़े में न पड़ना चाहिये, क्योंकि उससे उसे कुछ भी सहायता नहीं मिल सकती। उनका कहना है कि व्यक्तित्व-निर्माण में मनोविज्ञान की सहायता की कुछ भी आवश्यकता नहीं। दार्शनिकों के ऐसे विचार का कदाचित् कारण यह है कि मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति विश्लेषणात्मक होती है और शिक्षक की संश्लेषणात्मक। मनोवैज्ञानिक 'व्यवहार' का अध्ययन करता है। उसके सुधार से उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं। उसका यह काम नहीं कि व्यवहार को नैतिक अथवा सामाजिक कसौटी पर कस कर उसका मूल्य बतलावे। व्यवहार चाहे अच्छा हो अथवा बुरा—इससे उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं। उसे दोनों का समान दृष्टि से अध्ययन करना है। पर शिक्षक का उद्देश्य ही समाप्त हो जायगा यदि वह अपनी वस्तु का विश्लेषण करने लगे। वह तो एक उत्पादक कलाकार है। उसे आदर्शवादी होना है। यदि वह महान् आदर्शों से प्रेरित न हुआ तो वह शिक्षक होने योग्य नहीं। इसके विपरीत मनोवैज्ञानिक को यथार्थवादी होना है। उसे वास्तविकता को पहचानना है। आदर्शवाद से उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। भविष्य की सम्भावनाओं के विषय में सोचना उसका कर्त्तव्य नहीं। उसे तो वर्तमान परिस्थितियों का अध्ययन कर अपना निष्पक्ष निर्णय देना है। उसे यह देखना है कि बालक है 'क्या'। शिक्षक बालक को उसकी 'योग्यता' और 'सम्भावनाओं' के दृष्टिकोण से देखता है। वह कभी भविष्य की अवहेलना नहीं कर सकता। उसके सभी कार्यों में कुछ 'गोपनीय वास्तविकता' की छाप रहती है। वह चाहता है कि बालक इस 'वास्तविकता' को पहचान सके और तदनुसार अपने को मोड़ सके। ऐसे तर्कों के बल पर कुछ दार्शनिकों का मत है कि मनोविज्ञान 'शिक्षा' की किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकता। मनोवैज्ञानिक ज्ञान से शिक्षक उच्च आदर्शों से बहुत दूर हट जायगा और उसके व्यक्तित्व से बालक उत्साह और प्रेरणा नहीं ले सकेंगे।

पहले शिक्षक मनोविज्ञान के प्रति उदासीन, आजकल भी कुछ दार्शनिक शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार के विपक्ष में, उनके तर्क।

उपर्युक्त तर्क में कुछ तथ्य तो दिखलाई पड़ता ही है। मनोविज्ञान यह नहीं बतलाता कि शिक्षक का कर्त्तव्य क्या है। इसके लिये तो हमें दर्शन-शास्त्र की ही सहायता लेनी पड़ेगी। शिक्षा को हम प्रयोगात्मक मनोविज्ञान नहीं कह सकते। स्कूल को हम मनोविज्ञान की प्रयोगशाला नहीं बना सकते। ऊपर के तर्क का तात्पर्य केवल इतना है कि शिक्षक को केवल मनोवैज्ञानिक ही नहीं होना है, उसे अपनी कक्षा प्रयोगशाला नहीं बना लेनी है, वरन् शिक्षक को आदर्शवादी होना है। उच्च विचार और आदर्श उसकी नस नस में भरे रहने चाहिये। उसे बालक को आत्म-बोध के लिये उत्साहित करना है। उसे बालक को रास्ता दिखा देना है जिससे वह वास्तविकता को स्वयं

उपर्युक्त तर्क में कुछ तथ्य, शिक्षक का कर्त्तव्य, मनोविज्ञान प्रत्येक दशा में शिक्षक का सहायक।

पहचान सके। उसे बालक को सिखाना है कि जीवन उपयोगी कैसे बनाया जा सकता है। उसे उसका व्यक्तित्व-निर्माण पूर्ण रूप से करना है। शिक्षक को अपने इस कर्त्तव्य और कार्य में पूर्ण भक्ति और विश्वास रखना है, तभी वह अपने उत्तरदायित्व को निभा सकता है। उसे बालकों को ऐसा बनाना है कि वे अपने दैवत्व को पहचान सकें। शिक्षक के इन सब कर्त्तव्यों में मनोविज्ञान से किसी प्रकार की बाधा न होगी। शिक्षक अपनी कला में कितना ही निपुण क्यों न हो, परन्तु यदि वह मनः शारीरिक जीव अर्थात् बालक के स्वभाव-गुण से परिचित नहीं है तो उसे अपनी कुशलता का अधूरा ही फल मिलेगा। हम यह स्वीकार करते हैं कि शिक्षक को मनोविज्ञान के पठन की अधिक आवश्यकता नहीं, क्योंकि कुशल अध्यापन मनोविज्ञान के ज्ञान पर उतना निर्भर नहीं जितना वास्तविक विषय के ठीक ज्ञान पर। मनोविज्ञान का एक अच्छा विद्यार्थी विषय के ज्ञान से अनभिज्ञ हो सकता है और इस प्रकार कुशल अध्यापक बनने में वह असमर्थ हो सकता है। परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी मनोविज्ञान शिक्षक की प्रत्येक दशा में सहायता ही करेगा। उसकी सहायता से शिक्षक बहुतसी त्रुटियों से बच जायगा और इस प्रकार अबोध बालकों की हानि कम होगी। अनुभव सिद्ध-रीति ही हर समय सहायता नहीं दे सकती। हमें मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की सहायता लेनी ही पड़ेगी।

यह सोचना भ्रमात्मक है कि मनोवैज्ञानिक की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति शिक्षक की संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति में बाधक होगी। इतिहास इसका प्रमाण है। पेस्तालोज़ी, हरबार्ट और फ्रोबेल आदि ऐसे महान् शिक्षक उच्च कोटि के आदर्शवादी थे। परन्तु इन्होंने ही शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार पर लाने की चेष्टा की। इन्होंने ही हमें सिखलाया कि शिक्षा के लिये बालक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है। इन्होंने हमें बतलाया कि मनोविज्ञान की सहायता के बिना शिक्षा-उद्देश्य की पूर्ति सम्भव नहीं। विज्ञान 'कला' का विरोधी नहीं, अपितु कुछ अंश में एक दूसरे के सहायक माने जा सकते हैं। यदि कलाकार की अन्तर्दृष्टि वैज्ञानिक है तो वह अपनी कला को उत्कृष्ट रूप दे सकता है, और उसे सदा के लिये स्थायी बना सकता है। शिक्षा के विषयमें तो इस पर कुछ सन्देह ही नहीं किया जा सकता। 'बालक-अध्ययन आन्दोलन' से शिक्षा का जितना कल्याण हुआ है उतना कभी सिद्धान्तवादियों से नहीं हुआ।

विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति में बाधक नहीं, महान् शिक्षकों द्वारा शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाने की चेष्टा, विज्ञान कला का विरोधी नहीं, कलाकार की अन्तर्दृष्टि वैज्ञानिक ही।

यदि कलाकार अपनी वस्तु को जानता है तो वह अधिक सुन्दर काम कर सकता है। 'बालक' ही शिक्षक की 'वस्तु' है। यदि वह अपनी वस्तु से अनभिज्ञ है तो वह अपने कार्य में कभी सफल नहीं हो सकता। शिक्षक के लिये केवल वस्तु-ज्ञान ही

कलाकार को अपनी वस्तु

का जानना आवश्यक, केवल वस्तु-ज्ञान ही आवश्यक नहीं, बाल-स्वभाव को भी जानना आवश्यक।

आवश्यक नहीं ; उसे बालक के स्वभाव से भी अच्छी प्रकार भिज्ञ होना चाहिये। उसे यह समझना चाहिये कि बालक की आवश्यकतानुसार वस्तु-ज्ञान किस प्रकार देना चाहिये।

यह सत्य है कि मनोविज्ञान के सहारे हम शिक्षा-उद्देश्य को निर्धारित नहीं कर सकते। इसके लिये हमें दर्शन-शास्त्र और आचार-शास्त्र की सहायता लेनी पड़ेगी। परन्तु अमुक उद्देश्य सफल होगा अथवा नहीं यह हम मनोविज्ञान से ही जान सकते हैं। बालक कहाँ तक उन्नति कर सका, उसकी उन्नति में 'क्या क्या' बाधाएँ उपस्थित हो रही हैं—ये सब बातें हमें मनोविज्ञान की सहायता से ही मालूम हो सकती हैं। शिक्षा में हम बालक के 'व्यवहार' को ही सुधारना चाहते हैं। 'व्यवहार' का सुधार मनोविज्ञान के आधार पर ही किया जा सकता है, अन्यथा शिक्षक और बालक दोनों की शक्तियों का अपव्यय होगा। किसी 'व्यवहार' का 'छिपा हुआ' अभिप्राय मनोविज्ञान की सहायता से ही हम समझ सकते हैं। कभी कभी हमारे अभिप्राय स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ते। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही इस उलझन को दूर कर उचित रास्ता दिखला सकता है। यदि 'छिपे हुए' अभिप्राय का उचित समाधान न हुआ तो बालकों में अवांछित भावना-ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं। बाद में इन ग्रन्थियों से उन्हें मुक्त करना कठिन हो जाता है। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व-निर्माण अधूरा पड़ जाता है। अब वैयक्तिक-भिन्नता का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है। शिक्षा में प्रोत्साहन का महत्व अब ठीक से समझा जाने लगा है। बालक में 'स्वच्छन्दता की भावना बढ़ाना' शिक्षा के प्रधान सिद्धान्तों में माना जाने लगा है। अब यह ध्वनि चारों ओर है कि बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर ध्यान देना वांछित है। इन सब सुधारों के कारण शिक्षा में मनोविज्ञान का महत्व बहुत बढ़ गया है।

शिक्षा-उद्देश्य की सफलता मनोविज्ञान की सहायता से जानना सम्भव, 'व्यवहार' का सुधार मनोविज्ञान के आधार पर ही, 'व्यवहार' का छिपा हुआ अभिप्राय मनोविज्ञान की सहायता से जानना।

मनोविज्ञान की सहायता से एक शुष्क विषय भी रुचिकर बनाया जा सकता है। रुचि उत्पन्न करने और बालकों के ध्यान को एकाग्र करने में विशेष विधियों की आवश्यकता होती है। ये विधियाँ मनोवैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा ही निर्धारित की जा सकती हैं। बालक की रुचि के विरुद्ध कुछ न हो इसके लिये यह आवश्यक है कि शिक्षक उसके स्वभाव को समझे। शिक्षक को बालक की शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिये इस प्रकार कार्य करना है कि बालक कुशल व्यक्ति हो सके। मनोविज्ञान इस विषय में शिक्षक का बड़ा ही सहायक है।

अध्यापन-विधियों का निर्माण मनोवैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा ही।

शिक्षा का अभिप्राय केवल अध्यापन से ही नहीं है। अध्यापन तो शिक्षा का साधन-मात्र है। शिक्षा से हमारा तात्पर्य सभी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों के विकास से है। जन्म से मरण तक जितनी बातें हमारे जीवन में आती हैं उन सब का शिक्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि शिक्षा का अर्थ इतना विस्तृत है तो मानव व्यक्तित्व सम्बन्धी सारी बातों से शिक्षक का परिचय होना आवश्यक है। मनोविज्ञान में हम इन्हीं सब बातों का विश्लेषणात्मक उल्लेख पाते हैं। रूसो ने कहा है कि 'बालक एक ऐसी पुस्तक के समान है जिसे शिक्षक को भली भाँति पढ़ना है।' शिक्षक बालक के व्यक्तित्व-निर्माण में तब तक उचित योग नहीं दे सकता जब तक उसे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का पूरा ज्ञान नहीं है। बचपन में पड़ी हुई बुरी आदतों को दूर करना बहुत कठिन हो जाता है। यदि शिक्षक की भूल से बालक ने कोई बुरी आदत डाल ली तो उसे दूर करना सरल नहीं। बालक का तन्तु-संस्थान बड़ा ही कोमल होता है। यदि वह कुशाग्र बुद्धि का हुआ तो वह और भी अधिक सूक्ष्म-गुणग्राही होगा। उत्कृष्ट बुद्धि बालक रूखे व्यवहार को सहन नहीं कर सकता। रूखे व्यवहार से उसकी सारी गुणग्राहकता पर पानी फिर सकता है। अतः शिक्षक को इन सब बातों के बारे में बड़ा ही सतर्क रहना है। अपने सहानुभूति पूर्ण व्यवहार द्वारा शिक्षक ने बालक का जो कुछ भी कल्याण किया है वह उसके एक रूखे शब्द से विनष्ट हो सकता है। बिगड़े हुए बालकों के 'कारण' उनके शिक्षक और अभिभावक ही हैं। वास्तव में हमें 'समस्या-बालक' न कह कर 'समस्या-पिता' या 'समस्या-अभिभावक' कहना चाहिये। यदि अभिभावकों का व्यवहार अमनोवैज्ञानिक न हुआ तो 'समस्या-बालक' होंगे ही नहीं। बाल-मन की क्रिया से अनभिज्ञ होने के कारण हमारा अच्छा अभिप्राय भी अबोध बालकों को ऐसी हानि पहुँचा सकता है जिसका कभी प्रतिकार ही नहीं किया जा सकता। स्पष्ट है कि बालकों के लालन-पालन में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। इन सब के लिये मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि आवश्यक है।

अध्यापन शिक्षा का साधनमात्र, मानव व्यक्तित्व सम्बन्धी सारी बातों का मनोविज्ञान में विश्लेषणात्मक उल्लेख, समस्या-बालक नहीं, वरन् समस्या-पिता।

शिक्षा-क्षेत्र में आज हम जितना परिवर्तन देख रहे हैं उसका उत्तरदायित्व केवल दर्शन-शास्त्र पर ही नहीं है। मनोविज्ञान परिवर्तन लाने में दर्शन-शास्त्र से पीछे नहीं। आजकल के प्रायः सभी स्कूलों और कॉलेजों में हमें मनोविज्ञान का प्रभाव दिखलाई पड़ रहा है। उन्नतिशील देशों में समस्या-बालकों के अध्ययन के लिये दिन प्रति दिन प्रयोगशालाएँ स्थापित की जा रही हैं। इनमें मनोवैज्ञानिक, डॉक्टर, मानसिक रोग चिकित्सक तथा कुछ सामाजिक कार्यकर्ता सहयोग देते हैं। ये विशेषज्ञ बालक सम्बन्धी सभी समस्याओं पर विचार

मनोविज्ञान का प्रभाव शिक्षा-क्षेत्र में सर्वत्र, समस्या-बालकों के अध्ययन के लिये प्रयोगशालाएँ।

करते हैं। अन्य विज्ञानों की सहायता से मनोविज्ञान इन समस्याओं के हल में आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है। इस प्रकार शिक्षा-क्षेत्र में मनोविज्ञान की आवश्यकता बढ़ती ही जा रही है।

मनोविज्ञान की सहायता से हम किसी व्यक्ति की बुद्धि-परीक्षा करते हैं। इस बुद्धि-परीक्षा के सहारे हम बालकों का वर्गीकरण बड़ी ही सरलता से कर सकते हैं। यदि एक कोटि के बालकों को हम एक ही कक्षा में रख सकें तो शिक्षा-कार्य बड़ा ही सरल और लाभप्रद हो जायगा। यदि समान बुद्धि वाले बालक एक ही कक्षा में पढ़ते हैं तो उनमें कोई बुरी भावना-ग्रन्थि पड़ने का भय न रहेगा। यदि उत्कृष्ट बुद्धि बालक 'मन्द-बुद्धि बालकों' के साथ पढ़ता है तो सारा अध्यापन-कार्य उसके लिये अरुचिकर हो जाता है। मन्द-बुद्धि बालकों की भी उनके साथ पर्याप्त उन्नति नहीं हो पाती। स्पष्ट है कि यदि स्कूल में बालकों का वर्गीकरण ठीक न हो सका तो शिक्षक का कार्य अत्यन्त कठिन हो जायगा और कभी कभी तो उसके सारे परिश्रम व्यर्थ जायेंगे। यदि बालक मन्द-बुद्धि हुआ तो शिक्षा से वह उतना लाभ नहीं उठा सकता जितना उत्कृष्ट-बुद्धि बालक उठाता है। मन्द-बुद्धि बालकों की आवश्यकता एक विशेष प्रकार के स्कूलों द्वारा ही भली भाँति पूरी हो सकती है। उत्कृष्ट-बुद्धि बालकों की आवश्यकता कुछ विशेष विधियों से पूरी हो जाती है। बालकों की उम्र तथा ऊँचाई आदि के अनुसार उनका वर्गीकरण कर देना युक्तिसंगत न होगा। इस सम्बन्ध में बुद्धि-परीक्षा के फल पर ही हमें कार्य करना होगा।

बुद्धि-परीक्षा के फल पर बालकों का वर्गीकरण सुगम, बुद्धि के अनुसार बालकों का अलग अलग वर्गीकरण आवश्यक।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शिक्षा-क्षेत्र में हमें पग पग पर मनोविज्ञान की सहायता की आवश्यकता है। शिक्षा-दार्शनिक को भी मनोविज्ञान सहायता देता है। दार्शनिक अपनी कल्पना-शक्ति की उड़ान में मस्त रहता है। उसे वास्तविकता की सुधि कम रहती है। मनोविज्ञान उसे वास्तविकता की ओर खींचता है। यदि दार्शनिक वास्तविकता को भूल जाय तो उसके विचार से हमें क्या लाभ? मनोविज्ञान दार्शनिक को मानव दुर्बलताओं से परिचित कराता है और उसके विचार पर अपनी बागडोर लगा कर उसे हमारी साधना के योग्य बना देता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिक्षक, शिक्षा-विशेषज्ञ तथा शिक्षा-दार्शनिक सभी के लिये मनोविज्ञान की सहायता आवश्यक है। मनोविज्ञान की सहायता बिना कोई भी अपने कार्य का सफल सम्पादन नहीं कर सकता। अतः शिक्षा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर ही आधारित होनी चाहिये।

शिक्षा-दार्शनिक को भी विज्ञान की सहायता अपेक्षित।

सहायक पुस्तकें

१—ड्रेवर : ऐन इण्ट्रोडक्शन टू दी साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन।

२—फ्रेड, जे० शॉनेड—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, दी न्यू एरा इन होम एण्ड स्कूल, भाग २७, नं० ६।

३—रॉस : ग्रॉउण्ड वर्क ऑव् एडूकेशनल साइकॉलॉजी।

४—रेमॉण्ट : दी प्रिन्सीपुल्स ऑव् एडूकेशन।

५—नन. टी० पी० : एडूकेशन-इट्स डेटा एण्ड फर्स्ट प्रिन्सीपुल्स।

६—ब्रुक्स : चाइल्ड साइकॉलॉजी।

७—फ़ॉक्स-एडूकेशनल साइकॉलॉजी।

८—सोरेनसन—साइकॉलॉजी इन एडूकेशन, मैकग्रा-हिल बुक कम्पनी न्यूयार्क, १९४८।

९—जड : एडूकेशनल साइकॉलॉजी—हॉटन मिफलिन कम्पनी, १९३९।

१०—स्कीनर : एडूकेशनल साइकॉलॉजी, न्यूयार्क, प्रेण्टिस हाल, १९४७।

११—थॉर्नडाइक, ई० एल०, : एडूकेशनल साइकॉलॉजी, ब्रीफर कोर्स—न्यूयार्क, टीचर्स कॉलिज, कोलम्बिया यू०, १९१४।

१२—जॉर्डन ए० एम०—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, न्यूयार्क, हॉल्ट, १९४१।

१३—पीटर सैण्डीफोर्ड : फाउन्डेशन्स ऑव् एडूकेशनल साइकॉलॉजी—न्यूयार्क, लॉङ्गमैंस, ग्रीन १९३८।

१४—गेट्स, ए० आई० : एडूकेशनल साइकॉलॉजी, मैकमिलन, १९४९।

१५—हार्टमैन, जी० डब्लू : एडूकेशनल साइकॉलॉजी, न्यूयार्क, अमेरिकन बुक, १९४१।

१६—केली, डब्लू० एच० : एडूकेशनल साइकॉलॉजी—मिलवॉकी, ब्रूस, १९३५।

१७—स्टर्ट ऐण्ड ओक्डेन—मॉडर्न साइकॉलॉजी ऐण्ड एडूकेशन, केगेन पॉल, १९४६।

१८—डेविड केनिडी-फ्रेसर—दी साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन-मेथ्यून ऐण्ड क० लन्दन, १९४४।

१९—हालिङ्गवर्थ—एडूकेशनल साइकॉलॉजी।

२०—कोल ऐण्ड ब्रूस—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, वर्ल्ड बुक कम्पनी, न्यूयार्क १९५०।

२१—स्टीफेन्स जे० एम०—एडूकेशनल साइकॉलाजी, हेनरी हॉल्ट ऐण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, १९५१

२

कुछ मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय और शिक्षा

गत अध्याय में हमने यह बतलाया कि मनोविज्ञान हमें मानव मस्तिष्क का पूरा ज्ञान कराता है इसलिये शिक्षा का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रस्तुत अध्याय में हम मनोविज्ञान के कुछ आधुनिक प्रधान सम्प्रदायों पर दृष्टिपात करेंगे और यह पता लगाने की चेष्टा करेंगे कि वे मानव मस्तिष्क को समझने में हमारी कहाँ तक सहायता करते हैं। इन सम्प्रदायों के अध्ययन से हमें यह पता लग जायगा कि मनोविज्ञान का क्षेत्र कितना विस्तृत है और उससे शिक्षा का कितना घनिष्ठतम सम्बन्ध है। यदि अपने बालकों की शिक्षा की नींव दृढ़ बनानी है तो हमें प्रत्येक सम्प्रदाय के अन्वेषणों का गहन अध्ययन करना होगा और शिक्षा के लिये उनकी 'देन' को समझना होगा। सभी सम्प्रदायों पर विचार करना इस पुस्तक की सीमा के बाहर है। अतः कुछ प्रधान सम्प्रदायों का अध्ययन ही यहाँ सम्भव है। हम व्यवहारवाद (बिहेवियरिज़्म), अवयवीवाद (गेस्टाल्ट स्कूल), स्पीयरमैन के दो अंश का सिद्धान्त (टू फ़ैक्टर थियरी), मनोविश्लेषणवाद (साइको-एनलासिस) तथा प्रयोजनवाद (परपज़िविज़्म या हॉर्मिज़्म) को मनोविज्ञान के प्रधान सम्प्रदाय मान सकते हैं। इन्हीं के साथ-साथ कुछ और सम्प्रदायों की चर्चा स्वतः हो जायगी। इन सम्प्रदायों के विचारों का शिक्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः नीचे हम इन सम्प्रदायों के प्रधान विचारों तथा शिक्षा में उनके महत्त्व पर विचार करेंगे।

१—व्यवहारवाद (बिहेवियरिज़्म)—

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से मनोविज्ञान के अध्ययन में प्रमाणात्मक सिद्धान्तों का विशेष मूल्य किया जाने लगा। इसके पहले अन्तःप्रेक्षण (इन्ट्रॉस्पेक्शन) विधि की प्रधानता थी। फलतः अन्तःप्रेक्षणवादी इस स्थिति की कड़ी आलोचना करने लगे। बहुत दिनों तक अमेरिका के मनोवैज्ञानिकों का ध्यान विशेषकर 'मानव मस्तिष्क की क्रिया' के समझने पर था। क्योंकि

'चेतना-रचना-वाद' और 'चेतना-कार्य-वाद'।

के अनुभवों के अध्ययन पर उनका ध्यान कम था। मनोविज्ञान के अन्तर्गत वे 'चेतना' को स्वीकार ही नहीं करते थे। उनका कहना था कि मनोविज्ञान का 'चेतना' से प्रयोजन नहीं। 'चेतना-रचना-वाद' (स्ट्रक्चरल साइकॉलोजी) के अनुयायियों ने इसका विरोध किया। उनका कहना था कि मानव मस्तिष्क की गति को समझने के लिये चेतना के भिन्न भिन्न तत्वों का समझना आवश्यक है। किन किन तत्वों से मिल कर चेतना की रचना हुई है यह समझना ही मनोविज्ञान का विषय होना चाहिये। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस विचार की तीव्र आलोचना की गई। इस आलोचना के प्रमुख नेता विलियम जेम्स (१८४२–१९१०) थे। उनका कहना था कि चेतना के तत्वों का अध्ययन करना पूर्णतया व्यर्थ है। चेतना के तत्वों का विश्लेषण करने के पूर्व हमें यह देखना चाहिये कि किसी 'चेतना' का हमारे शरीर के विभिन्न अङ्गों पर क्या प्रभाव पड़ा। मान लीजिये, किसी घटना को देख कर या उसका स्मरण कर हमें विषाद हुआ। तो हमें यह देखना है कि उस विषाद का हमारे विभिन्न अङ्गों पर क्या प्रभाव पड़ा। चेतना का वर्णन न कर यदि हम इस प्रभाव का अध्ययन करें तो अधिक उपयुक्त होगा। हमारे सभी कार्य चेतना के फलस्वरूप होते हैं। चेतना का प्रधान उद्देश्य है जीवन-रक्षा के लिये कार्य करना। इस प्रकार जेम्स ने यह सारांश निकाला कि चेतना के फलस्वरूप हमारे विभिन्न अंगों पर जो प्रभाव पड़ता है उसका अध्ययन करना ही मनोविज्ञान का प्रधान क्षेत्र है। जेम्स के इस दृष्टिकोण को 'चेतना-कार्य-वाद' (फङ्क्शनल साइकॉलॉजी) कहते हैं।

चेतना-रचना-वाद और चेतना-कार्य-वाद के द्वन्द से व्यवहारवाद का जन्म, मानव चेष्टा और व्यवहार का अध्ययन ही आवश्यक, स्वाभाविक तथा अर्जित व्यवहार।

'चेतना-रचना-वाद' तथा 'चेतना-कार्य-वाद' के द्वन्द ने वाटसन के 'व्यवहार-वाद' को १९१२-१९१४ में जन्म दिया। वाटसन का कहना था कि चेतना के तत्वों तथा चेतना से विभिन्न अङ्गों पर पड़े हुए प्रभाव का अध्ययन करना व्यर्थ है। उससे मानव स्वभाव को समझने में हमें विशेष सहायता नहीं मिलती। शरीर के कार्य, उसकी चेष्टा तथा व्यवहार के अध्ययन से ही हम मनुष्य को कुछ समझ सकते हैं। वाटसन के अनुसार चेतनावादी मनुष्य के व्यक्तित्व का पूरा पता नहीं देते। 'अन्तःप्रेक्षण-वादी' भी अस्पष्ट वस्तु की ही खोज करना चाहते हैं। जो वस्तु नहीं है उसकी खोज करने से क्या लाभ? वाटसन ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'चेतना' को स्वीकार ही नहीं किया। उसने निर्विकल्प प्रत्यक्ष (सेनशेशन), भाव (फ़ीलिङ्ग) तथा प्रतिमा (इमेज) को चेतना का अंश नहीं माना। स्मृति, प्रतिमा और भाव को भी उसने प्रत्यक्ष वस्तु स्वीकार नहीं किया। वाटसन का कहना था कि मस्तिष्क पर अनुचित ध्यान नहीं देना चाहिये। उसका विश्वास था कि ऐसा करने से मनोवैज्ञानिकों ने 'मस्तिष्क' को 'आत्मा' के सदृश पूर्णतया अस्पष्ट बना दिया है। उसके अनुसार मनोविज्ञान को मानव चेष्टा तथा व्यवहार का अध्ययन करना आवश्यक है। व्यवहारवादियों के अनुसार 'चेष्टा'

तथा 'व्यवहार' ही प्रत्यक्ष वस्तु है। जो प्रत्यक्षता की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता उसे व्यवहारवादी अपने क्षेत्र में लेने के लिये तैयार नहीं। 'स्वाभाविक' तथा 'अर्जित' दोनों प्रकार के व्यवहार को व्यवहारवादियों ने स्वीकार किया। अतः उन्होंने स्पष्ट और अस्पष्ट दोनों प्रकार के व्यवहार को अपने अध्ययन के क्षेत्र में रक्खा।

जिस समय अमेरिका में 'व्यवहारवाद' का जन्म हुआ उसी समय रूस में भी 'संवद्ध-सहज-क्रिया' (एशोसियेटेड रिफ्लेक्स) और 'अभिसंधानित सहज-क्रिया' (कण्डीशण्ड रिफ्लेक्स) की कल्पना की गयी। वेशेरेव (१८५७—१९२७) और पव्लव (१८४९—१९३६) ने शरीर-विज्ञान के अध्ययन में इन बातों का पता लगाया। वेशेरेव पेशीय सहज-क्रियाओं (मोटर रिफ्लेक्सेज़) पर काम कर रहा था। इसलिये उसने 'संवद्ध-सहज-क्रिया' का पता लगाया। पव्लव 'स्राव-सम्बन्धी-क्रियाओं' पर कार्य कर रहा था। अतः उसने 'अभिसंधानित सहज-क्रिया' का पता लगाया। वेशेरेव मानसिक विकारों पर कार्य कर रहा था। इसके लिये उसने पशुओं और मनुष्यों दोनों पर प्रयोग किया। वह मानसिक रोगों का पता लगाना चाहता था। 'संवद्ध-सहज-क्रिया' पर निर्भर रह कर प्रमाण के आधार पर वह बढ़ना चाहता था। 'अन्तःप्रेक्षण-वादियों' से झगड़ा मोल लेना उसे पसन्द न था। उसका दावा था कि बिना निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, भाव और 'विचार', ऐसे शब्द का प्रयोग किये ही उसने मानसिक विकारों का बहुत कुछ पता लगा लिया। (उसके अनुसन्धानों से हमें यहाँ विशेष प्रयोजन नहीं) पव्लव ने अपने अन्वेषण में एक कुत्ते को आधार माना। उसे निश्चित समय पर वह नित्य भोजन देता रहा। कुछ दिन के बाद उसने देखा कि भोजन देने वाले आदमी को ही देख कर अथवा उसके पैरों की आहट सुन कर ही कुत्ते के मुँह से लार टपकने लगती है। पव्लव पहले तो इस बात को ठीक से न समझ सका। उसने सोचा कि भोजन को देख कर लार का टपकना तो ठीक है, परन्तु उसे बिना देखे लार टपकने का कारण उसकी समझ में न आया। उसने समझा कि भोजन लाने के साथ जो और बातें सम्बन्धित हैं उनका भी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता अतः उन्हें भी देखने से लार आ जाती है। भोजन देखने से लार का टपकना स्वाभाविक है। अतः यह 'सहज-क्रिया (रिफ्लेक्स ऐक्शन) है। परन्तु तश्तरी, आदमी अथवा उसकी आहट सुन कर लार का टपकना स्वाभाविक नहीं। इसलिये इसे पव्लव ने 'अभिसंधानित सहज-क्रिया' का नाम दिया। पव्लव ने सोचा कि वातावरण के अनुसार अपने को बनाने में पशु अपनी इस योग्यता पर अवश्य ही अधिक निर्भर करता है। पव्लव इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि हमारी 'सहज-क्रिया' स्वाभाविक होती है। उसे हम अपने आप सीख लेते हैं। परन्तु 'अभिसंधानित

वेशेरेव से 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' का पता, पव्लव—'अभिसंधानित सहज-क्रिया', हमारा सब कुछ सीखना अभिसंधानित सहज-क्रिया के आधार पर।

सहज-क्रिया' स्वाभाविक नहीं होती। तथापि उसे भी हम अपने आप ही सीख लेते हैं। अपने इन निष्कर्ष से पवलव ने शिक्षा का एक सिद्धान्त निकाला। उसका कहना है कि हम सब कुछ 'अभिसंधानित सहज-क्रिया' के आधार पर ही सीखते हैं। बच्चा अपनी अनुकरण करने की शक्ति से हमारे बिल्ली कहने पर बिल्ली कहने लगता है। जब जब हम बिल्ली कहते हैं वह भी बिल्ली कहता है। कुछ दिन के बाद बिल्ली देखने पर हमारे न कहने पर भी वह 'बिल्ली' 'बिल्ली' कह कर चिल्ला उठता है। इसका क्या कारण है? 'बिल्ली' शब्द अब बिल्ली 'जानवर' से जुट गया है, न कि हमारे 'शब्द' के अनुकरण करने से। इसीलिये बिल्ली के सामने आने पर वह 'बिल्ली' 'बिल्ली' पुकारने लगता है। अर्थात् 'बिल्ली' शब्द अब एक जानवर के साथ संबद्ध हो गया है। बच्चा जानवर और शब्द के सम्बन्ध को अब समझता है।

अपने इस परीक्षण से पवलव को विश्वास हुआ कि उसे मानसिक क्रियाओं के एक भेद का पता चल गया है। इससे वह मानसिक क्रिया के एक सिद्धान्त का निरूपण करता है। पवलव ने देखा कि मानसिक क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अनुभवों के क्षेत्र में मस्तिष्क में विश्लेषण करने की एक अद्भुत शक्ति होती है। यह शक्ति विभिन्न प्रेरक अनुभवों में से कुछ प्रधान उत्तेजनाओं को चुन लेती है। इस दृष्टिकोण से मस्तिष्क एक समाचार खींचने वाले रेडियो के समान कहा जा सकता है। हमारी समस्त चेष्टाओं के क्षेत्र में मस्तिष्क 'अभिसंधानित सहज-क्रिया' के अनुसार ही काम करता है।

मस्तिष्क समाचार खींचने वाले रेडियो के समान, 'अभिसंधानित सहज-क्रिया' के अनुसार उसका काम।

'व्यवहारवाद' के उत्कर्ष में पशु-मनोविज्ञान का भी हाथ माना जाता है। पशु-मनोविज्ञान के क्षेत्र में थॉर्नडाइक ने बहुत काम किया है। उसने पशुओं पर बहुत से परीक्षण किये। अपने परीक्षणों के आधार पर थॉर्नडाइक ने यह दिखलाया कि यदि किसी मुर्गी के बच्चे को किसी ऊँचे सन्दूक पर रख दिया जाय तो बिना किसी डर के वह नीचे कूद जायगा। यदि सन्दूक कुछ ऊपर कर दिया जाय तो वह कुछ सन्देह के साथ कूदेगा, और यदि कुछ और ऊपर कर दिया जाय तो वह नीचे कूदेगा ही नहीं। इस प्रकार बिना किसी के सिखाये ही वह 'दूरी' का अर्थ समझने लगा है। एक पिंजड़े में एक मुर्गी का बच्चा रख कर थॉर्नडाइक ने दूसरा परीक्षण किया। पिंजड़े से बाहर निकलने का रास्ता सीधा न होकर टेढ़ा था। बच्चा बाहर निकलने का बार बार प्रयत्न करता रहा। परन्तु बहुत देर बाद वह पिंजड़े से बाहर होकर अपने झुण्ड में मिल सका। बार

थॉर्नडाइक, 'प्रयास एवं त्रुटि से सीखने की विधि' (ट्रायल ऐण्ड एरर मेथड), पशु और मनुष्य दोनों का इस विधि से सीखना।

बार उसी पिंजड़े में बन्द होने से बाहर निकलने की कला में वह अभ्यस्त होता गया और कुछ दिन बाद वह शीघ्र ही पिंजड़े से बाहर निकल आता था। थॉर्नडाइक ने मछली, कुत्ते तथा बिल्ली आदि जानवरों पर भी कई परीक्षण किये। उसने निष्कर्ष निकाला कि पशु अपने 'प्रयास' और 'त्रुटि' के बल पर सीखता है। पहले वह प्रयत्न करता है और असफल होता है। फिर प्रयत्न करते करते वह अन्त में सीख लेता है। इस प्रकार पशु के पास बुद्धि कम होती है। वह किसी दूसरे से नहीं सीखता। किसी बात को सीखने में वह सोच विचार से कम काम लेता है। परन्तु वह अन्त में अपने ही प्रयत्न से स्वयं सीख लेता है। इस विधि को 'प्रयास एवं त्रुटि से सीखने की विधि' (ट्रॉयल ऐण्ड एरर मेथड) कहते हैं। थॉर्नडाइक का कहना है कि इस विधि से केवल पशु ही नहीं, वरन् मनुष्य भी सीखता है। 'सीखना' नामक अध्याय में हम इस पर अधिक विस्तार-पूर्वक विचार करेंगे।

व्यवहारवाद और शरीर-विज्ञान में मौलिक भेद, व्यवहारवाद को स्मृति, विचार, संवेग तथा संकल्प का अस्तित्व स्वीकार नहीं।

थॉर्नडाइक के इस विचार से वाटसन को बड़ा सहारा मिला, क्योंकि थॉर्नडाइक के सिद्धान्त के अनुसार 'चेतना' का नाम लिये बिना ही पशु तथा मनुष्य की सभी चेष्टाओं और व्यवहार की व्याख्या की जा सकती थी। प्रारम्भ में लोग व्यवहारवाद की 'शरीर-विज्ञान' से तुलना करने लगे। वाटसन ने इसका घोर विरोध किया। उसका कहना था कि व्यवहारवाद और शरीर-विज्ञान में मौलिक भेद है। व्यवहारवाद पूरे व्यक्ति के व्यवहार और चेष्टाओं की व्याख्या करता है और शरीर-विज्ञान का सम्बन्ध केवल व्यक्ति के विभिन्न अङ्गों से है। तथापि यह मानना पड़ेगा कि व्यवहारवाद का क्षेत्र बहुत ही सीमित है, क्योंकि वह स्मृति (मेमरी), चिन्तन (थिंकिङ्ग), संवेग (इमोशन) तथा संकल्प (विल) के अस्तित्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार करने के लिये तैयार ही नहीं है। निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष (परसेप्शन) को इसने किसी प्रकार अपनी सीमा में ले लिया। परन्तु अन्य महत्वपूर्ण बातों को तो इसने छोड़ ही दिया।

संवेग और मूलप्रवृत्तियाँ (इमोशन ऐण्ड इन्स्टिङ्क्ट)—

बच्चों में भय, क्रोध और प्रेम वातावरण के उत्तेजना के फलस्वरूप।

वाटसन के अनुसार 'संवेग' से हमारे शरीर में विशेषकर आँत और ग्रन्थि सम्बन्धी बहुत से परिवर्तन होते हैं। उसके इस दृष्टिकोण में हमें जेम्स-लैंग-सिद्धान्त* की गन्ध आती है। वाटसन ने बच्चों में होने वाले संवेग का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। बच्चों में भय, क्रोध और प्रेम तीन प्रकार के संवेगात्मक व्यवहार को उसने माना। परन्तु इन व्यवहारों को उसने

* आठवाँ अध्याय देखो।

वातावरण की उत्तेजना के फलस्वरूप स्वीकार किया, न कि शरीर के किसी ग्रन्थि सम्बन्धी 'परिवर्तन' से। उदाहरणतः किसी ऊँची ध्वनि अथवा अवलम्ब के छूट जाने से उनमें डर उत्पन्न हो जाता है। यदि उनकी स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित की गई तो वे क्रोधित हो जाते हैं। थपथपाने से उनमें प्रेम का भाव उत्पन्न हो जाता है।

पहले तो वाटसन ने किसी 'मूलप्रवृत्ति' के अस्तित्व को स्वीकार न किया। किसी वंशानुक्रमीय (हेरीडिटरी) मानसिक गुण को भी उसने न माना। वह कट्टर वातावरणवादी दिखलाई पड़ा। उसका कहना था कि उचित वातावरण की सहायता से किसी भी बालक को उच्च कोटि का चिकित्सक, कलाकार या कुछ भी बनाया जा सकता है। इस प्रकार 'वंशानुक्रमीय-योग्यता' को उसने कुछ महत्व ही नहीं दिया। आगे चल कर व्यवहारवाद इस वातावरणवाद के कारण निर्बल दिखलाई पड़ने लगा। फलतः बाध्य होकर अन्त में वाटसन को कुछ मानव 'मूलप्रवृत्तियों' को मानना ही पड़ा। इतना ही नहीं, वरन् उसने इन शक्तियों को बहुत सी आदतें सीखने का आधार भी माना।

पहले वाटसन ने वंशानुक्रमीय मानसिक गुण को न माना, 'मूलप्रवृत्तियाँ' नहीं, पर बाद में कुछ 'मूलप्रवृत्तियाँ' स्वीकार।

व्यवहारवाद के अनुसार सीखने का सिद्धान्त—

पीछे हम यह कह चुके हैं कि थॉर्नडाइक के "प्रयास एवं त्रुटि से सीखने की विधि" से वाटसन को बहुत सहारा मिला। परन्तु वाटसन ने इस विधि की व्याख्या दूसरे प्रकार से की। उसने कहा कि गलत प्रतिक्रियाओं (रेसपॉन्सेज) को त्याग कर ठीक प्रतिक्रियाओं का नई आदतों में संगठित करने को सीखना कहते हैं, परन्तु इसको 'प्रयास एवं त्रुटि से सीखने की विधि' नहीं कह सकते। इसे 'सफल प्रतिक्रियाओं के आधार पर सीखना, (लर्निङ्ग बाइ सक्सेसफुल वैरियण्ट) कहते हैं। व्यवहारवादियों का दावा है कि पशु और मनुष्य दोनों इस विधि से सीखते हैं। यदि किसी छोटे बच्चे को किसी टेढ़े रास्ते वाले पिंजड़े में छोड़ दिया जाय तो वह भी साधारण जानवरों के सदृश बहुत से असफल प्रयत्न करने के बाद ही बाहर निकलने में सफल हो सकेगा। कोहलर की 'सूझ से सीखने की विधि' (लर्निङ्ग बाइ इनसाइट) में भी 'प्रयास एवं त्रुटि से सीखने की विधि' छिपी हुई है। केवल उसका विश्लेषण स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता, क्योंकि यह बहुत शीघ्रता से सीखने की विधि है; और यह सरल समस्याओं तक ही सीमित जान पड़ती है। किसी समस्या या

"प्रयास एवं त्रुटि से सीखने की विधि" को "सफल प्रतिक्रियाओं को चुनने से सीखना" कहना ठीक पशु और मनुष्य दोनों का इस विधि से सीखना।

प्रश्न पर सोचते सोचते अचानक हम बोल उठते हैं कि 'आ गया', 'आ गया'। वास्तव में हमें उस प्रश्न का हल अचानक नहीं आया। बहुत से असफल प्रयत्न करने के बाद ही अन्त में हम ठीक निश्चय पर पहुँच सके हैं। इस प्रकार व्यवहारवादी सूझ (इनसाइट) को भी 'प्रयास एवं त्रुटि से सीखने की विधि' पर आधारित मानते हैं और कहते हैं कि हम अपनी असफल प्रतिक्रियाओं को त्याग कर 'सफल' को चुनने से ही किसी आदत को सीखते हैं।

थॉर्नडाइक द्वारा सीखने की विधि के दो भाग :—

१—'अभ्यास का नियम' (लॉ ऑव् इक्सरसाइज़) और २—'परिणाम का नियम' (लॉ ऑव् इफ़ेक्ट)। यदि हम किसी काम को बार बार करते हैं तो हम में उस काम के करने की शक्ति बढ़ जाती है। यदि उसका अभ्यास छोड़ देते हैं तो शक्ति क्षीण हो जाती है। इस प्रकार के सीखने को 'अभ्यास का नियम' कहते हैं। परन्तु सीखने में हर स्थान पर अभ्यास ही काम नहीं देता। कोई काम ऐसा होता है कि उसमें बार बार गलती नहीं होती, क्योंकि उस काम को करने में हमें आनन्द आता है। उसका परिणाम हमारे लिये सुखदायी होता है। इसलिये उसका अभ्यास छूट जाने पर भी उसे हम भूलते नहीं। परन्तु जिस काम को करने में हमें कष्ट होता है उसे हम शीघ्र भूल जाते हैं। यदि संगीत में हमारी रुचि हुई तो हम उसे शीघ्र सीख लेते हैं, क्योंकि उसका परिणाम सुखदायी होता है। परन्तु गणित में रुचि न होने से हम उसके प्रश्न बार बार भूल जाते हैं। सुखद परिणाम के फल से प्रेरित होकर सीखने को 'परिणाम का नियम' कहते हैं। वाटसन 'परिणाम के नियम' को मानने के लिये तैयार न था। 'अभ्यास के नियम' से तो उसने किसी प्रकार समझौता कर लिया। परन्तु 'परिणाम' में उसे 'चेतना' की गन्ध आ रही थी। इसलिये उसने 'परिणाम के नियम' को एकदम निकाल देने का प्रयत्न किया। उसने कहा कि परिणाम के फल से कोई व्यक्ति नहीं सीखता, वरन् पुनरावृत्ति (फ्रीक्वेन्सी), नवीनता (रीसेन्सी) तथा स्पष्टता (विविडनेस) के आधार पर ही मनुष्य सीखता है। इस प्रकार वाटसन ने 'अभ्यास' के नियम को ही प्राधान्य दिया। उसका कहना है कि हमारी सफल प्रतिक्रियाएँ पुनरावृत्ति के कारण हमारे व्यवहार की अङ्ग बन जाती हैं और तदनुसार हम नई बात सीख लेते हैं। परन्तु थॉमसन ने इस विचार की तीव्र आलोचना की। उन्होंने यह सिद्ध किया कि 'परिणाम का नियम' मनुष्य और पशु दोनों के सीखने में महत्व रखता है। थॉर्नडाइक और थॉमसन के प्रश्नों का उत्तर वाटसन को पवलव के परीक्षणों में स्पष्ट दिखलाई पड़ा। अतः लव के निष्कर्षों को उसने स्वीकार कर लिया। वाटसन ने 'परिणाम के

अभ्यास तथा परिणाम का नियम; वाटसन के अनुसार परिणाम का नियम गलत, पुनरावृत्ति, नवीनता तथा स्पष्टता के आधार पर सीखना, 'अभिसंधानित सहज-क्रिया' भी सीखने का आधार, 'व्यवहारवाद या उत्तेजना-प्रतिक्रियावाद'।

नियम' को अस्वीकृत कर 'संबद्ध-सहज-क्रिया' को सीखने का आधार माना। ऐसा मानने में 'चेतना' शब्द के प्रयोग से उसकी जान बच जाती थी। वाटसन ने 'चेतना' के स्थान पर 'उत्तेजना' (स्टीमुलस) शब्द का प्रयोग किया। अपने व्यवहारवाद के सिद्धान्त से 'देखने की क्रिया' को वाटसन ने इस प्रकार समझाया :—पहले हमारे सामने कोई वस्तु उपस्थित होती है। इस वस्तु को वाटसन ने 'उत्तेजना' कहा। 'उत्तेजना' के सामने आने पर आँखों की 'प्रतिक्रिया' (रेसपॉन्स) हुई। इस प्रकार 'उत्तेजना-प्रतिक्रिया' के संयोग से 'देखने की क्रिया' सम्पन्न हुई। इसी प्रकार हमारी अन्य क्रियाओं की भी व्याख्या की जा सकती है। व्यवहारवादी 'उत्तेजना-प्रतिक्रिया' के अनुसार अपने भावों को प्रकट करना अधिक पसन्द करते हैं। इसलिये 'व्यवहारवाद' को 'उत्तेजना-प्रतिक्रियावाद' (स्टिमुलस-रेसपॉन्स थियरी) नाम भी दे दिया गया है।

व्यवहारवाद और शिक्षा :

व्यवहारवादियों के अनुसार मस्तिष्क के विकास में वंशानुक्रमीय गुण का कुछ भी अंश नहीं होता। प्रत्येक मनुष्य का मस्तिष्क उसके वातावरण के अनुसार अच्छा या बुरा होता है। यदि कोई शिक्षक व्यवहारवादियों के इस संकीर्ण विचार के अनुसार चले तो वह धोखा खायेगा। मस्तिष्क कोई यन्त्र नहीं है। वह 'जीव' से बड़ा होता है। क्योंकि जीव तो प्रायः एक ही प्रकार के रूप को धारण किये हुए भूतकाल की ही गति को स्थिर रखने को चेष्टा में रहता है। मस्तिष्क के सम्बन्ध में हम ऐसी बात नहीं कह सकते। अपनी 'क्रियाशीलता' में मस्तिष्क इससे अधिक स्वतन्त्र दिखलाई पड़ता है। किसी प्रकार के अनुभव को धारण करने की उसमें शक्ति होती है। जो कुछ भी जाना जा सकता है वह सब कुछ उसके क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाता है। स्वयं मस्तिष्क में कुछ ऐसे गुण निहित हैं जिनसे उसके विकास की धारा प्रवाहित होती रहती है। अतः व्यवहारवादियों का यह सोचना कि मस्तिष्क के विकास को प्रचलित करने के लिये उसमें वंशानुक्रमीय गुण के अंश नहीं होते भ्रमात्मक है। यदि ऐसी ही बात होती तो उचित शिक्षा की व्यवस्था कर हम प्रत्येक बालक को अपनी तथा उसकी इच्छानुसार चाहे जो बना सकते। व्यवहारवादियों के अनुसार तो मस्तिष्क वातावरण की दया पर निर्भर हो जायगा; परन्तु यह एकदम असम्भव है। मनुष्य का अपना अलग व्यक्तित्व होता है। उस व्यक्तित्व के अनुसार वह अपनी इच्छा और अनिच्छा प्रकट किया करता है। इच्छा के विरुद्ध उससे हम कोई भी कार्य नहीं करा सकते। उसे किसी भी

वंशानुक्रमीय गुण को न मानने से व्यवहारवाद संकीर्ण, अपने विकास की धारा प्रवाहित करने के लिये मस्तिष्क में कुछ शक्ति निहित, व्यक्तित्व की छाप हमारे सभी प्रयोजनों और अनुभवों में, मनुष्य वातावरण की दया पर निर्भर नहीं।

परिस्थिति में हम क्यों न रख दें, वह अपनी प्रकृति के अनुसार सदैव क्रियाशील रहेगा। हमारा व्यक्तित्व हमारे सभी अनुभवों में एकत्व स्थापित करने की चेष्टा करता है। इसकी छाप हमारे सभी प्रयोजनों और अनुभवों में उपस्थित रहती है। यदि हम कोई वस्तु बनाते हैं तो उसमें हमारे व्यक्तित्व की छाप आ जाती है। बालक के प्रत्येक कार्य में हमें उसकी आत्मा की झलक दिखलाई पड़ती है। उसमें एक सौन्दर्य-भावना होती है जो उसके व्यक्तित्व में सदैव निहित रहती है और उसके प्रत्येक कार्य में अपनी छाप उपस्थित कर देती है। यदि हम बच्चे को उसके विकास के लिये स्वयं उत्तरदायी बना दें तो वह अनैतिक कभी नहीं होगा। उसके जीवन में हर समय हमें पूर्णता की प्राप्ति की एक चेष्टा का भान होता रहेगा।

व्यवहारवाद मानव के व्यक्तित्व की सन्तोषप्रद व्याख्या नहीं करता। मस्तिष्क जीव अथवा पौधे की श्रेणी से बहुत ही ऊपर है। उसका विकास जीव-विद्या सम्बन्धी नियमों के अनुसार नहीं होता। मानव व्यक्तित्व को भली भाँति समझने के लिये हमें आगे पीछे दोनों ओर जाना होगा। हमें अपनी मूलप्रवृत्तियों के विकास के इतिहास का अध्ययन करना होगा। इस अध्ययन से हमें यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य के वर्तमान व्यक्तित्व के विकास की कहानी बहुत पुरानी है, और यह बहुत से तत्वों और गुणों से युक्त एक सामञ्जस्यपूर्ण सत्व है। व्यक्तित्व का विकास 'पूर्ण-जीवन' की इच्छा तक ही सीमित नहीं है। वह तो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का मूर्तिमत्ता है जिसका इतिहास वंश-परम्परागत है। यह सही है कि हम 'संवद्ध-सहज-क्रियाओं' द्वारा सीखते हैं। परन्तु इन क्रियाओं का ठीक समय पर उचित रूप से एकीकरण कैसे होता है? स्पष्ट है कि व्यक्ति में कोई ऐसी शक्ति अवश्य है जो इन क्रियाओं को उचित रूप से परिचालित कर व्यक्तित्व-निर्माण में योग देती है। इससे यह स्पष्ट है कि वाटसन का यह कहना कि मनुष्य का व्यवहार उसकी वाह्य चेष्टाओं के अध्ययन से ही जाना जा सकता है भ्रमात्मक है, क्योंकि वाह्य चेष्टाओं की परिचालक तो हमारी आन्तरिक शक्तियाँ हैं। अतः उन शक्तियों का भी अध्ययन आवश्यक है।

व्यवहारवाद में मानव व्यक्तित्व की सन्तोषप्रद व्याख्या नहीं, वाह्य चेष्टाओं के अध्ययन से ही मनुष्य का व्यवहार समझना कठिन, वाह्य चेष्टाओं की परिचालक आन्तरिक शक्तियाँ।

२—अवयवीवाद (गेस्टाल्ट साइकॉलोजी)—

अमेरिका के व्यवहारवाद के साथ ही साथ जर्मनी में 'अवयवीवाद' का जन्म हुआ। अवयवीवाद को जर्मन भाषा में 'गेस्टाल्ट साइकॉलोजी' कहते हैं। 'गेस्टाल्ट' शब्द का अर्थ रूप (शेप), 'आकृति' (फॉर्म), अवयवी (होल), संवद्ध-प्रत्यय, अथवा आदर्श (पैटर्न) होता है। गेस्टाल्ट शब्द का ठीक ठीक अनुवाद नहीं किया जा सकता। अँग्रेजी में इसे 'कॉनफिगरेशन' भी

कहते हैं। व्यवहारवाद मनुष्य अथवा पशु को व्यवहार-प्रधान जीव मानता है। व्यवहार के विश्लेषण पर ही व्यवहारवादी विशेष बल देते हैं। अवयवीवादियों का कहना है कि व्यवहार या अनुभव के विश्लेषण से मानव व्यक्तित्व को अच्छी प्रकार नहीं समझा जा सकता व्यवहारवादियों ने 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' (सेन्सेशन) को नहीं माना, क्योंकि वह 'गतियुक्त प्रतिक्रिया' (मोटर रेस्पॉन्स) नहीं है। इसे अवयवीवादियों ने अनुभव का एक अङ्ग होने के नाते अस्वीकार किया। व्यवहारवाद ने अन्तःप्रेक्षण की आलोचना की, क्योंकि इससे व्यवहार की व्याख्या न होकर केवल अनुभव की व्याख्या होती थी। अवयवीवाद ने केवल विश्लेषणात्मक अन्तः प्रेक्षण की ही आलोचना की। व्यवहारवाद 'सत्तावाद' को 'चेतना-सम्बन्धी' समझता था। अवयवीवाद 'सत्तावाद' को केवल कृत्रिम समझता है। उसको इसमें वास्तविकता की झलक न दिखलाई पड़ती थी।

व्यवहारवाद और अवयवीवाद में भेद।

अवयवीवादी परीक्षणवादी थे। वे अपने निष्कर्षों को परीक्षणशालाओं की कसौटी से सच्चा सिद्ध करना चाहते थे। फलतः उन्होंने हमें बहुत सारगर्भित परीक्षण दिये हैं। नई और पुरानी समस्याओं का हल उन्होंने नवीन दृष्टिकोण से किया है। अन्य मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन में विश्लेषणात्मक शैली की प्रधानता रहती थी। वे सब कुछ विश्लेषण से ही समझना चाहते थे। वे चेहरे की आकृति तथा चरित्र के अध्ययन के लिये विभिन्न अंशों का विश्लेषण करते थे। वे चेहरे के प्रत्येक भाव का अलग अलग अध्ययन कर प्रत्येक का आशय समझने की चेष्टा करते थे। अवयवीवादियों ने कहा कि चेहरे का अध्ययन उसके भिन्न भिन्न अङ्गों को अलग अलग लेकर करना भ्रमात्मक है। इससे हमें कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता। अवयवों (पार्टस्) का अध्ययन 'अवयवी' (होल) के सम्बन्ध में किया जाय तभी उसका कुछ अर्थ हो सकता है; क्योंकि चेहरे का रूप पूरे चेहरे में है, न कि नाक, मुँह व आँख इत्यादि में अलग अलग। नाक अथवा आँख कहने से हमें चेहरे का पूरा बोध नहीं होता, परन्तु चेहरा कहने से इन सब अङ्गों का बोध हो जाता है। वस्तुतः आँख या नाक का चेहरे में अपना अलग अस्तित्व नहीं। वे तो चेहरे के अङ्ग मात्र हैं। ऐसे ही यदि हमें किसी राग, उदाहरणार्थ, 'भीमपलासी' का नाम लेते हैं तो हमें पूरे राग का बोध होता है, न कि उसके विभिन्न स्वरों के अलग अलग अस्तित्व का। भीमपलासी राग की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। चेहरे की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। अतएव इनकी कल्पना भिन्न भिन्न भागों के रूप में नहीं करनी चाहिये। इसी प्रकार 'अवयवीवादियों' ने कहा कि किसी व्यक्ति के

परीक्षणवादी, विश्लेषण के आधार पर किसी वस्तु को समझना भ्रमात्मक, अवयवी के सम्बन्ध में अवयवों का अध्ययन करना आवश्यक, किसी वस्तु को समझने के लिये सम्पूर्ण वस्तु अर्थात् अवयवी पर ध्यान देना।

चरित्र को समझने के लिये उसके व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणों के अध्ययन से हमारा काम नहीं चलेगा; क्योंकि इस प्रकार के अध्ययन में हम उसके साधारण, असाधारण तथा विशिष्ट गुणों को अच्छी प्रकार नहीं पहचान सकते। व्यक्तित्व तो एक 'सङ्गठित अवयवी' (ऑर्गेनाइज़्ड होल) है। वह विभिन्न लक्षणों का योग नहीं है। रुधिर-संचार और तन्तु-संस्थान से प्राणी के सभी अङ्ग एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। प्राणी एक संयुक्त सत्ता के रूप से व्यवहार करता है। उसका व्यवहार विभिन्न 'क्रियाओं' (रिफ्लेक्सेज़) का योग नहीं है अतः सारांश यह निकला कि किसी वस्तु के अध्ययन में हमें सम्पूर्ण वस्तु अर्थात् 'अवयवी' (होल) पर ध्यान देना है, न कि उसके विभिन्न भाग अथवा 'अवयवों' (पार्ट्स) पर।

मैक्स वर्थीमर (१८८०–१९४३), कफ कॉफ़का (१८८६–१९४१) और वोल्फांग कोहलर (१८८१) अवयवीवाद के प्रमुख नेता माने जाते हैं। वर्थीमर ने छिपे हुए ज्ञान की खोज में विशेष परिश्रम किया। हमारा उससे यहाँ प्रयोजन नहीं। कॉफ़का ने 'प्रतिमा' और 'विचार' पर महत्त्वपूर्ण काम किया। कोहलर ने सीखने की विभिन्न समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। कॉफ़का और कोहलर ने विशेषकर अपने परीक्षण 'दृष्टि' (साइट) पर किये। मान लीजिये, दस मीटर की दूरी पर रखी हुई वस्तु हमसे बीस मीटर की दूरी पर हटा दी जाती है। ऐसा करने से आँख के पिछले चित्रपट पर उस वस्तु की प्रतिमा पहले से आधी हो जाती है। तथापि वह वस्तु पहले जैसी ही हमें बड़ी दिखलाई पड़ती है। इसका अर्थ हम यह समझते हैं कि दूरी के अनुपात में वस्तु के आकार को समझना हमने सीख लिया है। अवयवीवादी इस व्याख्या से सहमत नहीं। उनका कहना है कि पदार्थ की आकृति की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं। वस्तु की आकृति परिस्थिति विशेष में मस्तिष्क पर पड़ी हुई प्रतिक्रिया का फल है। मस्तिष्क परिस्थिति को भली भाँति समझता है। वस्तु का चित्र आँख की दीवार पर पड़ता है। इस चित्र को समझने के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं। पदार्थ की परिस्थिति और अवस्था का भी ज्ञान उसके समझने के लिये आवश्यक है। यह ज्ञान प्राप्त करना मस्तिष्क का काम है। वस्तु की दूरी का प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है; क्योंकि "दूरी" 'सम्पूर्ण परिस्थिति' का एक अङ्ग हो जाती है। 'सम्पूर्ण परिस्थिति' में मस्तिष्क की जो प्रथम प्रतिक्रिया हुई है उसके कारण वस्तु के दूर हट जाने पर भी उसका आकार नहीं बदलता। पहले जिस आकार का भान मस्तिष्क को हो गया है वही आकार स्थायी रह जाता है

वस्तु की आकृति की विशिष्ट रूप से स्वतन्त्र सत्ता नहीं, आकृति 'परिस्थिति विशेष' में मस्तिष्क पर पड़े हुये परिणाम का फल।

अवयवीवादियों के अनुसार 'देखने' के क्रम में 'आकार' (फ़ीगर) और 'भूमि' (ग्राउण्ड) का भेद प्रधान है। 'आकार' 'भूमि' से अधिक आकर्षक

होता है। साधारणतः हम लोगों का ऐसा विचार है कि छोटा बालक चेहरे को ठीक ठीक समझ नहीं सकता। परन्तु अवयवीवादियों का कहना है कि छोटे बच्चे चेहरे को तुरन्त समझ लेते हैं, क्योंकि वह दृष्टि सम्बन्धी एक संयुक्त सत्ता (यूनिट) है। इस प्रकार आगे चल कर 'आकार' और 'भूमि' के भेद को बच्चा शीघ्र समझ लेता है।

आकार भूमि से अधिक आकर्षक।

अवयवीवादियों ने 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' पर अन्वेषण करने में अधिक परिश्रम किया है। उनका विश्वास है कि 'व्यवहार' केवल मस्तिष्क सम्बन्धी बातों के अध्ययन से ही समझ में नहीं आ सकता। इसके लिये 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' सम्बन्धी क्रियाओं को भी समझना आवश्यक है। व्यवहार समझने के लिये किसी प्राणी की गतियुक्त प्रतिक्रियाओं के अध्ययन के पूर्व उसके वातावरण को समझ लेना आवश्यक है। उनका विचार है कि 'इन्द्रिय ज्ञान' तथा गतियुक्त प्रतिक्रियाएँ प्राणी की सम्पूर्ण क्रियाशीलता में निहित होती हैं। अवयवीवादी 'उत्तेजना-प्रतिक्रियावाद' (स्टिमुलस-रेसपॉन्स थियरी) के विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि व्यवहार का हम भौतिक पदार्थ के विभिन्न तत्वों के सदृश विश्लेषण नहीं कर सकते। 'उत्तेजना' और 'प्रतिक्रिया' की इकाइयों में भी इसको हम ठीक ठीक नहीं समझ सकते। बहुत से व्यवहारवादियों ने हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार यह स्वीकार कर लिया कि 'व्यवहार' हमारी 'क्रियाओं' (रिफ्लेक्सेज़) की शृङ्खला है। अवयवीवदियों ने इस विचार का खण्डन किया। उनका कहना है कि बालक पृथक पृथक क्रियाओं (रिफ्लेक्सेज़) द्वारा नहीं सीखता। उसका व्यवहार विभिन्न क्रियाओं के एक में मिलने से नहीं होता। वह तो संगठित व्यवहार से ही अपना जीवन प्रारम्भ करता है।

अवयवीवाद के अनुसार 'व्यवहार', सविकल्पक सम्बन्धी क्रियाओं को भी समझना आवश्यक, व्यवहार क्रियाओं की शृङ्खला नहीं।

अवयवीवाद के अनुसार 'सीखना'

हमारे 'सीखने की क्रिया' का रूप क्या है? थॉर्नडाइक का कहना है कि हम सुखद अथवा दुखद प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप सीखते हैं। यदि प्रतिक्रिया सुखद हुई तो वह हमें सदा के लिये याद हो जाती है। यदि वह दुखद हुई तो वैसा न करने की भी हमारी आदत पड़ जाती है। अर्थात् हम अपनी सफलता के अनुसार नई नई आदतें सीखते हैं। यदि किसी विषय में बालक को सफलता मिल गई तो वह प्रशंसा अथवा पुरस्कार पाता है, अन्यथा दण्ड का भाजन होता है। थॉर्नडाइक के अनुसार हमारी प्रतिक्रिया 'उत्तेजना विशेष' के प्रति होती है।

प्रतिक्रिया 'विषय विशेष' के प्रति नहीं, अपितु किसी आदर्श के प्रति।

अवयवीवादी इसको नहीं मानते। उनके अनुसार हमारी प्रतिक्रिया किसी, आदर्श (पैटर्नस्) के प्रति होती है। इस बात को सिद्ध करने के लिये उन्होंने एक परीक्षण किया। एक घोड़े के आगे दो बाल्टियों में से एक में भोजन रखा जाता है। एक बाल्टी पर 'अ' नम्बर लगा हुआ है, इसका रंग हलका नीला है। दूसरे का नम्बर 'ब' है और इसका रंग गहरा नीला है। घोड़े को नित्य 'ब' बाल्टी में भोजन दिया जाता है। कुछ दिन के बाद 'अ' बाल्टी हटा ली जाती है और उसके स्थान पर 'स' नम्बर की दूसरी बाल्टी रख दी जाती है। इस बाल्टी का रंग 'ब' से भी अधिक गहरा नीला है। दूसरे दिन घोड़ा 'ब' बाल्टी की ओर न जाकर 'स' बाल्टी में मुँह डालता है। ऐसा क्यों? यदि उसकी प्रतिक्रिया 'उत्तेजना विशेष' के साथ हुई होती तो वह 'ब' बाल्टी की ओर जाता। उसकी प्रतिक्रिया तो गहरे नीले रंग के साथ हुई थी, अवयव के प्रति नहीं, अवयवी के प्रति। अर्थात् 'विषय विशेष' के प्रति न होकर किसी 'आदर्श' के प्रति उसकी प्रतिक्रिया हुई थी। अतएव वह 'स' बाल्टी की ओर गया।

प्राणी की प्रतिक्रिया सम्पूर्ण परिस्थिति के प्रति, कोहलर का बनमानुष पर परीक्षण, 'सम्पूर्ण' से 'अंश' की ओर जाना, अंश से सम्पूर्ण की ओर नहीं।

प्राणी यन्त्र से भिन्न होता है। उसकी प्रतिक्रिया सम्पूर्ण परिस्थिति के प्रति होती है। वह अपने व्यवहार में सम्पूर्ण परिस्थिति को अपनी दृष्टि में रखता है। कोहलर ने अफ्रीका देश के बनमानुषों (शिम्पाञ्जियों) पर कुछ परीक्षण कर इस बात को और भी सिद्ध कर दिया। सम्पूर्ण परिस्थिति के प्रति मनुष्यों की प्रतिक्रिया को तो समझा भी जा सकता है, क्योंकि उसके पास बुद्धि है। पर पशुओं के विषय में इसे कैसे माना जाय? कोहलर के परीक्षण ने इसे भी स्पष्ट कर दिया। कोहलर को यह जानने की जिज्ञासा हुई कि बनमानुषों के पास कुछ अधिक बुद्धि होती है कि नहीं और क्या वे 'प्रयास व त्रुटि' की सीखने की विधि से ऊपर उठ सकते हैं अथवा नहीं। कोहलर बनमानुप के पथ में कुछ बाधाएँ उपस्थित करना चाहता था, जिससे उसकी बुद्धि का ठीक ठीक पता चल जाय, अन्यथा वह सीधे सीधे अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जायगा और सीखने की बात ही कुछ न आयेगी। परन्तु कोहलर यह भी चाहता था कि बनमानुप की 'सूझ' (इनसाइट) की भी परीक्षा होनी चाहिये। इसके लिये उसके सामने सम्पूर्ण परिस्थिति (टोटल सैचुयेशन) उपस्थित करनी चाहिये जिससे वह परिस्थिति की सभी बातों को देख ले। कोहलर ने सोचा कि इससे यह पता चल जायगा कि बनमानुप को सभी बातों के अध्ययन करने के बाद पूर्ण परिस्थिति अर्थात् 'अवयवी का अथवा 'आदर्श' का ज्ञान हो जाता है कि नहीं। उसने एक बनमानुष को एक पिंजड़े में बन्द कर दिया। एक केले को रस्सी से बाँध कर पिंजड़े के पास जमीन पर रख दिया गया। कई रस्सियाँ पिंजड़े से केले तक फैला दी गईं। बनमानुप ने रस्सी खींचना प्रारम्भ किया। पहले प्रयत्न में

उसके लिये सफल होना कठिन था। मनुष्य तो शीघ्र ही ठीक रस्सी को खींच कर केला पा लिया होता। बनमानुष ने कई रस्सियों को थोड़ा थोड़ा खींच कर छोड़ दिया, क्योंकि उससे केला आता हुआ नहीं दिखलाई पड़ता था। थोड़ी ही देर में जिस रस्सी से केला आ रहा था उसी को उसने खींच लिया और शेष को छोड़ दिया। बनमानुष को इस कार्य में अन्य जानवरों की अपेक्षा शीघ्रतर सफलता मिली। इससे उसकी 'सूझ' का पता लगता है। उसने और भी बहुत से परीक्षणों में अपनी 'सूझ' का प्रमाण दिया। उदाहरणार्थ—वह सन्दूकों को एक दूसरों के ऊपर जोड़ कर उसके ऊपर चढ़ गया और ऊँचे रखे हुए अपने भोजन को प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार उसने छड़ी के दो टुकड़ों को उनके स्थान पर जोड़ कर ऊपर रखे हुए अपने भोजन को खोद कर नीचे गिरा लिया। हाँ, यह सत्य है कि बनमानुष को बहुत से असफल प्रयत्न करने के बाद ही सफलता मिली। परन्तु समस्या का हल उसे अन्य जानवरों की अपेक्षा अधिक शीघ्र मिला और दूसरे दिन भी उसे सब याद रहा। इससे उसकी 'सूझ' का पता लगता है। समस्या का हल उसे अचानक नहीं मिला, अपितु सम्पूर्ण परिस्थिति को अच्छी प्रकार समझ लेने के बाद ही वह सफल हो सका। सम्पूर्ण परिस्थिति के इस प्रकार के देखने को अवयवी (गेस्टाल्ट) कहते हैं। अवयवीवादियों के अनुसार मनुष्य और पशु दोनों इसी प्रकार से सीखते हैं। कोहलर के अनुसार बालक पहले अंशों को नहीं सीखता। वह सम्पूर्ण परिस्थिति को पहले समझता है। अतः उसे पहले यह नहीं सिखाना चाहिये कि शब्द किन किन अक्षरों से बनते हैं; उसे पहले शब्दों का ज्ञान कराना चाहिये, अपितु शब्दों से पहले वाक्यों का ही। अवयवीवाद का यह कथन है कि हम 'अवयवी' (होल) से 'अवयव' (पार्ट) की ओर जाते हैं, 'अवयव' से 'अवयवी' की ओर नहीं।

अवयवीवादियों ने एक और बड़ा महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला है। हम पीछे कह चुके हैं कि 'उत्तेजना प्रतिक्रिया-वाद' से अवयवीवादी सहमत नहीं। उत्तेजना-प्रतिक्रियावाद (अथवा व्यवहारवाद) के अनुसार 'उत्तेजना' और 'प्रतिक्रिया' में एक बन्धन होता है जिससे 'प्रतिक्रिया' होती है। परन्तु अवयवीवादी प्रो० ल्यूविन (१८९०-१९४७) का कहना है कि केवल यह बन्धन ही प्रतिक्रिया को उत्पन्न कर देने के लिये पर्याप्त नहीं है। अपने कथन की पुष्टि ल्यूविन ने इस प्रकार की है। हम एक पत्र पोस्ट बॉक्स में छोड़ने के लिये जेब में डाल कर चलते हैं। पोस्ट बॉक्स 'उत्तेजना' (स्टिमुलस) है और जेब से पत्र निकाल कर उसमें डालना 'प्रतिक्रिया' है। दोनों में हमने एक बन्धन जोड़ लिया है। पोस्ट बॉक्स देखने पर हम झट पत्र जेब से निकाल कर उसमें डाल देते हैं। इस प्रकार उस बन्धन के कारण प्रतिक्रिया होती है।

'उत्तेजना' और 'प्रतिक्रिया' का बन्धन ही प्रतिक्रिया उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त नहीं, मानसिक 'तनाव' से क्रिया शक्ति का बढ़ जाना, इस तनाव को दूर करने के लिये सम्पूर्ण परिस्थिति को अध्ययन के बाद उसमें प्रतिक्रिया का होना।

परन्तु 'उत्तेजना-प्रतिक्रिया' सिद्धान्त के अनुसार तो अभ्यास से यह बन्धन और पुष्ट होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब जब हम पोस्ट बॉक्स देखें तब तब जेब से पत्र निकाल कर उसमें छोड़ने का ध्यान आना चाहिये, पर ऐसा नहीं होता। क्यों? इससे अवयवीवादी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'उत्तेजना' और 'प्रतिक्रिया' में बन्धन स्थापित हो जाने से ही 'प्रतिक्रिया' आवश्यक नहीं हो जाती। पत्र पोस्ट बॉक्स में डालने का जब हमने विचार किया था उस समय हमारे मस्तिष्क में एक तनाव (टेन्शन) पैदा हो गया था। पत्र डाल देने के बाद ही यह तनाव हट गया। यदि पत्र छोड़ने के लिये दूसरे को दे दिया गया होता तो तनाव कम हो जाता, और उस व्यक्ति से पत्र छोड़ने के बारे में पूछने का 'तनाव' हमारे मस्तिष्क में आ जाता। उससे भेंट होने पर पत्र छोड़ने के बारे में हम तुरन्त पूछते हैं, और हमारा तनाव दूर हो जाता है। यह तनाव दूर हो जाने पर हम बार बार उस व्यक्ति से नहीं पूछेंगे कि उसने पत्र छोड़ा अथवा नहीं। सामने किसी कठिनाई के आने पर 'तनाव' उत्पन्न हो जाता है। इस तनाव से हमारी क्रिया-शक्ति बढ़ जाती है, क्योंकि हम काम को पूरा कर तनाव को दूर करना चाहते हैं। इसी प्रकार यदि विद्यार्थी को हम कोई समस्या (प्रॉबलेम) देते हैं तो उसके मस्तिष्क में एक तनाव आ जाता है। उसकी चेष्टा होती है कि समस्या का हल निकाल कर उस तनाव को शीघ्र दूर करे। उसकी यह चेष्टा अवयवीवाद की पुष्टि करती है। क्योंकि उसकी इच्छा 'सम्पूर्ण-परिस्थिति' (टोटल सैचुएशन) को देखने की है। परिस्थिति का एक अंश ही वह देख सका है। इसीलिये उसके मस्तिष्क में 'तनाव' उत्पन्न हो गया है। यह तनाव स्वाभाविक नहीं है। हमें सम्पूर्ण परिस्थिति का अध्ययन कर व उस काम को पूरा कर के इस तनाव को दूर करना है।

नीचे हम यह देखेंगे कि अवयवीवाद से शिक्षा को क्या क्या लाभ हो सकते हैं। इसे समझने में अवयवीवाद के कुछ और मौलिक सिद्धान्त हमारे सामने आ जायँगे।

अवयवीवाद और शिक्षा

अवयवीवाद ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक क्रान्ति सी उपस्थित कर दी है। हम अपने व्यावहारिक जीवन में हर समय 'अवयवी' और 'अवयव' से साक्षात करते हैं। हम यह मानते हैं कि किसी वस्तु को ठीक ठीक समझने के लिये हमें उसके अवयवों की अवहेलना न कर पहले उसकी सम्पूर्ण परिस्थिति से अवगत होना होगा। कभी कभी ऐसा होता है कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देने पर भी हमें वांछित फल प्राप्त नहीं होता। परन्तु यदि हम अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन कर वस्तु-स्थिति की ओर ध्यान केन्द्रित करते हैं तो

अवयवीवाद से 'सम्पूर्ण' और 'अंश' का महत्व स्पष्ट, दृष्टिकोण के परिवर्तन से अज्ञात वस्तु का भी ज्ञात होना।

अज्ञात वस्तु भी हमारे लिये ज्ञात हो जाती है। कोहलर के परीक्षणों से यह स्पष्ट है कि बनमानुष वस्तुस्थिति के 'सम्पूर्ण' ज्ञान के बाद ही अपनी समस्या को हल कर सका। जब तक वह परिस्थिति के विभिन्न अंशों को संयुक्त न कर सका तब तक उसे अपनी वांछित वस्तु प्राप्त न हुई। छड़ी की खोज में बनमानुष पेड़ पर चढ़ कर छड़ी तोड़ लेता है। यदि पेड़ को वह एक इकाई ही मानता तो उससे वह छड़ी न निकाल सकता। छड़ी की खोज में उसे पेड़ के प्रति अपने विचार को बदलना पड़ा। पेड़ को उसने 'सम्पूर्ण' अर्थात् 'अवयवी' माना, तभी तो उससे वह एक छड़ी अर्थात् 'अवयव' प्राप्त कर सका। इस प्रकार अवयवीवाद ने हमें सम्पूर्ण अर्थात अवयवी (होल) और अंश, इकाई अथवा 'अवयव' (पार्ट, यूनिट) का महत्व समझाया। अवयवीवाद से हम यह भी सीखते हैं कि दृष्टिकोण के परिवर्तन से अज्ञात वस्तु भी ज्ञात हो सकती है।

अवयवीवाद से बुद्धि की परिभाषा स्पष्टतर, बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर ध्यान देना, सब कुछ परीक्षण की कसौटी पर, केवल बाह्य चेष्टाओं का ही अध्ययन नहीं।

अवयवीवाद ने बुद्धि (इन्टेलिजेन्स) की व्याख्या अन्य सम्प्रदायों से अधिक स्पष्टता से की है। बुद्धि का आशय केवल मेधा (इन्टलेक्ट) से ही नहीं है, अपितु इसके अन्तर्गत अपने को वातावरण के अनुकूल बनाने की हम में जो शक्ति अथवा सूझ (इनसाइट) होती है वह भी आ जाती है। इसमें हमारी नैतिक व सामाजिक गति और इन्द्रिय सम्बन्धी बुद्धि और ज्ञान आ जाता है। वातावरण के अनुकूल बनने की हम में जो शक्ति है वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। हम छोटे बच्चे को वातावरण के अनुसार शिक्षा देना चाहते हैं जिससे वह भावी जीवन के लिये तैयार हो जाय। परन्तु अपने निराले व्यक्तित्व के कारण वह अपना ही रास्ता पकड़े हुए दिखलाई पड़ता है। इसलिये हमें परिस्थिति को कुछ उसके स्वभाव के अनुकूल बनाना पड़ता है। हम उसके सामने कुछ आकर्षक खेल, व्यायाम तथा अभ्यास उपस्थित करते हैं; अर्थात् हम वातावरण को उसके स्वभाव के अनुसार घटाते, बढ़ाते अथवा परिवर्द्धित करते हैं, जिससे बालक के व्यक्तित्व पर वातावरण की छाप पड़े। अवयवीवाद हमें यह बतलाता है कि हमें सदा 'अवयवी' पर ही ध्यान देना चाहिये। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हमें बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर ध्यान देना है। अवयव सम्बन्धी हमारा कार्य उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व (अवयवी) से सम्बन्धित होना चाहिये। अवयवीवाद के अनुसार मानसिक परिस्थिति को समझने के लिये उसकी सम्पूर्ण स्थिति का ज्ञान आवश्यक है। इस विचार के कारण पूरे मनोविज्ञान का रूप थोड़ा बदल जाता है। 'अवयवीवाद' की शिक्षा के लिये कुछ महत्वपूर्ण देन हैं। सर्वप्रथम अवयवीवाद 'व्यक्ति' का अध्ययन एक पूर्ण सत्व (कम्प्लीट एन्टिटी) के अनुसार करता है। वह उसे कुछ 'अवयवों' का योग नहीं मानता। दूसरे, अवयवीवाद सब कुछ परीक्षण की कसौटी पर कसना

चाहता है। जो इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता उसकी पूछ नहीं। वह व्यक्ति का वास्तविक परिस्थितियों में अध्ययन कर ठीक ठीक निष्कर्ष देना चाहता है। तीसरे, अवयवीवाद गतिशील दिखलाई पड़ता है। व्यवहारवाद के सदृश यह केवल वाह्य चेष्टाओं से ही सम्बन्ध नहीं रखता। यह तो 'पूरे' व्यक्ति का अध्ययन करना चाहता है। हम यह भी कह सकते हैं कि अवयवीवाद 'व्यक्ति' को एक 'पृथक अवयवी' मान कर नहीं समझना चाहता। किसी व्यक्ति को समझने के लिये उसके पूरे वातावरण तथा वातावरण के इतिहास का परिचय आवश्यक है। वातावरण परिवर्तनशील है। अतः व्यक्ति को समझने के लिये इसका अध्ययन और भी आवश्यक हो जाता है।

व्यक्ति का जीवन पृथक पृथक घटनाओं का योग नहीं—वह एक सुसंगठित अवयवी, सब के विषय में एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना भ्रमात्मक।

अवयवीवाद के सिद्धान्त उत्पत्तिमूलक मनोविज्ञान (जेनेटिक साइकॉलॉजी) के विचारों के विरोधी दिखलाई पड़ते हैं। अवयवीवाद ने यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि व्यक्ति का जीवन पृथक पृथक घटनाओं का योग नहीं है, अपितु वह तो एक सुसंगठित 'अवयवी' है। किसी क्षण पर बालक की सभी गतियाँ उसकी पूरी क्रियाशीलता की परिणाम हैं। बालकों का अपना अलग अलग व्यक्तित्व होता है। एक ही प्रकार के खेल में वे अपने स्वभावानुसार अलग अलग परिणाम निकाल कर अनुभव कर सकते हैं; अर्थात् सब के विषय में एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना भ्रमात्मक है।

बालकों का वातावरण अधिक परिवर्तनशील, अवयवीवाद की सहायता से व्यक्ति को अधिक समझ सकना, अवयवीवाद अधिक प्रगतिशील।

बालक का वातावरण नवयुवकों के वातावरण की अपेक्षा अधिक बदलता रहता है। उसका सांसारिक बातों से उतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता जितना बड़ों का। तथापि बाह्य वातावरण का उस पर औरों से अधिक प्रभाव पड़ता है, पर उसके मानसिक द्वन्द्व को हम अधिक सरलता से समझ सकते हैं। उसके काम में कोई बाधा उपस्थित होती है तो उसकी पूरी छाप उसके चेहरे पर उतर आती है। इसका उसके पूरे शरीर पर प्रभाव पड़ता है। प्रो० ल्यूविन ने विभिन्न परिस्थितियों में कुछ बालकों का एक क्रम में फिल्म की सहायता से चित्र उठाया है। उससे यह पता चलता है कि अवयवीवाद व्यक्ति को समझने में किस प्रकार सहायता दे सकता है। अब उससे यह स्पष्ट होता है कि अवयवीवाद की सहायता से शिक्षक बालकों में भाषा, सङ्गीत, बोलने की शक्ति, चित्रकला, लिखना व पढ़ना आदि का विकास अधिक सरलता से समझ सकता है। आजकल सामाजिकता का विकास एक नये ढंग से होते दिखलाई पड़ रहा है। इसकी छाप शिक्षा में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। सम्भवतः कुछ दिन बाद शिक्षा के मनोवैज्ञानिक

आधार में कुछ परिवर्तन आवश्यक जान पड़ेगा। प्रगतिशील होने के नाते अवयवीवाद इन सब परिवर्तनों में बड़ी सहायता देगा। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

विश्लेषण का आशय संश्लेषण ही।

हम यह मानते हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में विश्लेषण की कहीं न कहीं आवश्यकता पड़ ही जाती है। आजकल शिक्षा के बहुत से सिद्धान्त निकलते दिखलाई पड़ते हैं। प्रत्येक सिद्धान्तवादी को यह ध्यान रखना है कि उसका विश्लेषण अन्त में संश्लेषण की ही ओर प्रवाहित हो। अवयवीवाद की यही माँग है। यदि हम इस माँग को पूरी नहीं करते तो शिक्षा-क्षेत्र में हमारा सारा प्रयत्न विफल जायगा।

अवयवी के अध्ययन में अवयवों का ज्ञान स्पष्ट नहीं, सम्पूर्ण के अध्ययन के लिये कोई वैज्ञानिक विधि नहीं, 'बुद्धि परीक्षा' और 'विद्या-परीक्षा' पर्याप्त नहीं, 'सीखने की क्रिया' में सम्पूर्ण व्यक्ति के समझने की विधि का आविष्कार करना आवश्यक।

विश्लेषणात्मक पद्धति के अनुसार किसी परिस्थिति के विभिन्न अंगों का अध्ययन कर साधारण नियमों का निर्धारण करना वैज्ञानिक जान पड़ता है, परन्तु इसे भली भाँति कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। यदि शिक्षक अंशों (अवयवों) पर दृष्टि डालता है तो वह 'अवयवी' की अवहेलना करता है। और यदि 'अवयवी' पर ध्यान केन्द्रित करता है तो उसके सामने अन्य कठिनाइयाँ उपस्थिति होती हैं। पहले तो उसे 'अवयवी' के अध्ययन में विभिन्न अवयवों का ज्ञान भली भाँति नहीं हो पाता। दूसरे उसके पास कोई ऐसी अच्छी विधि नहीं जिससे वह किसी परिस्थिति की सम्पूर्णता को एक साथ ही वैज्ञानिक ढंग से समझ सके। इस कठिनाई के समाधान के लिये अमेरिका के मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि परीक्षा और विद्या परीक्षा की विधि निकाली है। किसी परिस्थिति विशेष में व्यक्ति क्या करता है इसके आधार पर वे यह अनुमान करना चाहते हैं कि व्यक्ति की योग्यता कैसी है, वास्तव में वह क्या कर सकता है? परन्तु इस प्रयोग में उसी परिस्थिति के चुने जाने का डर है जिसके बारे में व्यक्ति की योग्यता का निश्चित पता है। इस प्रकार परिणाम के एकाङ्गीय होने का तथा 'अवयवी' की अवहेलना का भय है। अतः किसी वस्तु के 'सीखने की क्रिया' में सम्पूर्ण व्यक्ति के समझने की विधि का आविष्कार करना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है। शिक्षा के क्षेत्र में यह एक बड़ी समस्या है जिसकी ओर अवयवीवाद संकेत कर रहा है।

आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में रचनात्मक प्रवृत्ति की माँग उपस्थित की जा रही है। अतएव शिक्षा के प्रत्येक कार्यक्रम में हमें इस माँग की छाप मिलती है।

पाठशाला के प्रत्येक कार्य में रचनात्मक प्रवृत्ति की कल्पना निहित है—चाहे खेलना हो, लिखना हो या चित्र बनाना हो। वास्तव में व्यक्ति की सम्भावनाओं को कार्यान्वित करना ही शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है। अवयवीवाद यहाँ संकेत करता है कि इस उद्देश्य की पूर्ति में मनुष्य के व्यक्तित्व को नहीं भूल जाना है। ललित कलाओं में शिक्षा पाते समय व्यक्ति को 'रहने की कला' में भी उत्तम शिक्षा पानी है; अर्थात् हमें अपने जीवन-उद्देश्य (अवयवी) की अवहेलना नहीं करनी है। अवयवीवाद के सिद्धान्त की पुष्टि यहाँ भली भाँति दिखलाई पड़ती है।

वर्तमान शिक्षा में रचनात्मक प्रवृत्ति के विकास का प्राधान्य, शिक्षा केवल ललित-कलाओं में ही नहीं, अपितु 'रहने की कला' में भी।

आजकल शिक्षा-क्षेत्र में हम सामाजिकता की ध्वनि बहुत सुनते हैं। अब स्कूल में बहुत सी बातें हम सामूहिक ढँग पर कराना चाहते हैं। कुछ बालकों को एक टोली में रख कर काम दिया जाता है। सब अपना अलग अलग काम करते हैं। पर प्रत्येक का कार्य वास्तविक कार्य का एक अंगमात्र होता है। किसी विषय पर कुछ वादविवाद करना हुआ तो उसे भी सामूहिक ढँग पर कराना आदर्श माना जाता है। इन सब कार्यों में समूह के व्यवहार का हमें आभास मिलता है। अब 'स्कूल समुदाय' की चर्चा की जाने लगी है। शिक्षा की इस नवीन लहर में कुछ राजनैतिक, नैतिक तथा धार्मिक समस्याएँ भी आ जाती हैं। ऐसी स्थिति के उत्पन्न होने से अब हमें एक नये शिक्षा-मनोविज्ञान की आवश्यकता जान पड़ती है। इस मनोविज्ञान का सामाजिक होना आवश्यक है जिससे हमारी सामाजिक समस्याओं का समाधान हो सके। आधुनिक मनोविज्ञान इसमें हमारी किस प्रकार सहायता कर सकता है? 'अवयवीवाद' से हमें सहायता मिलने की आशा दिखलाई पड़ती है; क्योंकि उसकी दृष्टि सदैव 'सम्पूर्ण' (अवयवी) पर रहती है। अवयवीवाद के सिद्धान्त हमें कभी कभी तर्कसंगत भले ही न जान पड़ें, परन्तु उनमें कुछ ऐसी बातें मिलती हैं जिनकी सहायता से हम अपनी शिक्षा-समस्याओं के समाधान में बहुत दूर तक जा सकते हैं। अवयवीवाद अन्य सम्प्रदायों से अधिक प्रगतिशील और सम्पूर्ण दिखलाई पड़ता है और इसकी सहायता से हम आगे अन्वेषण करने में भी सफल हो सकते हैं।

स्कूल में सामाजिकता की ध्वनि, सामूहिक रूप में कार्य कराना आदर्श, नये शिक्षा-मनोविज्ञान की आवश्यकता, अवयवीवाद से आशा।

किसी प्राणी के विकास में वातावरण उससे अलग नहीं किया जा सकता। उसके सभी कार्यों में वातावरण की छाप रहती है। हम एक प्रकार से यह भी कह सकते हैं कि वातावरण उसके कार्य का एक अङ्ग होता है। अपनी परिस्थिति को संगठित कर एक निश्चित अनुभव लेना हमारा स्वभाव सा हो गया है। इस स्वभाव के कारण हम

अवयवीवाद के अनुसार

शिक्षक का वातावरण की उपेक्षा न कर सकना।

अपने को सदैव वातावरण के अनुकूल बनाने की चेष्टा में रहते हैं। वातावरण और कार्य एक साथ मिल कर हमारे जीवन का रूप ढालते हैं। ये दोनों एक ही 'अवयवी' (अर्थात् हमारे जीवन) के अङ्ग हैं। अतः अवयवीवाद यह संकेत करता है कि शिक्षक वातावरण की उपेक्षा नहीं कर सकता।

अवयवीवाद के आगे 'उत्तेजना-प्रतिक्रियावाद' भ्रमात्मक, स्वभाव को समझने के लिये सम्पूर्ण परिस्थिति का ज्ञान आवश्यक।

'उत्तेजना प्रतिक्रियावाद' के अनुसार 'व्यवहार' में प्राणी और वातावरण एक दूसरे पर पृथक पृथक प्रभाव डालते हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं है। अवयवीवाद व्यवहार में 'सूझ' का अंश लाकर इस सिद्धान्त को गलत सिद्ध कर देता है। 'उत्तेजना-प्रतिक्रियावाद' की भी शिक्षा में कुछ उपयोगिता अवश्य है। परन्तु हमें तो किसी घटना की सम्पूर्ण बातों पर एक साथ ही ध्यान देना है, नहीं तो हमारी शिक्षा-योजना उस पुराने वस्त्र के समान प्रतीत होगी जिसमें कहीं कहीं लाल बिरंगे टुकड़े जोड़ दिये गये हैं। उत्तेजना 'प्रतिक्रिया-वाद' से हमें मनुष्य के वास्तविक स्वभाव के समझने में कुछ अवश्य सहायता मिलती है। परन्तु उसके सिद्धान्तों के आधार पर हम शिक्षा-योजना नहीं बना सकते, क्योंकि उसके अन्वेषण गलत ढङ्ग पर किये गये हैं। स्वभाव को समझने के लिये हमें सम्पूर्ण परिस्थिति का अध्ययन करना आवश्यक है, क्योंकि हमारा व्यवहार सम्पूर्ण स्थिति का फल है, न कि उसके एक अङ्ग का। उत्तेजना-प्रतिक्रियावाद 'व्यवहार' को समझने के लिये उसके विभिन्न अंगों का अध्ययन करता है। अवयवीवाद यह बतलाता है कि जीवन की घटनाओं के पथ-प्रदर्शन के लिये हमें व्यक्ति के पूरे स्वभाव का अध्ययन करना है—उसके सूक्ष्मतम अङ्गों की परीक्षा करने से हम सफलीभूत नहीं हो सकते।

'सामञ्जस्य' मानव व्यवहार का केन्द्र, 'सामञ्जस्य' के लिये शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य आवश्यक, 'सामञ्जस्य' पर विशेष ध्यान देना।

हमारे सभी अनुभव चरित्र में निहित हो जाते हैं। किसी घटना के घटित होने से हमारे जीवन-क्रम में बाधा आती है, परन्तु फिर यह बाधा दूर हो जाती है। बाधा का आना और जाना सदैव लगा रहता है और अन्त में एक सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। यह सामञ्जस्य समय समय पर बनता बिगड़ता रहता है। मनोवैज्ञानिकों ने इस सामञ्जस्य को मानव व्यवहार का केन्द्र माना है। अवयवीवादियों ने अपने मानव व्यवहार के अध्ययन में इस सामञ्जस्य का महत्व अच्छी प्रकार समझाया है। अपने परीक्षणों में कोहलर ने इस सामञ्जस्य की ओर भली भाँति संकेत किया है। यदि बालक के व्यक्तित्व में हम सामञ्जस्य लाना चाहते हैं तो उसके व्यवहार

में उसकी शारीरिक और मानसिक दोनों गतियों पर हमें ध्यान देना होगा। सामञ्जस्य के सिद्धान्त की यही माँग है। मनोवैज्ञानिकों की अब यह धारणा हो गई है कि किसी व्यक्ति को समझने के लिये उसके जीवन के विभिन्न अङ्गों का पृथक पृथक अध्ययन नहीं करना है, अपितु उन्हें जीवन के सम्पूर्ण एकीकरण के सम्बन्ध में समझना है। मनोविश्लेषणवादी इस सिद्धान्त की ओर अधिक प्रगतिशील दिखलाई पड़ते हैं। कहना न होगा कि मनोवैज्ञानिकों की इस प्रगति का प्रथम श्रेय अवयवीवादियों को ही है। शिक्षकों को यह समझना चाहिये कि जीवन की घटनाओं का एकीकरण चरित्र में होता है। हमारी सारी विचारमाला इस एकीकरण के स्थापित करने की ओर ही केन्द्रित होती है। इससे यह स्पष्ट है कि हमारी विचारमाला में एक ही प्रकार के वस्तु का प्राधान्य न हो। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि पाठ्य-वस्तु में केवल विचारात्मक विषयों की ही भरमार न हो। उसमें ऐसे विषय हों कि बालकों की सद्भावना तथा स्थायीभाव को भी भोजन मिल सके। उसमें बालकों को ऐसे कार्य करने पड़ें जिनसे उनके चरित्र में एक सामञ्जस्य उपस्थित हो सके। वास्तव में उनकी शिक्षा-योजना में इन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

३—स्पीयरमैन का 'दो तत्व का सिद्धान्त'

[अर्थात् 'सामान्य' (जी) और 'विशिष्ट' (एस) का अस्तित्व]

हमारे सारे शिक्षा-क्रम की नींव 'बुद्धि' पर ही स्थापित होती है। अतः इसके रूप को समझना आवश्यक है। इसके वास्तविक रूप के निर्णय में मनोवैज्ञानिकों में अधिक वादविवाद चला है। अभी एक निश्चित निर्णय पर वे नहीं पहुँच सके हैं। तथापि उनके अन्वेषणों से शिक्षक को बड़ी सहायता मिल सकती है। उनके वादविवाद में जाना हमारी सीमा के बाहर है। हम यहाँ केवल थॉर्नडाइक और स्पीयरमैन के निष्कर्षों पर ही संक्षेप में विचार करेंगे, क्योंकि उनका शिक्षा से स्पष्ट सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। थार्नडाइक के अनुसार 'बुद्धि' हमारी बहुत सी स्वतन्त्र योग्यताओं का योग है। अर्थात् हमारे पास 'बुद्धि' नहीं, अपितु 'बुद्धियाँ' हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी मानसिक कार्य के करने में हमारी बुद्धि का स्पष्टीकरण होता है। शिक्षा में परीक्षणों के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि थॉर्नडाइक का सिद्धान्त भ्रमात्मक है। मनुष्य की स्थिति अत्यन्त दयनीय और हास्यापद होती यदि वह स्वतन्त्र योग्यताओं का एक योग होता। जहाँ परिस्थिति से उसकी बुद्धि अथवा योग्यता का मेल न खाता वहाँ वह एक दम नष्ट हो जाता, परन्तु ऐसी बात नहीं। उसमें वातावरण और परिस्थिति से लड़ने की शक्ति होती है और वह उनके साथ अपना एकीकरण स्थापित करना चाहता है। हम देखते

थॉर्नडाइक—'बुद्धि' कुछ स्वतन्त्र योग्यताओं का योग, 'स्पीयरमैन-सामान्य' और 'विशिष्ट' योग्यता, 'संकल्प-शक्ति'।

हैं कि इसमें वह बहुधा सफल भी हो जाता है। यह बात हमें स्पीयरमैन के सिद्धान्त की ओर ले आती है। स्पीयरमैन के अनुसार हमारी सभी मानसिक योग्यताओं का विश्लेषण दो अंगों में किया जा सकता है। पहले अंग का नाम उसने सामान्य योग्यता (जी, अर्थात् जनरल) दिया है। हमारे सभी कार्यों में इस 'सामान्य' योग्यता का हाथ रहता है। यह एक ऐसी मानसिक शक्ति है जो हमें हर समय व हर स्थान पर सहायता देती है। दूसरे अंग का नाम स्पीयरमैन ने 'विशिष्ट' योग्यता ('एस' अर्थात स्पेसिफ़िक एबीलिटी) दिया है। हमारी 'विशिष्ट' योग्यता हमें परिस्थिति विशेष में सहायता देती है। यह केवल अपने ही क्षेत्र में प्रमुख रहती है, अन्य स्थान पर इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। हमारी विभिन्न विशिष्ट योग्यताओं में कोई सामञ्जस्य नहीं होता। अब हम शिक्षा में इनके महत्व पर विचार करेंगे तो इनका रूप अधिक स्पष्ट हो जायगा। 'सामान्य' और 'विशिष्ट' के अतिरिक्त स्पीयरमैन ने 'संकल्प शक्ति' ('डब्लू' विल अथवा वॉलिशनल फ़ैक्टर) की भी गणना हमारी योग्यता के अन्तर्गत की है। इस 'संकल्प शक्ति' का सम्बन्ध विशेषकर व्यक्तित्व से होता है। इन सभी शक्तियों में स्पीयरमैन केवल 'सामान्य' (जी) को ही बुद्धि की संज्ञा देता है। कुछ मनोवैज्ञानिक स्पीयरमैन के सिद्धान्त से पूर्णतः सहमत नहीं हैं। परन्तु उसके सिद्धान्त से हमारी शिक्षा-योजना की कुछ कठिनाइयों का समाधान हो जाता है। अतः अब हम शिक्षा से उसके सम्बन्ध पर आते हैं।

स्पीयरमैन के अन्वेषण का शिक्षा में महत्व—

परिगणन-विद्या के आधार पर स्पीयरमैन ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि हमारे सभी प्रयत्नों के पीछे एक साधारण शक्ति छिपी रहती है। यह साधारण शक्ति ही हमारी 'बुद्धि' होती है। किसी वस्तु का दूसरे से परस्पर सम्बन्ध समझना हमारी बुद्धि के अन्तर्गत आता है। हम अपने सभी अनुभवों में वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध को ही जानने की चेष्टा करते हैं। यदि शिक्षक ने बालकों को वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध को समझने योग्य बना दिया तो उसका कार्य सफल हुआ, अन्यथा नहीं। परस्पर सम्बन्ध को समझने की शक्ति पाने से ही वे जीवन की परिस्थितियों से मुठभेड़ ले सकते हैं। इसके लिये यह आवश्यक है कि बालकों के समस्त कार्यों में एक प्रयोजन निहित हो। 'चिन्तन' एक प्रयोजनबद्ध मानसिक क्रिया है। प्रयोजनबद्ध मानसिक क्रिया में बालकों को रखना शिक्षक का उद्देश्य होना चाहिये, तभी वे तर्किक रूप में किसी बात पर विचार कर सकेंगे। इसके लिये हमें उनकी स्वाभाविक रुचियों पर ध्यान देना होगा। उनकी अवस्था तथा झुकाव के अनुसार ही उनके सामने किसी समस्या को रखना होगा। ऐसा करने से ही वे प्रयोजनबद्ध मानसिक क्रिया

'सम्बन्ध तथा परस्पर सम्बन्ध का सिद्धान्त,' 'चिन्तन' (थिंकिंग) प्रयोजन-बद्ध मानसिक क्रिया, इसके लिये बालकों के सामने समस्या उपस्थित करना।

को संचालित कर वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध को समझ कर कोई अनुभव प्राप्त कर सकेंगे। स्पीयरमैन के उपर्युक्त 'सम्बन्ध तथा परस्पर सम्बन्ध के सिद्धान्त' (थियरी ऑव् इडक्शन ऑव् रीलेशन्स एण्ड ऑव् कोरीलेट्स) से शिक्षक का पथ स्पष्ट हो जाता है। उसे 'बुद्धि' के वास्तविक रूप का पता चल जाता है।

स्पीयरमैन के अनुसार 'सामान्य' योग्यता सदा एक सी रहती है, चाहे उसका उपयोग हम किसी भी कार्य में क्यों न करें। 'विशिष्ट योग्यता' में विषय के अनुसार अन्तर हुआ करता है। किसी में गणित के लिये विशिष्ट योग्यता हो सकती है, परन्तु संगीत में वह पूरा अनभिज्ञ हो सकता है; अथवा संगीत की 'विशिष्ट योग्यता' रखते हुए गणित में वह शून्य हो सकता है। एक व्यक्ति में 'सामान्य' या 'विशिष्ट' तत्व दूसरे से भिन्न भिन्न होता है। उसकी सफलता व असफलता 'सामान्य' या 'विशिष्ट' तत्व के उचित रूप में न होने के कारण हो सकती है। यदि किसी बालक की 'सामान्य योग्यता' अच्छी है तो प्रायः वह हर स्थल पर अपना कार्य अच्छी प्रकार सम्पादित करेगा, अन्यथा वह सदा मन्द ही दिखलाई पड़ेगा। किसी कार्य में अधिक 'सामान्य योग्यता' की आवश्यकता होती है और किसी में अधिक 'विशिष्ट योग्यता' की। यदि दो बालक साहित्य-परीक्षा में समान अङ्क पाते हैं तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि संगीत-परीक्षा में भी उनके प्राप्ताङ्क समान ही होंगे, क्योंकि व्यक्ति की 'विशिष्ट योग्यतायें' विभिन्न कार्यों के लिये अलग अलग होती हैं। अतः हमें बालक की 'विशिष्ट' तथा 'सामान्य' 'योग्यता' का पता लगाना बहुत ही आवश्यक है। उसकी योग्यता का पता लगने से ही उसकी शिक्षा की उचित व्यवस्था की जा सकती है।

'सामान्य योग्यता' प्रायः प्रत्येक काम में सदा समान, 'विशिष्ट योग्यता' में विभिन्न कार्य के अनुसार एक ही व्यक्ति में अन्तर, जीवन की सफलता 'सामान्य योग्यता' पर अधिक निर्भर।

स्पीयरमैन ने विभिन्न विषयों के लिये आवश्यक 'सामान्य' और 'विशिष्ट' योग्यता पर परीक्षण किया है। उसका निष्कर्ष है कि गणित तथा प्राचीन भाषाओं के अध्ययन के लिये अधिक 'सामान्य योग्यता' की आवश्यकता होती है, और संगीत, चित्रकला व हस्तकला जैसे विषयों के लिये अधिक 'विशिष्ट' योग्यता' की। जिन विषयों के लिये अधिक 'विशिष्ट' तत्व की आवश्यकता होती है उनके लिये बहुत 'सामान्य' तत्व की आवश्यकता नहीं, अर्थात् एक बहुत बड़ा संगीतज्ञ व चित्रकार बड़ा बुद्धिमान होगा यह आवश्यक नहीं। अपने क्षेत्र में उसकी महानता उसकी

गणित के लिये अधिक 'सामान्य' तत्व और 'संगीत' के लिये अधिक 'विशिष्ट' तत्व, गणित में विद्यार्थी की सफलता से

उसकी जीवन सफलता की ओर संकेत।

'विशिष्ट योग्यता' के कारण हो सकती है, न कि 'सामान्य' योग्यता के कारण। हाँ, यह सत्य है कि यदि 'विशिष्ट योग्यता' के साथ उसमें 'सामान्य योग्यता' भी अच्छी है तो वह अपनी कला में अधिक जान डाल सकता है। अपने परीक्षणों से स्पीयरमैन को ज्ञात हुआ कि गणित के लिये 'सामान्य' और 'विशिष्ट' योग्यता में लगभग चार और एक का अनुपात है; और संगीत के लिये एक और चार का। इसका अर्थ यह हुआ कि गणित में 'सामान्य' तत्व और संगीत में 'विशिष्ट' तत्व अधिक महत्वपूर्ण है। अतः यदि कोई बालक संगीत में अच्छा करता है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि गणित में भी वह अच्छा ही करेगा। परन्तु इतना निश्चित है कि गणित में बालक की योग्यता जानने से यह अनुमान किया जा सकता है कि वह अपने जीवन-कार्य को अच्छी प्रकार सँभाल लेगा; क्योंकि जीवन परिस्थितियों में विशेषकर 'सामान्य' योग्यता की अधिक आवश्यकता होती है।

४—मनोविश्लेषणवादी सम्प्रदाय (साइको—एनलिटिक स्कूल)—

फ्रॉयड—

अज्ञात-चेतना की मानव व्यवहारों पर गहरी छाप, ज्ञात-चेतना सतह मात्र, मनोविश्लेषणवादी सम्प्रदाय का कार्य 'अज्ञात-चेतना' का अध्ययन करना।

मनोविश्लेषणवादी सम्प्रदाय के प्रवर्तक वियना के फ्रॉयड (१८५६–१९३९) थे। अपने समय के मनोवैज्ञानिकों की विचारधारा फ्रॉयड को पसन्द न आई। वे मानसिक जीवन को मनुष्य की संकल्प-शक्ति के अनुपात में एक प्रकार से गतिशून्य ही समझते थे। फ्रॉयड ने अज्ञात-चेतना का पक्ष लिया। उनका कहना है कि 'ज्ञात-चेतना' (कॉनशश सेल्फ़) के सदृश 'अज्ञात-चेतना' (अनकॉनशश सेल्फ़) भी गतिशील होती है; क्योंकि व्यक्ति के व्यवहारों पर इसकी गहरी छाप रहती है। फ्रॉयड के इस विचार ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक क्रान्ति सी मचा दी है। फ्रॉयड का कहना है कि हमारी 'ज्ञात-चेतना' के अतिरिक्त एक 'अज्ञात-चेतना' भी होती है। 'ज्ञात-चेतना' पर 'अज्ञात-चेतना' का पूरा पूरा प्रभाव रहता है। 'अज्ञात-चेतना' तो मानो समुद्र है—उसका अन्वेषण करना सरल नहीं; और 'ज्ञात-चेतना' इस समुद्र के ऊपर की सतह है। मनोविश्लेषणवादी का कार्य-क्षेत्र इस 'अज्ञात-चेतना' का अध्ययन करना है। अतः कोई कोई मनोविश्लेषणवाद को 'अन्तश्चेतना मनोविज्ञान' (डेप्थ साइकॉलॉजी) भी कहते हैं।

फ्रॉयड एक बहुत बड़े अनुभवी चिकित्सक थे। उन्हें मूर्छा, मृगी, वातोन्माद आदि रोगों की चिकित्सा करने में विशेष रुचि थी। उनकी चिकित्सा की प्रधान

विधि मोहनिन्द्रा (हिप्नोटिज़्म) थी। मोहनिद्रा के सहारे वे रोगी को अचेत कर दिया करते थे। इस अचेतावस्था में वे रोगी से कुछ प्रश्न पूछा करते थे। रोगी के उत्तर ऐसे होते थे जिसकी अपनी जागृतावस्था में वह कल्पना भी नहीं कर सकता था। पेरिस के जेनेट महोदय के परीक्षणों ने फ्रॉयड के विचार को और भी पुष्ट कर दिया। जेनेट ने देखा कि मोहनिद्रा के सहारे रोगी कुछ ऐसी बातों को कह डालता है जिससे उसके रोग का कारण प्रायः स्पष्ट हो जाता है। उसे अपने जीवन में कभी 'ऐसे मानसिक संवेग का धक्का' (इमोशनल शॉक) लगा है जिससे उसकी सारी मनोवृत्ति ही बदल गई है। इस मनोवृत्ति के बदलने की उसे सुधि नहीं। उस धक्के के कारण उसकी 'अज्ञात-चेतना' में कुछ ऐसे विचारों ने अपना अड्डा जमा लिया है जो उसका पिण्ड छोड़ने को जल्दी तैयार नहीं। ये विचार उसके जीवन की सम्पूर्ण घटनाओं पर अपना प्रभाव डाला करते हैं; परन्तु रोगी को इसका कुछ भी पता नहीं। जब मोहनिद्रा की अवस्था में रोगी 'अज्ञात-चेतना' के सहारे अपनी सारी बातें स्पष्ट करता है उस समय चिकित्सक अपने तर्क की सहायता से उसके रोग को भगा सकता है। फ्रॉयड को मोहनिद्रा की विधि बहुत पसन्द आई और उसने कई रोगियों का कल्याण किया।

'मोहनिद्रा' फ्रॉयड की प्रधान चिकित्सा-विधि, जेनेट का परीक्षण, मानसिक संवेग के धक्के से अज्ञात-चेतना में कुछ विचारों का जमघट होना, इसका जीवन-घटना पर प्रभाव।

कुछ दिन के बाद फ्रॉयड को पता चला कि कुछ रोगी इतने हठी होते हैं कि उन पर मोहनिद्रा का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे लोगों की 'अज्ञात-चेतना' का पता लगाना अत्यन्त कठिन जान पड़ता था। पर उसे अपने मित्र ब्रुअर (१८४२–१९२५) से इस विषय में बड़ी सहायता मिली। ब्रुअर मोहनिद्रा से एक स्त्री रोगी की चिकित्सा कर रहा था। उसने रोगी को इच्छानुसार सब कुछ कहने की आज्ञा दे दी। वस्तुतः रोगी की यही माँग थी; क्योंकि उसने अनुभव किया था कि अपने सारे विचारों के व्यक्त कर देने से उसका रोग हलका हो जाता था। इतना ही नहीं, अपितु इस विधि को बार बार दोहराने से वह रोगी रोग से मुक्त भी हो गई। फ्रॉइड ने भी इस विधि का अवलम्बन लिया। उसने अपने रोगी से कह दिया कि बिना किसी हिचक के जो कुछ मन में आवे सब कह डालो। यह न सोचो कि 'यह इतनी छोटी और गन्दी बात है इसे कैसे मुँह से निकालूँ'। परन्तु फ्रॉयड ने इतना बन्धन लगा दिया था कि सब कुछ अपने रोग और कष्ट के बारे में ही कहना है।

'स्वतन्त्र साहचर्य' और 'मोहनिद्रा' की सहायता से अज्ञात-चेतना का रूप समझना सम्भव, 'मस्तिष्क में आये हुये बड़े विचारों को सामाजिक भय से बाहर न निकालने की हमारी चेष्टा, पर यह सम्भव नहीं, उनका अज्ञात-चेतना में केन्द्रित होना, अवदमन द्वारा उन्हें रोके रहना।

इस विधि का नाम फ्रॉयड ने 'स्वतन्त्र साहचर्य' (फ्री एसोशियेशन) दिया है। फ्रॉयड का विचार है कि 'मोहनिद्रा' और 'स्वतन्त्र साहचर्य' की सहायता से 'अज्ञात-चेतना' का रूप भली भाँति समझा जा सकता है। अब हमारे सामने प्रश्न यह उठता है कि 'अज्ञात-चेतना' से व्यक्ति क्यों अनभिज्ञ रहता है? फ्रॉयड का कथन है कि इसका कारण कुछ सामाजिक बन्धनों में हमें दिखलाई पड़ता है। हमारे कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिसका समाज समर्थन करता है, और कुछ की निन्दा। सामाजिक बन्धनों को तोड़ना सरल नहीं। उनके अनुकूल चलने से ही हमारी नैतिक उन्नति हो सकती है। हम सदैव समाज की आँखों में ऊँचा उठने के प्रयत्न में रहते हैं। हमारी इच्छा होती है कि हम अच्छा काम करते रहें जिससे समाज हमारा आदर करे। अच्छे कार्यों तथा उनके सामाजिक प्रभाव की स्मृति हमारी 'ज्ञात-चेतना' के अन्तर्गत आ जाती है। परन्तु यदि कोई बुरा कार्य हो गया तो हम उसे छिपाने की चेष्टा करते हैं। हम चाहते हैं कि उसे कोई न जानने पावे। बुरे कार्य की प्रतिक्रिया हमारे चरित्र पर पड़ती ही है। इससे मस्तिष्क में एक विचित्र हलचल मच जाती है। संवेग के एक धक्के से पूरा शरीर झंकृत हो जाता है। हमारा विवेक हमें कोसने लगता है। बुरे विचारों को समाज के भय से हम बाहर फेंकना चाहते हैं। फ्रॉयड का कहना है कि मस्तिष्क में आये हुये विचार को हम बाहर फेंक ही नहीं सकते, चाहे वह भला हो या बुरा। भले विचार तो हमारी 'ज्ञात चेतना' में स्थान पा जाते हैं पर बुरे विचार हमारी 'अज्ञात-चेतना' में अपना घर बनाते हैं। उनकी उपस्थिति हमें नहीं जान पड़ती; पर वे हमारे कार्यों पर बहुधा प्रभाव डाला करते हैं। कुछ दिन बाद हम यह भूल जाते हैं कि हम में कोई ऐसा बुरा विचार था अथवा नहीं; क्योंकि हमारी प्रवृत्ति सदा उन्हें दबाने की ही रहती है। अपनी 'इच्छा' अथवा 'विचार' को इस प्रकार दबाने को फ्रॉयड महोदय ने 'अवदमन' (रीप्रेशन) की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि हमारी इच्छाएँ हो अवदमित जाने पर मर नहीं जातीं। वे समय समय पर 'ज्ञात-चेतना' में आने की चेष्टा करती हैं। पर हमारे भीतर एक ऐसी शक्ति होती है जो उन्हें ज्ञात-चेतना में आने से रोकती है।

यह शक्ति क्या है? मनुष्य नैतिक प्राणी है। जन्म लेते ही उसे नाना प्रकार के नैतिक बन्धन जकड़ लेते हैं। झूठ बोलना, चोरी करना व गाली देना आदि पाप है। दूसरे पर कुदृष्टि डालना व्यभिचार है, निर्बलों को सताना अत्याचार है। इन सब नैतिक बन्धनों से हम शीघ्र ही अवगत हो जाते हैं। इन बन्धनों के अनुकूल हम में एक 'विवेक' उत्पन्न हो जाता है जिसे फ्रॉयड ने 'उच्च अन्तःकरण' (सुपर इगो) का नाम दिया है। यह 'उच्च अन्तःकरण' हमारे लिये 'संरक्षक' का काम करता है। यदि हम नैतिक बन्धनों के तनिक भी विरुद्ध जाते हैं तो इस संरक्षक का कोड़ा तुरन्त

हमारे 'उच्च अन्तःकरण' का 'प्रतिहारी' (सेन्सर) का कार्य करना।

150-H/80
134288.
150-H

हमारी पीठ पर पड़ जाता है। हमें भारी पश्चाताप होने लगता है। मानो हमारा 'उच्च अन्तःकरण' सामाजिक आदर्शों की ओर से नियुक्त किया हुआ ऐसा शासक है जो 'ज्ञात' और 'अज्ञात' चेतना के परस्पर सम्पर्क में बाधा उपस्थित किया करता है, अर्थात् प्रतिहारी (सेन्सर) का काम किया करता है।

फ्रॉयड के अनुसार मनुष्य का 'साधारण अन्तःकरण' (इगो) इच्छाओं का घर है। इसमें अच्छी और बुरी सभी प्रकार की इच्छाएँ निवास करती हैं। अच्छी इच्छा पर तो कोई प्रतिरोध ही नहीं। पर बुरी इच्छा के द्वार पर हमारा 'उच्च अन्तःकरण' सदैव डटा रहता है। अपनी चेतनावस्था में उसे बाहर निकलने का वह तनिक भी अवकाश नहीं देना चाहता। जब तक संतरी पहरे पर जाग रहा है तब तक चोर जेल से बाहर निकलने का साहस नहीं कर सकता। परन्तु जहाँ संतरी की आँख झपी नहीं कि चोर ने बाहर निकलने का प्रयास किया। 'उच्च अन्तःकरण' रूपी संतरी कब सोता है? मनुष्य की सुप्तावस्था में उसकी भी आँख झप जाती है। ऐसे ही समय हमारी बुरी इच्छाएँ स्वप्न रूपी क्षेत्र में प्रवेश कर अपना कार्य करती हैं और इस प्रकार अपने अस्तित्व का परिचय देती हैं। पर उनका परिचय स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता। मानो संतरी की आँखें खुल जाने के भय से वे विभिन्न आडम्बरपूर्ण प्रतिरूप (सिम्बल) में बाहर निकलने का प्रयत्न करती हैं। अमुक प्रतिरूप का अर्थ क्या होगा?—स्वप्न में ऐसी ऐसी वस्तुएँ अथवा घटनाओं का तात्पर्य क्या हो सकता है?—इसका अपने सिद्धान्त के अनुसार फ्रॉयड ने भली भाँति स्पष्टीकरण किया है। 'उच्च अन्तःकरण' के कारण हमारी अतृप्त इच्छाएँ बाहर नहीं आने पातीं, पर अवरोध हट जाने से वे इस प्रकार धड़ाधड़ बाहर निकलती हैं मानो रुके हुए पानी का रास्ता खोल दिया गया हो। यह देखा गया है कि रोगी 'मोहनिद्रा' अथवा 'स्वतन्त्र साहचर्य' के सहारे अपनी इच्छाओं का वर्णन करते करते कुछ दिन बाद अपने आप रोग-मुक्त हो जाता है। पहले भूल से जो उसके मन में गाँठ पड़ गई थी वह खुल जाती है और वह चंगा हो जाता है। 'मोहनिद्रा' अथवा स्वप्नावस्था में हम असावधान रहते हैं। इसीलिये हमारी इच्छाएँ बिना किसी प्रतिरोध के बाहर निकलने लगती हैं। इसी प्रकार साधारण जागृतावस्था में जब हम क्रोधवश असावधान हो जाते हैं तो वर्षों की सुसुप्त इच्छाएँ, विचार अथवा भावनाएँ हमारे मुँह से निकलने लगती हैं। कभी कभी अपने सम्बन्धियों के क्रोध में कहे हुए विचारों पर हमें आश्चर्य होता है। वस्तुतः इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं। क्रोध में 'उच्च अन्तःकरण' काम नहीं करता। इसलिये छिपे हुए विचार अथवा इच्छाएँ

'साधारण अन्तःकरण' (इगो) इच्छाओं का घर, 'उच्च-अन्तःकरण' संतरी—बुरी इच्छाओं को बाहर न आने देना, सुप्तावस्था में 'उच्च-अन्तः-करण' के ढीले हो जाने पर स्वप्नमें बुरी इच्छाओं का विभिन्नरूप में दिखलाई पड़ना, क्रोधावस्था में भी 'उच्च-अन्तःकरण' ढीला।

Repugnance

अपना रूप प्रदर्शित करने लगते हैं। यदि व्यक्ति क्रोध में न होता तो वह वैसी बात कभी न कहता। अतः क्रोध में कही हुई बात पर विशेष ध्यान देना अव्यावहारिक और अमनोवैज्ञानिक है। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि क्रोधावस्था में व्यक्ति के चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है; क्योंकि उसी समय यह जाना जा सकता है कि उसके 'उच्च-अन्तःकरण' की बागडोर कितनी ढीली है, अर्थात उसका 'विवेक' कितना पोला है। सबसे अच्छा रास्ता यह है कि क्रोध आने पर व्यक्ति अपने को संयमित करने की चेष्टा करे और कुछ न बोले। क्रोधावस्था में ज्ञानी लोगों का 'उच्च अन्तःकरण' सोता नहीं। क्रोध का यह विश्लेषण यहाँ प्रासंगिक नहीं। पर पाठक मानेंगे कि यह विचार तारतम्य के अन्तर्गत ही है।

'इच्छा' की क्रियाशीलता से परिपूर्ण अतृप्त इच्छाओं की 'अज्ञात चेतना' में भावना-ग्रन्थि'–इसमें एक मानसिक उद्वेग की उत्पत्ति, इसका व्यक्ति के चरित्र और व्यवहार पर विषम प्रभाव।

हमारी अतृप्त इच्छाएँ सदा बाहर आने की चेष्टा में रहती हैं। पर कभी कभी वे अपनी इस चेष्टा में सफल नहीं होतीं। इसके दो कारण हो सकते हैं: १—हमारे अन्तःकरण की प्रतिरोध करने की शक्ति, अथवा २—सामाजिक आदर्शों के प्रतिकूल जाने का भय। ये इच्छाएँ 'ज्ञान-चेतना' में तो रह नहीं सकतीं। इसलिये वे 'अज्ञात-चेतना' में ही अपना घर बनाती हैं। फ्रॉयड का कथन है कि इच्छा में क्रियाशीलता भरी रहती है। यह उसका स्वभाव है। अतः दिन प्रति दिन वे प्रबलतर होती जाती हैं। हमारे अनुभव बढ़ते ही रहते हैं। फलतः इन अतृप्त इच्छाओं का बढ़ना भी स्वाभाविक है। ये विभिन्न अतृप्त इच्छाएँ 'अज्ञात-चेतना' में जाकर एक गुत्थी में नथ जाती हैं। इस गुत्थी को फ्रॉयड ने 'भावना-ग्रन्थि (कॉम्प्लेक्स) का नाम दिया है। चोर जेल के भीतर बन्द कर दिये जाने पर भी अपनी शरारत से नहीं चूकता। वह अपने स्वभाव के अनुसार क्रियाशील रहता है। यही कारण है कि उसके व्यवहारों का जेल के कर्मचारियों की कार्य-नीति पर प्रभाव पड़ता है। उनका स्वभाव भी चोरों के साथ उपयुक्त व्यवहार करने के अनुसार हो जाता है। इसी प्रकार भावना-ग्रन्थि का हमारे चरित्र पर प्रभाव पड़ता है, क्योंकि भावना-ग्रन्थि बहुत क्रियाशील होती हैं। इनके कारण हम में एक विचित्र संवेग (इमोशन) उत्पन्न होता है। यह संवेग सदा भावना-ग्रन्थि से ही अपना सम्बन्ध रखता है। यदि यह संवेग न हो तो भावना-ग्रन्थि का अस्तित्व ही नष्ट हो जाय और उसमें क्रियाशीलता ही न दिखलाई पड़े। हमारी अतृप्त इच्छाओं तथा भावना-ग्रन्थियों का हमारे चरित्र पर बहुत प्रभाव पड़ता है। हमारी पूरी रहन सहन पर उसकी छाप रहती है। कुटुम्ब में एकलौते बालक के दृष्टान्त से हम इस ग्रन्थि को अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। एकलौते बेटे का बहुत लाड़ प्यार किया जाता है। उसकी प्रत्येक इच्छा को पूरी करने की चेष्टा की जाती है। यदि वह चश्मे के साथ खेलने का हठ

करता है तो उसे पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाती है जिन खिलौनों को वह माँगता है उन्हें बाजार से खरीद कर उसे दिये जाते हैं। यदि वह प्रातःकाल होते ही पूड़ी खाने की इच्छा प्रकट करता है तो उसके लिये पूड़ी बनाई जाती है। यदि वह किसी आकर्षक पुस्तक को लेने के लिये नट जाता है तो वह पुस्तक उसे फाड़ने के लिये दे दी जाती है, परन्तु दूसरे पुत्र के उत्पन्न हो जाने पर माता-पिता की मानसिक स्थिति में बहुत परिवर्तन आ जाता है। अब बड़े पुत्र पर उतना ध्यान नहीं रहता। उनका ध्यान छोटे बच्चे की ओर अधिक खिंच जाता है। इसका बड़े बच्चे पर बहुत प्रभाव पड़ता है। वह बड़ा ऊधम मचाता है। वह शरारत और हठ के बल पर अपनी इच्छाओं की पूर्ति चाहता है। अपनी इच्छाओं की पूर्ति न देख वह कुछ दिन के बाद चुप हो जाता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसकी इच्छा का लोप हो गया; अपितु उसकी इच्छा एक संवेगात्मक धक्के (इमोशनल शॉक) के कारण 'अज्ञात-चेतना' में निवास करने चली गई। वहीं पर वह अपनी भावना-ग्रन्थि बनाती है। इसका बालक के चरित्र पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अब एक दूसरा उदाहरण लीजिये। यदि बालक अपने घर में अत्याचार देखता है तो उसके चरित्र पर उसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। मान लीजिये बालक की माँ ऐसी दुःखद परिस्थिति में है कि बालक की साधारण इच्छाओं की भी वह पूर्ति नहीं कर सकती, अथवा माँ विधवा हो गई है और अपने को दूसरे पर आश्रित समझती है। उसकी इस मनोवृत्ति का उसके व्यवहार पर बड़ा प्रभाव पड़ेगा, और उसके व्यवहार की छाप बालक पर पड़े बिना न रहेगी। फलतः बालक महा डरपोक हो जाता है और बात बात में रोना सीख लेता है, या हठी हो जाता है—इसकी प्रतिक्रिया उसके व्यवहारों में स्पष्ट दिखलाई पड़ती है—उदाहरणार्थ, आवेश में कभी कभी वह अपने कपड़े फाड़ डालता है और कभी हाथ में ली हुई वस्तु को झट पटक देता है। यदि घर का मालिक बात बात में तड़पता है या व्यर्थ में ही क्रोध के आवेश में बालक को 'मूर्ख' की संज्ञा दिया करता है तो इसका उसकी कोमल भावनाओं पर बड़ा ही आघात पड़ता है। फल यह होता है कि बालक निराशावादी हो जाता है और उत्कृष्ट बुद्धि रखते हुए भी मन्द बुद्धि का हो जाता है। यदि सौभाग्यवश आगे चल कर बालक की किसी ऐसे मनस्वी से भेंट हो जो उसे आत्म विश्वास का सन्देश दे सके तभी बालक का कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह हुआ कि बालक के सभी असामान्य व्यवहारों की अपनी अलग अलग रामकहानी होती है। उसके 'निराशावाद', 'हठ', तथा 'निर्बलता' के अन्दर घुस कर यदि उसके 'अज्ञात-चेतना' की दीवार तोड़ी जाय तो बालक निर्दोष सिद्ध होगा और उसके प्रत्येक दोष के लिये उसके अभिभावक या शिक्षक ही उत्तरदायी दिखलाई पड़ेंगे।

फ्रॉयड की कुछ कल्पनाएँ सारभूत प्रतीत होती हैं। वह मनुष्य के सभी व्यवहारों में एक 'प्रयोजन' देखता है। उसके अनुसार हमारे सभी काम किसी

न किसी प्रयोजन से अभिप्रेरित होते हैं। वह स्वाभाविक कार्यों को भी इच्छा-पूर्ति का आधार मानता है। उसका विश्वास है कि मानसिक रोगी अपनी प्रतिरुद्ध इच्छाओं के कारण ही विकल रहता है। पर इसका उसे कुछ पता नहीं। किसी मानसिक रोग का लक्षण रोगी की निर्बलता के कारण नहीं दिखलाई पड़ता। परन्तु किसी इच्छा-पूर्ति के प्रयत्न में ही वह स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। फ्रॉयड की इस उक्ति से सहमत होना कठिन है। पर उसने अपने परीक्षणों से यह सिद्ध कर दिया है कि 'अन्धापन' या 'वात रोग' का स्वागत, किसी सामाजिक अथवा व्यक्तिगत उत्तरदायित्व से बचने के लिये किया जा सकता है। इसके प्रमाण में फ्रॉयड का एक परीक्षण बड़ा ही मनोरंजक है। एक स्त्री अपने बूढ़े पिता की सेवा बड़ी श्रद्धा के साथ करती थी। उसका एक युवक से प्रेम था। उसके साथ वह विवाह कर गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करना चाहती थी। परन्तु पिता की 'सेवा करना' उसके मार्ग में बाधक था। फलतः इस सेवा के विपक्ष में उसमें कुछ भाव उत्पन्न हुआ। पिता के साथ उसकी बड़ी श्रद्धा थी। अतः इस भाव का 'ज्ञात-चेतना' में रहना कठिन था। अतः वह भाव 'अज्ञात-चेतना' में जा टिका। कुछ दिन बाद वह स्त्री वात रोग से पीड़ित होकर अपंग हो गई। फ्रॉयड ने अपनी विधि के अनुसार उसकी परीक्षा की। 'मोहनिद्रा' और 'स्वतन्त्र-साहचर्य' के सहारे स्त्री ने यह स्वीकार किया कि वह अपने 'अज्ञात-चेतना' में पिता की सेवा के व्यक्तिगत उत्तरदायित्व से बचना चाहती थी। फलतः 'अज्ञात-चेतना' के सहारे वात रोग से पीड़ित होकर अपंग हो जाना उसे सुखद प्रतीत हुआ।

> फ्रॉयड की कुछ कल्पनायें सारभूत; मनुष्य के सभी व्यवहारों में एक 'प्रयोजन', मानसिक रोगी अपनी प्रतिरुद्ध इच्छाओं के कारण ही विकल।

हमारे बोलने अथवा लिखने में बहुधा भूल हो जाया करती है। हम 'लकड़ी' लिखना चाहते हैं पर 'लड़की' लिख देते हैं, 'नदी' लिखने की जगह 'नाँद' लिख देते हैं, 'पिता' के स्थान पर 'भाई' पुकार देते हैं। हम चाहते कुछ और हैं पर कलम अथवा मुँह से कुछ और ही निकल जाता है। इसका क्या कारण है? फ्रॉयड के पहले लोगों का विचार था कि भूलें संयोगवश हो जाती हैं। इनका कुछ कारण नहीं। परन्तु फ्रॉयड कहता है कि ऐसी बात नहीं। क्या कारण है कि त्रुटियाँ कुछ विशेष अवसरों पर ही होती हैं और दूसरे समय पर नहीं? फ्रॉयड की धारणा है कि प्रत्येक मानसिक क्रिया का एक पूर्व निश्चित कारण होता है। उसने बहुत-सी त्रुटियों का सूक्ष्मतम विश्लेषण किया और प्रत्येक की जड़ में कुछ न कुछ प्रयोजन छिपा देखा। एक व्यक्ति ने 'विश' (इच्छा) के स्थान पर 'फ़िश' (मछली) लिख दी। विश्लेषण के बाद पता चला कि मछली (फ़िश) खाने की उसकी बड़ी इच्छा (विश) रहती थी। पर उसके पिता इसके बड़े विरोधी थे। अतः वह अपनी इच्छा की

> हमारी त्रुटियाँ सकारण।

पूर्ति नहीं कर पाता था। इसलिये वह बहुधा 'विश' के स्थान पर 'फ़िश' लिख दिया करता था। इसी प्रकार 'भूलने' की जड़ में फ़्रॉयड कुछ न कुछ प्रयोजन के छिपे रहने की बात कहता है।

स्वप्न के विषय में फ़्रॉयड के अपने अनोखे विचार हैं। वह 'स्वप्न' को व्यक्ति की भूतकाल की अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब बतलाता है। पूर्वकाल के मनोवैज्ञानिकों ने इसके कारण की खोज पर विशेष परिश्रम नहीं किया था। उनकी धारणा थी कि स्वप्न स्वतः अकारण हुआ करता है। फ़्रॉयड प्रत्येक 'स्वप्न' में एक न एक कारण खोजना चाहता है। वह पूछता है कि हम क्यों ऐसा स्वप्न देखते हैं—वैसा क्यों नहीं देखते? उसकी धारणा है कि अपनी जागृत अवस्था में बालक अपने भविष्य के कार्य-क्रम के बारे में जो सोचता है अथवा जागते समय दिन में वह जो कुछ करना चाहता है उसी के बारे में वह अपनी स्वप्नावस्था में देखता है। पर नवयुवकों के स्वप्नों के विषय में उसका विचार भिन्न है। वह सोचता है कि उनके स्वप्नों में आई हुई इच्छाएँ 'अवदमित' (रिप्रेस्ड) हो सकती हैं। परन्तु उनके स्वप्नों को भी इच्छापूर्ति का एक साधन ही वह मानता है, क्योंकि स्वप्न में आये हुए विभिन्न 'प्रतिरूप' अथवा 'संकेत' (सिम्बल) से हम इसका कुछ अनुमान कर सकते हैं, या हम यह समझ सकते हैं कि निहित इच्छा अपनी 'पूर्ति' की चेष्टा में है।

स्वप्न भूतकाल की अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब, बच्चों का स्वप्न जागृत अवस्था की कल्पना, नवयुवकों का स्वप्न उनकी इच्छा-पूर्ति का साधन।

फ़्रॉयड का कथन है कि किसी 'कारण' अथवा 'इच्छा' को समझने के लिये हमें व्यक्ति के भूतकाल के अनुभवों की ओर जाना चाहिये। हमारी 'त्रुटियाँ' और 'स्वप्न' वर्तमान काल की इच्छा की पूर्ति नहीं करते, अपितु 'अज्ञात-चेतना' में छिपी हुई भूतकाल की इच्छा को पूरी करने की चेष्टा करते हैं। एक वर्ष के बच्चे का अध्ययन भी वह इसी सिद्धान्त के अनुसार करता है। वह बच्चे के भूतकाल का भी सूक्ष्मतम अन्वेषण करना चाहता है। यहीं पर फ़्रॉयड, एडलर तथा यूङ्ग में सिद्धान्ततः विरोध दिखलाई पड़ता है। अन्य दो मनोविश्लेषण-वादियों से भिन्न फ़्रॉयड यह सोचता है कि जो कुछ एक बार अनुभव कर लिया गया उसे भुलाया नहीं जा सकता। वह सदा व्यक्ति में उपस्थित रहता है और समय समय पर स्वप्न अथवा और दूसरे रूप में अपना परिचय दिया करता है। फ़्रॉयड यह भी कहता है कि एक बार की अनुभव की हुई इच्छा व्यक्ति में सदा के लिये घर कर लेती है।

'कारण' तथा 'इच्छा' को समझने के लिये भूतकाल के अनुभव सहायक, हमारे अनुभव समय समय पर स्वप्न अथवा दूसरे रूप में।

भावना-ग्रन्थियाँ केवल इच्छाओं के अवदमन से ही नहीं बनतीं। यह

आवश्यक नहीं कि वे सदैव बुरी ही हों अथवा अच्छी हों। विभिन्न परिस्थितियों की रगड़ में आने से हमारे मस्तिष्क में बचपन से ही संवेग की लहरें उठा करती हैं। इन लहरों से हमारी 'अज्ञात-चेतना' में 'गुत्थियाँ' अथवा 'भावना-ग्रन्थियाँ' बनती रहती हैं। बचपन में किसी ने कह दिया कि अमुक इमली के पेड़ के नीचे प्रेत का निवास है, अथवा अमुक 'भींटे' पर 'चुड़ैल' रहती है। बस क्या पूछना? अब जीवन भर के लिये मस्तिष्क में यह भावना आ गई। हम जब जब उस 'पेड़' या 'भींटे' से होकर आयेंगे तब तब हमें उस 'प्रेत' और 'चुड़ैल' का ध्यान आ जायगा, चाहे दृढ़ होने के कारण हम उनसे भले ही न डरें, पर कलेजा एक बार धड़क तो जायगा ही। इसी भाँति बहुत सी बातों के लिये बचपन में ही 'भावना-ग्रन्थियाँ' पड़ जाती हैं। बचपन में जो ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं उनसे पीछा छुड़ाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। 'भावना-ग्रन्थि' की गति स्वाभाविक होती है। वह अपने आप बन जाती है, और उसी के अनुसार हमारा स्वभाव भी बनता रहता है।

भावना-ग्रन्थियाँ केवल बुरी ही नहीं, बचपन में पड़ी हुई भावना-ग्रन्थियों से मुक्त होना अत्यन्त कठिन, गति स्वाभाविक, उसके अनुसार हमारे स्वभाव का बनना और बिगड़ना।

फ्रॉयड की धारणा है कि 'अज्ञात-चेतना' में छिपे हुए प्रायः सभी विचार 'काम-सम्बन्धी' (सेक्सुवल) होते हैं। प्रत्येक बालक में 'काम-सम्बन्धी' भावना बचपन से ही आने लगती है। बालक माता की ओर झुकता है और बालिका पिता की ओर। जब तक बच्चा अबोध रहता है तब तक इस झुकाव में कोई बाधा नहीं पहुँचती। पर बड़ा होने पर माता बालक से कुछ दूर हटने लगती है और उसे अपना दूध पिलाना पसन्द नहीं करती। माता-पिता के परस्पर व्यवहार को देख कर वह ईर्षा करता है और सोचता है कि मैं भी वैसा ही व्यवहार क्यों न करूँ! पर बालक अपने इस विचार में सफल नहीं होता। फलतः वह पिता को अपना प्रतिद्वन्दी मान बैठता है। उसके मन में एक द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है। फ्रॉयड का कथन है कि अपनी अवदमित इच्छा की पूर्ति के लिये बालक कई प्रकार से प्रयत्न करता है। अँगूठा चूसने, पेशाब करने व मल त्याग इत्यादि में फ्रॉयड को बालक की काम-भावना का प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है। इतना ही नहीं, अपितु बालक अपना सारा कार्य काम-भावना (लिबिडो) से ही प्रेरित होकर करता है। बाद में बालक की काम-भावना गुह्य अँगों तक ही सीमित होने लगती है। बालक अपने गुह्य अँगों को स्पर्श करने लगता है। इसमें वह आनन्द का अनुभव करता है। माता-पिता इस बुरी आदत को छुड़ाने के लिये उसे दण्ड देते हैं। यहीं पर बालक की भावना का अवदमन

अज्ञात-चेतना में छिपे हुए प्रायः सभी विचार 'काम सम्बन्धी', बालक का सारा कार्य काम-भावना से प्रेरित, इडीपस भावना-ग्रन्थि।

प्रारम्भ हो जाता है। 'काम-भावना' तो अवदमित हो ही नहीं सकती। अतः वह दूसरी प्रकार से बाहर निकलने लगती है। इसका अनुमान बालक-व्यवहार के सूक्ष्मतम अध्ययन से लग सकता है। बालक अन्त में अपने को ही आदर्श मानने लगता है। वह सोचता है कि अपने पिता के समान वह अवश्य ही हो जायगा, इसके साथ ही साथ उसके मन में यह भी विचार आने लगता है कि उसे अपने पिता का प्रतिद्वन्दी नहीं होना है। बालक की ऐसी मानसिक स्थिति को फ्रॉयड ने इडीपस* भावना-ग्रन्थि, (इडीपस काम्प्लेक्स) की संज्ञा दी है। फ्रॉयड का अनुमान है कि प्रायः सभी मानसिक रोगी 'इडीपस भावना-ग्रन्थि' के भयानक शिकार होते हैं।

एडलर (१८७०–१९३७) :—

काम-भावना हमारे कार्यों का प्रधान आधार नहीं, व्यक्ति सदैव अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने की चेष्टा में, 'समाज', 'जीवन-वृत्ति' और 'प्रेम' के क्षेत्र में अपने को अनुकूल बनाने का प्रयत्न, अतः उसमें 'शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा, यही अभिलाषा' प्रधान आधार।

एडलर ने फ्रॉयड के साथ बहुत दिनों तक काम किया। परन्तु सन् १९१२ में यह स्पष्ट हो गया कि फ्रॉयड से उसका सिद्धान्ततः विरोध है। वह उसके सभी निष्कर्षों को मानने के लिये तैयार नहीं था। एडलर का विचार है कि फ्रॉयड ने 'काम-भावना' को व्यर्थ ही में बहुत अधिक महत्व दिया है। वह 'काम-भावना' को जीवन की प्रधान शक्ति मानने को तैयार नहीं। उसके अनुसार किसी व्यक्ति को अपने जीवन में 'समाज', 'जीवन-वृत्ति' तथा 'प्रेम' सम्बन्धी परिस्थितियों का विशेष रूप से सामना करना होता है। जीवन के इस संघर्ष में उसे बड़े कटु अनुभव हुआ करते हैं। कभी वह अपनी निजी निर्बलता के कारण सफलीभूत नहीं होता और कभी किसी बाह्य परिस्थिति के वश उसे धक्का खाना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तित्व की रक्षा करना चाहता है। प्रत्येक चाहता है कि लोग उसका लोहा मानें। अपनी असफलता किसी को सहन नहीं होती। अतः व्यक्ति किसी न किसी प्रकार अपने को बड़ा बनाना चाहता है। यदि वह वस्तुतः बड़ा न हुआ तो कभी कभी वह अपने को बड़ा दिखलाने का ढोंग रचता है। यदि अपना मान बचाने में वह सफल न हुआ तो उसके व्यवहार में एक विचित्र कृत्रिमता आ जाती है। कोई भी समझदार व्यक्ति उसे देख कर

---

* इडीपस यूनानी पौराणिक कथा का एक वीर है। उसने भूल से पिता की हत्या कर अपनी माता से विवाह कर लिया था। चार बच्चे पैदा हो जाने के बाद जब उसे सत्य का पता चला तो उसने अपनी आँखें निकलवा दीं और बहुत दिनों तक कष्ट झेलना पसन्द किया।

तुरन्त कह देगा कि उसका 'दिमागी पुरजा' (स्क्रू) कुछ ढीला है। हमें बहुधा ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो सदा अपनी ही प्रशंसा किया करते हैं। जब तक वे रहेंगे अपने ही बारे में लम्बी चौड़ी हाँकेंगे। हम कभी कभी कहते हैं कि अमुक व्यक्ति बड़ा घमण्डी है। वास्तव में घमण्ड दिखलाना, या 'अपनी प्रशंसा करते रहना' अपने को छोटा समझने का स्पष्ट प्रमाण है। ऐसे व्यक्ति सदैव 'आत्म-हीनता की भावना-ग्रन्थि' (इनफ़िरियॉरिटी कॉम्प्लेक्स) से आक्रान्त रहते हैं। उनकी दिन पर दिन अवनति ही होती जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति में 'शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा' रहती है। इसी 'शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा' को एडलर जीवन-कार्यों का प्रधान आधार मानता है। वह 'काम-भावना' को यह स्थान देने को तैयार नहीं। एडलर का कथन है कि विषम परिस्थितियों के कारण हमारी इस 'अभिलाषा' की पूर्ति में बहुधा कठिनाइयाँ आती रहती हैं।

एडलर के अनुसार वास्तव में प्रत्येक मानसिक रोगी सदा 'हीनता' की भावना से बचना चाहता है। वह अपने को दूसरों की आँखों में ऊँचा उठाना चाहता है। यहाँ एडलर और फ़्रॉयड के सिद्धान्तों की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। पहले, एडलर सभी मानसिक रोगियों को एक ही श्रेणी में रख देता है। दूसरे, उसके रोग का कारण कोई 'अपराध' (गिल्ट) न होकर रोगी की 'हीनता की भावना' होती है। तीसरे, रोगी का उद्देश्य काम-भावना की तृप्ति नहीं, अपितु 'शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा' होती है। फ़्रॉयड के 'अन्तःकरण (इगो) सिद्धान्त' को एडलर वास्तविकता को छिपाने का एक साधन मात्र मानता है। फ़्रॉयड के अनुसार 'हीनता की भावना' से बचने के लिये व्यक्ति अपनी काम-भावना की तृप्ति के लिये कल्पित भावनाओं का सहारा लेता है। एडलर के अनुसार व्यक्ति 'हीनता की भावना' से बचने के लिये एक अपना विचित्र 'जीवन-ढंग' (स्टाइल ऑव् लाइफ़) अपनाता है। इस की सहायता से वह अपने को दूसरों की आँखों में ऊँचा उठाना चाहता है। ऐसा व्यक्ति ठीक रास्ते को नहीं पकड़ पाता। उसका जीवन-पथ सदा भ्रमात्मक बना रहता है। उसे कुछ भी सफलता नहीं मिलती। एडलर का कथन है कि प्रत्येक मानसिक रोगी के सामने यह विकट समस्या रहती है कि वह कैसा आचरण करे कि एक उच्च 'जीवन-ढंग' बनाने में वह सफल हो'। अपनी इस धुन में वह वास्तविकता से सदा एक हाथ दूर ही रहता है।

प्रत्येक मानसिक रोगी की अपने को श्रेष्ठ दिखलाना की इच्छा, 'हीनता की भावना' से बचने के लिये एक विचित्र 'जीवन-ढंग' को अपनाना, वह 'वास्तविकता' से सदा दूर।

बच्चे को बहुत पहले से ही अपनी 'हीनता' का आभास मिल जाता है। वह अपने कुछ प्रथम वर्षों में ही अपना 'जीवन-ढंग' बना लेता है और

बच्चे को अपनी हीनता का बहुत पहले ही आभास, बचपन में ही जीवन-ढंग की नींव, वातावरण का विशेष प्रभाव।

तदनुसार चलने की चेष्टा करता है। एडलर का कथन है कि बचपन में जो 'जीवन-ढंग' आ गया उसकी छाप अमिट हो जाती है। शिक्षा के कारण, सम्भव है, उसमें कुछ परिवर्तन आ जाय पर उसकी मुहर गहनतम अध्ययन करने वालों को अवश्य मिल जाती है। घर तथा बाहर जिन जिन परिस्थितियों का बालक को सामना करना पड़ता है उन सब का उसके 'जीवन-ढंग' बनाने में हाथ रहता है। 'वंशानुक्रम' (हेरिडिटी) का योग इसमें बहुत ही कम रहता है। किसी बहुत ही योग्य पुरुष का पुत्र यह सोच सकता है कि उसे 'अपने पिता ऐसी सफलता कभी प्राप्त न होगी'। इस प्रकार उसमें 'हीनता की भावना' का प्रवेश हो जायगा। इस प्रकार किसी भिक्षुक का लड़का याचन-वृत्ति को ही अपना जीवन का उद्देश्य बना सकता है और उससे ऊपर उठने की सामर्थ्य की अपने में कल्पना ही नहीं कर सकता। माता-पिता द्वारा बिगाड़ा हुआ बालक हठी हो जाता है और चाहता है कि सब लोग उसकी आज्ञा मानने को तैयार रहें। इसके विपरीत बेचारा उपेक्षित बालक सदा अपना मुँह ही चुराते फिरता है। वह चाहता है कि उसे कोई देख न ले। ज्येष्ठ लड़का इस घमण्ड में चूर रहता है कि वह तो मालिक है। मझला अपने बड़े भाई से ऊपर उठना चाहता है। उसे अपनी योग्यता के प्रमाण देने की ही सदैव चिन्ता लगी रहती है। सबसे छोटे लड़के का क्या पूछना? उसे तो सभी हथेली पर लिये रहते हैं। फलतः उसके निकम्मे हो जाने में कम सन्देह रहता है। एकलौता लड़का तो मानो अठारहवीं शताब्दी का नवाब बना बैठा रहता है। उसके संकेतों पर नाचने के लिये सदैव किसी न किसी को तैयार रहना चाहिये। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वातावरण और विशेषकर प्रारम्भिक कौटुम्बिक वातावरण 'जीवन-ढंग' के लिये बहुत कुछ उत्तरदायी हैं।

जो 'जीवन-ढंग' पड़ जाता है उसका किसी न किसी रूप में सदा रहना, 'रुचि' तथा 'अरुचि' से रोगी के जीवन पर प्रकाश, उसकी सभी प्रकार की गतियाँ सारगर्भित, जीवन-ढंग' की सब स्थान पर प्रधानता।

एडलर सबसे पहले रोगी के 'जीवन-ढंग' का पता लगाना चाहता है; क्योंकि बचपन में जो 'जीवन-ढंग' पड़ जाता है वह प्रायः उसी या कुछ परिवर्द्धित रूप में बाद में भी चलता रहता है। कुटुम्ब की परिस्थितियों के अध्ययन से भी रोगी के गत जीवन का कुछ आभास हमें हो सकता है। इस प्रकार हमें उससे उसकी 'रुचि' और 'अरुचि' का पता चल सकता है। हम यह जान सकते हैं कि उसे कैसी पुस्तकों के पढ़ने की धुन थी और वह कैसे 'चरित्रों' को पसन्द किया करता था। हमें यह भी अनुमान हो सकता है कि प्रारम्भ में उसका झुकाव किस जीवन-वृत्ति की ओर था। एडलर का कथन है कि रोगी की प्रत्येक गति में उसके जीवन-ढंग की मुहर है। वह किस प्रकार बैठता है, उठता है,

खड़ा होता है, सोता है, चलता है, दौड़ता है, बातचीत करता है तथा उँगलियों और हाथ को बातचीत करते समय कैसे नचाता है इत्यादि बातों से रोगी के चरित्र का ठीक ठीक अध्ययन किया जा सकता है। जो पीठ के बल बिलकुल सीधा सोता है उसमें अपने को बड़ा दिखलाने की भावना पाई जा सकती है। जो मुँह ढक कर सिकुड़ कर सोता है उसमें डरपोक होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। जो पेट के बल सोता है वह बहुधा हठी होता है—उसमें तथ्य की मात्रा कम रहती है। इस प्रकार की व्याख्या से एडलर यह दिखलाना चाहता है कि 'जीवन-ढंग' की हमारे प्रत्येक कार्य में प्रधानता रहती है। अतः रोगी के 'जीवन-ढंग' के अध्ययन से विश्लेषणवादी को बड़ी सहायता मिल सकती है।

एडलर फ्रॉयड के स्वप्न सिद्धान्त से सहमत नहीं। उसके अनुसार स्वप्न हमारी गत इच्छाओं की ओर संकेत नहीं करते। उनका सम्बन्ध भविष्य से होता है। हम जो कुछ आगे करना चाहते हैं उसका प्रतिबिम्ब हमारे मस्तिष्क में आ उपस्थित होता है, और वही स्वप्न में दिखलाई पड़ता है। यहाँ भी व्यक्ति के 'जीवन-ढंग' की छाप दिखलाई पड़ती है। जो समस्याएँ हमारी जागृत अवस्था में हल नहीं होतीं वे स्वप्न में अपना रूप दिखलाती हैं। अतः स्वप्न के अध्ययन से हम उन समस्याओं के प्रति व्यक्ति के मानसिक रुख का अनुमान लगा सकते हैं। परन्तु एडलर की यह बात सदा सत्य होती नहीं दिखलाई पड़ती, क्योंकि हमारा अनुभव है कि स्वप्न कभी कभी गत घटनाओं की ओर भी संकेत करते हैं।

एडलर के अनुसार स्वप्न के संकेत भविष्य की ओर, उनसे 'जीवन-ढंग पर प्रकाश।

एडलर के सिद्धान्त हमें फ्रॉयड से अधिक संबद्ध दिखलाई पड़ते हैं। परन्तु एडलर फ्रॉयड की तरह बहुत गहरे में डुबकी नहीं लगाता। एडलर अज्ञात-चेतना' को 'ज्ञात-चेतना' का एक अंग मानता है। वह इनमें कोई विरोध नहीं देखता। उसके अनुसार दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और दोनों का उद्देश्य भी एक ही है। व्यक्ति अपनी 'अज्ञात-चेतना' में तो 'हीनता की भावना' का अनुभव करता है, परन्तु 'ज्ञात-चेतना' में अपने को श्रेष्ठ दिखलाने की चेष्टा करता है। अतः ये दोनों भावनाएँ साथ मिल कर उसे आगे बढ़ाती हैं। व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार में 'अज्ञात' और 'ज्ञात' दोनों चेतनाओं का अपना अपना हाथ रहता है। दोनों अपनी अपनी शक्ति के अनुसार व्यक्ति को गति-युक्त बनाती हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि एडलर के सिद्धान्त हमें कुछ ऐसी बातें देते हैं जिनकी सार्थकता हमारे जीवन

एडलर का सिद्धान्त फ्रॉयड से अधिक संबद्ध, एडलर के अनुसार 'अज्ञात' और 'ज्ञात' चेतना एक दूसरे की विरोधी नहीं, दोनों का व्यक्ति को गतियुक्त बनाना, एडलर के सिद्धान्त फ्रॉयड से अधिक लाभप्रद।

में स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। वे कुछ परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हैं जिससे हमारे आगे का पथ कुछ स्पष्ट हो जाता है। एडलर के सिद्धान्त का केन्द्र इसी बात पर है कि व्यक्ति अपनी निर्बलता को छिपाने तथा श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिये एक अपना अनोखा 'जीवन-ढंग' अपनाता है। यही कारण है कि एडलर के मनोविज्ञान को 'वैयक्तिक मनोविज्ञान' (इण्डीविजुअल साइकॉलॉजी) भी कहते हैं। एडलर के निष्कर्ष कुछ अंशों में फ्रॉयड से अधिक लाभप्रद सिद्ध हुए हैं। फलतः शिक्षा पर उनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

यूङ्ग (१८७५—)—

मनोविश्लेषणवादी सम्प्रदाय के तीसरे प्रमुख व्यक्ति यूङ्ग माने जाते हैं। यूङ्ग के सिद्धान्त फ्रॉयड और एडलर दोनों से भिन्न दिखलाई पड़ते हैं। वस्तुतः यूङ्ग के विचार मनोवैज्ञानिक की अपेक्षा अधिक दार्शनिक दिखलाई पड़ते हैं। फ्रॉयड की भाँति वह मानता है कि 'ज्ञात-चेतना' ही मानसिक जीवन का सर्वेसर्वा नहीं है। वह 'अज्ञात-चेतना' को भी स्वीकार करता है, अपितु इसे 'ज्ञात-चेतना' से अधिक विस्तृत और महत्वपूर्ण मानता है। परन्तु यूङ्ग के ऐसा सोचने का कारण फ्रॉयड से भिन्न है। वह ऐसा सोचता है, क्योंकि 'अज्ञात-चेतना' वास्तविकता के सम्पर्क में नहीं आई है। उसका कथन है कि 'अज्ञात-चेतना' में केवल 'ज्ञात-चेतना' द्वारा अवदमित विचारों का ही जमघट नहीं है, प्रत्युत वहाँ कुछ ऐसे भी विचार हैं जिनका व्यक्ति के निजी अनुभव से कोई सम्बन्ध ही नहीं। वे अनुभव बहुत ही प्राचीन और सार्वलौकिक रूप के होते हैं। उनकी व्याख्या केवल जातिगत स्मृति के आधार पर ही की जा सकती है। यूङ्ग 'अज्ञात-चेतना' को 'ज्ञात-चेतना' का क्षतिपूरक समझता है। यदि कोई व्यक्ति 'ज्ञात-चेतना' में भीरु है तो वह अपनी 'अज्ञात-चेतना' में साहसी और वीर हो सकता है। यदि 'ज्ञात-चेतना' में हम अपने को दृढ़ समझते हैं तो 'ज्ञात-चेतना' में निर्बल हो सकते हैं। 'अज्ञात-चेतना' के अन्तर्गत बुरे और अच्छे दोनों प्रकार के अंश मिलते हैं। इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि व्यक्ति का अपने विषय में जो अनुमान होता है उससे वह बुरा अथवा अच्छा हो सकता है।

यूङ्ग के विचार फ्रॉयड और एडलर से भिन्न, अज्ञात-चेतना केवल ज्ञात-चेतना द्वारा अवदमित विचारों का ही जमघट नहीं, उसकी व्याख्या जातिगत स्मृति के आधार पर, अज्ञात-चेतना ज्ञात-चेतना की क्षतिपूरक।

जातिगत स्मृति को भी यूङ्ग 'अज्ञात-चेतना' का एक अङ्ग ही मानता है। परन्तु यह स्मृति ऐसी है जो 'अज्ञात-चेतना' पर प्रभाव डाला करती है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति के अनुभव तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त सभी प्रकार की अनुभूतियाँ आ जाती हैं। व्यक्ति का इसे समझना सरल नहीं। साधारण अन्तःप्रेरणा अथवा

जातिगत स्मृति के अन्तर्गत

व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त सभी अनुभूतियाँ, साधारण अन्तःप्रेक्षण से समझना कठिन, मानसिक जीवन अस्पष्ट चित्र।

स्मृति के दौड़ाने मात्र से उसका समझना कठिन है। इस प्रकार यूङ्ग मानसिक जीवन का एक अस्पष्ट चित्र सामने उपस्थित करता है। इस चित्र में दो भिन्न भिन्न वस्तुओं का समागम दिखलाई पड़ता है।

यूङ्ग और बर्गसन—

यूङ्ग काम-भावना (लिबिडो) को जीवन का एक आवेग (लाइफ़ इम्पल्स) मानता है। यह आवेग सदैव स्थायी रहता है। यूङ्ग का यह दृष्टिकोण बर्गसन के 'जीवनी शक्ति' (एलान वाइटल) से मिलता हुआ दिखलाई पड़ता है। यह आवेग हर एक व्यक्ति में स्वाभाविक होता है। यूङ्ग का कहना है कि विकास की क्रिया में काम-भावना के कई ऐसे अङ्ग हो जाते हैं जो काम सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी उपयोग में लाये जाते हैं। इन अन्य क्षेत्रों के अन्तर्गत परोपकार की भावना भी आ सकती है। यूङ्ग कहता है कि काम-भावना के कुछ अङ्ग परोपकार में भी काम आ सकते हैं। उसके अनुसार परोपकार की प्रवृत्ति उतनी ही स्वाभाविक और प्राचीन है जितनी कि 'अहंकार की भावना', क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। यूङ्ग की इस धारणा के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि 'नैतिकता' उतनी ही 'प्राचीन' है जितनी कि स्वयं 'मानव जाति'। यहाँ यूङ्ग फ्रॉयड का स्पष्ट विरोधी दिखलाई पड़ता है। फ्रॉयड का मत है कि व्यक्ति में जो वास्तविक द्वन्द चलता है वह अज्ञात-चेतना में स्थित काम-भावना (लिबिडो) और ज्ञात-चेतना की सामाजिक रूढ़ियों में चलता है। इसके विपरीत यूङ्ग का मत है कि बिना किसी बाह्य प्रभाव के व्यक्ति में द्वन्द चला करता है।

विकास की क्रिया में परोपकार के लिये काम-भावना के विभिन्न अङ्ग हो जाना, नैतिकता उतनी ही प्राचीन जितनी मानव जाति।

यूङ्ग के अनुसार स्वप्न का रूप—

फ्रॉयड के अनुसार 'स्वप्न' भूतकाल की ओर संकेत करते हैं। यूङ्ग के अनुसार हमारी सभी मानसिक क्रियाएँ किसी प्रयोजन के कारण चलती हैं। बिना किसी अभिप्राय के हमारे मानसिक जीवन में गति आती ही नहीं। अतः यूङ्ग कहता है कि 'स्वप्न' केवल भूतकाल की ही ओर संकेत नहीं करता, वरन् वह वर्तमान और भविष्य की बातों पर भी प्रकाश डाल सकता है। अज्ञात-चेतना तो ज्ञात-चेतना की क्षतिपूरक है। अतः स्वप्न में एक शोधक प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक ही दिखलाई पड़ता है। यूङ्ग फ्रॉयड

स्वप्न से वर्तमान और भविष्य की ओर संकेत, स्वप्न वर्तमान स्थिति का अङ्गचित्र, सारगर्भित

रूपक लिये हुये, भावी उन्नति की ओर संकेत।

से केवल अंशतः सहमत होता है और कहता है कि स्वप्न में हम किसी 'नीति' की ओर संकेत पा सकते हैं। यूङ्ग अपने स्वप्न विश्लेषण-क्रिया में फ्रॉयड की स्वतन्त्र-साहचर्य विधि का उपयोग करता है। वह कहता है कि मानसिक रोगियों के स्वप्नों में हम उनकी उन्नति की अवदमित अभिलाषा का आभास पा सकते हैं। इतना ही नहीं, अपितु यूङ्ग इससे भी आगे जाता है। वह कहता है कि स्वप्न में हम व्यक्ति की केवल अवदमित अभिलाषाओं का ही चित्र नहीं पाते, प्रत्युत उसमें उसके भावी उन्नति की प्रगति भी पहचानी जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यूङ्ग ने फ्रॉयड और एडलर के कार्य को आगे ही बढ़ाया है। वस्तुतः उसके विचारों में हम दोनों का सामञ्जस्य पाते हैं। यूङ्ग के अनुसार व्यक्ति दो प्रकार का होता है। इस वर्गीकरण को 'मनोवैज्ञानिक प्रकार' (साइकॉलॉजिकल टाइप) की संज्ञा दी गई है। जो व्यक्ति एडलर के विचारानुसार श्रेष्ठता प्राप्त करने की धुन में रहता है वह सदा अपने ही विषय में सोचा करता है। परन्तु फ्रॉयड के अनुसार व्यक्ति काम-भावना से प्रेरित होकर अपना सारा ध्यान अपनी प्रेम-वस्तु पर लगा देता है। पहले व्यक्ति का सारा विचार अपने ही विषय में होता है। वह बहुधा अन्तःप्रेक्षण में मग्न रहता है। अतः यूङ्ग ने उसे 'अन्तर्मुख' (इन्ट्रोवर्ट) की संज्ञा दी है। दूसरे प्रकार के व्यक्ति को 'बहिर्मुख' (एक्स्ट्रोवर्ट) कहते हैं, क्योंकि उसका ध्यान विशेषकर बाह्य वस्तुओं पर रहता है। बहिर्मुख काम-भावना से प्रेरित होने के कारण भावना से वशीभूत रहता है। अन्तर्मुख श्रेष्ठता प्राप्त करने की चेष्टा में विचार-प्रधान हो जाता है।

यूङ्ग में फ्रॉयड और एडलर दोनों के कार्यों का सामञ्जस्य, अन्तर्मुख और बहिर्मुख।

व्यक्तियों का उपर्युक्त वर्गीकरण ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि सभी व्यक्ति केवल दो ही कोटि में नहीं रखे जा सकते। यूङ्ग इस कठिनाई का अनुभव कर रहा था। अतः उसने एक तीसरे प्रकार के व्यक्ति की भी चर्चा की है। इसका नाम उसने 'मध्यमुख' (एम्बीवर्ट) दिया है। 'मध्यमुख' घड़ी के लंगर की तरह 'अन्तर्मुख' और 'बहिर्मुख' के बीच में हिला करता है। उसके विचार का केन्द्र न तो 'प्रेमवस्तु' ही होती है, और न वह केवल 'अपने' पर ही अपना विचार केन्द्रित करता है। अपने इस सिद्धान्त को यूङ्ग ने बहुत विस्तृत बनाया है और इसके अन्तर्गत उसने भावना प्रधान, विचार-प्रधान, संवेदना-प्रधान तथा अन्तर्दृष्टि-प्रधान आदि प्रकार के व्यक्तियों का उल्लेख किया है। यूङ्ग का कहना है कि ऐसे व्यक्ति 'अन्तर्मुख' और 'बहिर्मुख' दोनों श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। यूङ्ग के इस सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या व्यक्तित्व नामक तेरहवें अध्याय में की जायगी।

'मध्यमुख', अन्तर्मुख और 'बहुमुख' के अन्तर्गत कई प्रकार के व्यक्ति।

मनोविश्लेषणवाद और शिक्षा—

वर्तमान शिक्षा पर मनोविश्लेषणवाद का बहुत ही प्रभाव पड़ा है। मनोविश्लेषणवाद विशेषकर 'अज्ञात-चेतना' का विवेचन करता है। ऊपर हम यह देख चुके हैं कि प्रायः हमारी सभी क्रियाओं पर अज्ञात-चेतना की छाप रहती है। कभी कभी हम अनायास कुछ काम कर बैठते हैं। कभी कभी बालकों का व्यवहार ऐसा होता है कि उसे समझना असम्भव सा जान पड़ता है। परन्तु मनोविश्लेषणवाद की सहायता से अब इन सब समस्याओं का समाधान होने लगा है। शिक्षक के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह 'अज्ञात-चेतना' के प्रभाव को समझे। इसके जाने बिना बालकों को वह उचित रास्ता नहीं दिखला सकता। किसी स्वाभाविक प्रवृत्ति को अच्छे पथ पर तभी लगाया जा सकता है जब व्यक्ति की 'अज्ञात-चेतना' की गहराई नापी जा सके। माता-पिता अथवा अभिभावकों के अमनोवैज्ञानिक व्यवहार से बालकों के मन में विभिन्न प्रकार की हानिकारक ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये इन ग्रन्थियों का दूर करना आवश्यक है। पर इन ग्रन्थियों को समझना तथा दूर करना मनोविश्लेषणवाद की सहायता से ही सम्भव है। मनोविश्लेषणवाद के सिद्धान्तों से यह स्पष्ट हो गया है कि बालक गलती नहीं करते। उनकी सभी गलतियों के लिये उनके अभिभावकों और शिक्षक ही उत्तरदायी हैं। उनके स्वाभाविक कार्यों में बाधा पड़ने से ही वे हठी, चंचल अथवा उद्दण्ड हो जाते हैं। इन सब बातों का अकाट्य प्रमाण देकर मनोविश्लेषणवाद ने, वास्तव में, बालकों का बड़ा कल्याण किया है। अब शिक्षा-क्षेत्र में बालकों के प्रति सहानुभूति की ध्वनि सर्वत्र सुनाई पड़ती है। इसका श्रेय विशेषकर मनोविश्लेषणवाद को ही है।

व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये 'अज्ञात-चेतना' का समझना आवश्यक, बालक की अज्ञात-चेतना को समझे बिना शिक्षक का अपने कर्त्तव्य का पालन न कर सकना, बालकों की गलतियों का उत्तरदायित्व अभिभावकों पर।

अज्ञात-चेतना में छिपे हुए विचारों को बाहर निकालने का उत्तरदायित्व शिक्षा पर ही है। माता-पिता तथा अभिभावक कदाचित् इसमें विशेष सफलता प्राप्त न कर सकें, क्योंकि उनकी स्थिति ऐसी है कि बालक उनके आगे अपने हृदय के उद्गार निकालने में संकोच कर सकता है। शिक्षक के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं। यदि उसका व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण है तो बालक अपनी भाव-ग्रन्थियों की व्याख्या उनके सामने स्वतः कर देगा। परन्तु शिक्षक को यहाँ अपने कर्त्तव्य को समझना है।

बालक की अज्ञात-चेतना को समझने का उत्तरदायित्व शिक्षक पर, मूलप्रवृत्तियों की ज्ञात-चेतना के नियन्त्रण

में लाना आवश्यक, मनो-विश्लेषणवाद की सहायता से उनका शोधन सम्भव, विशेषज्ञों की सहायता आवश्यक।

उसे बालक की अज्ञात-चेतना को उसकी ज्ञात-चेतना के नियन्त्रण में लाना है। ऐसा करने से उनका बुरा प्रभाव जाता रहेगा और बालक के व्यक्तित्व के विकास के क्षेत्र से एक भारी अड़चन दूर हो जायगी। मूल-प्रवृत्तियों को ज्ञात-चेतना के नियन्त्रण में लाने से ही शिक्षा का कुछ प्रयोजन समझा जा सकता है, अन्यथा नहीं। अज्ञात-चेतना के सामने ज्ञात-चेतना की बहुत कम चलती है। हमारी बहुत सी इच्छाएँ, प्रवृत्तियाँ और रुचियाँ अज्ञात-चेतना के प्रभाव से आक्रान्त रहती हैं। यदि ये हानिकर हुईं तो इनमें परिवर्तन लाना आवश्यक है। मनो-विश्लेषणवाद की सहायता से हम इनकी शक्ति को अच्छे काम में लगा सकते हैं। मूलप्रवृत्तियों को यथासमय हम शोधित कर सकते हैं। उनके शोधन से उनका सामाजिक मूल्य बढ़ जायगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। वस्तुतः इन प्रवृत्तियों का इस प्रकार शोधन करना ही शिक्षा का प्रधान कर्त्तव्य कहा जा सकता है। कहना न होगा कि मनोविश्लेषणवाद इसमें कितना सहायक सिद्ध होगा। कभी कभी बालकों के व्यवहार को समझना अत्यन्त कठिन हो जाता है। ऐसे बालकों को समस्या-बालक की संज्ञा दी गई है। इन्हें समझने के लिये हमें मनोविश्लेषणवाद के विशेषज्ञ की सहायता लेनी पड़ेगी। इन विशेषज्ञों ने बहुत से समस्या-बालकों का कल्याण किया है। उनकी अज्ञात-चेतना को मथ कर उन्होंने उनकी हानिकर भाव-ग्रन्थियों को दूर किया और इस प्रकार उनके व्यक्तित्व के निर्माण में योग दिया है। पाश्चात्य देशों में हमें ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं। हमारे देश में ऐसे विशेषज्ञों की बड़ी कमी है। समस्या-बालकों के उद्धार के लिये ऐसे परीक्षणशालाओं का स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है।

मनोविश्लेषणवाद की सहायता से 'मूल' में छिपी हुई भीतरी इच्छा को समझ सकना, विशेषज्ञ को शिक्षक की सहायता आवश्यक. निदान का शीघ्र पता लगाना।

ऊपर हम यह देख चुके हैं कि हमारी साधारण से साधारण त्रुटि का भी एक निश्चित कारण होता है। हम कहना कुछ चाहते हैं और मुँह से कुछ और ही निकल जाता है। हम कुछ के अतिरिक्त कुछ और ही लिख जाते हैं। ऐसी त्रुटियाँ बालकों में बहुधा पाई जाती हैं। यदि शिक्षक को मनोविश्लेषणवाद के सिद्धान्तों का ज्ञान है तो वह तुरन्त समझ लेगा कि बालक की कौन सी भीतरी इच्छा बाहर आने का प्रयत्न कर रही है। शिक्षक यह भी समझ लेगा कि बालक का व्यवहार कभी कभी अनुचित क्यों हुआ करता है। इस प्रकार शिक्षक बालक के असामान्य व्यवहार का कारण समझ सकता है। कभी निदान को समझना दवा करने से अधिक लाभदायक सिद्ध होता है। निदान का पता चल जाने पर बालक विशेषज्ञ के नियन्त्रण में दिया जा सकता है। ऐसे कार्यों में विशेषज्ञ के लिये भी शिक्षक की सहायता अत्यन्त आवश्यक होगी, क्योंकि बिना

शिक्षक की सहायता के विशेषज्ञ निदान को अच्छी प्रकार नहीं समझ सकता। कभी कभी शिक्षकों और अभिभावकों की अज्ञानता से बालक के दोष बढ़ते जाते हैं। यदि उनके निदान का पता चल जाय तो कम से कम उनका बढ़ना तो रुक जायगा। शिक्षक को मनोविश्लेषणवाद के विधि-प्रयोग के नियमों का जानना उतना आवश्यक नहीं जितना कि उसके सिद्धान्तों का, क्योंकि उसके ज्ञान से निदान को वह शीघ्रता से पकड़ सकता है।

शक्ति के घमण्ड में बालक के प्रति शिक्षक का अमानुषिक व्यवहार, यदि शिक्षक निर्बल हुआ तो बालकों में मिथ्या आत्म-प्रदर्शन की भावना, शिक्षक को अपनी मानसिक स्थिति का पूरा ज्ञान आवश्यक, उसका हानिकर भावना-ग्रन्थियों से मुक्त होना आवश्यक, इन सब में मनोविश्लेषणवाद की सेवा अमूल्य।

शिक्षक और बालक के सम्बन्ध पर भी शिक्षा की सफलता बहुत कुछ निर्भर है। शिक्षक के हाथ में कुछ अधिकार व शक्ति रहती है। इस शक्ति के घमण्ड में वह अपने वास्तविक कर्त्तव्य को भूल कर पुलिस दरोगा के समकक्ष में आ सकता है। उसका व्यवहार अमानुषिक हो सकता है। मनोविज्ञान के इतना प्रचार होने पर भी कुछ शिक्षक डण्डों से बालकों की पीठ-पूजा करते हुए पाये जाते हैं। अपनी धाक जमाने के लिये उन्हें इन्हीं की शरण लेनी पड़ती है। कुछ शिक्षक तो ऐसे होते हैं कि उन्हें बच्चों को पीटने में बड़ा ही आनन्द आता है। ऐसे शिक्षकों के कौटुम्बिक जीवन का अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि वे वहाँ बहुत ही असन्तुष्ट रहते हैं। वहाँ भी अमानुषिक विधि से ही वे अपना सिक्का जमाना चाहते हैं। शिक्षक की यह प्रवृत्ति अज्ञात-चेतना में अत्यन्त गुप्त रूप से कार्य करती रहती है। बालकों के चरित्र-विकास पर इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि शिक्षक निर्बल हुआ और कक्षा को नियन्त्रण में न रख सका तो इसका भी प्रभाव अच्छा न होगा। ऐसी स्थिति में बालक उदण्ड हो जा सकता है। उसमें मिथ्या आत्म-प्रदर्शन की भावना कार्य करने लगती है और उसकी उन्नति वहीं रुक जाती है। अतः शिक्षक को अपनी मानसिक स्थिति का पूरा ज्ञान होना चाहिये। बिना इस ज्ञान के वह हानिकर भावना-ग्रन्थियों का उचित उपचार नहीं कर सकता। इन ग्रन्थियों से मुक्त व्यक्ति ही आदर्श शिक्षक हो सकता है। शिक्षक ऐसा हो कि उसे जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का अनुभव हो। जीवन के वास्तविक स्वाद को चखना उसके लिये आवश्यक है तभी वह हानिकर भावना-ग्रन्थियों से मुक्त हो बालक को उचित पथ की ओर अग्रसर कर सकता है। शिक्षक को भावुक नहीं होना है। उसे संवेगात्मक तथा मानसिक क्रियाओं के सम्बन्ध को ठीक ठीक समझना है, अन्यथा उसका परिश्रम उचित फल नहीं देगा। इन सब बातों को समझने तथा प्राप्त करने में मनोविश्लेषणवाद की सेवा अमूल्य है।

शिक्षा में प्रकृतिवाद के सिद्धान्त मनोविश्लेषणवाद से कुछ मिलते हैं। प्रकृतिवाद बालक के स्वाभाविक पथ में किसी प्रकार की बाधा पसन्द नहीं करता। उसके अनुसार हमें बालक को अपने कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता देनी है। कहना न होगा कि मनोविश्लेषणवाद भी इन्हीं सिद्धान्तों का समर्थन करता है। इसके अनुसार भी स्वाभाविक उन्नति में किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित करनी चाहिये, और मानसिक रोग को समझने के लिये अज्ञात-चेतना का द्वार खोलना आवश्यक है। पहले शिक्षा-क्षेत्र में काम-भावना सम्बन्धी विचारों को अवहेलना की दृष्टि से देखा जाता था। पहले यह ज्ञात न था कि इनको समझना व्यक्तित्व-निर्माण में आवश्यक है, क्योंकि हमारे जीवन से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनोविश्लेषणवाद के जन्म से अब 'काम-भावना' के प्रति उचित ध्यान दिया जाने लगा है। इस पर उचित ध्यान न देने से व्यक्ति में हानिकर भावना-ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं। भविष्य में इनसे मुक्ति पाना बड़ा ही कठिन हो जाता है। पर अब यह सन्तोष की बात है कि लोग इसे समझने लगे हैं। मनोविश्लेषणवाद के सिद्धान्तों के प्रचार से शारीरिक दण्ड देने की हानियाँ अधिक स्पष्ट हो गई हैं। अब लोग यह समझने लगे हैं कि बालकों की अज्ञात-चेतना में हानिकर भावना-ग्रन्थियों का एकत्र होना ठीक नहीं। अतः उनके साथ घर तथा पाठशाला में सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार होना आवश्यक है। अब अभिभावक और शिक्षकगण यह समझने लगे हैं कि बालकों को यथासमय आत्म-प्रदर्शन के लिये अवसर देते रहना चाहिये, तभी उनके चरित्र का पूर्ण विकास हो सकता है। इन सब विचारों के प्रचार का श्रेय मनोविश्लेषणवाद को ही है। आजकल शिक्षा-क्षेत्र में यह विवादात्मक प्रश्न उपस्थित हुआ है कि "क्या हमें बालकों को विषय-ज्ञान के लिये पढ़ाना चाहिये, अथवा हमें उनके व्यक्तित्व-निर्माण के लिये पढ़ाना चाहिये ?" एडलर के सिद्धान्तों से यह स्पष्ट है कि हम इन दोनों को मिला सकते हैं और वस्तुतः दोनों एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं, यदि प्रत्येक पर ठीक ठीक ध्यान दिया जाय।

प्रकृतिवाद और मनोविश्लेषणवाद के शिक्षा-सिद्धान्तों में कुछ समानता, 'काम-भावना' पर अब उचित ध्यान, शारीरिक दण्ड ठीक नहीं, बालकों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार, बालकों को आत्म-प्रदर्शन के लिये अवसर देना आवश्यक, विषय-ज्ञान और व्यक्तित्व-निर्माण के उद्देश्य में सामञ्जस्य उपस्थित करना सम्भव।

मनोविश्लेषणवाद ने हमें यह बतलाया है कि बालक अपनी स्थिति को समझने में ही भूल करते हैं। अतः उनकी त्रुटि पर क्रोध करना अथवा उन्हें दण्ड देना उचित नहीं। केवल गलती करने वाले ही तो सीखते हैं। वास्तव में, हम बालकों को शिक्षित करने में सफल होते हैं केवल इसीलिये कि वे भूल

बालकों का अपनी स्थिति को समझने में भूल करना,

उनकी गलती करने से ही उन्हें शिक्षित बनाना सम्भव, इसे समझने में ही शिक्षक की सफलता।

करते हैं। यदि वे गलती न करें तो उन्हें शिक्षा कैसे दी जा सकती है ? यदि उनमें विभिन्न मानसिक शक्तियाँ न हों तो उन्हें शिक्षित करना असम्भव हो जायगा। तब उनमें और पशु में कोई अन्तर ही न होगा। प्रत्येक शिक्षक इस बात को अपने हृदय में अच्छी प्रकार जमा ले, तभी उसका व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण हो सकता है, अर्थात् वह अपने कर्त्तव्य में सफल हो सकता है।

बालक का विकास 'विभिन्न वस्तुओं को व्यक्तिगत रूप में समझने' पर निर्भर।

मनोविश्लेषणवाद के सिद्धान्तों से हमें यह ज्ञात होता है कि बालक का विकास उसके 'विभिन्न वस्तुओं को व्यक्तिगत रूप में समझने' से होता है। किसी नई अथवा कठिन परिस्थिति से साक्षात् होने पर बालक का व्यवहार एक अनोखे रूप में होता है। बालक विचारशील होता है। किसी किसी विषय में उसका अपना विचार होता है। किसी वस्तु के प्रति उसका विचार उस वस्तु पर उतना निर्भर नहीं करता जितना कि उसकी अपनी धारणा पर। इस बात को बहुत अच्छी तरह समझ लेने पर ही शिक्षक का व्यवहार मनोवैज्ञानिक हो सकता है, और तभी उसके द्वारा बालक का व्यक्तित्व-निर्माण भी सम्भव है।

५—प्रयोजनवादी सम्प्रदाय (हॉर्मिक साइकॉलॉजी)।

हमारी समस्त क्रियाएँ प्रयोजनवश ही, 'विषय' के उपस्थित होने से ही 'प्रतिक्रिया' का होना आवश्यक नहीं, 'प्रतिक्रिया' प्रेरक-भावना पर निर्भर, प्राणी के प्रत्येक कार्य में प्रयोजन।

हमारी सभी क्रियाएँ किसी न किसी प्रयोजन से ही हुआ करती हैं, इसीलिये हमारी उन्नति सदा होती रहती है। हम अपने बचपन से ही सदा आगे बढ़ने की चेष्टा किया करते हैं। हम सदा एक उद्देश्य लिये रहते हैं। पूर्ण तथा महान् बनने की भावना सदा हमें जगाती रहती है। मनुष्य में जन्म से ही ऐसी सोचने और समझने की शक्ति होती है जो उसे सदा एक निर्दिष्ट स्थान की ओर अग्रसर करने में तत्पर रहती है। इस मत के प्रवर्त्तक मैग्डूगल महोदय (१८७१-१९३८) हैं। इन्होंने व्यवहारवादियों के सिद्धान्त का खण्डन किया। इनका कहना है कि 'उत्तेजना' के उपस्थित होने से ही 'प्रतिक्रिया' का हो जाना आवश्यक नहीं। 'प्रतिक्रिया' के पीछे एक ऐसी 'प्रेरक भावना' (मोटिव्) रहती है जिससे उसका जन्म होता है। हाथ जल जाने पर पास रखे हुए मिट्टी के तेल में हम हाथ डाल देते हैं। यदि हाथ न जला होता तो हम हाथ मिट्टी के तेल में न डालते। 'उत्तेजना' अर्थात् मिट्टी का तेल तो वहाँ उपस्थित है, परन्तु बिना 'प्रेरक भावना' अर्थात् 'हाथ को बचाने के प्रयोजन' के हम उसमें हाथ नहीं डालते। मिठाई

देखने से ही हम में उसे खाने की इच्छा का उत्पन्न हो जाना आवश्यक नहीं। खाने का प्रयोजन तो हमारी भूख अर्थात् 'प्रेरक-भावना' पर निर्भर है। मैग्डूगल का कथन है कि ऐसी स्थिति केवल मनुष्यों में ही लागू नहीं, वरन् पशुओं में भी पाई जाती है। पवलव ने अपना परीक्षण भूखे कुत्ते पर किया न कि तृप्त पर। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रेरक-भावना के भिन्न होने पर प्रतिक्रिया भी भिन्न हो जाती है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मैग्डूगल प्राणी के प्रत्येक कार्य में एक प्रयोजन देखता है। उसके इस मत को प्रयोजनवाद कहते हैं।

मैग्डूगल की मूलप्रवृत्ति का सिद्धान्त—

मूलप्रवृत्ति प्राथमिक प्रेरक-भावना, संवेग मूलप्रवृत्ति का केन्द्र, हमारी प्रवृत्यात्मक क्रिया के तीन अंग—जानना, अनुभव करना और संकल्प करना।

मैग्डूगल ने मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों (इन्स्टिंक्ट्स) को उसके कार्यों की प्रेरक-भावना माना है। हरबर्ट स्पेन्सर ने मूलप्रवृत्ति को सहज क्रियाओं (रिफ्लेक्सेज़) की एक शृङ्खला माना है। मैग्डूगल इस विचार से सहमत नहीं। मैग्डूगल के अनुसार हमारी मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया (इन्स्टिंक्टिव् एक्टीविटी) में सदा एक संवेग (इमोशन) उपस्थित रहता है। इस संवेग के बिना किसी क्रिया का होना सम्भव नहीं। वास्तव में, संवेग ही 'क्रिया' का केन्द्र होता है। हमारे सभी कार्यों में एक संकल्प-शक्ति (कोनेटिव् एलमेण्ट) निहित रहती है, जिसे हम सरलता से संवेग से पृथक नहीं कर सकते। संवेग के अंश को निकाल देने से मूलप्रवृत्ति की परिभाषा पूरी हो ही नहीं सकती। मैग्डूगल का कथन है कि उत्तेजक वस्तु के उपस्थित होने पर प्राणी एक प्रकार का संवेग अनुभव करता है। यह भाव सदा मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया के साथ रहता है। मैग्डूगल के अनुसार मूलप्रवृत्ति एक मनःशारीरिक प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के होने से व्यक्ति किसी परिस्थिति-विशेष में किसी वस्तु-विशेष के प्रति एक विशेष प्रकार का व्यवहार करता है। इस प्रकार मैग्डूगल मूलप्रवृत्ति को एक ऐसी प्राथमिक प्रेरक-भावना मानता है जिससे व्यक्ति का सारा व्यवहार चलता है। किसी भी मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया के मैग्डूगल तीन अंग करता है—जानना (नोइङ्ग) अनुभव करना (फ़ीलिङ्ग) और संकल्प करना (विलिङ्ग)।

स्थायीभाव (सेण्टीमेण्टस)—

अनुभव के बल पर मनःशारीरिक प्राणी में परिवर्द्धन किया जा सकता है। सभी में समान मूलप्रवृत्तियाँ होती हैं, पर वे कहाँ तक परिवर्द्धित की जा सकती हैं यह व्यक्ति के वातावरण पर निर्भर होता है।

वातावरण के अनुसार हम लोग सभी किसी न किसी वस्तु को चाहते हैं।

अनुभव से मनःशारीरिक प्राणी में परिवर्द्धन, किसी वस्तु के प्रति संवेगों के संगठन से स्थायीभाव की उत्पत्ति, व्यवहार स्थायीभाव से ही, स्थायीभाव ही कारणभूत।

अनुभव के कारण उस वस्तु के चारों ओर हमारे संवेग संगठित हो जाते हैं। संवेगों का यह संगठन उस वस्तु के प्रति हम में प्रेम उत्पन्न कर देता है—जिसे हम स्थायीभाव कहते हैं। यह स्थायीभाव व्यक्ति के उस वस्तु के प्रति सभी संवेगों का योग होता है। मैग्डूगल के अनुसार हमारी मूलप्रवृत्तियाँ स्थायीभाव के रूप में संगठित हो सकती हैं, परन्तु हमारे संवेग सदा एक से रहते हैं। हमारे सभी व्यवहार मूलप्रवृत्ति के संशोधित रूप अर्थात् स्थायीभाव के अनुसार ही होते हैं। इस प्रकार प्रयोजनवाद के अनुसार मूलप्रवृत्तियाँ मानव व्यवहार के आधार हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि स्थायीभाव ही हमारे व्यवहार के प्रेरक होते हैं और इन स्थायीभावों का हम मूलप्रवृत्तियों तथा संवेगों में विश्लेषण कर सकते हैं।

प्रयोजनवाद की पर्याप्तता—

मैग्डूगल का विश्वास है कि प्रयोजनवाद की सहायता से हम सभी मानव तथा पशु के व्यवहार की व्याख्या कर सकते हैं। जीव-विद्या के विशेषज्ञों को यान्त्रिक सिद्धान्तों की अपर्याप्तता का आभास अब होने लगा है। प्राणी के विभिन्न अवयवों को समझने के लिये अब वे भी प्रयोजन की खोज में आने लगे हैं। निर्जीव वस्तु और जीवधारी में अन्तर होता है। जीवधारी के समस्त व्यवहारों में एक प्रयोजन दिखलाई पड़ता है। परन्तु निर्जीव वस्तु में हम ऐसी बात नहीं देख सकते। डॉ॰ रसेल (इ॰ एस॰) का तो कहना है कि जीवधारी प्राणी के व्यवहार की व्याख्या सदा मनःशारीरिक प्राणी के सिद्धान्तों के अनुसार करनी चाहिये। मैग्डूगल डॉ॰ रसेल की इस उक्ति से असहमत नहीं हो सकता। वह सोचता है कि शरीर-विज्ञान और जीव-विद्या की समस्याओं का समाधान प्रयोजनवाद की सहायता से सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

प्रयोजनवाद की सहायता से समस्त व्यवहारों की व्याख्या सम्भव, शरीर-विज्ञान और जीव-विद्या की समस्या का भी समाधान प्रयोजनवाद से सम्भव।

मैग्डूगल के आलोचक—

कुछ लोगों ने प्रयोजनवाद की अत्यन्त कटु आलोचना की है, क्योंकि इसके अनुसार मनुष्य पशु की श्रेणी में आ जाता है। प्रयोजनवादी मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार में एक प्रयोजन की खोज करता है। यदि किसी दयालु ने किसी दुःखी की सहायता कर दी तो इसमें भी प्रयोजनवादी को दयालु के व्यवहार में अपने को सन्तुष्ट करने का

प्रयोजनवाद के आलोचक,

क्योंकि इसके अनुसार मनुष्य पशु की श्रेणी में, युद्ध के क्रूर दृश्य से मैग्डूगल के कथन की पुष्टि, पर मनुष्य के पास बुद्धि भी, वह स्थायीभाव की सतह पर, परन्तु पशु नहीं।

प्रयोजन ही दिखलाई पड़ेगा। अर्थात् बिना प्रयोजन के मनुष्य कोई कार्य ही नहीं करता, चाहे वह कार्य सामाजिक अथवा व्यक्तिगत दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि का हो या निकृष्ट। मैग्डूगल के आलोचक इस धारणा से सहमत नहीं। उनका कहना है कि मनुष्य उच्च भावना के आवेश में बिना किसी प्रयोजन के भी कार्य कर देता है। अतः उसके प्रत्येक व्यवहार में प्रयोजन का लाना ठीक नहीं। परन्तु यदि हम युद्ध के दृश्य को सामने रक्खें तो मैग्डूगल की उक्ति की सत्यता का आभास मिल जाता है। युद्ध और आन्तरिक उपद्रव के क्रूर कर्मों से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य अभी अपनी सभ्यता की आदिकालीन प्रवृत्तियों को अपनाये हुए हैं। इस दृष्टिकोण से मैग्डूगल का यह कथन कि–'मनुष्य मूलप्रवृत्ति का जीव (इन्स्टिंगटिव् एनिमल) है'—सत्य दिखलाई पड़ता है। परन्तु यहाँ यह न भूलना चाहिये कि मैग्डूगल मनुष्य को पशु की श्रेणी में नहीं रखता। उसने उसकी 'बुद्धि' की उपेक्षा नहीं की है। ऊपर हम देख चुके हैं कि मैग्डूगल के अनुसार मानव व्यवहार का कारण स्थायीभाव होता है। पशु में यह स्थायीभाव नहीं होता। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि मनुष्य और पशु दोनों एक ही स्वाभाविक सतह से अपना अपना व्यवहार प्रारम्भ करते हैं। मनुष्य ने अपने को उस सतह से उठा कर स्थायीभाव की सीढ़ी पर ला दिया है, परन्तु पशु अभी उसी पर रुका हुआ है।

प्रयोजनवाद की देन—

प्रयोजनवाद से इन्द्रियों की विकास-क्रिया का ज्ञान स्पष्ट, अनुभव को विभिन्न भागों में पृथक पृथक नहीं बाँट सकना, प्रत्येक जाति-विशेष में जीवित रहने की इच्छा, बालक की भावी उन्नति का रूप स्पष्ट, स्मरण-शक्ति दूरदर्शिता के लिये और दूरदर्शिता कार्य के लिये।

प्रयोजनवाद इन्द्रियों की विकास-क्रिया का ज्ञान हमें बिलकुल स्पष्ट देता है। अन्य मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं करते। प्रयोजनवाद के अनुसार किसी अनुभव को हम विभिन्न भागों में अलग अलग नहीं बाँट सकते, यद्यपि उसके विभिन्न भागों को पहचाना जा सकता है। प्रयोजनवाद के अनुसार प्रत्येक जाति विशेष में जीवित रहने की स्वाभाविक इच्छा होती है। यह इच्छा ही सदा उसे विभिन्न कार्य कराया करती है, जिससे जाति का नाश न हो। प्रयोजनवाद से हमें यह स्पष्ट पता लगता है कि बालक अपनी भावी उन्नति का रूप बहुत पहले ही दिखा देते हैं। प्रयोजनवाद के अनुसार स्मरण-शक्ति दूरदर्शिता के लिये होती है, और दूरदर्शिता कार्य के लिये होती है।

प्रयोजनवाद के अनुसार बुद्धि शुद्ध अनुमान से प्राप्त नहीं, ज्ञान संकल्प शक्ति का सेवक मात्र, प्रयोजनवाद गतिपूर्ण।

इस सिद्धान्त में कि 'बुद्धि शुद्ध अनुमान से ही प्राप्त होती है', प्रयोजनवाद का विश्वास नहीं। इस सिद्धान्त की त्रुटियों को भी इसने स्पष्ट कर दिया है। प्रयोजनवाद का सम्बन्ध केवल ज्ञान सम्बन्धी अनुभव (कॉग्निटिव् एक्सपिरियन्स) से ही नहीं है। यह संकल्प-शक्ति (कोनेशन) पर विशेष बल देता है और ज्ञान को संकल्प-शक्ति का सेवक मात्र समझता है। यहाँ शिक्षक को यह ध्यान रखना होगा कि 'पाठ्य-वस्तु बालक के लिये है न कि बालक पाठ्य-वस्तु के लिये।' प्रत्येक व्यक्ति के जीवन-उद्देश्य के अनुसार ही विषय-ज्ञान देना उचित होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रयोजनवाद गतिपूर्ण है। इसका उपयोग हम जीवन की विभिन्न समस्याओं के समाधान में भली भाँति कर सकते हैं।

प्रयोजनवाद दर्शन-शास्त्र का अच्छा मनोवैज्ञानिक आधार।

प्रयोजनवाद के सिद्धान्तों में दर्शन-शास्त्र को अच्छा मनोवैज्ञानिक आधार मिल सकता है। दर्शन-शास्त्र का सम्बन्ध विशेषतः मानव स्वभाव की सारता से है। उसे मानव स्वभाव की सम्भावनाओं का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिये, जिससे मनुष्य अपनी जीवन-सारता को पहचान सके। इस दृष्टिकोण से प्रयोजनवाद के सिद्धान्त दर्शन-शास्त्र के लिये बड़े सहायक सिद्ध होंगे।

प्रयोजनवाद से हमारी अन्वेषण प्रवृत्ति उत्तेजित।

प्रयोजनवाद विश्व की पहेली का समाधान करने का दावा नहीं करता। इसे वह भविष्य पर छोड़ देता है, परन्तु वह यह बतलाता है कि मनुष्य इस समय अन्धकार में फँसा हुआ है और उसे उचित पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता है। वह विभिन्न क्षेत्रों की ओर हमारी अन्वेषण-प्रवृत्ति को उत्तेजित करता है। मैग्डूगल के समर्थकों का विश्वास है कि स्थायीभाव की व्याख्या से प्रयोजनवाद ने मानव चरित्र का स्पष्टीकरण बड़े वैज्ञानिक ढंग से किया है। इस वैज्ञानिक व्याख्या की सहायता से हमारी राजनीति, सभ्यता, इतिहास तथा सौन्दर्य-विज्ञान पर नया प्रकाश पड़ता है।

प्रयोजनवाद और शिक्षा—

प्रयोजनवाद से हमें यह ज्ञात होता है कि संवेग से ही हमें एक प्रकार की मानसिक शक्ति प्राप्त होती है जो हमारे संकल्प को पूरा करने में सहायक होती है। इससे यह स्पष्ट है कि संवेग का संगठन ऐसा हो कि हमें उचित मानसिक शक्ति प्राप्त हो सके। बिना इसके उचित संगठन से हमारे व्यवहार समाज के लिये हितकर हो ही नहीं

संवेग से संकल्प को पूरा

करने के लिये मानसिक शक्ति प्राप्त, संवेग की शिक्षा की अवहेलना घातक।

सकते। अब तक हमारे स्कूलों में संवेग की शिक्षा की बड़ी अवहेलना की गई है। फलतः व्यक्तित्व-निर्माण में स्कूल अपने उत्तरदायित्व को नहीं निभा सका है। व्यक्ति तथा समाज के कल्याण के लिये आवश्यक है कि मानव भावनाओं और संवेगों को शिक्षा के सहारे उचित पथ की ओर लगाया जाय। बालक में सेवा-भावना, ललितकला के प्रति अनुराग, देश और विदेश के महान् पुरुषों के जीवन-चरित्र में तथा महान् प्राचीन परम्परा में प्रेम उत्पन्न करने से उसके संवेग को उचित ढंग से शिक्षित किया जा सकता है।

मूलप्रवृत्तियाँ—

प्रयोजनवाद के अनुसार मूलप्रवृत्तियाँ हमारे कार्यों की मूल प्रेरक हैं। बालकों के सुधार के लिये इन प्राथमिक प्रवृत्तियों पर विशेष ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। मूलप्रवृत्तियों के आधार पर ही हमारा मस्तिष्क ठहरा हुआ है। शिक्षा का

मूलप्रवृत्तियों का शोधन आवश्यक, स्थायीभाव की व्याख्या से प्रयोजनावाद शोधन में सहायक, मूल-प्रवृत्तियाँ हेतु—अतः उनकी अवहेलना घातक।

तात्पर्य ही मूलप्रवृत्तियों के 'शोधन' (सब्लिमेशन) करने से है। शोधन वह संज्ञा है जिससे हमारी मूल-प्रवृत्तियों का उपयोग उच्च कार्यों के लिये किया जाता है। स्थायीभाव के निर्माण की व्याख्या से प्रयोजनवाद मूलप्रवृत्तियों के शोधन करने में सहायक होता है। फ्रॉयड-मत के मानने वालों ने भी सर्वशक्तिमान काम-प्रवृत्ति के शोधन करने का उल्लेख किया है। काम-प्रवृत्ति के शोधन से बालक कवि, लेखक अथवा कला-प्रेमी बनाया जा सकता है। 'जिज्ञासा' और 'निर्माण' प्रवृत्ति के शोधन से उसे वैज्ञानिक या आविष्कारक बनाया जा सकता है। उचित खेल और अध्यापन की सहायता से 'युयुत्सा' प्रवृत्ति को हम अच्छे पथ पर नियोजित कर सकते हैं। इससे बालक, वास्तव में, जीवन कठिनाइयों से युद्ध करने के योग्य हो जायगा। उसमें आत्म-सम्मान की भावना प्रबल हो जायगी और वह कभी असामाजिक कार्य करेगा ही नहीं। प्रयोजनवाद शिक्षक से खुले शब्दों में कह देता है कि 'मूलप्रवृत्तियाँ ही सब की जड़ और हेतु हैं; अतः उनकी अवहेलना व्यक्ति और समाज दोनों के लिये घातक सिद्ध होगी'। प्रयोजनवाद शिक्षक को यह भी बतलाता है कि व्यक्ति की बुरी वृत्तियों को उच्च कार्यों की ओर सरलता से लगाया जा सकता है। मनो-विश्लेषणवाद के सदृश प्रयोजनवाद भी कहता है कि बालकों की मूलप्रवृत्तियों को अवदमित न कर शोधित करना चाहिये।

हमारी मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाओं के प्रयोजनवाद ने तीन अङ्ग किये हैं—

जानना, अनुभव करना और संकल्प करना। इन तीनों अङ्गों का सामाजिक महत्त्व बड़ा ही गूढ़ है। इनका विकास समाज से पृथक रहने पर नहीं हो सकता। सामाजिक संघर्षों में ही उनकी उत्कृष्ट उन्नति सम्भव है। स्कूल एक सामाजिक संस्था है। अतः वहाँ उनके विकास का अच्छा क्षेत्र है। प्रयोजनवाद यह बतलाता है कि तीनों अङ्गों पर उचित ध्यान देना आवश्यक है। यदि एक की अवहेलना कर दूसरे पर अनुचित ध्यान दिया गया तो आदर्श व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो सकता।

ज्ञान, अनुभव और संकल्प का सामाजिक महत्व, स्कूल में तीनों पर समुचित ध्यान आवश्यक।

आत्म-सम्मान का स्थायीभाव (सेल्फ रिगार्डिङ्ग सेण्टीमेण्ट)—

मैग्डूगल अपनी 'इन्ट्रोडक्शन ऑव् सोशल साँइकॉलॉजी' में आत्म-सम्मान के स्थायीभाव की चर्चा करता है। उसके अनुसार शिक्षा का महान् उद्देश्य इस स्थायीभाव के प्राप्त करने से ही है। यह स्थायीभाव 'आत्म-भावना' के चारों ओर संगठित होता है। किसी वस्तु में हमारी रुचि है इसका तात्पर्य यह है कि वह हमारी 'आत्म-भावना' से सम्बन्धित है। अतः विभिन्न वस्तुओं के प्रति हमारा स्थायीभाव हमारी आत्म-भावना से ही सम्बन्धित रहता है। अतः सभी का संगठन 'आत्म-भावना' के चारों ओर ही होता है। इस प्रकार 'आत्म-सम्मान के स्थायीभाव'* का विकास होता है। हमारे व्यवहार के संकल्प-अङ्ग (कोनेटिव् फेज़) पर इस स्थायीभाव का बहुत प्रभाव पड़ता है। मानसिक उलझनों और कष्ट के दिनों में आत्म-सम्मान के स्थायीभाव की ही सहायता से हम शान्ति पाते हैं। मझधार में डूबती हुई जीवन नैया का वही सहारा होता है। अर्थात् शिक्षकों को बालकों में इस स्थायीभाव के विकास के लिये विशेष चेष्टा करनी है। इस चेष्टा में ही वह अपने कार्य का सफल सम्पादन कर सकता है। कहना न होगा कि शिक्षा में इस भाव को लाने का श्रेय प्रयोजनवाद को ही है।

मानसिक उलझनों और जीवन कठिनाइयों में सहायक, इसका श्रेय प्रयोजनवाद को ही।

प्रयोजनवाद 'संकल्प-शक्ति' और चरित्र के विकास पर विशेष बल देता है। संकल्प-शक्ति के विकास से आत्म-सम्मान के स्थायीभाव के विकास में सहायता मिलती है। व्यक्ति के चरित्र से ही उसके सामाजिक व्यवहार की व्याख्या की जा सकती है। हमारे सभी संकल्प चरित्र द्वारा ही नियन्त्रण में लाये जा सकते हैं। सामाजिक संघर्ष से ही हमारे चरित्र का विकास हो सकता है।

चरित्र के विभिन्न अंशों का प्रयोजनवाद द्वारा

* नवाँ अध्याय देखिये।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण।

प्रयोजनवाद ने चरित्र के विभिन्न अंशों का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति के स्वाभाविक व्यवहार, इच्छा, तथा विभिन्न स्थायीभाव आ जाते हैं। किसी व्यक्ति की शिक्षा में प्रयोजनवाद के इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सदैव ध्यान रखना आवश्यक है।

प्रयोजनवाद से व्यक्तित्व के विषय में शिक्षक की ज्ञान-वृद्धि, शिक्षा के अङ्गों को एक स्थान पर केन्द्रित कर देने की इसमें शक्ति, मनोविश्लेषणवाद के अभाव की पूर्ति।

उपर्युक्त विवेचन के यह स्पष्ट है कि प्रयोजनवाद व्यक्तित्व के विषय में शिक्षक के ज्ञान को और आगे बढ़ाता है। बालक की शिक्षा के विभिन्न अङ्गों को एक स्थान पर केन्द्रित कर देने की प्रयोजनवाद में शक्ति दिखलाई पड़ती है। प्रयोजनवाद शिक्षक को एक ऐसी अन्तर्दृष्टि देता है जिससे वह बालक की स्वाभाविक रुचि का पता लगा कर उसकी शिक्षा की वह समुचित व्यवस्था कर सकता है। इतना ही नहीं, वरन्, प्रयोजनवाद मनोविश्लेषणवाद से हाथ मिलाते हुए दिखलाई पड़ता है और ऐसा जान पड़ता है कि वह उसके अभाव की पूर्ति करता है।

विभिन्न मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का संश्लेषण आवश्यक—

शिक्षा-क्षेत्र में विभिन्न मत, पर सब की प्रगति आध्यात्मिकता की ओर, अतः मनोविज्ञान की आवश्यकता अपेक्षित, परन्तु वह भी संकट-स्थिति में; अतएव एक नये मनोविज्ञान की आवश्यकता।

शिक्षा-क्षेत्र में आजकल हम विभिन्न प्रकार की बातें सुनते हैं। बहुत से दार्शनिक हो गये हैं जो कि अपने अपने मत की एक दूसरे से श्रेष्ठता स्थापित करना चाहते हैं। फलतः आजकल के विभिन्न शिक्षा-सिद्धान्तों में हम एक सामान्य सिद्धान्त का अभाव पाते हैं। कभी कभी यह समझना कठिन हो जाता है कि किसका अनुसरण किया जाय और किसकी अवहेलना। परन्तु यदि विभिन्न सिद्धान्तों के संश्लेषण की हम चेष्टा करें तो इस सङ्कट-स्थिति का निवारण सम्भव हो सकता है। शिक्षा-प्रयत्नों के विश्लेषण से हमें पता चलता है कि सब में आध्यात्मिकता की ओर जाने का एक झुकाव है। स्पष्ट है कि पूरी समस्या मनोवैज्ञानिक है। अतः मनोविज्ञान की सहायता बिना काम चलने वाला नहीं। परन्तु मनोविज्ञान से सहायता लेने के पूर्व हमें यह जान लेना है कि मनोविज्ञान स्वयं संकट-काल में फँसा हुआ है। अब तक के विवेचनों से यह स्पष्ट होगा कि यहाँ भी मतभेद की कमी नहीं। मनोविज्ञान अभी अपने शैशव काल में ही दिखलाई पड़ता है। अभी तो केवल वर्तमान शताब्दी में ही इसे कुछ स्वतन्त्रता मिली है। आजकल के मनोवैज्ञानिक अपना अपना राग अलापने की धुन में मस्त दिखलाई पड़ते हैं। प्रत्येक की यही इच्छा

मालूम होती है कि लोगों का ध्यान केवल उसी पर पड़े। फलतः मनोविज्ञान के क्षेत्र में हमें परस्पर विरोधी विचार मिलते हैं। व्यवहारवाद मानव व्यवहार की परिभाषा कुछ और ही करता है। अवयवीवाद व्यवहारवाद की आलोचना करता है। मनोविश्लेषणवाद का तो कुछ पूछना ही नहीं। प्रयोजनवाद तो सबसे आगे बाजी मार लेता है जब वह कहता है कि मनुष्य के प्रत्येक कार्य में कुछ न कुछ प्रयोजन छिपा रहता है; और वह अभी अपनी मूलप्रवृत्ति की सतह पर ही अपना कार्य करता है। प्रत्येक सम्प्रदाय की खोज में हमें कुछ न कुछ अच्छी बात मिलती ही हैं। अतः शिक्षा के लिये हमें उन्हें स्वीकार ही करना पड़ेगा। परन्तु यह जानना चाहिये कि आजकल हमें किस प्रकार के मनोविज्ञान की आवश्यकता है। इसे जनाने के लिये हमें शिक्षा की नवीन प्रगति पर दृष्टिपात करना होगा।

शिक्षा में नई गति—

मानव हित, मानव महत्व और मानव व्यक्तित्व के सम्बन्ध में आजकल शिक्षा का तात्पर्य क्या है? आज हमें 'स्वतन्त्रता' की माँग की 'दुहाई' सुनाई पड़ती है। अब हमें व्यक्तियों का एक नया वर्ग दिखलाई पड़ता है। 'व्यक्ति' की परिभाषा अब दूसरे रूप में की जाती है। उसे अब गति और उत्पादक शक्ति से परिपूर्ण समझा जाता है। अब लोगों का यह दावा है कि प्रत्येक व्यक्ति का आदर करना मनुष्यता की पहली माँग है। प्रत्येक का अपना अलग अलग व्यक्तित्व होता है। इस व्यक्तित्व का पूर्ण विकास ही शिक्षा का ध्येय होना चाहिये। संसार भी अब एक नई संस्कृति की ओर बढ़ता हुआ दिखलाई पड़ता है। अब यह इच्छा की जाती है कि नया वंशज अपनी आवश्यकतानुसार पूर्वजों के अनुभवों को ध्यान में रखते हुए अपनी संस्कृति का स्वयं निर्माण करे। अतः संसार एक परिवर्तन-काल में आ गया है। ऐसी स्थिति के दुष्परिणामों से तभी बचा जा सकता है जब व्यक्ति की शिक्षा का उद्देश्य पूर्णता प्राप्त करना हो और व्यक्ति को एक 'पूर्ण मनुष्य' के दृष्टिकोण से देखा जावे। इसका तात्पर्य यह है कि बालक को अब एक मनःशारीरिक प्राणी समझना चाहिये। उसके शरीर और मस्तिष्क को अलग अलग समझना घातक होगा। शिक्षा में हमें 'शरीर' और 'मस्तिष्क' दोनों पर उचित ध्यान देना होगा। कदाचित् इस वस्तु-स्थिति की अवहेलना ही वर्तमान शिक्षा की असफलता का प्रधान कारण है। अतः शिक्षा-क्षेत्र में हमारा नारा यह होना चाहिये कि 'व्यक्ति मनःशारीरिक प्राणी है' और शिक्षा की व्यवस्था इसी के अनुसार होनी चाहिये, अर्थात् शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की ओर सदा उचित ध्यान देना आवश्यक है।

व्यक्ति गति और उत्पादकता से परिपूर्ण, संसार परिवर्तन काल में, पूर्ण मनुष्य बनाने का उद्देश्य, व्यक्ति मनः शारीरिक प्राणी, तदनुसार उसकी शिक्षा।

उपर्युक्त विवेचन में हम एक नये मनोविज्ञान की आवश्यकता का उल्लेख कर चुके हैं। शिक्षा की नवीन प्रगति को समझने से इस आवश्यकता का महत्व और भी स्पष्ट हो जाता है। यदि यह आवश्यकता पूरी न की गई तो शिक्षा का उद्देश्य सफल नहीं हो सकता। मनोविश्लेषणवाद विशेषकर अज्ञात-चेतना से सम्बन्ध रखता है और प्रयोजनवाद ज्ञात-चेतना से, क्योंकि इसके अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कार्य में कुछ न कुछ प्रयोजन छिपा रहता है। हमारा विचार है कि इन दोनों के संश्लेषण से ही हमें एक ऐसे सन्तोषजनक मनोविज्ञान का मिलना सम्भव है जिससे हमारी सभी उपर्युक्त समस्याओं का समाधान हो सकता है। मानव मस्तिष्क के दो पहलू हैं—अज्ञात-चेतना और ज्ञात-चेतना। अतः इन दोनों का संश्लेषण निश्चय ही हमारी समस्या का समाधान करेगा।

मनोविश्लेषणवाद और प्रयोजनवाद के संश्लेषण से समस्या का समाधान सम्भव।

मनोविश्लेषणवाद और प्रयोजनवाद का संश्लेषण—

दोनों में समानता—

भिन्नता होते हुए भी हमें मनोविश्लेषणवाद और प्रयोजनवाद में कुछ समानता अवश्य ही दिखलाई पड़ती है। मानव व्यवहार की विभिन्न समस्याओं पर इनके समर्थक अपने विभिन्न दृष्टिकोण से विचार करते हैं; परन्तु उनके सारांश में कुछ समानता भी दिखलाई पड़ती है। ये दोनों सम्प्रदाय गतिपूर्ण हैं। इन दोनों की धारणा है कि मस्तिष्क 'नाड़ी मण्डल' (नर्वस् सिस्टम) में स्थित नहीं रहता। दोनों का कथन है कि मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार में कुछ न कुछ प्रयोजन छिपा रहता है। दोनों का विश्वास है कि मस्तिष्क अपने स्वाभाविक रूप, क्रिया और अवस्थानुसार बढ़ता रहता है। मैग्डूगल स्थायीभाव के विकास का उल्लेख करता है और फ्रॉयड हानिकर स्थायीभाव अथवा भावना-ग्रन्थियों की चर्चा करता है। आपस की इन समानताओं के कारण दोनों में संश्लेषण की आशा दिखलाई पड़ती है।

गतिपूर्ण, मस्तिष्क नाड़ी मण्डल में स्थित नहीं, मानव व्यवहार में प्रयोजन निहित, स्थायी-भाव और हानिकर भावना-ग्रन्थियाँ।

दोनों में भेद—

मनोविश्लेषणवाद अज्ञात-चेतना की व्याख्या करता है। यह केवल 'कामभावना' (सेक्स इन्स्टिंक्ट) को ही 'प्रधान' मानता है। फ्रॉयड ने 'कोमल प्रवृत्तियों', 'घृणा' तथा 'आत्म-गौरव' (सेल्फ असर्शन) की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं किया है। परन्तु मैग्डूगल इन सब के अस्तित्व को मानता है। मनोविज्ञान के अध्ययन में

मनोविश्लेषणवाद में

'काम-भावना' को प्रधानता, प्रयोजनवाद की धारणा कि 'क्रिया' से आकृति को समझा जा सकता है भ्रमात्मक, फ्रॉयड 'आनन्द-सिद्धान्त' की ओर, मैग्डूगल इसके विरुद्ध।

मानसिक 'आकृति' और 'क्रिया' के भेद को समझना बड़ा आवश्यक है। मैग्डूगल दोनों में एक सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। उसकी धारणा है कि 'क्रिया' के अध्ययन से 'आकृति' को बड़ी सरलता से समझा जा सकता है, क्योंकि 'क्रिया' में 'आकृति' अपने रूप को स्पष्ट कर देती है। मैग्डूगल का कथन है कि स्थायीभाव के सम्बन्ध में भी हम इस निष्कर्ष को ठीक मान सकते हैं। यहीं पर प्रयोजनवाद की भूल स्पष्ट हो जाती है और यहीं पर उसे मनोविश्लेषणवाद की सहायता आवश्यक है। 'आकृति' को 'क्रिया' में सदा समझना सम्भव नहीं हो सकता। कदाचित् असभ्य मनुष्य की ही 'क्रिया' में उसके मस्तिष्क की 'आकृति' को समझा जा सकता है। परन्तु सभ्य मनुष्य के विषय में ऐसा सम्भव नहीं। वह तो विभिन्न विचार, स्थायीभाव, भय तथा उन्माद का गुणनफल है। अतः उसकी 'क्रिया' से मस्तिष्क की 'आकृति' को समझना असम्भव है। पहले फ्रॉयड का 'आनन्द-सिद्धान्त' (प्लेज़र-प्रिन्सीपुल) में विश्वास था। उसका कथन था कि व्यक्ति आनन्द प्राप्ति के लिये विभिन्न कार्य किया करता है। बाद में 'आनन्द-सिद्धान्त' को छोड़ कर फ्रॉयड 'वास्तविक-सिद्धान्त' (रियल्टी-प्रिन्सीपुल) की ओर आ जाता है। मनोविश्लेषणवाद में यह भारी कमी दिखलाई पड़ती है और यहाँ हमें प्रयोजनवाद की सहायता की आवश्यकता जान पड़ती है। प्रयोजनवाद का कथन है कि मनुष्य के जीवन का उद्देश्य 'आनन्द-प्राप्ति' नहीं है। मनुष्य तो उद्देश्य प्राप्ति के बाद ही आनन्द का अनुभव करता है, अर्थात् 'आनन्द' उसके लिये गौण वस्तु है। मुख्य वस्तु तो एक निश्चित उद्देश्य है जिसकी ओर मनुष्य की सारी शक्तियाँ संलग्न रहती हैं।

प्रत्यागमन में संश्लेषण की सम्भावना—

प्रत्यागमन (रीग्रेशन) के विश्लेषण में ही मनोविश्लेषणवाद और प्रयोजनवाद में संश्लेषण की सम्भावना मालूम होती है। जीव तथा मानसिक विकास के क्षेत्र में प्रत्यागमन का प्रधान हाथ दिखलाई पड़ता है। हम देखते हैं कि कुछ जानवर वातावरण के संघर्ष से पाये हुए अपने कुछ अवयवों को खो बैठते हैं और अन्त में अपनी प्राथमिक अवस्था पर आ जाते हैं। आजकल एक राष्ट्र की दूसरे से बड़ी लड़ाइयाँ होती हैं। इसमें हमें विकास के सम्बन्ध में प्रत्यागमन का आभास मिलता है। इस प्रकार प्रत्यागमन हमारी उन्नति में बड़ा बाधक है। यदि सभ्यता और संस्कृति की रक्षा करनी है तो इसका पूर्ण रूप से नाश करना होगा।

जीव तथा मानसिक विकास में प्रत्यागमन बाधक, इसका नाश आवश्यक।

फ्रॉयड ने सर्वप्रथम व्यक्ति के मस्तिष्क के सम्बन्ध में प्रत्यागमन के रहस्य को समझा। प्रत्यागमन को ही उसने मानसिक रोगी के बुरे कार्यों का प्रधान कारण माना। मैग्डूगल ने भी प्रत्यागमन को समझने की चेष्टा की, पर वह सफल न हो सका। वह अपने प्रयोजनवाद की योजना में प्रत्यागमन के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करता। प्रयोजनवाद में प्रत्यागमन का तात्पर्य उच्च स्थायीभावों से मूलप्रवृत्तियों की सतह पर आना है। अर्थात् प्रत्यागमन के वशीभूत होकर एक सभ्य व्यक्ति भी निकृष्ट कोटि का कार्य कर सकता है। इसी को मानसिक विकास की क्रिया की 'उलटी गति' (रीवर्सल) कहते हैं। मैग्डूगल अपनी चौदह मूलप्रवृत्तियों के पीछे नहीं जाना चाहता। उसके अनुसार वे सभी कार्यों के मूलउद्गम हैं। यहीं मैग्डूगल भूल करता है। उसका यह विश्वास कि चौदह मूलप्रवृत्तियों के पूर्व कोई शक्ति होती ही नहीं भ्रमात्मक है। परन्तु मनोविश्लेषणवाद मानसिक विकास की आदि-अवस्था की व्याख्या करता है। यही कारण है कि मैग्डूगल मनोविश्लेषण-वाद का विरोधी दिखलाई पड़ता है। अपने मानव व्यवहार के परीक्षणों में मैग्डूगल को अपनी धारणा की भूल स्पष्ट हो गई है। फलतः उसने अपनी कुछ भूलों को स्वीकार किया है। अतः हम प्रयोजनवाद और मनोविश्लेषणवाद का संश्लेषण करने का प्रयत्न कर सकते हैं।

प्रत्यागमन का रहस्य पहले फ्रॉयड को मिला, मैग्डूगल इसको नहीं मानता, चौदह मूलप्रवृत्तियाँ ही सब का मूल, परन्तु उसे अपनी भूल स्वीकार।

ऊपर हम देख चुके हैं कि स्थायीभाव का विकास मूलप्रवृत्तियों से ही प्रारम्भ होता है। मैग्डूगल का कथन है कि व्यक्ति के समस्त कार्य स्थायीभाव के ही अनुसार चलते हैं। कभी कभी व्यक्ति अपने स्थायीभाव की श्रेणी से नीचे उतर आता है और उसका व्यवहार पाशविक दिखलाई पड़ता है। प्रयोजनवाद के अनुसार इसी को प्रत्यागमन कहते हैं। इसी का नाम 'ऊँचे से नीचे को पतन' दे सकते हैं। मैग्डूगल फ्रॉयड का विरोधी दिखलाई पड़ता है, क्योंकि फ्रॉयड चौदह के स्थान पर केवल एक ही मूलप्रवृत्ति अर्थात् काम-भावना के अस्तित्व को स्वीकार करता है। परन्तु मैग्डूगल की चौदह मूलप्रवृत्तियों की उत्पत्ति तो किसी एक 'शक्ति' से ही हुई होगी। जब हम उनके विकास के उद्गम का संकेत एक ही शक्ति की ओर करते हैं तो प्रयोजनवाद और मनोविश्लेषणवाद एक दूसरे के पूरक दिखलाई पड़ते हैं।

व्यक्ति के सारे कार्य स्थायीभाव के अनुसार ही, कभी कभी उसका व्यवहार पाशविक, वही प्रत्यागमन, प्रयोजनवाद और मनोविश्लेषणवाद एक दूसरे के पूरक।

फ्रॉयड और मैग्डूगल के विकास की भावना में खाई दिखलाई पड़ती है। दोनों सम्प्रदायों के बीच की इस खाई को भरने से ही हम संश्लेषण पा सकते

हैं। वास्तव में प्रयोजनवाद और मनोविश्लेषणवाद एक ही मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के दो पहलू प्रतीत होते हैं। यह दिखलाया जा सकता है कि मैग्डूगल की चौदह मूलप्रवृत्तियाँ एक ही 'गर्भस्थान' अथवा 'प्राथमिक जीवनी शक्ति' से उत्पन्न हुई हैं। मैग्डूगल का अध्ययन करते समय पाठक को यह ध्यान रखना चाहिये कि वह विकास की 'प्राथमिक अवस्था' से न प्रारम्भ कर 'मध्य अवस्था' से प्रारम्भ करता है। उसकी चौदह मूलप्रवृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण से हम पाँच मूलप्रवृत्तियों को सारभूत मान सकते हैं—भोजनान्वेषण, पलायन, पुत्र-कामना, भोग तथा सामूहिक जीवन। इन पाँच शक्तियों के विकास का एक इतिहास है जिसके विश्लेषण से हम फ्रॉयड द्वारा प्रवर्तित 'काम-भावना' के विचार पर आ जाते हैं। 'काम-भावना' के उद्‌गम-स्थान के बारे में हम सोचते हैं तो मूलप्रवृत्तियों का 'गर्भस्थान' हमें एक ही मालूम पड़ता है। इसी गर्भस्थान से मानव मस्तिष्क का विकास हुआ है और बढ़ते बढ़ते उसका यह वर्तमान रूप हो गया है।

प्रयोजनवाद और मनोविश्लेषणवाद एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के दो पहलू, केवल पाँच मूलप्रवृत्तियाँ सारभूत, इनका और फ्रॉयड की 'काम-भावना' का गर्भस्थान एक ही।

अन्त में फ्रॉयड ने 'काम-भावना' के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रवृत्तियों के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है। इनमें आक्रमण करने की भावना, अज्ञात-चेतना में पाप का विचार, भय तथा संकेत की प्रवृत्तियाँ हैं। मैग्डूगल ने फ्रॉयड के इस परिवर्तित विचार का स्वागत किया और कहा कि फ्रॉयड का सिद्धान्त दूसरे सम्प्रदायों की तुलना में प्रयोजनवाद से अधिक सन्निकट है। परन्तु वह फ्रॉयड के 'अज्ञात-चेतना' के सिद्धान्त से सहमत न हो सका। कुछ लोगों ने मैग्डूगल की चौदह मूलप्रवृत्तियों के सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की है। उनका कहना है कि उसका सिद्धान्त शक्ति-मनोविज्ञान (फैकल्टी साइकॉलोजी) की कोटि में आते हुए दिखलाई पड़ता है। मैग्डूगल को इस विषय-स्थिति से बचाने के लिये गार्नेट ने मूलप्रवृत्तियों का उद्‌गम स्थान नाड़ी मण्डल बतलाया है। इस प्रकार मस्तिष्क के एकत्व की रक्षा भली भाँति हो जाती है। हमारे जीवित रहने की प्रवृत्ति मानसिक है। इस प्रवृत्ति का रूप हम मानव जीवन में विभिन्न रूप में देखते हैं। ये विभिन्न रूप नाड़ी मण्डल से आरम्भ होते हैं और ये हमारी मूलप्रवृत्तियाँ ही हैं। इस प्रकार गार्नेट प्रयोजनवाद को नाड़ी मण्डल की ओर विस्तृत करना चाहता है।

फ्रॉयड को कुछ और प्रवृत्तियाँ मान्य, गार्नेट के अनुसार मूलप्रवृत्तियों का उद्‌गम नाड़ी मण्डल।

डा० जन्दहॉम का कुछ और ही कहना है। वे गार्नेट के विचार को अपना

कर एक अलग विचार प्रतिपादित करते हैं। उन्होंने 'जिज्ञासा प्रवृत्ति, को हमारी समस्त प्रवृत्तियों का मूल माना है। 'जिज्ञासा' से ही हमारी विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियाँ उठ कर अपनी अपनी इच्छा-पूर्ति के लिये इधर उधर दौड़ती हैं। परन्तु डा० लन्दहॉम अपने 'जिज्ञासा' सिद्धान्त के प्रतिपादन में 'नाड़ीमण्डल' को ही उसका उद्गम स्थान मानते हैं। मैग्डूगल तथा उसके कुछ समर्थक कुछ प्रमाण के आधार पर अपने मत का प्रतिपादन करते हैं। उनकी धारणा है कि :—

डा० लन्दहॉम के अनुसार 'जिज्ञासा' सब का मूल, मग्डूगल की धारणाएँ।

१—शरीर और मस्तिष्क समान नहीं हैं,

२—शरीर और मस्तिष्क का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है,

३—जीवित रहने की प्रवृत्ति में सन्देह नहीं किया जा सकता,

४—मानसिक और शारीरिक शक्ति एक दूसरे से भिन्न है, और,

५—चेतन प्राणी का व्यवहार सदैव एक निश्चित उद्देश्य के अनुसार होता है। परन्तु मैग्डूगल और उसके समर्थक अज्ञात-चेतना के प्रोत्साहन के प्रति उदासीन दिखलाई पड़ते हैं। इसीलिये उनकी धारणा अपूर्ण सी दिखलाई पड़ती है और हमारी शिक्षा-योजना के आधार के लिये पर्याप्त नहीं हो सकती।

हमें अपनी शिक्षा-योजना के लिये एक ऐसे मनोविज्ञान की आवश्यकता है जो मानव व्यक्तित्व के सभी पहलुओं पर प्रकाश डाल सके। सर्वप्रथम हमें 'उत्कृष्ट चेतना' (सुपर कॉन्शस) के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा। पाश्चात्य लोगों ने इसके प्रति उदासीनता ही दिखलाई है। परन्तु हम प्राच्य लोग ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि हमारी ऐसी परम्परा ही नहीं रही है। हम सब में जीवित रहने की इच्छा रहती है। हमारे जीवन की प्रेरणा इस इच्छा से कुछ ऊपर रहती है, क्योंकि उसमें कुछ उद्देश्य निहित रहता है। वस्तुतः हमारी इस 'इच्छा' तथा 'प्रेरणा' का उद्गम स्थान एक ही है। इच्छा में विशेषकर हम शारीरिक सुख का आदर्श रखते हैं और प्रेरणा में मानसिक का। शरीर हमारी मानसिक शक्तियों के संयोग की एक संज्ञा है, क्योंकि वह सदैव मस्तिष्क का अस्त्र बना रहता है। बहुधा कहा जाता है कि हमारा शरीर अमुक वस्तु चाहता है। परन्तु ऐसी बात नहीं। चाह तो हमारी मस्तिष्क की प्रेरणा से ही होती है। हमारा मस्तिष्क शरीर को साधन बनाकर अपनी इच्छा की पूर्ति करता है। परन्तु मस्तिष्क की यह इच्छा अथवा 'प्रेरणा' क्या है? अथवा हमारे मानसिक प्रयत्नों का उद्देश्य क्या रहता है? प्रयोजनवाद तो केवल शरीर सम्बन्धी प्रेरणाओं का उल्लेख करता है। परन्तु हमें तो इन शारीरिक और भौतिक उद्देश्यों से ऊपर उठना है। हमें आध्यात्मिक प्रकृति से आविर्भूत होने की

भौतिक दृष्टिकोण से ऊपर उठना, नवीन प्रयोजनवाद का आधार और शिक्षा के नये आदर्श।

शक्ति प्राप्त करनी है। हमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की सतह पर पहुँचना है। जो मनोविज्ञान इन भावनाओं को छोड़ देता है वह हमारी शिक्षा के लिये उपयुक्त नहीं हो सकता। अतः हमें अपनी शिक्षा के लिये एक ऐसे मनोविज्ञान की आवश्यकता है जिसमें ये सब भाव निहित हों। इस धारणा के अनुसार शिक्षा के लिये वांछित नवीन प्रयोजनवाद का निम्नलिखित आधार होना चाहिये :—

१—आत्मिक शक्ति का अस्तित्व स्पष्ट है।

२—व्यक्ति की विभिन्न मानसिक शक्तियाँ उसकी एक ही आत्मिक शक्ति के विभिन्न पहलू हैं।

३—मौलिक शक्ति व्यक्ति के मस्तिष्क का सत्य है।

४—यह मौलिक शक्ति व्यक्ति को आध्यात्मिक प्रवृत्ति अथवा सूक्ष्मभावना की प्राप्ति के लिये उत्तेजित करती है।

५—'सत्यं शिवं सुन्दरम्' इस आध्यात्मिक प्रवृत्ति के तीन पहलू हैं।

यदि उपर्युक्त धारणा के अनुसार हम किसी के व्यक्तित्व को समझने की चेष्टा करें तो हमें उसके विषय में सभी बातों का स्पष्ट पता लग सकता है। उसके व्यवहार और चरित्र के सारे अंग हमारे सामने स्पष्ट हो जायेंगे। यदि हम व्यक्ति को समझने के लिये उसे उपर्युक्त कसौटी पर कसना चाहते हैं तो हमें अपने शिक्षा आदर्शों में भी परिवर्तन लाना होगा। आधुनिक समाज के रूप को देख कर एक अरुचि सी उत्पन्न हो जाती है। समाज की वर्तमान दशा महात्मा गाँधी के लिये असह्य थी। इसे देखने के बदले उसे ठीक करना अथवा मर जाना उन्हें श्रेयस्कर लगता था। अब हम एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें मनुष्य मनुष्य से घृणा न करे और प्रेम से रहे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये हमें उपर्युक्त मनोविज्ञान के आधार पर अपने शिक्षा आदर्शों को बदलना होगा। हमारे नये शिक्षा आदर्श निम्नलिखित होने चाहियेः—

हमारे नये शिक्षा आदर्श—

१—शिक्षा का उद्देश्य किसी 'रूप' अथवा 'परम्परा' की रक्षा न होकर 'जीवनोद्धार' होना चाहिये। वर्तमान उद्योगवाद के उन्माद में व्यक्तित्व का विकास नहीं रोकना चाहिये।

२—शिक्षा से व्यक्ति को उच्च आदर्शों की प्राप्ति होनी चाहिये। समाज-सेवा की भावना से वह ओतप्रोत हो जाय और उसका मन वास्तविकता की प्राप्ति में रत रहे।

३—व्यक्ति में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की भावना बड़ी प्रबल होती है। इसी की खोज में वह शान्ति पा सकता है। शिक्षा को इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये पूरा आयोजन करना है।

४—मनुष्य मनःशारीरिक प्राणी है। उसका विकास इसी सिद्धान्त के अनुसार होता है। अतएव उसकी शिक्षा भी इसी के अनुकूल हो।

५—बालक का जीवन गतिपूर्ण होता है। वह वातावरण से आदान व प्रदान में लीन रहता है। अतः शिक्षा का उद्देश्य बालक को आदर्श वातावरण देना है जिससे उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके।

६—पुरस्कार, दण्ड और धमकी के बल पर पाठशाला में नियन्त्रण रखना हानिकर है। नियन्त्रण तो बालकों के तात्कालिक उद्देश्य से स्थापित हो जाना चाहिये। इस उद्देश्य का निर्धारण बालक अपने वातावरण के अनुसार स्वयं करेगा।

७—रचनात्मक क्रियाशीलता मानव स्वभाव है। शिक्षक यदि इस उद्देश्य के अनुसार चलें तो वे निश्चय ही एक आदर्श समाज का निर्माण करने में सफल होंगे।

८—शिक्षक और बालक के उद्देश्य में भिन्नता नहीं होनी चाहिये। शिक्षक को यह सोचना चाहिये कि बालक के साथ वह भी सीख रहा है।

९—शरीर पर ध्यान देने के साथ ही साथ प्रारम्भ से ही भावनाओं और संवेगों की शिक्षा पर भी ध्यान देना चाहिये। वस्तुतः मानसिक विकास की पूर्णता इन तीनों पर निर्भर है।

१०—शिक्षा ऐसी हो कि मनुष्य उसके सहारे आत्म-बोध प्राप्त कर सके।

सहायक पुस्तकें

१—फ्रॉयड एस—इण्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स
२— ,, —द हिस्ट्री ऑव् साइकोएनलिटिक मूवमेण्ट
३— ,, —द प्रॉवलेम ऑव ले एनलिसिस
४—एडलर—प्रॉबलेम्स ऑव् न्यूरोसिस
५—कोहलर—गेस्टाल्ट सॉइकॉलाजी
६—कॉफ़का—द ग्रोथ ऑव् द माइण्ड
७—मैग्डूगल—ऐन इण्ट्रोडक्शन टू सोशल साइकॉलॉजी
८— ,, —ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी
९—नायडू, पी० एस०—द हॉर्मिक थियरी
१०—उडवर्थ—कण्टेम्पोररी स्कूल्स ऑव् साइकॉलॉजी
११—क्रिकटन मिलर—सॉइकोएनलिस एण्ड इट्स डिराइवेटिव्स
१२—बारबरा लो—द अनकॉनशस इन ऐक्शन
१३—गैरेट—ग्रेट एक्सपीरियन्स इन साइकॉलॉजी
१४—प्रेसी ऐण्ड रॉबिन्सन—साइकॉलॉजी एण्ड द न्यू एजूकेशन
१५—ब्यूमॉण्ट ऐण्ड मैकोम्बर—साइकॉलॉजिकल फ़ैक्टर्स इन एजूकेशन

हैं। अपनी काम-वासना की तृप्ति में ही उनकी शक्तियों का ह्रास हो जाता है और वे इस ओर से एकदम उदासीन सी दिखलाई पड़ती हैं। यदि जीवन में संयम से काम लिया जाय तो हमारे सभी दुःखों का अन्त हो सकता है।"

बच्चों की परिचर्या का वातावरण बिलकुल शान्त होना चाहिये। वहाँ दूसरे लड़कों की खटपट तथा बड़े लोगों की ठट्ठाबाजी नहीं होनी चाहिये। परिचर्या के कुछ देर बाद तक शिशु को न छेड़ना चाहिये। प्रथम तीन महीनों के भीतर शिशु बहुत सोता है। अतः उसे कर्कश ध्वनि से बहुत दूर रखना चाहिये। उसका पहनावा बहुत हलका हो। बच्चों को बहुत अधिक घुटनों या गोद में झुलाना ठीक नहीं। उसके साथ बहुत खेलना भी ठीक न होगा। उनको बहुत पुचकारना, थपथपाना तथा उसके प्रति अधिक लाड़ मनोवैज्ञानिक नहीं, अपितु क्रूरता है। ऐसा करने से बच्चे बड़े ही व्याकुल हो जाते हैं। प्रायः लोग इस छोटी सी मनोवैज्ञानिक बात से अनभिज्ञ दिखलाई पड़ते हैं। यदि लोग अपने ही बचपन के अनुभव पर कुछ सीखने का प्रयत्न करें तो बच्चों के प्रति उनका व्यवहार कुछ मनोवैज्ञानिक अवश्य हो जायगा, इसमें तनिक भी सन्देह न नहीं। शिशु का नाड़ी-मण्डल बड़ा ही कोमल होता है। अतः उसकी रक्षा बड़े ही ध्यानपूर्वक करनी चाहिये। उसे उछालने, झुलाने या गुदगुदाने से नाड़ी-मण्डल को भारी धक्का लगने का डर रहता है। अतः यदि मनोविज्ञान की नहीं तो कम से कम मानुषिक व्यवहार की ही यह माँग है कि शिशु के साथ बहुत ही कोमलता का व्यवहार किया जाय। हमें यह सदा ध्यान रखना चाहिये कि उचित वातावरण के उपस्थित कर देने से ही हम बालकों का बहुत कल्याण कर सकते हैं।

परिचर्या का वातावरण शान्त हो; बहुत पुचकारना, थपथपाना, उछालना, झुलाना और गुदगुदाना नाड़ीमण्डल के लिये हानिकर।

बहुत प्रारम्भ से ही बच्चों के वातावरण में संगीत को कुछ स्थान दिया जा सकता है। अविकसित मस्तिष्क संगीत से बहुत शीघ्र आकर्षित होता है। यदि बालकों को अपनी-गति के लिये पूरी स्वतन्त्रता है तो उसके विभिन्न अवयवों का व्यायाम स्वतः हो जायगा। उनके लिये अलग व्यायाम ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं। जब से बच्चा बैठने लगता है उसे खेलने की पूरी स्वतन्त्रा दे देनी चाहिये। बालकों के लिये खिलौने चुनने में बड़े ध्यान की आवश्यकता है। उन्हें ऐसे ही खिलौने देने चाहिये जिससे वे इधर उधर घूम फिर सकें। बहुत से बालकों को ऊँचे स्थान पर चढ़ने की बड़ी इच्छा होती है। परन्तु माता-पिता को उन्हें ऐसी स्वतन्त्रता देने

संगीत को स्थान, पूरी स्वतन्त्रता से विभिन्न अवयवों का व्यायाम स्वतः, खिलौने द्वारा उन्हें गतिशील बनाना, मूलप्रवृत्तियों की क्रिया में अमूल्य अनुभव, बालक की इच्छा और

आवश्यकता की अवहेलना नहीं।

में डर लगता है। वे बालकों को रोकते हैं और सदैव अपने पास ही रखना चाहते हैं। बालकों की स्वाभाविक क्रियाओं में बाधा डालने से उनकी बुद्धि का विकास रुक जाता है। कुछ सीमा तक तो बालकों को स्वतन्त्र छोड़ ही देना चाहिये, जिससे वे कुछ अनुभव भी प्राप्त कर लें और उन्हें अधिक चोट भी न लगे। अपनी मूलप्रवृत्तियों की क्रिया में बालक जो अनुभव प्राप्त करता है वह अमूल्य होता है। अतः उसे सदैव क्रियाशील रखने की चेष्टा करनी चाहिये। ज्यों ही बालक चलने लगता है उसकी मूलप्रवृत्तियाँ कुछ ऐसी दिखलाई पड़ती हैं कि बड़े लोग उनसे विरोध करने लगते हैं। उनकी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति में बालक कुछ विघ्न से दिखलाई पड़ते हैं। इन बातों के सुलझाव पर ही बालक का चरित्र-निर्माण निर्भर रहता है। यदि बालक की इच्छाओं और आवश्यकताओं की अवहेलना की गई तो उनके जीवन-भवन की नींव ही बहुत दुर्बल हो जायगी। वस्तुतः बड़े लोग बालकों के साथ अपने व्यवहार में कम गलती नहीं करते, अपितु कभी कभी तो बालकों से उनका नम्बर बढ़ जाता है। यदि बालक कोई हानि पहुँचाता है तो उसे दण्ड दिया जाता है। उसकी भावनाओं पर हम कम ध्यान देते हैं।

कुछ लोग अपने कर्त्तव्य से इतने अनभिज्ञ दिखलाई पड़ते हैं कि वे माता-पिता होने योग्य नहीं। वे जानते ही नहीं कि बालक का पालन-पोषण किस प्रकार करना चाहिये। फलतः बालक हठी हो जाता है और उसकी आदतें बुरी हो जाती हैं। यदि बहुत दिन प्रतीक्षा के बाद पुत्र की कामना पूरी हुई तो माता-पिता बालक के इशारों पर नाचने के लिये तैयार हो जाते हैं। उनकी इच्छा होती है कि 'अपने लाल को क्या खिला पिला दें कि वह शीघ्र मोटा हो जाय, कितने जेवर और भड़कीले कपड़े पहना दें कि वह सबसे सुन्दर जँचे'।

बालक का हठी तथा दब्बू बनना, एक ही घर में सबके लिये समान वातावरण नहीं।

ऐसी भावना वाले माता-पिता अपने बालक को हठी बना डालते हैं। बालक का स्वास्थ्य गिर जाता है। वह सदा अपना हठ पकड़े रहता है। वह ज्वर से पीड़ित है, परन्तु जलेबी खाने के लिये तो वह हठ करेगा ही। कुछ माता-पिता ऐसे होते हैं कि अपने क्रोध को वे बच्चों पर ही उतारते हैं। यदि घर में या बाहर किसी से झगड़ा हुआ तो उसका कुपरिणाम निर्दोष बच्चों को भोगना पड़ता है। उनकी साधारण बातों का भी उत्तर डाँट कर दिया जाता है। यदि कुछ हो गया तो पीटना साधारण बात हो जाती है। यदि बच्चे इतने अधिक हो गये कि उनकी देख-रेख कठिन हो गई तो इसका प्रभाव कुछ दूसरा ही होता है। यह सोचना कि 'एक ही कुटुम्ब में बालकों को समान वातावरण मिलता है' भूल है। लोग सभी बालकों के साथ समान व्यवहार नहीं कर पाते। कुछ को अधिक प्यार किया जाता है और कुछ को अधिक डाँट फटकार देनी पड़ती है। डाँट

पाने वाला बालक विशेषकर दब्बू हो जाता है। दिन प्रति दिन उसके व्यक्तित्व का ह्रास होता रहता है। आगे चलकर उसका जीवन दयनीय हो जाता है।

बालक में कुछ 'नैतिक-न्याय' की भावना अवश्य होती है। वह शीघ्र ही समझ जाता है कि किसी वस्तु का सब लोगों में समान वितरण होना चाहिये। इस प्रकार न्याय शब्द को समझने के बहुत पहले ही वह न्यायानुसार व्यवहार करना चाहता है। इसी भावना के फलस्वरूप उसकी अन्य नैतिक भावनाओं का भी प्रादुर्भाव होता है। अतः बालकों के साथ हमारे सभी व्यवहार 'न्याय' भावना के ही अनुसार होने चाहिये। हमें यह सदा ध्यान रखना है कि अपने जन्म से ही बालक एक अनोखा व्यक्ति रहता है। उसके मस्तिष्क में प्रायः सभी प्रकार की शक्तियाँ उपस्थित रहती हैं। बालक सोचता है, निर्णय करता है, तर्क करता है। वह क्या नहीं करता? मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि बालक और एक युवक की मानसिक शक्तियों में 'प्रकार' (काइण्ड) का भेद नहीं है, अपितु 'मात्रा' (डिग्री) का ही है। बालकों की इच्छाओं का सदा आदर करना चाहिये। इसके लिये सर्व प्रथम यह आवश्यक है कि उन्हें इधर उधर थोड़ी दूर तक घूमने की पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय। यदि उनकी स्वतन्त्रता में बाधा की गई तो वे भविष्य में उपद्रवी हो जाते हैं। कैशोर में आने पर उनका व्यवहार अत्यन्त दुःखदायी हो जाता है। बालक बड़े ही कृतज्ञ होते हैं। कुत्तों के अतिरिक्त उनसे बढ़कर कोई दूसरा कृतज्ञ प्राणी नहीं। कृतज्ञता की भावना उसे सामाजिक व्यवहारों में निपुण करने में बड़ी सहायक होती है। यदि बच्चे के लिये कुछ किया जाता है तो वह उसका बदला तुरन्त देने का प्रयत्न करता है। प्रायः सभी पाठकों का ऐसा अनुभव होगा। परन्तु बच्चों की इस भावना से बार बार खेलना ठीक नहीं, अन्यथा वह जाती रहेगी।

बालक में नैतिक-न्याय की भावना, बालक जन्म से ही अनोखा व्यक्ति, उसमें सभी मानसिक शक्तियाँ, उसकी इच्छाओं का आदर करना, बालक बड़ा ही कृतज्ञ।

जहाँ तक सम्भव हो बालकों को खेलने के लिये सभी आवश्यक खिलौने देने चाहिये। बालक को ऐसा बनाना चाहिये कि स्वतः खेलने की उसकी आदत पड़ जाय। बहुधा यह देखा जाता है कि माताएँ बच्चों के रोने से एकदम तंग आ जाती हैं। बच्चों की इच्छा होती है कि कोई न कोई उन्हें गोद में लिये ही रहे। उन्हें भली भाँति समझा देना चाहिये कि इस प्रकार का हठ ठीक नहीं। उन्हें अपना काम करना है और हमें अपना। यदि प्रारम्भ से ही सावधानी रखी जाय तो बालक स्वतः अपने ही काम में मस्त रहना सीख लेगा। यदि उसे कुछ सिखाना हुआ तो आज्ञा के रूप में कहना ठीक नहीं।

स्वतः खेलने की आदत डालना आवश्यक, अनुमति के रूप में सिखाना, अभावात्मक उपदेश हानिकर, दण्ड देने में क्रूरता का न होना, रोने के समय शान्त

वातावरण में रखना, नैतिक भावना का आभास देना।

उसे अनुमति के रूप में बतलाना अच्छा होगा। अभावात्मक आदेश देना हानिकर होता है। अभावात्मक आदेश आवश्यक हुआ तो बुरी आदतों के सम्बन्ध में ही वह ठीक होगा। यदि दण्ड देना उचित ज्ञान पड़ता है तो क्रूरता दिखाना बुरा होगा। उचित दण्ड यही होगा कि अपने किये हुए काम का फल बालक यथासम्भव स्वयं भोगे। बालकों के ऊपर बहुत से अवरोध डालना हानिकर होता है। बहुत से बच्चों में अनायास ही रोने की आदत पड़ जाती है। इससे माता पिता को घबड़ाना ठीक नहीं। स्वास्थ्य के लिये कभी कभी रोना भी आवश्यक होता है। अपनी भावनाओं और संवेग के प्रकाश का कभी कभी यह अच्छा साधन होता है। बच्चों में क्रोध आने पर उन्हें शान्त वातावरण में रखना चाहिये। चिढ़ाने से उन्हें ऐसा मानसिक धक्का लगता है जिससे उनके विकास में रुकावट पड़ती है। उच्च कोटि के त्याग और दया को बच्चा नहीं समझता। परन्तु नैतिक भावना का आभास उसको दिया जा सकता है। इस भावना के विकास के लिये बच्चों में कभी कभी अच्छी वस्तुओं को बाँटना चाहिये। वितरण का अधिकारी उन्हीं को बना दिया जाय तो अधिक अच्छा होगा। इससे उनमें 'न्याय' भावना का भी प्रादुर्भाव हो सकता है।

कहानी, भजन और गीत याद कराना; पढ़ कर सुनाना, किण्डरगार्टन द्वारा वर्णज्ञान, अधिक उपयोगी वस्तुओं में ही पैसा खर्च करना।

मानसिक विकास की जड़ शैशव में ही पड़ जाती है। इस विकास में मातृभाषा सब से उपयोगी साधन है। बालक अपने विचारों को जितनी ही सरलता से प्रकट करता है, उतना ही वह भविष्य में बुद्धिमान और चतुर निकलता है। उसे छोटी-छोटी कहानियाँ, भजन तथा गीत याद कराये जा सकते हैं। लययुक्त छोटे छोटे गीतों में बच्चे बहुत ही आनन्द लेते हैं। कभी कभी अच्छी बातों को पढ़ कर उन्हें सुनाया भी जा सकता है। किण्डरगार्टन खिलौने की सहायता से उन्हें वर्णज्ञान देना अच्छा होगा। इस प्रकार खेलने में ही उन्हें कुछ अक्षरों का भी ज्ञान हो जायगा। बच्चों को बहुधा पैसे की आवश्यकता हुआ करती है। उनकी आवश्यकता इतनी कम होती है कि एक या दो आने पा जाने पर ही वे आनन्द-विभोर हो जाते हैं। पैसे देने के पहले उनकी आवश्यकता को समझ लेना चाहिये। उन्हें मितव्ययी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। उन्हें समझाना चाहिये कि छोटी वस्तुओं पर पैसा खर्च करना ठीक नहीं; वरन् अधिक उपयोगी वस्तुओं को खरीदना ही उचित है।

बालक अपनी ही उम्र के बालकों की टोली में जाना पसन्द करता है। उसके विकास के लिये अन्य बालकों का साथ बहुत आवश्यक है। अतः उन्हें बाहर

खेलने जाने देने से रोकना ठीक नहीं। अपनी टोली में ही वे सामाजिकता का पहला पाठ सीखते हैं। उसी में उनके विभिन्न भावों का विकास होता है। इसलिये माता-पिता को टोली के अन्य बालकों के कुटुम्ब को समझ लेना आवश्यक है। यदि कुटुम्ब अच्छा हुआ तो बालक भी अच्छे होंगे, अन्यथा बुरे। संग का बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि बुरा संग हो गया तो बालक बुरा हो सकता है। इसलिये उसे अच्छे बालकों के साथ खेलने का अवसर देना चाहिये। बच्चों के लिये खेलना अत्यन्त आवश्यक है। घर में अन्य बड़े लोगों के साथ उनका मन नहीं लगता। वे अपनी टोली में जाना पसन्द करते हैं। अतः उनके खेल का उचित आयोजन करना आवश्यक है।

विकास के लिये अन्य बालकों का साथ आवश्यक, बाहर जाने से रोकना ठीक नहीं, अच्छे बालकों का सङ्ग आवश्यक।

बालकों की विचार-शक्ति का विकास उनके वातावरण पर बहुत निर्भर रहता है। वातावरण ऐसा हो कि उनकी 'जिज्ञासा' को प्रोत्साहन मिल सके, तभी उनमें अनुसन्धान और अन्वेषण शक्ति का प्रादुर्भाव हो सकता है। 'सौन्दर्य' से प्रेम करने की बालक में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसलिये उसका वातावरण ऐसा हो कि वह प्रकृति, कला तथा संगीत के सौन्दर्य का आभास पा सके। बच्चे को न बहुत डाँटना ही और न अधिक प्यार ही करना ठीक होगा। जब जैसा व्यवहार आवश्यक हो तदनुसार व्यवहार उचित होगा; और तभी उसके व्यक्तित्व का सुन्दर विकास सम्भव हो सकता है।

विचार-शक्ति के विकास के लिये वातावरण से जिज्ञासा को प्रोत्साहन; प्रकृति, कला तथा संगीत से प्रेम-भाव उत्पन्न करना, न अधिक डाँटना और न अधिक प्यार करना।

बाल्यावस्था में विकास

शारीरिक—

बाल्यावस्था में शारीरिक विकास बड़ी द्रुत गति से चलता है। अब शैशव की मोटाई कुछ कम हो जाती है और शरीर पहले से पतला हो जाता है। दूध के दाँत गिरने लगते हैं और स्थायी दाँत आने लगते हैं। पाँच से सात वर्ष तक ऊँचाई खूब बढ़ती है। सात से ग्यारह वर्ष तक विकास धीमा रहता है, परन्तु उसकी गति रुकती नहीं। इस काल में साधारणतः स्वास्थ्य अच्छा रहता है। केवल गले की ग्रन्थियों के अस्वस्थ रहने का कभी कभी सन्देह रहता है। विभिन्न अंगों की शक्ति खूब बढ़ जाती है और शरीर की गति पर बालक का कुछ नियन्त्रण भी हो जाता है।

द्रुतगति, मोटाई पहले से कम, स्थायी दाँतों का आना, स्वास्थ्य अच्छा, अंगों में शक्ति, गति पर नियन्त्रण।

मानसिक—

शैशव में मूलप्रवृत्तियाँ विशेषकर क्रियाशील रहती हैं। परन्तु बाल्यकाल में प्रायः सभी स्वाभाविक शक्तियाँ जागृत होकर क्रियाशील हो जाती हैं। जिज्ञासा शक्ति इस काल में विशेषकर जागृत रहती है। बालक विभिन्न पेड़, पौधों, जीव तथा प्राकृतिक क्रियाओं के विषय में जानने के लिये बहुत ही उत्सुक हो जाता है। जब कभी वह अपने बड़ों के साथ रहता है प्रश्नों की झड़ी लगाकर उन्हें तङ्ग कर डालता है। बालकों की जिज्ञासा-शक्ति को कभी नहीं दबाना चाहिये। बड़ों को उचित है कि उनके प्रत्येक प्रश्न का उत्तर सावधानी से ठीक ठीक दें; अन्यथा बालकों को बड़ा मानसिक धक्का लगेगा। मनोवेग की गति उलटी होकर उनके हृदय को दुर्बल कर देगी। बाल्यावस्था में बालक की संचय-प्रवृत्ति भी अधिक जागृत रहती है। वह विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का संचय करना चाहता है। वह उन्हें अपनी सम्पत्ति समझता है। किसी शिक्षित कुटुम्ब का बालक पुस्तक, लेखनी और पेन्सिल आदि एकत्रित करने में ही लीन रहेगा। वह अपने बड़ों से बार बार पुस्तकें खरीदने के लिये कहेगा। खिलाड़ी के घर का बालक खेल के सामान को संचित करने के प्रयत्न में रहेगा। बढ़ई के घर का बालक काम करने वाले हथियार के संचय की धुन में होगा। बाल्यकाल में नई वस्तुओं के निर्माण करने की प्रवृत्ति भी जाग उठती है। बढ़ई का लड़का अपने घर की दूकान में 'खट खुट खट खुट' करते पाया जायगा। कुछ लड़के खेल में एक छोटा घर बनाने के प्रयत्न में भी पाये जा सकते हैं। अनुकरण शक्ति भी बाल्यकाल में प्रबल हो जाती है। बालक अपने बड़ों और साथियों का अनुकरण करने लगता है और उनकी अच्छी बुरी आदतों को सीखने लगता है।

प्राय सभी मूलप्रवृत्तियाँ जागृत, 'जिज्ञासा' क्रियाशील, संचय, निर्माण अनुकरण करने की प्रवृत्ति।

Play खेल—

खेल बाल्यकाल की प्रधान प्रवृत्ति होती है। प्रोफेसर ग्रॉड.फ्र थॉमसन का कथन है कि "मनुष्य अपनी विभिन्न मूलप्रवृत्तियों के कारण अन्य जीवों से श्रेष्ठ हो गया है, क्योंकि उसके बाल्यकाल की प्रधान प्रवृत्ति 'खेल' होती है।" 'खेल' प्रवृत्ति की उत्पत्ति के बारे में मनोवैज्ञानिकों में परस्पर मतभेद है। शिलर और स्पेन्सर के अनुसार अतिशय शक्ति होने के कारण प्राणी खेल के द्वारा अपनी शक्ति को प्रकट करता है। इस सिद्धान्त को 'प्रवृद्ध शक्ति-व्यय का सिद्धान्त' (सरप्लस इनरजी थियरी) का नाम दिया है। स्टैनली हाल के अनुसार बालक को बचपन से

प्रधान प्रवृत्ति, विभिन्न मत, खेल के बहाने अन्य मूलप्रवृत्तियाँ क्रियाशील, खेल के उचित संगठन से

शक्तियों का परिवर्द्धन सम्भव।

युवावस्था तक उसी रास्ते को तय करना है जिसे उसके पूर्वजों ने सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक तय किया है। इस प्रकार बच्चों का खेल उनके पूर्वजों के कार्यों की पुनरावृत्ति है। इस सिद्धान्त को 'जाति-स्वभाव-पुनरावर्तन सिद्धान्त' (रीकैपिचुलेटरी थियरी) कहते हैं। कार्ल ग्रूस के अनुसार प्राणी अपने भावी जीवन की तैयारी में खेला करता है। खेल के ही अभ्यास से वह अपने को पुष्ट और योग्य बनाना चाहता है। इसको 'पूर्वाभिनय का सिद्धान्त' (ऐण्टीसीपेटरी थियरी) कहते हैं। खेल का सिद्धान्त चाहे जो हो परन्तु इतना तो सत्य है कि खेल एक शक्तिशाली प्रवृत्ति है। खेल ही के बहाने हमारी अन्य शक्तियाँ भी क्रियाशील हो जाती हैं। खेलते समय बालक में 'आत्माभिमान' या 'आत्महीनता' का भाव उपस्थित रहता है। यदि विजयी हुआ तो 'आत्माभिमान', नहीं तो 'आत्महीनता' ही रहेगी। 'खेल' की क्रिया में वह लड़ता है, अनुकरण करता है, संचय करता है, निर्माण करता है या समय की आवश्यकतानुसार कुछ और ही करता है। इस प्रकार 'खेल' से कई प्रकार के अवसर बालक को मिल जाते हैं। यदि खेल का व्यवस्थापन व संगठन ठीक किया जाय तो उसके सहारे बहुत सी मूलप्रवृत्तियों का शोधन किया जा सकता है।

पूर्व-बाल्यकाल में खेल—

अवस्था के बदलने के साथ खेल का रूप भी बदलता रहता है। शैशव में खेल 'प्रत्ययानुभव' (परसेप्चुवल लेवेल) की सतह पर रहता है, अर्थात् बालक जो स्वयं अपने हाथों से कर सकता है; उदाहरणार्थ गेंद फेंकना, धूल खोदना या खिलौने के साथ खेलना आदि। पाँच व सात वर्ष के बीच में बच्चों के खेल में कल्पना का भाग अधिक मिलता है। इस काल में बालक को किसी समूह में जाकर खेलने की चिन्ता कम होती है। वह अपने अकेले खेल में ही मस्त दिखलाई पड़ता है। लड़का ऐसे खेल में मन लगाता है जिससे उसकी निर्माण शक्ति का प्रयोग हो। लड़कियाँ अपनी गुड़ियों के लिये कपड़े बनाने में लीन पाई जाती हैं। बालक दौड़ने, छिपने तथा कुश्ती आदि खेलों में आनन्द लेते हैं; अर्थात् बाल्यकाल में उनमें प्रतियोगिता की भावना आने लगती है। लड़कियाँ गाने तथा नाचने इत्यादि में प्रसन्नचित्त दिखलाई पड़ती हैं। इस प्रकार कल्पना-जगत से बालक बाल्यकाल में कुछ वास्तविक जगत में आ जाते हैं। वे धीरे धीरे सामाजिक गुणों को भी अपनाने लगते हैं। परियों की कहानियाँ तथा इसी प्रकार की अन्य बातें केवल सात या आठ वर्ष तक आकर्षक होती हैं। परन्तु बाद में उनकी सत्यता के विषय में उन्हें सन्देह होने लगता है। अब उनका प्रेम चिड़ियों, जानवरों तथा मोटर आदि वास्तविक

सात वर्ष तक कल्पना का भाग अधिक, समूह में नहीं, निर्माण-शक्ति का प्रयोग, सात वर्ष के बाद प्रतियोगिता की भावना, कल्पना कम, वास्तविक जगत में, सामाजिक होना, कौशल प्राप्त करने की इच्छा।

वस्तुओं से हो जाता है। बाल्यकाल में बालक कुछ कौशल प्राप्त करना चाहते हैं। उनकी निर्माण-प्रवृत्ति इस समय बड़ी प्रबल होती है। नियम पूर्वक कार्य करने में भी उसकी कुछ रुचि हो जाती है। अतः यह स्पष्ट है कि पूर्व बाल्यकाल में बालकों की शिक्षा प्रणाली में 'निर्माण', 'कौशल' तथा 'स्वतन्त्र-गति' को प्रधानता देनी चाहिये। भाषा के कौशल पर विशेष ध्यान देने की इस काल में आवश्यकता नहीं। प्रधान उद्देश्य बालक को हर समय क्रियाशील बनाने का ही होना चाहिये।

उत्तर-बाल्यकाल में खेल—

उत्तर-बाल्यकाल में बालक वास्तविक जगत से विशेष रुचि रखते हैं। उनमें कुछ उपयोगी कार्य करने की भावना उपस्थित रहती है। वे अपने माता-पिता को उनके कार्य में कुछ सहायता देना चाहते हैं। इस काल में उनकी कल्पना तर्क संगत होने लगती है और वे विभिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध को कुछ समझने लगते हैं। ग्यारह या बारह वर्ष की अवस्था में तो कुछ बालक अत्यधिक तर्क करना सीख लेते हैं। वस्तुतः कल्पना-शक्ति का विकास तो क्रमानुसार धीरे धीरे होता है। परन्तु इस अवस्था में बालक की कल्पना-शक्ति पहले से बहुत ऊँचे स्तर पर पाई जाती है। इस समय तक बालकों में कई शक्तियों का विकास हो जाता है। फलतः उनमें एकाग्रता की शक्ति बढ़ने लगती है। उनकी बुद्धि भी पहले से अब तीव्र दिखलाई पड़ती है।

वास्तविक जगत से विशेष रुचि, उपयोगी कार्य करने की भावना, कल्पना तर्क-संगत, एकाग्रता की शक्ति और तीव्र बुद्धि।

बाल्यकाल में संवेगात्मक विकास—

हम ऊपर देख चुके हैं कि शैशव के अन्त होते होते स्थूल-वस्तुओं के प्रति बच्चों में कुछ स्थायीभाव पैदा हो जाता है। धीरे धीरे अपने संवेगात्मक जीवन में वह अधिक स्थिर दिखलाई पड़ने लगता है। अपने माता-पिता के प्रति उसके प्रेम से यह स्पष्ट है कि पाँच व सात वर्ष के बीच में बालक में कुछ संवेगात्मक परिवर्तन होता है। अब वह अपने माता-पिता के प्रति पूर्व की भाँति विशेष प्रेम नहीं दिखलाता। उसकी रुचि अपने मित्रों की ओर अधिक बढ़ने लगती है। यह रुचि दिन प्रति दिन बढ़ती ही जाती है। स्वस्थ बालक में आत्म-निर्भरता की भावना आने लगती है। अब वह अपने माता-पिता से कुछ उदासीन सा रहता है। वह अपने कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करता। उसकी इच्छा अब स्वतन्त्रता की ओर होती है। यदि इस वस्तु-स्थिति की

पहले से अधिक स्थिर, सात वर्ष के बाद उसकी रुचि अपने मित्रों में, आत्म-निर्भरता और स्वतन्त्रता की भावना, अन्य बालकों की संगति आवश्यक।

४

वंशानुक्रम और वातावरण

(हेरिडिटी ऐण्ड इनव्यॉरामेण्ट)

१—वंशानुक्रम का अर्थ—

मनोविज्ञान में वंशानुक्रम का प्रयोग हम बहुधा दो अर्थ में किया करते हैं। पहले इसका तात्पर्य हम उन बीज-कोषों के वितरण से समझते हैं जिनसे व्यक्ति की शारीरिक बनावट तथा विभिन्न योग्यता निर्धारित होती है। इन्हीं बीजकोषों के कारण पुत्र पिता के समान दिखलाई पड़ता है। वंशानुक्रम का प्रयोग एक दूसरे अधिक व्यापक अर्थ में भी किया जाता है। इस प्रयोग के अन्तर्गत व्यक्ति के सभी स्वजात गुण और अवगुण आ जाते हैं; अर्थात् वंशानुक्रम से हमारा तात्पर्य उस क्रिया से है जिससे पृथ्वी पर विभिन्न जीव अपने पूर्वजों के सदृश् उत्पन्न हुआ करते हैं। यह क्रिया इतनी अविरल गति तथा एक क्रम से चला करती है कि मनुष्य मनुष्य ही है और शेर शेर ही। यह सत्य है कि कुछ पाठक कह बैठेंगे कि इस नियम की प्रकृति कभी कभी अवहेलना भी करती है; क्योंकि गाय अथवा ऊँट को बकरी होते देखे गये हैं—आधुनिक जीव-शास्त्र-वेत्ताओं के समक्ष भी ऐसी बात आई है। पर ऐसे प्रमाण इतने कम हैं कि सामान्य के समक्ष वे बहुधा नगण्य हैं। इस प्रकार वंशानुक्रम से ही किसी जाति विशेष की स्वाभाविक परम्परा जीवित दिखलाई पड़ती है।

१—बीज-कोष के वितरण से शारीरिक बनावट तथा विभिन्न योग्यता का निर्धारण, २—वह क्रिया जिससे जीव पूर्वजों के सदृश् उत्पन्न, वंशानुक्रम से जाति विशेष की स्वाभाविक परम्परा जीवित।

२—वातावरण का अर्थ—

वातावरण का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने इसे

'सामाजिक वंशानुक्रम' (सोशल हेरिडिटी) की संज्ञा दे रखी है। इसके अन्तर्गत उन सभी बातों का तात्पर्य निहित है जिनका प्रभाव व्यक्ति के विकास पर किसी प्रकार का पड़ता है। इन बातों के वर्णन के लिये स्वयं एक पुस्तक की आवश्यकता होगी, क्योंकि मनुष्य विभिन्न दशाओं और परिस्थितियों के संघर्ष में आता है और वह अपनी शक्ति के अनुसार उन परिस्थितियों में परिवर्तन भी ला देता है। सामान्य रूप से हम वातावरण का वर्गीकरण प्राकृतिक और सामाजिक रूप में कर सकते हैं। प्राकृतिक वातावरण से हमारा तात्पर्य पृथ्वी की उन विभिन्न शक्तियों तथा उस पर रहने वाले जीवों से है जिनका प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है। पौराणिक धार्मिक कथाओं के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव मनुष्य के विकास में कहाँ तक रहा है। आज भी विभिन्न वातावरण में रहने से मनुष्य के रूप, रंग तथा रहन सहन में स्पष्ट भेद दिखलाई पड़ता है। पौधों तथा साधारण जानवरों के सदृश् मनुष्य में भी वातावरण का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। शरीर की आकृति में मनुष्य अनेक शताब्दियों से कदाचित् आज ही की तरह रहा है, पर सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से उसमें सदा परिवर्तन होते रहे हैं। इतिहास और भूगोल से हमें यह पता चलता है कि ये परिवर्तन क्यों और कैसे होते रहते हैं। जलवायु के भेद से किसी स्थान के मनुष्य स्वस्थ और क्रियाशील होते हैं और कहीं के एकदम आलसी। प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव मनुष्य के साधारण रूप, रंग व स्वभाव पर तो पड़ता ही है, पर उसका प्रभाव नेत्र, कान तथा चर्म आदि इन्द्रियों पर भी अत्यन्त व्यापक होता है। इन इन्द्रियों पर जैसा प्रभाव पड़ता है उसी के अनुसार मनुष्य की विभिन्न शक्तियाँ निर्धारित होती हैं। इन्हीं शक्तियों के अनुसार मनुष्य वातावरण की उत्तेजना के प्रभाव में आकर अपना विकास करता है। अतः मनोविज्ञान के विद्यार्थी के लिये वातावरण की उन समस्त बातों का ज्ञान आवश्यक है जिनका प्रभाव मनुष्य की इन्द्रियों पर पड़ सकता है।

इसके अन्तर्गत वे बातें जिनका प्रभाव विकास पर; प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव रूप; रंग व स्वभाव पर; इन्द्रियों पर बड़ा व्यापक प्रभाव।

सामाजिक वातावरण—

अब हम मनुष्य के सामाजिक वातावरण की ओर आते हैं। वातावरण की विभिन्न बातों के प्रति एक निश्चित प्रतिक्रिया दिखलाने की मनुष्य में एक विशेष शक्ति होती है। इसी विशेष शक्ति के कारण वह अन्य जीवों से श्रेष्ठ समझा जाता है। मनुष्य अपनी सुनने, बोलने और बातचीत करने की शक्ति से अपने लिये एक सामाजिक वातावरण उत्पन्न कर सका है। मनुष्य का यह

इसके अन्तर्गत सारी प्राचीन सभ्यता और वर्तमान मानव समाज, व्यक्ति का जीवन वातावरण के साथ

अविरल संघर्ष का, अतः इसका स्थान बहुत उच्च।

सामाजिक वातावरण उतना ही प्राचीन है जितनी कि उसकी सभ्यता। इस वातावरण के अन्तर्गत 'पूर्वजों द्वारा दी हुई सारी सभ्यता' तथा 'वर्तमान मानव समाज' दोनों आ जाते हैं। 'पूर्वजों द्वारा दी हुई सारी सभ्यता' से हमारा तात्पर्य उन सभी बातों से है जो व्यक्ति अपनी चेतना प्राप्त करने के बाद अपने चारों ओर देखता है:—उदाहरणार्थ, भाषा, विभिन्न कलायें, धर्म, विधान, यातायात के साधन, धन तथा सुख के साधन इत्यादि। मानव समाज से हमारा तात्पर्य उन संस्थाओं से है जिन्हें मनुष्य अपनी रक्षा के लिये स्थापित किये हुए है। इन्हीं संस्थाओं में घर, पाठशाला, जाति, गाँव, नगर तथा अन्य संगठन आते हैं। इन संस्थाओं के अन्तर्गत आकर मनुष्य अपनी जीवन-रक्षा के अतिरिक्त अपने व्यवहार तथा चरित्र का भी विकास करता है। इन संस्थाओं में किसी प्रकार का परिवर्तन लाना सरल नहीं। इनमें परिवर्तन केवल क्रान्ति से ही सम्भव होता है। इस क्रान्ति में या तो व्यक्ति नष्ट हो जाता है या वह इच्छित परिवर्तन ला देता है। व्यक्ति के समक्ष वातावरण के अनुकूल अपने को बना लेने की ही समस्या नहीं उठती, वरन् आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन लाने की अपने में शक्ति उत्पन्न करना भी कभी कभी वांछित जान पड़ता है। वास्तव में उसका जीवन वातावरण के साथ अविरल संघर्ष का है। इस प्रकार वातावरण का स्थान उसके विकास में बहुत ही उच्च है। स्पष्ट है कि बालक के वातावरण को बिना भली भाँति समझे शिक्षक अपने उत्तरदायित्व का सुचारु रूप से सम्पादन नहीं कर सकता।

३—वंशानुक्रम तथा वातावरण में कौन अधिक महत्वपूर्ण—

भाग्यवादी का विश्वास वंशानुक्रम पर, आशावादी के लिये वातावरण प्रधान—ऐसा समझना भूल दोनों की गरिमा समान, दोनों की परस्पर प्रतिक्रिया पर विकास निर्भर, दोनों एक ही विकास क्रम के दो अंग, एक की भी अवहेलना हानिकर।

वंशानुक्रम और वातावरण में बालक के विकास पर किसका अधिक प्रभाव पड़ता है—यह निश्चित रूप से कहना अभी तक संभव नहीं हो सका है। भाग्यवादी सब कुछ वंशानुक्रम पर ही छोड़ बैठ जाते हैं, पर आशावादी की गति ऐसी नहीं। वह बालक के विकास में वातावरण को ही प्रधानता देता है। कुछ तो यहाँ तक कह बैठते हैं कि 'हमें चाहे जैसा सामान्य बालक दो हम उसे चाहे जो बना सकते हैं; उदाहरणार्थ : डाक्टर, इन्जीनियर, शिल्पकार अथवा लेखक। यदि वातावरण को ही सारा श्रेय दिया जाय तो कदाचित् असम्भव को भी सम्भव बनाया जा सकता है। पर वंशानुक्रम पर ही सब कुछ निर्भर समझना बुद्धिमता से शून्य होगा। यदि ऐसी बात होती तो शिक्षा का प्रयोजन ही क्या? शिक्षा न देने पर भी बुद्धिमान माता-पिता की सन्तान बुद्धिमान ही होगी। इसी प्रकार चाहे जितनी शिक्षा दी जाय मूर्ख माता-पिता की सन्तान मूर्ख ही होगी। पर ऐसा

समझना भारी भूल है। तो व्यक्ति के विकास के लिये वंशानुक्रम और वातावरण में अधिक उपयोगी कौन है? वास्तव में यह प्रश्न ही बेतुका प्रतीत होता है। भवन-निर्माण के लिये ईंटें, पत्थर, चूना व गारा इत्यादि अधिक आवश्यक है या कारीगर? क्या इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है? स्पष्ट है कि वंशानुक्रम और वातावरण में अधिक उपयोगी कौन है यह हम निश्चय रूप से नहीं कह सकते। लेखक का अनुभव है कि ट्रेनिङ्ग कॉलेज के विद्यार्थी इस प्रश्न को अपने प्रारम्भिक दिनों में बहुधा पूछा करते हैं। वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर तो दिया ही नहीं जा सकता। उनसे बार बार यही कहना पड़ता है कि दोनों की गरिमा समान है। दोनों एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। व्यक्ति का विकास दोनों की परस्पर प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है। विकास सम्बन्धी सब कुछ का कारण केवल वातावरण अथवा केवल वंशानुक्रम को समझना भारी भूल है। ऐसे विश्वास से व्यक्ति के उद्योग में बड़ा विघ्न पड़ सकता है। वंशानुक्रम और वातावरण तो एक ही विकास-क्रम के दो अङ्ग हैं। उनमें पारस्परिक विरोध नहीं। एक दूसरे की सहायता करता है। वंशानुक्रम स्वभावतः वातावरण के प्रभाव को स्वीकार करता है। कहना न होगा कि वातावरण पर भी वंशानुक्रम का प्रभाव पड़ता ही है। हमारे सभी गुणों के उत्पादन के लिये वंशानुक्रम और वातावरण के अंशों की आवश्यकता होती है। अतएव मूलतः हम यह कह सकते हैं कि हमारे सभी गुण वंशानुक्रम के फल हैं और साथ ही साथ वे वातावरण के प्रभाव के भी फल हैं। अतः शुद्ध रूप से हमारा कोई भी गुण न केवल वंशानुक्रम से और न केवल वातावरण से ही सृजित होता है। उसके उत्पादन में तो दोनों के प्रभाव अपेक्षित होते हैं। व्यक्ति का विकास तो दोनों पर निर्भर होता है। एक की भी अवहेलना हानिकर सिद्ध होगी। अतः शिक्षक को दोनों के रूप को अच्छी प्रकार समझना आवश्यक है। इसके समझने से ही वह निर्णय कर सकता है कि अमुक बालक के लिये किस प्रकार की शिक्षा उपयोगी होगी।

पहले हमारी शिक्षा का रूप अधिक मनोवैज्ञानिक न था। बिना भली भाँति समझे ही शिक्षक बहुधा कह दिया करते थे कि अमुक बालक व्यर्थ है। इस प्रकार वे उसके भविष्य पर बहुत प्रारम्भ में ही कुठाराघात कर दिया करते थे। पर आधुनिक मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों के फलस्वरूप अब स्थिति ऐसी नहीं रही। फलतः शिक्षक का कार्य अब कुछ सरल हो गया है। इस क्षेत्र में थॉर्नडाइक, मैग्डूगल, फ्रॉयड, स्पियरमैन, ड्रेवर तथा शैण्ड आदि जैसे मनोवैज्ञानिकों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मूलप्रवृत्तियों तथा बुद्धि के वास्तविक रूप को समझने की चेष्टा से अब यह विदित हो गया है कि व्यक्ति की वंशानुक्रमीय (हेरिडिटरी) शक्तियों की सीमा क्या हो सकती है और उस पर वातावरण का प्रभाव कहाँ तक पड़

आधुनिक मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों से शिक्षक का कार्य पहले से सरल, बालक को समझना आवश्यक, क्या बालक कोरी पटिया के समान? क्या सब की शक्तियाँ समान? विकास सिद्धान्त को समझना अत्यन्त आवश्यक।

सकता है। जैसे बढ़ई काष्ठ पर कार्य करता है उसी प्रकार शिक्षक के सामने बालक है। यदि बढ़ई ने बिना काष्ठ को पहचाने ही कार्य प्रारम्भ कर दिया तो उसे अपने कार्य में इच्छित सफलता प्राप्त न होगी। यदि शिक्षक भी बालक को पहचानने की चेष्टा न करे तो उसकी भी यही गति होगी। अतः सर्वप्रथम शिक्षक को बालक के स्वरूप को समझना चाहिये। क्या बालक एकदम कोरी पटिया के सदृश है और उस पर हम अपनी इच्छानुसार चाहे जो लिख सकते हैं? क्या बालक एक खाली घड़े के समान है; और उसे हम चाहे जिस प्रकार की शिक्षा से भर दें? क्या माध्यमिक काल के शिक्षकों की धारणानुसार बालक स्वभावतः बुरा होता है और शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य उसे पाप से मुक्त करना ही है? क्या बालक रूसो के कथानुसार स्वभावतः अच्छा होता है और शिक्षक का उद्देश्य केवल उसे बुरी सङ्गतों से बचाना ही है? कुछ लोग कहा करते हैं कि ईश्वर सब को एक आँख से देखता है, अतः उसने सब को समान शक्ति प्रदान की है। तो क्या हम यह मान लें कि सभी बालक अपनी मानसिक शक्तियों में समान होते हैं? विद्वानों की रचनाओं में इन प्रश्नों का उत्तर एक सा नहीं मिलता। पर इनका ठीक ठीक उत्तर समझना शिक्षक के लिये बहुत आवश्यक है। वस्तुतः यह कहा जाता है कि पुत्र पिता का गुण व अवगुण लेकर आता है। यदि पिता स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट हुआ तो पुत्र भी वैसा ही होगा, अन्यथा इसके विपरीत। यह सर्व साधारण के ज्ञान की बात है कि गौर वर्ण वाले माता-पिता के प्रायः गौर वर्ण के ही पुत्र होते हैं और मूर्ख की सन्तान प्रायः मूर्ख ही पाई जाती है। पर हमें इतने से ही निर्णय पर नहीं पहुँच जाना है। वंशानुक्रम के प्रभाव को ठीक ठीक समझने के लिये गाल्टन, डार्विन, मेण्डेल, वीज़मैन, लेमार्क, मैग्डूगल प्रभृति विद्वानों के अन्वेषणों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। विकास-सिद्धान्त को समझे बिना शिक्षक वंशानुक्रम के प्रभाव को ठीक ठीक नहीं समझ सकता। अतः नीचे हम यथास्थान इसका उल्लेख करेंगे।

वंशानुक्रम में समानता और असमानता दोनों निहित, वंशानुक्रम व्यक्ति के विभिन्न गुणों का योग मात्र।

एक सामान्य व्यक्ति यह बड़ी ही सरलता से कह देता है कि जैसी ककड़ी वैसा बीज, जैसे माता-पिता वैसे पुत्र। कभी कभी पुत्र पिता से बिलकुल भिन्न दिखलाई पड़ता है। इसका क्या कारण है? इस प्रश्न की ओर सामान्य व्यक्ति की रुचि नहीं। केवल वंशानुक्रम ही समानता नहीं ले आता। वस्तुतः वंशानुक्रम में तो समानता और असमानता दोनों निहित होती हैं। यदि समानता का कारण वंशानुक्रम है तो असमानता भी वंशानुक्रम के ही कारण होती है; अर्थात् वंशानुक्रम व्यक्ति के विभिन्न गुणों और अवगुणों का योग मात्र है।

जैसा ऊपर कहा गया है, कुछ विद्वान वातावरण को ही सारा महत्व देते हैं

उनके अनुसार वंशानुक्रम का व्यक्ति के विकास में विशेष स्थान नहीं। इस मत के अधिष्ठाता प्रसिद्ध दार्शनिक हरबार्ट और हेल्वेशश कहे जाते हैं। इनका कहना है कि व्यक्ति की भिन्नता केवल वंशानुक्रम पर ही नहीं, वरन् वातावरण पर भी निर्भर होती है। जैसी शिक्षा दी जायगी वैसा ही बालक का विकास होगा। वंशानुक्रम का इस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। यदि लोगों को समान शिक्षा दी जाय तो कुछ दिनों में सभी लोगों के मस्तिष्क समान हो जायेंगे। पर लाख चेष्टा करने पर भी वातावरण की पूर्ण रूप से समानता उपस्थित करना सम्भव नहीं। इसी लिये भिन्नता का आ जाना सर्वथा स्वाभाविक है।

हरबार्ट और हल्वेशश के अनुसार वातावरण प्रधान, समान शिक्षा से सभी समान, पर वातावरण की समानता उपस्थित करना असम्भव, अतः भिन्नता स्वाभाविक, पर यह मत मान्य नहीं।

इस प्रकार हरबार्ट के मतानुसार वैयक्तिक भिन्नता का कोई मौलिक कारण नहीं है; वरन् उसका कारण तो वातावरण की भिन्नता है। परन्तु हरबार्ट का मत मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि वंशानुक्रम का प्रभाव हमें बालक के जन्म से ही दिखलाई पड़ता है। अतः अब वंशानुक्रम के प्रभाव पर दृष्टि डालना समीचीन होगा।

४—परिवार तथा रक्त के सम्बन्ध का प्रभाव—

कई कुटुम्ब के वंशजों के अध्ययन से भी मनोवैज्ञानिकों ने यह जानने की चेष्टा की है कि व्यक्ति के गुणों का सम्बन्ध विशेषकर वंशानुक्रम से होता है या वातावरण से। इस प्रकार के अध्ययन में उन्नीसवीं शताब्दी के अँग्रेजी वैज्ञानिक गाल्टन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। गाल्टन ने प्रत्येक चार हजार व्यक्तियों में से एक व्यक्ति को श्रेष्ठ मानने की कसौटी के आधार पर ९७७ सुप्रसिद्ध व्यक्तियों की सूची बनाई। इस प्रकार गाल्टन के हिसाब से एक लाख व्यक्तियों में केवल २५ को ही सुप्रसिद्ध समझना चाहिये। इन ९७७ सुप्रसिद्ध व्यक्तियों के निकटतम रक्त-सम्बन्धियों का पता लगाया गया तो उनमें ५३५ सुप्रसिद्ध व्यक्ति निकले। वंशानुक्रम का प्रभाव स्पष्ट करने के लिये गाल्टन ने ९७७ सामान्य व्यक्तियों का भी अध्ययन किया। इनके निकटतम रक्त सम्बन्धियों में केवल चार ही सुप्रसिद्ध व्यक्ति प्रमाणित हो सके।

गाल्टन का अध्ययन।

वंशानुक्रम की महत्ता का प्रमाण हमें अन्य अध्ययनों से भी मिलता है। डॉ० ए० ई० विनशिप ने एडवर्ड कुटुम्ब का अध्ययन किया। रिचर्ड एडवर्ड ने एलिज़ाबेथ नामक एक सुप्रसिद्ध महिला से विवाह किया। इस कुटुम्ब से उत्पन्न सभी वंशजों ने विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिष्ठा प्राप्त की। इनमें लब्ध प्रतिष्ठित डाक्टर, भाषण वक्ता, प्रोफ़ेसर

विनशिप का अध्ययन।

बाद एक बहुत ही साधारण महिला से भी विवाह किया। इस महिला से उत्पन्न पुत्रों के वंशजों में सभी सामान्य कोटि के व्यक्ति हुए।

गॉडर्ड का अध्ययन।

गॉडर्ड ने कालीकॉक कुटुम्ब का अध्ययन किया। मार्टिन कालीकॉक एक सामान्य कोटि का सिपाही था। अपने सिपाही जीवन में एक मन्द-बुद्धि स्त्री के साथ उसका अवैध सम्बन्ध हो गया था। इससे एक वंश की शाखा चली। लड़ाई से वापस आने के बाद उसने एक कुलीन वंश की सच्चरित्र व श्रेष्ठ महिला से विवाह किया। इससे एक दूसरे वंश की शाखा चली। पहले वंश की शाखा से ४८० व्यक्ति उत्पन्न हुए जिनमें १४३ मन्द-बुद्धि, ४६ सामान्य, ३६ जार-सन्तान, ३३ वेश्याएँ, २४ शराबी, ३ मिरगी के रोगी, ३ घोर अपराधी और ८ वेश्यालयों के स्वामी निकले। दूसरे विवाह से उत्पन्न वंशजों में ४९६ व्यक्तियों का पता लगाया जा सका। इनमें केवल पाँच व्यक्ति व्यभिचारी अथवा मन्द बुद्धि के निकले और शेष सभी ने विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिष्ठा प्राप्त की।

कार्ल पियर्सन का अध्ययन।

कार्ल पियर्सन ने वंशानुक्रम का प्रभाव प्रमाणित करने के लिये 'वेजउड-डारविन-गाल्टन' कुटुम्ब के इतिहास का पता लगा डाला। इससे पता चला कि लगातार पाँच पीढ़ियों तक इस कुटुम्ब के वंशज इङ्गलैण्ड के 'रॉयल सोसायटी' के सदस्य रहे तथा विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिष्ठावान् गिने जाते थे।

डगडेल और इस्टाब्रूक के अध्ययन।

अमेरिका के जूक्स परिवार के इतिहास से भी यह पता चलता है कि वंशानुक्रम का प्रभाव कितना व्यापक होता है। इस परिवार का अध्ययन श्री डगडेल तथा इस्टाब्रूक ने किया। जूक्स एक भ्रष्टाचरण वाला व्यक्ति था तथा उसने अपनी ही कोटि की एक महिला से विवाह किया। इस प्रकार उसने एक अपराधी कुटुम्ब की रचना की। इस कुल की पाँच पीढ़ियों में १७२० से १८७७ के भीतर प्रायः एक हजार स्त्री व पुरुष हुए। टी० पी० नन* के कथनानुसार इन हजार व्यक्तियों में ३०० तो शैशव में ही कालग्रस्त हो गये, ३१० व्यक्तियों ने २३०० वर्ष तक अनाथालयों में जीवन व्यतीत किया, ४४० सदैव रोगग्रस्त रहे, १३० अपराधी घोषित किये गये, केवल २० ही कुछ व्यवसाय कला सीख सके—पर इनमें भी दस अपनी कला कारागार में ही सीख सके। यह भी अनुमान किया गया है कि इन व्यक्तियों में प्रत्येक की व्यवस्था के लिये राज्य को प्रायः ४००० रु० व्यय करने पड़े।

---

* टी० पी० नन, एडूकेशन : इट्स डेटा एण्ड फ़र्स्ट प्रिन्सीपुल्स, पृ० ११७।

व्यक्ति के विकास-पथ का निर्धारण वंशानुक्रम कहाँ तक करता है यह निश्चित करने के लिये मनोवैज्ञानिकों ने कुछ जुड़वों अथवा यमजों (ट्विन्स) का भी अध्ययन किया। इस प्रकार के अध्ययन का प्रारम्भ गत शताब्दी के अन्त में गाल्टन ने किया। गाल्टन ने प्रश्न-प्रणाली का अवलम्बन लिया। अतः उसके निष्कर्ष अधिक प्रमाणित नहीं दिखलाई पड़ते। पर उसके पश्चात् के मनोवैज्ञानिकों ने अपनी विधि अधिक मनोवैज्ञानिक बनाई। इसमें थॉर्नडाइक का कार्य अधिक मनोरंजक है। प्रश्न-प्रणाली के अतिरिक्त थॉर्नडाइक ने परिगणन (स्टैटिस्टिकल) विधि का भी प्रयोग किया। थॉर्नडाइक ने यह सिद्ध किया कि भाई व बहिनों की अपेक्षा यमजों में अधिक समानता होती है। उसके अनुसार यमजों में प्रायः तीन चौथाई की आपस में समानता रहती है और भाई व बहिनों में अनुमानतः केवल $\frac{३}{१०}$ की ही समानता होती है। छोटे यमजों में बड़ों से अधिक समानता होती है। ९ से ११ वर्ष के भीतर यमजों में प्रायः $\frac{६}{१०}$ की समानता मिलती है और १२ से १४ वर्ष के भीतर उनमें केवल $\frac{७}{१०}$ की समानता रह जाती है।

यमजों का अन्वेषण, थॉर्नडाइक का निष्कर्ष।

उपर्युक्त विवरण से वंशानुक्रम का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है, पर वातावरण के महत्व को भी हम अस्वीकार नहीं कर सकते। वंशानुक्रमवादी यह कह सकते हैं कि वातावरण के लाख बदलने पर भी बीज-कोष से लाये हुए गुण से निर्मित व्यक्ति में किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं। पर वातावरणवादी भी यह कह सकता है कि प्रतिकूल वातावरण के फलस्वरूप उच्च वंशानुक्रम वाला व्यक्ति भी निम्न कोटि में ही रह जायगा। वातावरण की महत्ता भी अनेक उदाहरणों द्वारा सिद्ध की गई है। फ्रान्स के कण्डोल नामक विद्वान् ने ५५२ सुप्रसिद्ध व्यक्तियों का अध्ययन किया। इससे पता चला कि इन सुप्रसिद्ध व्यक्तियों में प्रायः सभी के लिये सदा समुचित वातावरण उपस्थित रहा। मरी द्वीप के निवासी पहली परीक्षा में अपनी भाषा के कुल छः शब्दों की गणना कर सके। पर बाद में स्कॉट लोगों द्वारा शिक्षा पाने पर उनमें गणित का अच्छा बोध हो गया। ऊपर हम कह चुके हैं कि व्यक्ति के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण दोनों का प्रभाव अपेक्षित है। यदि बालक की वंशानुक्रम-प्राप्त बुद्धि-लब्धि (आई० क्यू०) केवल ८० है तो उसे हम ११० नहीं बना सकते, पर उचित वातावरण की सहायता से हम उसे ९० तक खींच सकते हैं। इसी प्रकार यदि उचित वातावरण नहीं उपस्थित किया गया तो वंशानुक्रम-प्राप्त उच्च गुण भी कुण्ठित रह जायेंगे। यदि वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि हमारे देश अशिक्षित जनता में अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जो समुचित वातावरण के मिलने पर राजेन्द्र, जवाहर और राधाकृष्णन् होते।

वातावरण की महत्ता भी अनेक उदाहरणों द्वारा सिद्ध, उचित वातावरण बिना वंशानुक्रमीय उच्च गुण भी कुण्ठित।

वंशानुक्रम के नियम

५—बीज-कोष की सनातनता (कन्टीन्युइटी ऑव् जर्म साज्म)

इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक वीज़मैन हैं। हमारा शरीर जीव-कोषों (लिविङ्ग सेल्स) से निर्मित होता है। विभिन्न अङ्गों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के जीव-कोषों का प्रकृति ने आयोजन किया है। इन जीव-कोषों में एक सन्तति-उत्पादन के हेतु भी जीव-कोष होता है। यह पुरुष में शुक्र और स्त्री में अण्ड के रूप में पाया जाता है। इन्हें क्रमशः अँग्रेजी में-जर्म-सेल और गैमिट कहते हैं। इन्हीं दोनों के संयोग से गर्भाधान होता है और सन्तान की उत्पत्ति होती है। इनके संयोग से भ्रूण-कोष की सृष्टि होती है। किसी कोष से आँख बनती है, किसी से हड्डी, किसी से कान, किसी से हृदय, किसी से पेट इत्यादि। यह ध्यान देने की बात है कि विभिन्न अवयवों के निर्माण कर देने पर भी मूल बीज-कोष का नाश नहीं होता। यह बीज-कोष शरीर से भिन्न पहले के सदृश बना रहता है। एक ही बीज कोष से वंशपरम्परागत बहुत से व्यक्तियों का जन्म होता है। पिता इस बीज-कोष को उसके मूल रूप में ही अपनी सन्तान में भेज देता है। अतः यह कहा जा सकता है कि पिता सन्तान का उत्पादक नहीं, अपितु वह तो इस बीज-कोष का संरक्षक मात्र है। इसी सिद्धान्त के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि बालक उतना ही प्राचीन है जितना कि उसके पूर्वज। इन्हीं बीज-कोषों के कारण पूर्वजों की सभी बातें बालक में पाई जाती हैं।

शरीर जीव-कोषों से निर्मित, सन्तति उत्पादन के हेतु बीज-कोष अलग, मूल बीज-कोष का नाश नहीं, एक ही बीज-कोष से वंश-परम्परागत अनेक व्यक्तियों का जन्म, "पिता सन्तान का उत्पादक नहीं, अपितु इस बीज-कोष का संरक्षक मात्र", बालक अपने पूर्वज के समान पुराना।

६—अर्जित गुणों का अवितरण—

अपने उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर वीज़मैन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि पिता अपनी सन्तान को बीज-कोष के रूप में अपने गुणों को देता है। पर यहाँ प्रश्न एक उपस्थित होता है: क्या सन्तान पिता के जीवन-काल में उसके अर्जित गुणों को भी वंशपरम्परागत रूप में प्राप्त कर लेती है? इस शंका के समाधान के लिये वीज़मैन ने कुछ चूहों पर प्रयोग किया। लगातार कई पीढ़ियों तक वह चूहों की दुम काटता रहा। पर किसी भी पीढ़ी में बिना दुम का नवजात चूहा उसने उत्पन्न होते न देखा। प्रत्येक चूहा अपने पूर्वजों के सदृश दुम सहित ही उत्पन्न

वीज़मैन के अनुसार पिता का अपने वंशानुक्रमीय गुणों को बीज-कोष के रूप में अपनी सन्तान को देना, अर्जित गुणों का बीज-कोष पर प्रभाव न पड़ने के कारण सन्तान का उन्हें

वंशपरम्परागत न प्राप्त करना।

हुआ। इससे वीज़मैन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि व्यक्ति अपने पूर्वजों के अर्जित अथवा अनुभव से प्राप्त गुणों को नहीं संक्रमित करता। पिता ने जो-कुछ अपने जीवन-काल में प्राप्त किया है उसका प्रभाव बीज-कोष पर नहीं पड़ता। अतएव उसके अर्जित गुणों का अधिकारी उसकी सन्तान स्वभावतः नहीं होती। यदि एक संगीतज्ञ की सन्तान संगीतज्ञ होती है तो वह वंशानुक्रम-प्राप्त गुण के कारण नहीं, वरन् वातावरण के प्रभाव से संगीतज्ञ के बालक का वातावरण संगीतमय रहता है। फलतः संगीत की ओर उसका झुकना स्वाभाविक हो जाता है।

क्या अर्जित गुण संक्रमित होते हैं ?

वीज़मैन के सिद्धान्त के विपरीत लेमार्क की धारणा है कि अर्जित गुणों को भी भावी सन्तति वंशानुक्रमीय नियम के अनुसार प्राप्त करती है। वास्तव में यदि अर्जित गुणों का कुछ प्रभाव भावी सन्तान पर न पड़ता तो विभिन्न जातियां का उत्तरोत्तर विकास सम्भव न होता और प्रत्येक बालक की शिक्षा सभ्यता के आदिकाल की परम्परा से प्रारम्भ करनी होती। पर बालक कोरी पटिया नहीं। वह कुछ व्यक्तिगत शक्तियों के साथ जन्म लेता है। हम उसे यह करने के लिये कहते हैं तो वह 'वह' करता है। क्यों ? इससे यह स्पष्ट है कि किसी न किसी तरह अर्जित गुणों का कुछ प्रभाव तो पड़ता ही है। हमारी इस धारणा की पुष्टि लेमार्क, मैग्डूगल तथा हैरीसन के अन्वेषणों और परीक्षणों से होती है। लेमार्क का कथन है कि अपनी आवश्यकतानुसार प्राणी अपने को वातावरण के अनुकूल बनाने की चेष्टा किया करता है। इस उद्योग में उसकी कुछ आदतें तथा रहन-सहन के नियम में भारी परिवर्तन आ जाता है। वातावरण के अनुकूल बनाने की चेष्टा में जिन अवयवों में परिवर्तन होता है वे अपने परिवर्तित रूप में ही भावी सन्तान में आ जाते हैं। इस प्रकार नई-नई जातियों का उत्तरोत्तर विकास हुआ करता है।

लेमार्क के अनुसार अर्जित गुण कुछ सीमा तक संक्रमित, वातावरण के अनुसार अपने को बनाने की हर प्राणी की चेष्टा, इस चेष्टा से कुछ अवयवों में परिवर्तन, इस परिवर्तन का भावी सन्तान में आना, जीरैफ़ तथा ठण्ड और गर्म देश के कुत्तों के उदाहरण से इस धारणा की पुष्टि।

लेमार्क की धारणा की पुष्टि जीरैफ़ के उदाहरण से होती है। जीरैफ़ अफ़्रीका के जंगलों में रहने वाला एक जानवर है। यह पेड़ों की पत्तियों पर अपना जीवन निर्वाह करता है। पेड़ों की पत्तियों तक पहुँचने के लिये लम्बी गर्दन का होना आवश्यक है। अतः जीरैफ़ जाति प्रत्येक पीढ़ी में अपनी गर्दन बढ़ाने की चेष्टा करती रही। फलतः धीरे धीरे अब उसकी गर्दन इतनी लम्बी हो गई है। लेमार्क के सिद्धान्त की पुष्टि हमें गर्म तथा ठण्डे देशों में पाये जाने वाले जानवरों से भी होती है। इन जानवरों पर वातावरण का विभिन्न प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। गर्म देश के कुत्तों के शरीर पर उतने अधिक और बड़े बाल नहीं होते

जितने कि ठण्डे देश में रहने वाले कुत्तों पर। यदि गर्म देश के कुत्ते ठण्डे देशों में पाले जाते हैं तो उनके भी बाल धीरे धीरे बड़े होने लगते हैं। देखा गया है कि बाद में वंशानुक्रमीय नियम के अनुसार बालों का यह परिवर्तन सन्तति में संक्रमित हो जाता है।

मैग्डूगल का परीक्षण।

मैग्डूगल और हैरीसन के परीक्षणों से लेमार्क की धारणा पर और प्रकाश पड़ता है। मैग्डूगल ने कुछ चूहों को एक तालाब में रख छोड़ा। उस तालाब से निकलने के दो मार्ग थे—एक में प्रकाश था और दूसरे में अँधेरा। चूहे प्रकाश वाले मार्ग से बाहर निकल जाने का प्रयत्न किया करते थे। पर इसी समय उन्हें बिजली का धक्का दिया जाता था। वे घबड़ा कर बाहर निकल आते थे। वे कई प्रयत्न करने के बाद ही अँधेरे वाले मार्ग को पा सकते थे। मैग्डूगल ने देखा कि पहिली पीढ़ी वाले चूहे १६५ बार गलती करने के बाद ठीक रास्ते (अर्थात् अँधेरे रास्ते) की ओर जा सके। पर २३ वीं पीढ़ी वाले चूहे केवल २५ बार ही गलती करके अँधेरे मार्ग से निकल जाने में सफल हुये। मैग्डूगल ने इससे यह सिद्ध किया है कि भावी सन्तति अपने पूर्वजों के अर्जित गुणों को भी वंशपरम्परानुसार प्राप्त करती है।

हैरीसन का परीक्षण।

हैरीसन ने कुछ पतंगों पर परीक्षण किया। उसने देखा कि फैक्टरियों के पास रहने वाले पतंगे काले होते हैं, पर अन्य स्थानों में रहने वाले उसी जाति के पतंगे काले नहीं होते। हैरीसन को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कुछ सामान्य पतंगों को इकट्ठा कर उन्हें दो टोलियों में विभाजित कर दिया। एक टोली को साधारण मैदान में पाये जाने वाले पत्तों तथा घास पर उसने पाला। दूसरी टोली को उसने फैक्टरियों के आसपास के पत्तों और घास पर पाला। ये घास और पत्ते साधारण मैदान के पत्तों से भिन्न थे, क्योंकि इन पर फैक्टरी के धातुज नमक व अन्य पदार्थ जम जाया करते थे। इन्हीं पर जीवन निर्वाह करने से वहाँ के पतंगों का रंग काला पड़ गया था। हैरीसन ने अपना परीक्षण पतंगों की कई पीढ़ियों तक किया। उसने पहले भाग के पतंगों के रंग में कोई परिवर्तन न देखा। वे स्वाभाविक रंग के ही होते थे। पर जिनको फैक्टरी के पास पाये जाने वाले पत्तों पर पाला गया था उनका रंग कुछ पीढ़ियों के बाद बदलने लगा। धीरे धीरे वे सब काले रंग के हो गये। हैरीसन ने भी इस प्रकार लेमार्क के सिद्धान्त की कुछ पुष्टि ही की है।

डार्विन का मत—

डार्विन का मत लेमार्क से भिन्न है। डार्विन के अनुसार विकास में व्यक्ति का कुछ भी हाथ नहीं होता। विकास सदैव प्रकृति पर ही निर्भर रहता है।

लेमार्क से भिन्न, विकास में

डार्विन यह मानता है कि वातावरण से प्राणी में परिवर्तन आता है और वह परिवर्तन भावी सन्तति

व्यक्ति का कुछ भी हाथ नहीं, विकास प्रकृति पर निर्भर, 'प्राकृतिक चुनाव' के आधार पर निर्बलों का प्रकृति द्वारा स्वयं नाश, शक्तिशाली की रक्षा प्रकृति द्वारा, शक्तिशाली के सभी गुण उसकी भावी पीढ़ी में संक्रमित, यह संक्रमण दो प्रकार का १—क्रमिक परिवर्तन और २—आकस्मिक परिवर्तन, डार्विन का यह सिद्धान्त अब मान्य नहीं।

में संक्रमित हो जाता है; परन्तु वातावरण प्राणी में कैसे परिवर्तन उत्पन्न करता है, इस सम्बन्ध में डार्विन ने एक नये मत का प्रतिपादन किया है। डार्विन की धारणा है कि प्रकृति शक्तिहीन प्राणियों का नाश कर देती है। जिनमें वातावरण से युद्ध करने की क्षमता होती है वही जीवित रहते हैं और शेष नष्ट हो जाते हैं। निर्बल प्राणी इच्छा और प्रयास करते हुए भी जीवित नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति उसे नष्ट कर देती है। किसी जंगल में शेर और हिरण दोनों प्रकार के जीव रहते हैं। शेर हिरण का शिकार करता है। यदि उसे हिरण न मिला तो वह भूखों मर जायगा। उसमें उछलने, छलाँग भरने और दौड़ने की पर्याप्त शक्ति आवश्यक है। डार्विन के मतानुसार केवल वही शेर बच सका जिसमें पर्याप्त शक्ति थी। शेष भूखों मर गये। इस प्रकार शक्तिहीन शेर अपने आप मर गये और शक्तिशाली ही बचे रहे। इन शक्तिशाली शेरों के गुण इनकी सन्तानों में संक्रमित हुए। फलतः वे भी अपने पूर्वज के अनुसार शक्तिशाली हुए। इसी प्रकार अपनी जाति की रक्षा के लिये हिरण के लिये आवश्यक था कि वह खूब तेज दौड़ सके, अन्यथा शेर के पंजों द्वारा वह मारा जायगा। शक्तिहीन हिरण शेर द्वारा मारे गये, और केवल शक्तिशाली ही बच रहे इन्हीं शक्तिशाली हिरणों से उनकी जाति अभी तक चलती रही है। निर्बल हिरणों का प्रकृति ने नाश कर दिया। इस प्रकार डार्विन ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि 'प्राकृतिक चुनाव' (नैचरल सिलेक्शन) के आधार पर निर्बलों का नाश हो जाता है और शक्तिशालों की प्रकृति रक्षा करती है। शक्तिशाली के सभी अर्जित गुण उसकी भावी पीढ़ी में संक्रमित हो जाते हैं। डार्विन की उक्ति का कि 'केवल शक्तिशाली की ही प्रकृति रक्षा करती है' (सरवाइवल ऑव् द फिटेस्ट) 'आचरण और नीतिशास्त्र' में लोगों ने बड़ा ही दुरुपयोग किया है। डार्विन के कुछ अनुयायियों ने यह तर्क निकाला कि निर्बलों को जीने का अधिकार ही नहीं, क्योंकि प्रकृति तो उन्हें नष्ट कर देती है। यहाँ डार्विन के सिद्धान्त की विशद व्याख्या करना हमारा प्रयोजन नहीं, क्योंकि यह हमारे क्षेत्र के बाहर है। हमारा तात्पर्य केवल इतना ही पता लगाना है कि अर्जित गुणों के संक्रमण पर डार्विन का क्या मत है। यद्यपि लेमार्क और डार्विन के विचारों में सिद्धान्ततः मतभेद है; परन्तु दोनों मानते हैं कि अर्जित गुण संक्रमित होते हैं। डार्विन के अनुसार अर्जित गुणों का संक्रमण दो प्रकार से होता है—(१) 'क्रमिक परिवर्त्तन' (कन्टीन्युअस वेरियेशन), और (२) 'अक्रमिक परिवर्त्तन' (डिस्कन्टीन्युअस

वेरियेशन या म्यूटेशन)। अर्जित गुणों के संक्रमण के सम्बन्ध में डार्विन का कहना है कि शरीर के प्रत्येक अवयव का नमूना अर्थात् 'जेम्यूल्स' 'बीज-कोषों' (जर्म सेल्स) में जाता रहता है। इन बीज-कोषों की सहायता से उसी प्रकार का अवयव उत्पन्न होता रहता है। डार्विन का यह मत अब मान्य नहीं।

केवल वे ही अर्जित गुण संक्रमित होते हैं जिनका बीजकोषों पर प्रभाव, जीवन रक्षार्थ वातावरण के संघर्ष के कारण प्राप्त अर्जित गुण का प्रभाव बीज-कोषों पर, फलतः भावीपीढ़ी का इस गुण को संक्रमित करना, मैग्डूगल और हैरीसन के परीक्षणों से इसकी पुष्टि।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अर्जित गुण भी संक्रमित होते हैं। पर एक हाथ वाले आदमी की सन्तान एक हाथ वाली क्यों नहीं होती? वीज़मैन के कथानुसार दुम कटे चूहों की सन्तान दुमकटी क्यों नहीं हुई? ऊपर की बातों से हम यह सरलता से निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि केवल वे ही अर्जित गुण संक्रमित होते हैं जिनका 'बीज-कोषों' पर कुछ प्रभाव पड़ता है। यदि अपने जीवन रक्षार्थ वातावरण के संघर्ष के कारण कोई जाति कुछ गुण अर्जित कर सकी तो उन गुणों का प्रभाव धीरे धीरे बीज-कोषों पर होने लगता है। यह प्रभाव शीघ्र ही स्पष्ट नहीं होता, वरन् कुछ पीढ़ियों बाद प्रकट होता है। यह मैग्डूगल तथा हैरीसन के परीक्षणों से स्पष्ट है। तेईस पीढ़ियों तक संघर्ष करते करते ही चूहों के बीज-कोषों पर पर्याप्त रूप में परिवर्तन आ सका। इसी प्रकार पंतगों का रंग कुछ पीढ़ी के बाद ही बदल सका। जीरैफ़ की गर्दन अथवा ठण्डे देश में कुत्ते के बाल एक ही पीढ़ी में नहीं बड़े हो जाते। चूहे की दुम काट देने से उसके 'बीज-कोषों' पर प्रभाव पड़ना सम्भव नहीं, क्योंकि उसकी दुम तो बलात् काट दी गई है। चूहे ने अपने जीवन रक्षार्थ वातावरण के साथ संघर्ष के फलस्वरूप अपनी दुम नहीं कटवाई है। इसी प्रकार एक हाथ कटे मनुष्य की सन्तान एक हाथ कटी नहीं होती। उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि अपने जीवन रक्षार्थ वातावरण से संघर्ष के फलस्वरूप यदि कोई जाति कोई गुण प्राप्त करती है तो उसका प्रभाव भावी पीढ़ियों पर पड़ता है, क्योंकि इस संघर्ष के कारण धीरे धीरे बीज-कोषों की आकृति पर कुछ प्रभाव आ जाता है। बीज-कोषों पर अर्जित गुणों का प्रभाव आ जाने से उसका रूप भावी सन्तति में भी स्पष्ट हो जाता है।

भिन्नता का नियम (लॉ ऑव् वेरियेशन)

साधारणतः यह समझ लिया जाता है कि समान समान ही उत्पन्न करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्धिमान या स्वस्थ माता-पिता अपने ही समान

सन्तान उत्पन्न करते हैं और निर्बल निर्बल सन्तान उत्पन्न करते हैं। पर कहीं कहीं हमें इस नियम में परिवर्त्तन दिखलाई पड़ता है। बुद्धिमान माता-पिता के मूर्ख सन्तान क्यों उत्पन्न होती है? बहुत साधारण कुटुम्ब में कभी कभी बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति कैसे उत्पन्न हो जाते हैं? इस शंका का समाधान 'भिन्नता के नियम' से होता है वंशानुक्रमीय गुणों (ट्रेट्स) के वाहक बीज-कोष (जर्म प्लाज़्म) हुआ करते हैं। ये बीज-कोष अनेक रेशों से बने हुये होते हैं। इन रेशों को अँग्रेजी में 'क्रोमोजोम्स' कहते हैं। इसे हम वंश-सूत्र की संज्ञा देंगे। एक बीज-कोष में अनेक वंश-सूत्र पाये जाते हैं। आश्चर्य है कि इन वंश-सूत्र के और भी सूक्ष्म भाग होते हैं, जिन्हें अँग्रेजी में 'जीन्स' कहते हैं। ये 'जीन्स' अनेक संख्या में मिलकर वंश-सूत्र (क्रोमोजोम्स) बनाते हैं। वास्तव में ये 'जीन्स' ही विभिन्न गुण वा दोषों के वाहक (कैरियर्स) होते हैं। कोई जीन्स पैर की लम्बाई का हुआ तो कोई नाक का। कोई छोटी आँख का हुआ तो कोई विशाल वक्षस्थल अथवा भुजा का। कोई तीव्र बुद्धि का हुआ तो कोई चिड़चिड़ापन का, इत्यादि। जीव-विज्ञान के अनुसार प्रत्येक भ्रूण-कोष (जीगॉट) में चौबीस पिता के तथा चौबीस माता के वंश-सूत्रों का समागम होता है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि इनके संयोग से १६,७७७,२१६ प्रकार की विभिन्न सम्भावनायें अपेक्षित हो सकती हैं। प्रकृति की लीला कितनी विचित्र है!!! वैज्ञानिकों का कथन है कि वंश-सूत्रों का मिश्रण एक माता-पिता में भी सदैव समान नहीं होता, क्योंकि उनकी मानसिक तथा शारीरिक स्थिति सदैव एक सी नहीं रहती। अतएव सन्तानों में भिन्नता (वेरीयेशन) का आ जाना सर्वथा स्वाभाविक ही है। अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि वंश-सूत्रों के क्रम में सदा समानता होने से असमानता का होना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि समानता का। अतः 'असमानता' अथवा भिन्नता का होना वंशानुक्रम के सिद्धान्त का विरोधक नहीं, अपितु समर्थक है।

बुद्धिमान पिता की मूर्ख सन्तान कैसे? बीज-कोष वंशानुक्रमीय गुणों के वाहक वंश-सूत्र (क्रोमोजोम्स), जीन्स; प्रत्येक भ्रूण कोष में २४ पिता और २४ माता के वंश-सूत्रों का मिश्रण, माता-पिता की विभिन्न मानसिक व शारीरिक स्थिति के कारण यह मिश्रण सदा समान नहीं, अतएव सन्तानों में भिन्नता स्वाभाविक, असमानता का होना वंशानुक्रम सिद्धान्त का समर्थक।

२—प्रत्यागमन (रीग्रेशन)

भिन्नता के नियम में हमारी उपर्युक्त शंका, अर्थात् "कभी कभी तीव्र बुद्धि

वाले माता-पिता के मन्द बुद्धि सन्तान क्यों उत्पन्न होती है अथवा छोटे कुटुम्ब में कभी कभी बहुत प्रतिभाशाली बालक कैसे उत्पन्न हो जाते हैं ?" का भी समाधान हो जाता है। साधारण व्यक्ति को इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि अमुक श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ के भोंदू सन्तान कैसे उत्पन्न हुई ? तथा उस श्रेष्ठ महात्मा के वंश में व्यभिचारी सन्तान कैसे आगई ? इस 'प्रत्यागमन' (रीग्रेशन) के कई कारण होते हैं। ऊपर हम देख चुके हैं कि गर्भाधारण के समय विभिन्न मानसिक व शारीरिक स्थिति के अनुसार वंश-सूत्रों का मिश्रण सदैव समान नहीं होता। अतः कभी कभी एक ही सन्तान में दो विरोधी गुण पहुँच जाते हैं। संयोगवश कभी कभी मिश्रण अच्छा हो जाता है तो सन्तान में अच्छे ही गुण आ जाते हैं। यही कारण है कि माता-पिता के सभी सन्तान समान मानसिक अथवा शारीरिक शक्ति के नहीं होते। यह तो एक ही माता-पिता के सन्तान के सम्बन्ध की बात हुई। हम कभी कभी किसी साधारण कुटुम्ब में भी प्रतिभाशाली बालक उत्पन्न होते दीखते हैं। इसका क्या कारण है ? वैज्ञानिकों का कहना है कि वंशानुक्रम से व्यक्त (डॉमिनेयट) और सुप्त (रीसेसिव्) दो प्रकार के गुण प्राप्त होते हैं। ये दोनों ही गुण पिता से पुत्र के क्रम में भावी सन्तति में आते रहते हैं। परिस्थितियों के प्रभाव से कभी सुप्त गुण व्यक्त हो जाता है और कभी व्यक्त गुण सुप्त हो जाता है। यही कारण है कि कई पीढ़ियों बाद भी पूर्वजों के गुण अथवा दोष सन्तान में आ जाते हैं।

व्यक्त और सुप्त गुण का पिता से पुत्र के क्रम में भावी सन्तान में आना, परिस्थितियों के प्रभाव से कभी व्यक्त सुप्त और सुप्त व्यक्त, फलतः कई पीढ़ियों बाद भी पूर्वजों के दोष व गुण सन्तान में।

इस प्रकार 'समानता', 'भिन्नता' तथा 'प्रत्यागमन' के नियम हमें विभिन्न लोगों के गुण अथवा दोष के समझने में सहायक सिद्ध होते हैं। साधारणतः यह समझा जाता है कि सन्तान माता-पिता के सदृश् होती है। पर सन्तान में माता-पिता से असमानता औसत के बहुत नीचे अथवा ऊपर दिखलाई पड़ती है। पाठक को यह जान कर आश्चर्य होगा कि 'प्रत्यागमन' के नियम के अनुसार सन्तान बहुधा उन बातों में बड़े दिखलाई पड़ते हैं जिनमें उनके माता-पिता बड़े होते हैं।

सन्तान में असमानता औसत से बहुत नीचे या बहुत ऊपर, प्रत्यागमन के नियमानुसार सन्तान पिता से बड़ा या छोटा।

उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति के वंशानुक्रमीय गुणों का सम्बन्ध केवल उसके माता-पिता से ही नहीं होता, वरन् पूर्वजों से भी हो सकता है।

वंशानुक्रमीय गुण का

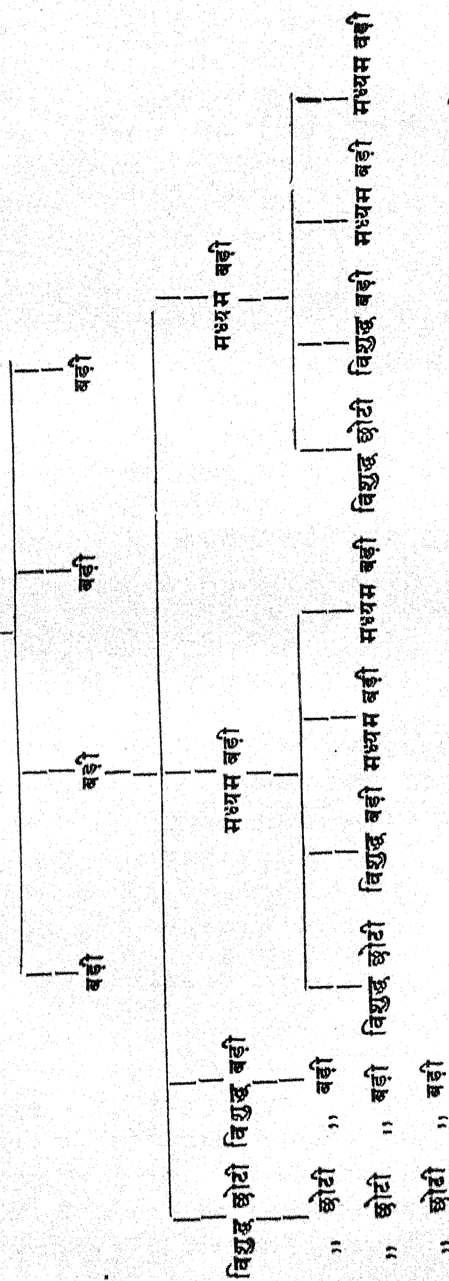
सम्बन्ध माता-पिता से ही नहीं, वरन् पूर्वजों से भी।

इस बात की पुष्टि मेण्डलवाद से भी होती है। परन्तु यह मानी हुई बात है कि सन्तति अधिकतर अपने माता-पिता से ही गुण प्राप्त करती है। साधारणतः यह कहा जाता है कि बालक अपना आधा गुण माता-पिता से चौथाई अपने दादा, आठवाँ अपने परदादा तथा सोलहवाँ अपने पर-परदादा से प्राप्त करता है।

मेण्डलवाद

स्वभावतः प्रकृति सामान्यता की ओर बढ़ती है। विलक्षणता की ओर अग्रसर होना उसका स्वभाव नहीं। यही कारण है कि बहुधा सामान्य प्रकृति के ही मनुष्य दृष्टिगोचर होते हैं। अति मन्द बुद्धि अथवा अति तीव्र बुद्धि वाले व्यक्ति विरले ही हुआ करते हैं। इस प्रकार प्रकृति सदैव स्थैर्य और संतुलन को निभाने की चेष्टा करती रहती है। मेण्डल के प्रयोग इस धारणा की पुष्टि करते हैं। अतः अब हम उसी का उल्लेख करेंगे। मेण्डल का निष्कर्ष मेण्डलवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इसे 'प्रधान प्रकार की ओर प्रत्यागमन का सिद्धान्त' भी कहते हैं। इसका तात्पर्य हम यह भी समझ सकते हैं कि प्रकृति शुद्ध गुण वाली सन्तति को बढ़ाती रहती है। मेण्डल ने मटर पर परीक्षण करना प्रारम्भ किया। छोटे और बड़े दोनों प्रकार के मटर अलग अलग बोने पर उसने देखा कि छोटी मटर से केवल छोटी और बड़ी से केवल बड़ी ही मटर उत्पन्न होती है। परन्तु जब उसने छोटे और बड़े मटर को बराबर की संख्या में मिला कर बोया तो देखा कि छोटी मटरें एक दम विलीन हो गयीं। अर्थात शुद्ध गुण वाली सन्तति को बढ़ाने वाली प्रकृति की चेष्टा सफल रही। छोटेपन का गुण लुप्त रह गया और बड़ापन व्यक्त रहा। पर जब वर्णसङ्कर जाति की मटर बोई गई तो पता चला कि वर्णसङ्करता का प्रभाव गया नहीं। उसमें एक चौथाई मटर विशुद्ध छोटी निकली। इस विशुद्ध छोटी मटर के बोने पर सदैव छोटी ही मटर उत्पन्न होती रही। वर्णसङ्कर मटर से एक चौथाई विशुद्ध बड़ी भी निकली, क्योंकि उसके बोने पर सदैव बड़ी ही मटर उत्पन्न हुई। शेष दो चौथाई मिश्रित जाति की अथवा मध्यम बड़ी। इस मिश्रित जाति वाली मटर के बोने से एक चौथाई विशुद्ध बड़ी, एक चौथाई विशुद्ध छोटी और दो चौथाई मिश्रित अथवा मध्यम बड़ी निकली। उपर्युक्त प्रयोग की तालिका यों दी जा सकती है:—

प्रकृति सामान्यता की ओर, अतः सामान्य प्रकृति के ही मनुष्य अधिक, मेण्डल के परीक्षण से इसकी पुष्टि, शुद्ध गुण वाली सन्तति का बढ़ना।


बड़ी मटर × छोटी मटर
बड़ी
बड़ी
बड़ी
बड़ी
विशुद्ध छोटी
विशुद्ध बड़ी
मध्यम बड़ी
मध्यम बड़ी
,, छोटी ,, बड़ी
,, छोटी ,, बड़ी
,, छोटी ,, बड़ी
विशुद्ध छोटी
विशुद्ध बड़ी
मध्यम बड़ी
मध्यम बड़ी
विशुद्ध छोटी
विशुद्ध बड़ी
मध्यम बड़ी
मध्यम बड़ी

मटर के समान चूहों पर भी प्रयोग करने से मेण्डलवाद की पुष्टि पाई गई। ऐसा जान पड़ता है कि प्रकृति 'जाति' के स्वभाव की रक्षा करना चाहती है; क्योंकि मेण्डलवाद से यह स्पष्ट होता है कि संकर जाति की वृद्धि नहीं होती। प्रकृति विशुद्ध जाति को ही बढ़ाना चाहती है। इस प्रकार उसकी गति प्रधान प्रकार के बढ़ाने की ओर रहती है। अतएव मेण्डलवाद को, जैसा ऊपर कहा गया है, 'प्रधान प्रकार की ओर प्रत्यागमन का सिद्धान्त' भी कहते हैं।

प्रकृति का जाति स्वभाव की रक्षा करना, संकरजाति की वृद्धि नहीं।

वंशानुक्रम, वातावरण और शिक्षा

वास्तव में अभी तक यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि अर्जित गुण संक्रमित होते हैं अथवा नहीं। पर यह निर्विवाद है कि व्यक्तियों के कुछ ऐसे स्वाभाविक गुण होते है जिन पर वातावरण का कुछ भी प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता। वातावरण का प्रभाव आँकने के लिये एक ही वंशानुक्रम के कई बालक विभिन्न वातावरण में पाले गये। एक ही वंशानुक्रम के होते हुए भी वातावरण की भिन्नता के कारण उनका विकास समान न हो सका। वंशानुक्रम का प्रभाव देखने के लिये विभिन्न वंशानुक्रम के बालक समान वातावरण में पाले गये। अनाथालय इसका एक उदाहरण हो सकता है। साधारणतः हम यह मान सकते हैं कि अनाथालयों में विभिन्न वंशानुक्रम के बालकों को समान वातावरण में रखा जाता है। फिर भी उनका विकास समान नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि वंशानुक्रम के प्रभाव की हम अवहेलना नहीं कर सकते। यदि वंशानुक्रम अच्छा न हुआ तो सन्तान कभी अच्छी नहीं हो सकती। इसीलिये यह राज्य (स्टेट) का कर्त्तव्य हो जाता है कि भयानक रोग से पीड़ितों को सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति से वंचित कर दें। वंशानुक्रम के अच्छे रहने पर भी यदि वातावरण अनुकूल न न हुआ तो विकास वांछित नहीं हो सकता। अतः आवश्यक है कि माता-पिता अपने बच्चों के लिये उचित वातावरण का आयोजन करें। जो अपने बालकों के लिये अच्छी अच्छी पुस्तकों तथा स्वस्थकर मनोरंजन के उपकरणों का आयोजन किया करते हैं वे निश्चय ही उनकी उन्नति के लिये भारी अवसर प्रदान करते हैं। यहाँ पर एक शंका उठती है। एक ही माता-पिता के पुत्र समान वातावरण में पाले जाते हैं, उनका वंशानुक्रम भी समान ही है, परन्तु उनके विकास में भिन्नता क्यों आ जाती है? सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर मालूम होगा

शिक्षा में दोनों का महत्त्व समान, एक ही माता-पिता से उत्पन्न सन्तानों का वंशानुक्रम समान नहीं होता, वंशानुक्रम का निर्णय पूर्वजों पर भी, एक ही घर में रहने वालों का वातावरण समान नहीं, अतः प्रत्येक का वंशानुक्रम और वातावरण दूसरे से भिन्न।

कि जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध जीव-विज्ञान से है, वहाँ तक इसका उत्तर ऊपर के विवेचनों में दिया जा चुका है। अतः यहाँ पर उसका पृष्टिपेषण अनुपयुक्त होगा। साधारणतः यह माना जा सकता है कि एक ही माता-पिता से उत्पन्न सन्तान का वंशानुक्रम एक ही होता है। पर वैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा विश्वास भ्रमात्मक है; क्योंकि माता-पिता की मानसिक और शारीरिक स्थिति सदैव समान नहीं रहती; दूसरे, किसी बालक के वंशानुक्रम का निर्णय केवल उसके माता-पिता पर ही निर्भर नहीं रहता। अतः यह स्पष्ट है कि एक ही माता-पिता से उत्पन्न सन्तानों का वंशानुक्रम एक ही नहीं होता। इसीलिये भाई व बहिनों के वंशानुक्रमीय गुणों में भेद दिखलाई पड़ता है। दूसरी बात ध्यान देने कि यह है कि एक ही घर में पले हुए बालकों के लिये वातावरण भी समान नहीं हो सकता। हम यह मानते हैं कि वे एक ही प्रकार का भोजन करते हैं—वे एक ही प्रकार का वस्त्र भी पहनने को पाते हैं—वे एक ही मोटर अथवा ताँगे पर बैठकर एक ही स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने जाते हैं। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनका वातावरण समान है। एक ही घर में कोई बालक अधिक प्यार पाता है, कोई कम; किसी पर बहुत डाँट पड़ती हैं, तो किसी पर कुछ भी नहीं। इसके कारण चाहे जो हों—उनके बीच में जाना यहाँ हमारा प्रयोजन नहीं। पर इससे यह स्पष्ट है कि वाह्य रूप से एक ही वातावरण में रहते हुए भी वस्तुतः व्यक्तियों का वातावरण भिन्न भिन्न होता है। अतः हम यह सरलता से मान सकते हैं कि इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति का वंशानुक्रम और वातावरण दूसरे से भिन्न है। इसीलिये तो कोई दो व्यक्ति पूर्ण रूप से समान नहीं दिखलाई पड़ते।

हम अपनी उपरोक्त धारणा के अनुसार वंशानुक्रम तथा वातावरण में से किसी एक को ही प्रधानता नहीं दे सकते। दोनों का अपना अलग अलग महत्व है। पर इसके साथ ही हमें यह भी याद रखना है कि बालक का विकास केवल इन दोनों बातों पर ही निर्भर नहीं रहता। बालक का अपना एक अलग आध्यात्मिक व्यक्तित्व होता है। इस व्यक्तित्व के अनुसार ही वह अपने विकास के प्रवाह का नियन्त्रण करता रहता है। श्री टी० पी० नन* का कथन है कि "बालक रचनात्मक शक्ति का एक केन्द्र होता है। वंशानुक्रम और वातावरण का उपयोग वह अपने विकास के लिए साधन के रूप में करता है।" हम यह मानते हैं कि वंशानुक्रम और वातावरण व्यक्ति के विकास के दो प्रधान अङ्ग हैं। पर व्यक्ति को भूल जाना और उसे केवल इन्हीं दोनों

बालक का विकास केवल वंशानुक्रम और वातावरण पर ही निर्भर नहीं, उसका अलग आध्यात्मिक व्यक्तित्व, उसके अनुसार उसके व्यक्तित्व का नियन्त्रण, व्यक्ति वंशानुक्रम और वातावरण का अभियुक्त नहीं, वंशानुक्रम से केवल कुछ

* टी० पी० नन, एडूकेशन : इट्स डेटा ऐण्ड फर्स्ट प्रिन्सीपुलस—पृ० ११९.

सम्भावनाओं का अनुमान, वातावरण द्वारा इन सम्भावनाओं का कार्यान्वित होना।

का अभियुक्त समझ लेना भारी भूल है। कम से कम हमारे प्राच्य दर्शनशास्त्र की तो यही माँग है। यदि हम शिक्षा को कला की दृष्टि से देखें तो उससे इसकी पुष्टि हो जाती है। विज्ञान की दृष्टि से वंशानुक्रम हमें व्यक्ति की सम्भावनाओं का कुछ अनुमान करा देता है। वातावरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन सम्भावनाओं को कहाँ तक कार्यान्वित किया जा सकता है। यह सत्य है कि मन्द बुद्धि बालक शिक्षा से उतना लाभ नहीं उठा सकता जितना तीव्र बुद्धि बालक उठा पाता है, और वंशानुक्रमीय गुणों पर कभी कभी शिक्षा का प्रभाव इच्छित रूप से नहीं पड़ता। पर यह मानना पड़ेगा कि यदि किसी भी पीढ़ी के समय काल में शिक्षा में ढिलाई कर दी जाय अथवा उसके लिये उचित वातावरण न उपस्थित किया जाय तो आगामी पीढ़ी की दशा और भी हीन हो जायगी। अतः वातावरण की भी महत्ता माननी ही होगी।

सहायक पुस्तकें

१—थॉमसन—इन्स्टिक्ट, इण्टेलीजेन्स ऐण्ड कैरेक्टर, अध्याय २।

२—मैग्डूगल—इनरजीज़ आव् मैन।

३—नन—एडूकेशन : इट्स डेटा ऐण्ड फ़र्स्ट प्रिन्सीपुल्स, अध्याय ९।

४—रॉस—ग्राउण्डवर्क आव् एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ५।

५—बैगले—एडूकेशनल डिटरमिनिज़्म।

६—सैण्डीफ़ोर्ड—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय १।

७—केनेडी-फ्रेसर—दी साइकॉलॉजी आव् एडूकेशन, अध्याय १।

८—डंगलस ऐण्ड हालैण्ड—फ़ण्डामेण्टल्स आव् एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ३।

९—क्रूज़—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ३।

१०—थॉमसन जी० एच०, ए मॉडर्न फ़िलासाफ़ी आव् एडूकेशन, अध्याय ७, ८,।

११—सोरेन्सन—साइकॉलॉज़ी इन एडूकेशन, अध्याय १०।

१२—थॉर्नडाइक—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, भाग १ और ३।

१३—जे० ए० थॉमसन—दी स्टडी आव् एनीमल लाइफ़।

१४—प्रेसी ऐण्ड रॉबिनसन—साइकॉलॉजी ऐण्ड द न्यू एडूकेशन—(संशोधित संस्करण)।

———

में किसी बात से भय उत्पन्न करने के लिये काल्पनिक बातों को कहा करते हैं। 'अरे !'गोगो-आया !' इतना ही कह देना बालक में भय उत्पन्न कर देने के लिये पर्याप्त हो सकता है। बालक 'गोगो' को नहीं देख रहा है। पर भय उत्पन्न हो ही गया। ऐसे ही हम बिजली की कड़क सुन कर डर जाते हैं और सुरक्षित स्थान में भागने की इच्छा करते हैं। शारीरिक कष्ट अथवा किसी रहस्यमयी वस्तु इत्यादि के अनुमान से भी भय उत्पन्न हो जाता है।

पलायन प्रवृत्ति पर उचित ध्यान न देने से बालक में दीनता का आना, इसका शोधन पाप और अत्याचार से भागने की प्रवृत्ति उत्पन्न करने से, दण्ड का भय अमनोवैज्ञानिक।

पलायन मूलप्रवृत्ति का हम शिक्षा में कैसे उपयोग कर सकते हैं ? यदि इस पर समुचित ध्यान न दिया जाय तो बालक एकदम दब्बू और भोंदू हो जायगा। फलतः इस प्रवृत्ति का मिश्रण दैन्य मूलप्रवृत्ति से हो जायगा। बालक अपने को छोटा समझेगा। उसके आत्मगौरव की भावना यहाँ तक मारी जायगी कि कभी आत्म-प्रशंसा को सुन कर आश्चर्यचकित हो जायगा। वह सोचेगा 'क्या मुझमें भी ऐसी शक्ति और गुण हैं; इस प्रवृत्ति का शोधन हम व्यक्ति में पाप तथा अत्याचार से भागने की प्रवृत्ति उत्पन्न करने से कर सकते हैं। किसी पाठ्य विषय को याद कराने के लिये इस प्रवृत्ति का उपयोग ठीक नहीं। दण्ड का भय देकर बालक से कोई कार्य कराना बड़ा अमनोवैज्ञानिक है। इससे बालक में बड़ी बड़ी भावना-ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। इनके उत्पन्न होने से चरित्र में सदा के लिये एक दोष आ सकता है, क्योंकि इनसे मुक्ति पाना सरल नहीं।

२—युयुत्सा (कमबैट)— (Combat)

इसका विकास आठ या नव वर्ष के बाद; बच्चे की रक्षा के हेतु अथवा अन्य मूल-प्रवृत्यात्मक क्रियाओं में बाधा इसका ज्ञानात्मक अङ्ग; इसका संवेग क्रोध।

लड़ने की प्रवृत्ति को युयुत्सा कहते हैं। आठ या नव वर्ष के बाद इस प्रवृत्ति का विकास बालक में भली भाँति देखा जाता है। यह मूलप्रवृत्ति प्रत्येक चेतन प्राणी में पाई जाती है। अपने बच्चे को किसी प्रकार हानि पहुँचते देख प्राणी में इस प्रवृत्ति का क्रियाशील हो जाना बड़ा स्वाभाविक है। बहुत सीधी गायें अथवा भैंसें अपने बच्चे की रक्षा हेतु मारने के लिये बड़ी शीघ्रता से झपटती हैं। पिल्ले के पास जाते ही कुतिया भाँव भाँव करने लगती है। यदि अपने बच्चे को छूते किसी मनुष्य को बन्दर देख ले तो उसकी जान पर आ पड़ेगी। अन्य मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाओं में बाधा पड़ने से भी युयुत्सा की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। काम-तृप्ति, भोजनान्वेषण, संग्रह अथवा विधायकता आदि प्रवृत्ति में क्रियाशील प्राणी बाधा

पाने पर लड़ने के लिये स्वभावतः तैयार हो जाता है। युयुत्सा प्रवृत्ति बाधा को जीतने के लिये ही जागृत होती है। अर्थात् ये सब बातें युयुत्सा प्रवृत्यात्मक क्रिया के ज्ञानात्मक अङ्ग हैं। इस प्रवृत्ति से सम्बद्ध संवेग 'क्रोध' है। क्रोध के उत्पन्न होने से युयुत्सा प्रवृत्ति क्रियाशील हो सकती है।

दुष्परिणाम—

इसके अनियन्त्रण से व्यक्ति का नाश।

युयुत्सा की प्रवृत्ति विनाशक मानी जाती है। यदि इस पर ठीक से नियन्त्रण न किया जाय तो व्यक्ति अपना नाश करते हुए समाज के लिये भी घातक सिद्ध हो सकता है। कुछ घरों में बड़े ऊधमी बालक पाये जाते हैं। उनके कारण माता-पिता के नाकों दम रहता है। 'कहीं इसको मारा, कहीं उसको पटका'—उनका स्वभाव सा हो जाता है। बालक की ऐसी मनोवृत्ति अधिक लाड़-प्यार से ही बनती है। यदि बालक की इस प्रवृत्ति पर रोक न लगाई गई तो सम्भव है कि वह अपने कुव्यवहार से सदा दूसरे को शत्रु ही बनाता रहे।

युयुत्सा के मूल में संगठन की भावना निहित; इसके शोधन से सफलता प्राप्ति के लिये निरन्तर परिश्रम करने की आदत; इसके शोधन से अधर्म, असत्य, हिंसा और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रवृत्ति का उत्पन्न होना।

युयुत्सा प्रवृत्ति का शोधन व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिये बड़ा ही हितकर सिद्ध होता है। यदि यह प्रवृत्ति अपने में ही केन्द्रित हो जाय तो चरित्र का विकास आदर्श रूप हो सकता है। इस प्रवृत्ति के मूल में संगठन की भावना निहित हो सकती है। व्यक्ति अपने शत्रु पर विजय पाने के लिये अपने मित्रों का संगठन कर सकता है। संगठन से मनुष्य का अनुभव बढ़ता है और उसमें विभिन्न शक्तियों का विकास होता है। स्पष्ट है कि इस प्रवृत्ति की कमी से व्यक्ति तथा समाज सदा शत्रुओं से त्रस्त किया जा सकता है। इस प्रवृत्ति के शोधन पर गत अध्याय में प्रसंगवश प्रकाश डाला जा चुका है। इस प्रवृत्ति के मनोवैज्ञानिक उपयोग के द्वारा शिक्षक बालकों में सफलता न मिलने तक निरन्तर परिश्रम करने की आदत उत्पन्न कर सकता है। जीवन में अनेक ऐसी विषम परिस्थितियाँ आती हैं जिनसे लड़ना मानवोचित होता है। अतः शिक्षकों और अभिभावकों को बालक की इस प्रवृत्ति का अवदमन नहीं करना चाहिये, अन्यथा वह निश्चय ही भीरु हो जायगा। हॉकी व फुटबॉल इत्यादि सामूहिक खेलों में युयुत्सा प्रवृत्ति का उपयोग बड़े शोधित ढङ्ग में किया जा सकता है। इन खेलों द्वारा बालकों में आत्म-त्याग की भी भावना जागृत की जा सकती है। युयुत्सा प्रवृत्ति के शोधित होने से व्यक्ति अपनी कुप्रवृत्तियों पर विजय पा समाज में प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर सकता

फेंकने में असमर्थ हो जाते हैं। उन पत्तों को बालक ने हाथी के सूँड़ के सदृश अपने हाथों से अपने मुँह में डाला है। उनमें उसका मुख-रस लगा है। उसे कैसे फेंका जाय !!! यह सब 'सहचारिता-नियम' के अनुसार वात्सल्य-रस का ही प्रकाशन है। अत्याचार तथा क्रूरता को देख कर हम विचलित हो जाते हैं। यह भी वात्सल्य-रस का ही फल है। पर कुछ मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि यह वृत्ति सहानुभूति-शक्ति (पॉवर ऑव् सिम्पथी) से उत्पन्न होती है। मैग्डूगल इस धारणा का खण्डन करते हुए कहता है कि सहानुभूति के उत्पन्न होने से व्यक्ति दुखद परिस्थिति से स्वभावतः दूर जाकर अपने हृदय को शान्ति देने का प्रयत्न करता है। पर वात्सल्य-रस में सना हुआ व्यक्ति परिस्थिति से जान नहीं बचाता, अपितु अपने को उसके साथ एकमग्र बना कर उसके दुख-निवारण की चेष्टा करता है।

सभ्यता की सभी अच्छी बातों का मूल पुत्र-कामना प्रवृत्ति में।

जीवों के विकास में पुत्र-कामना की प्रवृत्ति का विशेष महत्त्व है। इस प्रवृत्ति के बिना छोटों तथा निर्बलों की रक्षा ही नहीं हो सकती। सभ्यता की सभी अच्छी बातों का मूल इस प्रवृत्ति में निहित है। इसी प्रवृत्ति के आधार पर पेस्तालॉजी के सिद्धान्त के अनुसार हम "स्कूल को प्यार का घर बना सकते हैं।*

५—शरणागति (अपील)

यह मूलप्रवृत्ति भी सभी प्राणियों में पाई जाती है। इसका विकास प्रायः युयुत्सा के साथ होता है। हमने देखा है कि अन्य मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाओं की असफलता पर 'शरणागति' जागृत होती है। इस प्रकार 'शरणागति' का ज्ञानात्मक अङ्ग युयुत्सा की असफलता है। 'कष्ट का होना' इसका संवेगात्मक अङ्ग है। सहायता के लिये चिल्लाना इसका क्रियात्मक भाग है। शरणागति का रूप भी 'पुत्र-कामना' के सदृश् हम विभिन्न रूपों में देखते हैं। किसी उच्च उद्देश्य की पूर्ति के लिये चन्दा इकट्ठा करना अथवा शत्रु के आक्रमण से देश की रक्षा के हेतु सेना में प्रवेश के लिये प्रार्थना आदि 'शरणागति प्रवृत्ति' का ही प्रकाशन है। पानीपत के मैदान में हारता हुआ बाबर इसी प्रवृत्ति के

युयुत्सा की असफलता से शरणागति प्रवृत्ति का जागृत होना, 'कष्ट का होना' इसका संवेगात्मक अङ्ग, शरणागति का रूप विभिन्न प्रकार का, शरणागति के प्रकाशन में दैन्य भाव का संचार नहीं।

---

* लेखक द्वारा रचित 'पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास' प्रथम संस्करण पृष्ठ १६०–१६१, प्र० लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १९४९।

सहारे विजयी हुआ। इसी प्रवृत्ति के सहारे भारतीय काँग्रेस के कर्णाधारों ने स्वराज्य प्राप्त किया। 'शरणागति' प्रवृत्ति के प्रकाशन की भी एक विशिष्ट पद्धति होती है। सब इसमें 'सफल नहीं हुआ करते। मूर्ख गड़रिये के लड़के के सदृश् "भेड़िया आया, भेड़िया आया" चिल्लाने से इसकी प्रवृत्त्यात्मक क्रिया वांछित फल नहीं प्राप्त कर सकती। हाँ, हम मानते हैं कि 'पुकार' कर देने तक ही इस प्रवृत्ति की सीमा होती है। पर पुकार के उपयुक्त समय की समझ अन्य शक्तियों के सुसंगठन पर ही आ सकती है। अतः समय की अनुकूलता व उपयुक्तता एवं पुकार की विशेष व अनूठी शैली ही इसकी सफलता की कुञ्जी है। शिक्षक को बालकों को अच्छी प्रकार समझा देना है कि 'शरणागति' के प्रकाशन से दैन्य-भावना का संचार न होकर आत्माभिमान की अनुभूति होनी चाहिये। यह अनुभूति निस्वार्थता से ही प्राप्त हो सकती है, इसीलिये गीता में निष्काम कर्म का उपदेश दिया गया है।

६—काम-मूलप्रवृत्ति (सेक्स) (Sex)

काम-मूलप्रवृत्ति के विषय में गत अध्याय में भी कुछ उल्लेख किया जा चुका है। पर यहाँ हम इसका कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे। काम-प्रवृत्त्यात्मक क्रिया का ज्ञानात्मक अङ्ग किसी भिन्न लिङ्ग के सुन्दर व्यक्ति की उपस्थिति तथा उत्तेजना देने वाले कुछ अङ्गों का देखना है। भोजनान्वेषण के सदृश् यह प्रवृत्ति रुच्यात्मक (ऐपीटाइटिव्) है, अर्थात् इसकी क्रियाशीलता शारीरिक अथवा मानसिक स्थिति पर निर्भर है। उदाहरणार्थः बीमारी, थकावट अथवा क्रोध की दशा में यह प्रवृत्ति नहीं भी उत्तेजित हो सकती। तथापि प्रायः ऐसा भी देखा गया है कि कुछ दुर्बल व्यक्तियों में इसका वेग अधिक तीव्र, यद्यपि क्षणिक, होता है; क्योंकि शारीरिक दुर्बलता के साथ साथ उनमें मानसिक दुर्बलता भी आ जाती है और इस प्रकार उठे हुए काम-वेग को नियन्त्रित करने में दुर्बल हृदय वाला व्यक्ति समर्थ नहीं हो पाता। दुर्बलता के कारण उसकी ज्ञानवाहिनी शिरायें इतनी क्षीण पड़ जाती हैं कि वह उनके ऊपर से अपना अधिकार खो बैठता है। 'इच्छा-शक्ति' के दुर्बल होने से भी मनुष्य काम-प्रवृत्ति का शिकार हो जाता है। इसका संवेगात्मक अङ्ग कामुकता है। मनोवैज्ञानिकों ने काम-प्रवृत्ति को सभी प्रवृत्तियों से प्रबलतम बतलाया है। फ्रॉयड तो इसे मूलशक्ति मानता है। बहुधा लोग सोचते हैं कि इस प्रवृत्ति का विकास किशोरावस्था में ही होता है। पर आधुनिक मनोविज्ञान ने इस धारणा को गलत सिद्ध कर दिया है। इसके अनुसार छोटे से छोटे शिशु में भी काम-प्रवृत्ति वर्तमान रहती है। केवल उसके प्रकाशन

भिन्न लिङ्ग के किसी सुन्दर व्यक्ति तथा उसके उत्तेजक अङ्ग का देखना इसका ज्ञानात्मक अङ्ग; रुच्यात्मक; संवेग—'कामुकता'; छोटे बालक में भी यह प्रवृत्ति वर्तमान, पर प्रकाशन-विधि में भेद।

विधि में ही भेद होता है। प्रौढ़ व्यक्ति इस प्रवृत्ति का प्रकाशन प्राय: अपने भिन्न लिङ्ग के व्यक्ति की ओर से उद्दीपन मिलने पर करता है। अपना सभी प्रकार से शृङ्गार कर वह उसको आकर्षित करता है। मनोविश्लेषणवादियों का कथन है कि बालक अपनी इस प्रवृत्ति का प्रकाशन स्तन पीने, अँगूठा चूसने तथा मल-त्याग, तथा माता व पिता के प्रति प्रेम के द्वारा करता है। इस प्रकार व्यक्ति में जन्म से ही काम-प्रवृत्ति वर्तमान रहती है।

काम-प्रवृत्ति के विकास की चार अवस्थाएँ—

मनोविश्लेषणवाद के अनुसार काम-प्रवृत्ति के विकास की चार अवस्थाएँ होती हैं। अरनेस्ट जोन्स के अनुसार ये अवस्थाएँ बालक के मनोविकास की हैं। पहली अवस्था शैशव की है। इसमें शिशु अपने आप से तथा अपने लिङ्ग-भेद के अनुसार माता अथवा पिता से प्रेम करता है। बहुधा देखा जाता है कि पुत्र का अनुराग माँ पर और पुत्री का अनुराग पिता पर होता है। पुत्र अपने तथा माता के बीच में पिता का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करता। उसके हृदय में अपने पिता के प्रति एक प्रकार की अज्ञात प्रतिद्वन्दितापूर्ण ईर्ष्या हो जाती है। यह पुत्र का माँ के प्रति आकर्षण लिङ्ग-भेद के कारण होता है। बाल्यकाल में इस प्रवृत्ति का रुख अपने वर्ग के साथियों की ओर हो जाता है।

शैशव में अपने से तथा माता अथवा पिता से; बाल्यकाल में साथियों के प्रति; इसका वास्तविक रूप किशोरावस्था में, प्रौढ़ावस्था इस प्रवृत्ति के लिये स्वस्थकर।

इस काल में अभिभावकों को बड़ा सतर्क रहना है। उन्हें बालकों पर कड़ी दृष्टि रखनी चाहिये, जिससे उनमें कोई बुरी आदत न पड़ जावे। पर इस बुरी आदत के डर से बालक को उसके साथियों के संग से वञ्चित कर देना अमनोवैज्ञानिक होगा। बालक का अपने वर्गीय साथियों के प्रति प्रेम एकदम स्वाभाविक है। अतः इसमें किसी प्रकार की रोक डालने से कुछ अच्छे गुणों का प्रादुर्भाव रुक जायगा। इसी समय बालक सहानुभूति, प्रेम, आज्ञापालन तथा दूसरों के ऊपर नियन्त्रण का गुण सीखता है। काम-प्रवृत्ति का वास्तविक रूप किशोरावस्था में दिखलाई पड़ता है। इस प्रवृत्ति की प्रबलता से व्यक्ति विभिन्न विधियों से अपनी चेष्टाओं का प्रदर्शन करता है। संवेग की दृष्टि से इस काल के महत्व पर हम तीसरे अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। यदि विभिन्न संवेगों पर समुचित नियन्त्रण न किया गया तो व्यक्ति पर भारी मानसिक क्षति की आशङ्का हो जाती है। नैतिक भावनाओं का विकास भी इसी काल में परिपक्व होता है। अतः यह काल सब-दृष्टि से महत्वपूर्ण है। काम-प्रवृत्ति के विकास का चौथा काल प्रौढ़ावस्था का है। इस प्रवृत्ति के लिये यह काल स्वस्थकर है। इस समय व्यक्ति के अनियन्त्रित होने की कम सम्भावना रहती है। इस काल में

वह किसी भिन्न लिङ्ग के व्यक्ति को अपना प्यार देकर अपनी प्रवृत्ति की तृप्ति करता है।

काम-प्रवृत्ति के अवदमन के दुष्परिणाम—

यह निर्विवाद है कि काम-वासना सर्वमुखी है। इतिहास इसका प्रमाण है। यूनान के इतिहास में पुत्र और माता का तथा मिस्र में भाई-बहिन के काम-वासना सम्बन्धी प्रेम का प्रमाण मिलता है। हिन्दुओं में भी ब्रह्मा की अपनी पुत्री से सम्बन्धित कामान्धता प्रसिद्ध है। व्यभिचार तथा अप्राकृतिक ढङ्ग से काम-वासना तृप्ति के उदाहरण बहुधा सुनने और पढ़ने को मिलते हैं। इससे काम-वासना की सर्वमुखता सिद्ध होती है। अतएव इसके अवदमन के लिये समाज ने विभिन्न आचार व व्यवहार सम्बन्धी नियमों का निर्माण किया है। पर यह सत्य है कि इस प्रबलतम प्रवृत्ति का अवदमन असम्भव है। जो अपनी काम-प्रवृत्ति का समाज की दृष्टि में अवदमन करने में सफल होता है वह साधु व महात्मा माना जाता है। पर हम इस प्रवृत्ति का कितना ही अवदमन क्यों न करें, इसका प्रकाशन हो ही जाता है। अश्लील व्यवहार व गालियाँ, कुस्वप्न, भूलें तथा सांकेतिक चेष्टाएँ सब हमारी काम-प्रवृत्ति के अवदमन के परिणाम हैं। अतः स्पष्ट है कि लाख चेष्टा करने पर भी काम-प्रवृत्ति किसी न किसी प्रकार अपना प्रकाशन कर ही लेती है। यदि इस प्रवृत्ति की तृप्ति में किसी प्रकार की बाधा डाली गई तो विभिन्न प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक रोगों का डर हो जाता है। व्यक्ति विक्षिप्त सा रहता है। यदि 'हींग' खरीदने के लिये भेजा जायेगा तो वह 'जीरा' खरीद लायेगा। कहीं जायगा तो अपनी वस्तुएँ वहीं छोड़ देगा। भिन्न लिङ्ग के व्यक्तियों का संग उसे बड़ा पसन्द आयेगा। उसके कार्यक्रम में कोई नियम न दिखलाई पड़ेगा। बात बात में वह दूसरों पर अपना क्रोध उतारा करेगा। वह अपनी साधारण शारीरिक आवश्यकता पूरी करने में असहाय सा दिखलाई पड़ सकता है। वास्तव में ऐसा व्यक्ति दयनीय है। काम-वासना के अतृप्त रहने अथवा अनुचित रूप से दबाये जाने के कारण बहुधा स्त्रियों को मृगी का भयङ्कर रोग लग जाता है। इस सम्बन्ध में टेन्सले* महोदय का मत उल्लेखनीय है। आपका कहना है कि "मनुष्य के जीवन की मार्मिक और घातक घटनाओं का कारण काम-वासना के प्रकाशन का अवदमन ही है। यदि उसकी काम-प्रवृत्ति का अवदमन न हो तो उसके जीवन में ये अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न ही न हो।" फ्रॉयड महोदय

काम-वासना की सर्वमुखता; इसका अवदमन असम्भव; अश्लील व्यवहार, कुस्वप्न तथा गालियाँ इत्यादि काम-प्रवृत्ति के अवदमन के परिणाम, इसके अवदमन से भयानक शारीरिक और मानसिक रोग का भय।

के अनुसार वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की कलह काम-प्रवृत्ति के अनुचित अवदमन का ही कुपरिणाम है। हम अपनी पाशविक प्रवृत्तियों के छिपाने की चेष्टा किया करते हैं। इस चेष्टा से हम अपने तथा दूसरों को धोखा दिया करते हैं। यदि हम यह धोखा न दें तो हमारे मन में जटिल ग्रन्थियाँ न पड़ेंगीं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि हम अपने पाप को दूसरे से बतला देंगे तो उससे हमारी मुक्ति हो जायगी। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। फ्रॉयड ने इसे अपने रोगियों की परिचर्या के आधार पर सिद्ध कर दिया है। उसने रोगियों की लज्जास्पद स्मृतियों को चेतन मन के पट पर लाकर उन्हें स्वस्थ बना दिया।

काम-प्रवृत्ति का शोधन—

समाजोपयोगी कार्य में लगाना इसका शोधन; समाज-सेवा, कला, साहित्य, विज्ञान तथा ईश्वर-भक्ति में प्रेम काम-प्रवृत्ति के शोधन का परिणाम; समय का स्वस्थ कार्यों में व्यतीत करना इसके शोधन का सबसे बड़ा साधन।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि काम-प्रवृत्ति के अवदमन का परिणाम बड़ा भयङ्कर होता है। काम-शक्ति को भोग-विलास से हटा कर समाजोपयोगी कार्य में लगा देने को उसका शोधन करना कहा जाता है। ऊपर यह कहा गया है कि काम-शक्ति का अवदमन पूर्णतः नहीं किया जा सकता। पर उसकी अधिकांश शक्ति मानसिक कार्यों द्वारा प्रकाशित की जा सकती है। यदि किसी व्यक्ति के जीवन में ऐसा सम्भव हो सका तो उसकी भोग-विलास से घृणा हो जायगी। अत्यधिक मानसिक कार्यों में संलग्न रहने से काम-क्रिया की ओर दृष्टि ही नहीं जाती। पर इन कार्यों में ढिलाई करने से भोग-विलास की वृत्ति आ घेरती है। जिसने स्वेच्छानुसार अपनी काम-शक्ति पर नियन्त्रण कर लिया है उसका अधिकांश समय समाज-सेवा, कला, साहित्य, विज्ञान तथा ईश्वर-भक्ति में व्यतीत होता है। संसार के महापुरुषों के जीवन-चरित्र से विदित होता है कि उनकी भोग-विलास में विशेष रुचि न थी। उत्कृष्ट कोटि की कला तथा साहित्य का निर्माण भोगेच्छा से विरक्ति का ही परिणाम हो सकता है। अतः अभिभावक को चाहिये कि वे बालक की काम-प्रवृत्ति के शोधन का प्रयत्न करें। इसके लिये यह देखना है कि बालक कभी बेकार न रहे। उसके सर पर किसी न किसी प्रकार का कार्य-भार सदैव रखना चाहिये। खेल-कूद, हॉकी, फुटबॉल तथा बागवानी इत्यादि में उसकी शक्तियों का उपयोग बड़ी सरलता से किया जा सकता है। यदि बालक का समय इस प्रकार स्वस्थ कार्यों में व्यतीत होगा तो उसकी काम-प्रवृत्ति अपने आप सुमार्ग की ओर नियमित हो जायगी।

७—जिज्ञासा (क्यूरिऑसिटी) (Curiosity)

जिज्ञासा की मूलप्रवृत्ति सभी चेतन प्राणियों में पाई जाती है। बाजा बजते

हुए सुन भैंस अपने कान खड़े कर इधर उधर देखने लगती है। बालकों में इस प्रवृत्ति का उदय उनकी चेतनता से प्रारम्भ हो जाता है। बहुधा इस प्रवृत्ति की क्रियाशीलता अन्य मूलप्रवृत्तियों के सम्बन्ध में हुआ करती है। यदि व्यक्ति अपनी किसी मूलप्रवृत्ति को उत्तेजित करने वाली वस्तु को देख कर उसे समझ नहीं पाता तो उसकी जिज्ञासा-प्रवृत्ति स्वभावतः उत्तेजित हो जाती है। अतः किसी रहस्य को न समझना इसका ज्ञानात्मक अंग हुआ। रहस्य के न समझने पर 'आश्चर्य' का होना इसका संवेगात्मक अंग हुआ। विशिष्ट वस्तु की परीक्षा करते हुए उसे जानने की क्रिया इसकी प्रवृत्यात्मक क्रिया हुई। बालक सदा नई वस्तुओं को देखना चाहता है। यदि बाहर कुछ विचित्र ध्वनि हुई तो बाहर निकल कर उसे वह समझना चाहता है। उसका चित्त नई वस्तुओं को देख कर बड़ा प्रसन्न होता है। छोटा बच्चा चाहता है कि उसे कोई गोद में लेकर बाहर घुमाते हुए नई नई वस्तुएँ दिखलावे। बालक का अनुभव नित्य कुछ नई वस्तुओं से हुआ करता है। अवसर पाने पर ही वह अपने बड़ों से प्रश्न पूछने लगता है। उसके इन प्रश्नों से बड़ों का ऊबता जाना स्वाभाविक हो सकता है, पर मनोवैज्ञानिक नहीं। अमनोवैज्ञानिक अभिभावक बहुधा बच्चों को डाँट दिया करते हैं। इससे बच्चों की कोमल वृत्तियों पर बड़ी ठेस लगती है। यहीं से भावना-ग्रन्थियों का बीजारोपण प्रारम्भ हो जाता है। जो बातें बड़ों के लिये साधारण सी हो सकती हैं वही बच्चों के लिये असाधारण। बच्चा अभी अभी संसार-क्षेत्र में उतरा है। उसे सारी बातें समझ कर अपने को संसार में रहने योग्य बनाना है। यह विकास की प्राकृतिक क्रिया है जो उसके अन्दर अलक्षित रूप से कार्यशील है। यदि जिज्ञासा की प्रवृत्ति उसमें न हो तो वह एकदम मूढ़ हो जाय। कभी कभी बच्चों के प्रश्न ऐसे होते हैं कि उनका उत्तर देना सरल नहीं। कभी तो उत्तर देना असम्भव भी हो जाता है। पर इस पर भी उन्हें डाँटना मनोवैज्ञानिक नहीं। सरलता से उन्हें सारी बातें समझा देने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि उत्तर असम्भव हुआ तो उसके विषय में भी बालक के सन्तोष के लिये कुछ अवश्य ही कहा जा सकता है। किन्तु स्मरण रहे कि बालक की जिज्ञासा को शान्त करने के लिये किसी गलत उत्तर का दे देना ठीक नहीं, क्योंकि तब उसका तत्सम्बन्धी संस्कार स्थायी होकर उसके लिये हानिप्रद प्रमाणित होगा। गलत उत्तर देने की अपेक्षा विस्मरण कुछ सीमा तक रुचिकर हो सकता है। प्रारम्भ में बालक की जिज्ञासा बहुत गहराई तक नहीं जाती। उसके प्रश्न प्रायः बहुत साधारण ही हुआ करते हैं। उम्र तथा अनुभव के बढ़ने पर उसकी जिज्ञासा की प्रौढ़ता भी बढ़ जाती है। बालकों की शिक्षा की व्यवस्था उनकी जिज्ञासा प्रवृत्ति के अनुसार ही

जिज्ञासा की क्रियाशीलता अन्य मूलप्रवृत्तियों के सम्बन्ध में, किसी रहस्य को न समझना इसका ज्ञानात्मक अंग; आश्चर्य का होना इसका संवेगात्मक अंग, बालक के प्रश्नों का सहानुभूतिपूर्वक उत्तर देना आवश्यक।

करनी चाहिये। पहले वस्तुओं का सामान्य ज्ञान ही देना पर्याप्त होगा। सूक्ष्मतम विश्लेषण समझना उनके लिये कठिन होगा। कभी कभी बालक के मन में जिज्ञासा उत्पन्न करना भी वांछनीय हो सकता है। यह उसके ज्ञान-प्रसार में सहायक होगा।

जिज्ञासा के अवदमन के दुष्परिणाम—

जिज्ञासा प्रवृत्ति के अवदमन से बालक की मानसिक शक्ति की वृद्धि रुक जाती है। इतना ही नहीं, वरन् उसमें भावना-ग्रन्थियाँ भी पड़ जाती हैं। यदि प्रश्न पूछते समय बालक पर बहुधा डाँट पड़ी तो उसके मन में एक भय उत्पन्न हो जाता है। किसी बात के पूछने में उसे सदा भय लगता है। अच्छी बात को भी वह भयवश नहीं पूछता। उसे डर लगा रहता है कि कहीं मूर्ख का विशेषण न उसे मिल जाय। इस प्रकार वह कोई बात पूछता ही नहीं। भावनाओं और प्रश्नों की लपेट में वह भीतर ही भीतर भूसे से सदृश सुलगा करता है। ऐसी स्थिति में उसका मानसिक विकास कैसे हो सकता है? प्रौढ़ हो जाने पर भी उसका यही स्वभाव बना रहता है। वह किसी के सामने कुछ कहने या पूछने में लज्जा करता है।

जिज्ञासा के अवदमन से मानसिक विकास का रुकना, इसके अवदमन से दूसरे के विषय में न जानने योग्य बातों के जानने की इच्छा का उत्पन्न होना, काम-सम्बन्धी कुचेष्टाएँ अवदमन की हुई जिज्ञासा का कुफल।

मूलप्रवृत्तियों का पूर्णतः अवदमन नहीं होता। अतः अवदमन की हुई जिज्ञासा प्रवृत्ति का भी प्रकाशन होता ही है। इस प्रवृत्ति के अवदमन से व्यक्ति दूसरे के विषय में न जानने योग्य बातें जानने के लिये उत्सुक हो जाता है। कमरे में दो व्यक्तियों को बात करते देख उनकी बातों को सुनने की प्रबल इच्छा उसमें हो जाती है। दरवाजे या खिड़की की आड़ में से वह सुनने की चेष्टा करता है। दूसरे के पत्र में क्या लिखा है इसे जाने बिना उसे चैन नहीं मिलता। वह किसी अज्ञात व्यक्ति के आने पर उसके विषय में उसके मित्र से व्यर्थ की बातें पूछा करता है। हमारी सामाजिक परम्परा ऐसी है कि स्त्रियों की जिज्ञासा प्रवृत्ति का बहुधा अवदमन किया जाता है। यही कारण है कि उनमें उपर्युक्त बुरी आदतें सरलता से आ जाती हैं। मनोविश्लेषणवादियों की धारणा है कि काम सम्बन्धी अनेक कुचेष्टाएँ अवदमन की हुई जिज्ञासा से उत्पन्न भावना-ग्रन्थियों के ही कुफल हैं।

जिज्ञासा प्रवृत्ति सदा नई बात जानने के लिये क्रियाशील रहती है। पर यदि वस्तु एकदम नवीन हुई तो सम्भव है कि बालक उसके विषय में कोई भी उत्सुकता न दिखलावे। बालक को एकदम नई वस्तु आकर्षित नहीं करती। यदि नई वस्तु का उसके गत अनुभव से कुछ सम्बन्ध होता है, तभी वह उसकी ओर झुकता है। अतः

एकदम नवीन वस्तु से

बालक की रुचि नहीं, पुरानी वस्तु की नवीनता से वह आकर्षित, अतः पाठ का 'पूर्व-संचित-ज्ञान'से सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक।

शिक्षकों को चाहिये कि पाठ्य-वस्तु को एकदम नवीनता के रूप में उनके सामने न उपस्थित करें। बालकों के 'पूर्वसंचित ज्ञान' (अपरसेप्टिव मास) पर सदैव ध्यान रखना चाहिये। कितना ही नया विषय क्यों न हो, उसे इस प्रकार उपस्थित किया जाय कि बालक अनुभव करे कि वह उसके पूर्व ज्ञान की ही अगली सीढ़ी है। इस सिद्धान्त पर चलने से शिक्षक पाठ में बालक की रुचि उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार प्रत्येक पाठ में नया और पुराना दोनों का समावेश आवश्यक है। इसी मनोवैज्ञानिक भित्ति के आधार पर हरबर्ट स्पेन्सर के सर्वमान्य 'परिचित से अपरिचित' अथवा 'ज्ञात से अज्ञात' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

परिवर्त्तनशील तथा गहरे रंग की वस्तुओं की ओर बालक का आकर्षित होना, प्रकृति-निरीक्षण आवश्यक, विज्ञान का चमत्कार जिज्ञासा के शोधन का फल।

प्रारम्भ में बालक परिवर्त्तनशील वस्तुओं की ओर अधिक आकर्षित होता है। गहरे लाल, पीले अथवा हरे रंग की वस्तुएँ भी उसका ध्यान अपनी ओर खींच लेती हैं। अतएव शिक्षा-शास्त्रियों ने बालकों की शिक्षा में भाँति भाँति के खिलौने तथा चित्रों के उपयोग का निर्देश किया है। स्पष्ट है कि सिनेमा तथा मेजिक लालटेन द्वारा शिक्षा से उन पर अधिक प्रभाव पड़ेगा। बालकों की केवल स्मरण-शक्ति अथवा शब्द-ज्ञान बढ़ाना ही पर्याप्त नहीं। यदि उनकी शिक्षा यहीं तक सीमित रखी जाय तो उनकी उन्नति शीघ्र ही रुक जायगी। उनकी उत्सुकता मर जाती है। स्मरण रखना है कि बालक के सारे ज्ञान का स्रोत उसकी उत्सुकता ही है। इसके लिये यदाकदा नये नये स्थानों में ले जाकर उसे प्रकृति-निरीक्षण के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। इस प्रकृति-निरीक्षण द्वारा बालक को यह समझाना है कि अमुक वस्तु का प्रकृति अथवा सृष्टि में क्या स्थान है। इसी प्रवृत्ति के बढ़ने से ही विज्ञान अथवा दर्शन के उत्कर्ष में आगे चल कर बालक हाथ बटा सकते हैं। वस्तुतः विज्ञान का सारा चमत्कार जिज्ञासा प्रवृत्ति के शोधन का ही परिणाम है।

प्रकृति-निरीक्षण के समय कुछ सामान्य वस्तुओं की बालकों से चर्चा कर देना आवश्यक।

बालक की जिज्ञासा प्रारम्भिक दिनों में इन्द्रिय-ज्ञान-सम्बन्धी वस्तुओं तक ही सीमित रहती है। सर्वप्रथम वह सभी वस्तुओं का नाम जानना चाहता है। नाम जानने के बाद वह उनके सम्बन्ध में सोचना प्रारम्भ कर देता है। यह सोचना उसके मन के अन्दर कई नवीन प्रश्नों के रूप में होता है। पर वह इन प्रश्नों का उत्तर निकालने में असमर्थ होता है। अभिभावकों को

चाहिये कि वे कम से कम दो तीन बार प्रकृति-निरीक्षण के समय कुछ सामान्य वस्तुओं को लेकर बालकों के सामने उसकी भलीभाँति चर्चा कर दें। यह चर्चा बालक के मानसिक विकास की सीमा के अन्दर ही हो, अन्यथा इससे उसे कुछ लाभ न होगा। बालकों में नई वस्तुओं के शीघ्र सीख लेने की विशेष क्षमता होती है। यदि दो तीन बार वह ऐसी चर्चा सुन सका तो बाद में उसी के अनुसार अन्य वस्तुओं को समझने की वह चेष्टा करता रहेगा।

क्रिया सम्बन्धी जिज्ञासा, गुण जानने की जिज्ञासा, वस्तु के भूत व भावी रूप और क्रिया के विषय में जानना, कार्य-कारण-भाव-सम्बन्धी जिज्ञासा,—इन विभिन्न प्रकार पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि आवश्यक।

वस्तु-ज्ञान के बाद बालक की जिज्ञासा क्रिया सम्बन्धी हुआ करती है। माँ या पिता को देख कर वह पूछता है: 'तुम क्या कर रहे हो?' इसी प्रकार वह अन्य प्रश्न भी किया करता है। इस समय चित्र की सहायता से उसे हम अनेक क्रियाओं का ज्ञान करा सकते हैं। उनकी कल्पना-शक्ति को इससे बड़ी उत्तेजना मिलती है। क्रिया-ज्ञान के बाद बालकों में वस्तुओं के गुण जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इस जिज्ञासा के विकास में शिक्षक बड़ी सहायता दे सकता है। किसी पदार्थ को उपस्थित करते समय शिक्षक पूछ सकता है—'यह पदार्थ किस रंग का है?' 'यह गोल, लम्बा अथवा चौकोर है?' 'इसकी गन्ध कैसी है?' इसकी सूरत कैसी दिखलाई पड़ती है?' 'यह कठोर वा कोमल प्रतीत होता है?' इत्यादि। इस प्रकार के अभ्यास हो जाने पर किसी वस्तु के विषय में वह स्वयं ऐसे प्रश्नों को पूछेगा। इतना विकास हो जाने पर बालक वस्तु के भूत व भावी रूप तथा क्रिया के विषय में जानना चाहता है। बाहर से आते हुए पिता से वह पूछता है—'बाबूजी आप कहाँ गये थे?' इस प्रकार कल्पना की वृद्धि किसी प्रत्यक्ष पदार्थ को आधार बना कर की जा सकती है। जब कल्पना-शक्ति की वृद्धि हो जाती है तो बालक कार्य-कारण-भाव-सम्बन्धी जिज्ञासा प्रकट करता है। वह पूछता है—'बिजली क्यों कड़की?' 'वर्षा क्यों होती है?' जिज्ञासा के विकास की इन विभिन्न अवस्थाओं पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि नियन्त्रण किया जाय तो बालक निश्चय ही बड़ा प्रतिभाशाली होगा। जिज्ञासा प्रवृत्ति के उत्कृष्ट विकास से ही वैज्ञानिकों की उत्पत्ति होती है।

८—दैन्य (सबमिशन)—(Submission)

दैन्य मूलप्रवृत्ति का ज्ञानात्मक अङ्ग अपनी जाति के किसी बड़े सदस्य की 'उपस्थिति' है। इससे सम्बद्ध संवेग 'आत्महीनता' है। इसका क्रियात्मक अङ्ग अपने को एकदम उसके सामने समर्पण कर देना है।

'अपनी जाति के किसी

मैग्डूगल का कथन है कि इस प्रवृत्ति का शुद्ध रूप हम

बड़े सदस्य की उपस्थिति' इसका ज्ञानात्मक अंग; संवेग — 'आत्महीनता'; शिष्टाचार में इस प्रवृत्ति की छाप, कक्षा में विनय का स्थापन इसी प्रवृत्ति के सहारे।

किसी पालतू कुत्ते में देख सकते हैं। स्वामी के देखने पर कुत्ता उसके पैरों पर लोटने लगता है। अपने से बली किसी अन्य कुत्ते को देख कर जो उसका व्यवहार होता है वह भी दैन्य प्रवृत्ति का द्योतक ही है। प्रत्येक मनुष्य अपने से अधिक योग्य व्यक्ति के सामने नम्र रहता है। बालक अपने माता, पिता, शिक्षक अथवा अभिभावक के सामने विनम्र दिखलाई पड़ता है। वह अपने बड़े साथी के समक्ष विनीत भाव प्रदर्शित करता है। यह सब दैन्य प्रवृत्ति का द्योतक है। समाज में सङ्गठन लाने तथा प्रत्येक को अपने स्थान पर रखने के लिये दैन्य मूलप्रवृत्ति अत्यधिक सहायता करती है। हमारे सारे शिष्टाचार के मूल में इस प्रवृत्ति की छाप है। इस प्रवृत्ति के ही सहारे शिक्षक कक्षा में विनय स्थापित करने में सफल होता है। यदि मनुष्य में इस प्रवृत्ति का अभाव होता तो पता नहीं उसके समाज की क्या दशा होती। तब वह एक दूसरे के अनुभव से लाभ न उठा पाता। कदाचित् प्रत्येक को सब कुछ प्रारम्भ से ही करना और सीखना पड़ता।

दैन्य का दुरुपयोग—

बालक सब के प्रति दैन्य भाव नहीं दिखलाता। जिससे वह प्रेम करता है उसी की आज्ञा का पालन वह प्रसन्नता से करता है। दैन्य प्रवृत्ति बड़े लोगों के संपर्क संसर्ग में आने से जागृत होती है। इस प्रवृत्ति के दुरुपयोग से बालक एकदम निकम्मा हो जाता है। इस प्रवृत्ति की अधिकता से व्यक्ति में मानसिक दासता आ जाती है। ऐसा व्यक्ति अपना आत्म-सम्मान खोकर सदा दूसरों के आज्ञापालन के लिये तैयार रहता है। अधिक डाँट फटकार पाने से बालक में इस प्रवृत्ति की वृद्धि होती है। वह अपने को सर्वथा अयोग्य समझने लगता है। वह अपनी मौलिकता खो बैठता है। ऐसा व्यक्ति समाज में कभी प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

दैन्य प्रवृत्ति के दुरुपयोग से मानसिक दासता, अधिक डाँट व फटकार से बालक में दैन्य की प्रबलता।

६—आत्म-गौरव या आत्म-प्रदर्शन (सेल्फ़ असर्शन, या सेल्फ़ डिसप्ले)—

आत्म-गौरव अथवा आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति दैन्य की एकदम उलटी है। अपनी जाति के किसी छोटे सदस्य की उपस्थिति इसकी क्रिया का ज्ञानात्मक अंग है। इससे सम्बद्ध संवेग आत्माभिमान है। इसका क्रियात्मक अंग किसी प्रकार आत्म-शक्ति का प्रदर्शन है। इस प्रवृत्ति का विकास बालक की चेतनता से प्रारम्भ होता है।

'अपनी जाति के छोटे

सदस्य की उपस्थिति' इसका ज्ञानात्मक अंग; संवेग-'आत्माभिमान';बालक में अपने को सुन्दर, चतुर और महत्वपूर्ण दिखलाने की इच्छा; प्रत्येक अच्छे कार्य में आत्म-प्रदर्शन का भाव निहित।

कुछ बड़ा हो जाने पर बालक अपने को दूसरे की दृष्टि में सुन्दर, चतुर तथा महत्वपूर्ण दिखलाना चाहता है। बच्चे की पैर पटक कर चलने की आदत में आत्म-प्रदर्शन की ही छाप रहती है। उछल कर मटकते हुए चलना तथा अन्य हाव-भाव दिखलाना भी इसी प्रवृत्ति का अंग माना जा सकता है। नये कपड़े अथवा जूता पहनने पर छोटे बच्चे में आत्म-प्रदर्शन की भावना का जागृत हो जाना स्वाभाविक है। बाहर जाने की तैयारी में बालक प्रायः अपने सब से अच्छे कपड़े पहन कर जाने के लिये हठ करता है। इस आदत में भी उसके आत्म-प्रदर्शन की ही भावना निहित रहती है। आत्म-गौरव की प्रवृत्ति से ही प्रेरित होकर किसी न किसी कार्य में वह अपने साथियों से बाजी मार ले जाना चाहता है। दौड़ अथवा खेल में वह जीतना चाहता है। परीक्षा अथवा वादविवाद की प्रतियोगिता में वह सर्वप्रथम आना चाहता है। यह कहा जा सकता है कि हमारे प्रत्येक अच्छे कार्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में आत्म-प्रदर्शन का भाव छिपा रहता है।

बालक की इस प्रवृत्ति का उपयोग होना बड़ा आवश्यक है, अन्यथा वह उसका दुरुपयोग करने लगेगा। कभी कभी दूसरों को अपनी ओर आवर्षित करने के अभिप्राय से ही बालक झूठ बोलता है अथवा ऊधम मचाता है। यदि उसकी शक्ति के प्रदर्शन का उचित आयोजन न किया गया तो उसमें अनैतिकता की वृद्धि हो सकती है। अतः खेल-कूद तथा वादविवाद आदि की प्रतियोगिता का संगठन कर देना आवश्यक है, जिससे उसकी शक्तियों का स्वस्थकर रूप में उपयोग हो सके। इस प्रवृत्ति के अवदमन से व्यक्ति निर्बलों पर अत्याचार करना सीख सकता है। कुछ लोग भड़कीले अथवा रंग-बिरंगे पहनावे पहन कर बाजार में आकर अपना प्रदर्शन करते हैं। उनके बाल विचित्र प्रकार के बने रहते हैं। उनकी चाल में भी कुछ अकड़ देखी जाती है। कुछ लोग अपने में गम्भीरता का झूठा प्रदर्शन करना चाहते हैं। बातचीत करते समय यह उनके भाव तथा मुख मुद्रा से स्पष्ट प्रतीत होता है। यह उनके आत्म-प्रदर्शन का ही प्रतीक है। छोटे बालकों की धूम्रपान की आदत में आत्म-प्रदर्शन का ही भाव रहता है।

आत्म-प्रदर्शन प्रवृत्ति का उपयोग आवश्यक, इसके दुरुपयोग से अनैतिकता की वृद्धि, निर्बलों पर अत्याचार इस प्रवृत्ति के अवदमन का कुफल, गम्भीरता का झूठा प्रदर्शन, बालकों के धूम्रपान की आदत आत्मप्रदर्शन का ही एक रूप।

आत्म-प्रदर्शन प्रवृत्ति के अवदमन से व्यक्तित्व का ह्रास निश्चित है। अवदमन से व्यक्ति के चरित्र में शैथिल्य आ जाता है। अतः अभिभावकों को आत्म-गौरव प्रवृत्ति

का उपयोग बड़ी सतर्कता से करना चाहिये। यदि इस पर उचित ध्यान दिया गया तो बालक में दम्भ भावना नहीं उत्पन्न होगी। असत्य तथा आडम्बर से वह बचेगा। उसका चरित्र दूसरों के लिये आदर्शस्वरूप होगा। अच्छे कार्य के करने पर बालकों की प्रशंसा करना बड़ा ही मनोवैज्ञानिक है। यदि उचित मात्रा में ठीक ढंग से परिश्रम करने पर व्यक्ति को प्रशंसा नहीं मिलती तो उसका हृदय बैठ जाता है। एक लेखक ने अपना लिखा हुआ एकांकी नाटक फाड़ कर फेंक दिया, क्योंकि किसी ने उसकी प्रशंसा न की। आत्म प्रदर्शन तथा प्रशंसा पाने की ही इच्छा से कवि, लेखक, भाषणवक्ता तथा अन्य कलाकार कवि सम्मेलन तथा अन्य गोष्ठियों में अनेक कष्ट सह कर भी उपस्थित होते हैं।

आत्म-प्रदर्शन प्रवृत्ति के अवदमन से चरित्र में शैथिल्य; इसके शोधन से बालक का दम्भ; असत्य और आडम्बर से बचाव; अवसर पर बालकों की प्रशंसा मनोवैज्ञानिक।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति का रूप सामाजिक होता है। इस प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति ऐसा कार्य करना चाहता है जिससे लोग उसकी प्रशंसा अथवा स्मरण करें। बालक में भी यह भावना उसकी चेतनता से ही आ उपस्थित होती है। सामान्य बालक कितना ही निकम्मा क्यों न दिखलाई पड़ता हो, पर उसमें भी ऐसी शक्ति है जो दूसरे में नहीं। यह सत्य है कि हमारे प्रत्येक अवगुण के बदले हमें ईश्वर ने एक गुण भी दिया है। अभिभावकों और शिक्षकों का यह कर्त्तव्य है कि वे बालक में स्थित गुण के जानने का प्रयत्न करें और उसके मनोवैज्ञानिक विकास व प्रदर्शन का उचित आयोजन करें। यदि बालक पढ़ने में ढीला हुआ तो खेल में उसका आत्म-प्रदर्शन हो सकता है या कक्षा की मॉनीटरी में ही उसकी योग्यता का प्रदर्शन हो सकता है।

आत्म-प्रदर्शन प्रवृत्ति का रूप सामाजिक, बालक में एक न एक गुण अवश्य, उसका पता लगा कर उसके प्रदर्शन का आयोजन करना।

१०—सामूहिकता (ग्रीगेरियसनेस) Gregarious

सामूहिकता की प्रवृत्ति प्रत्येक चेतन प्राणी में पाई जाती है। इसका ज्ञानात्मक अंग अपनी जाति के किसी सदस्य की विशिष्ट 'गन्ध' अथवा 'ध्वनि' है। इससे सम्बद्ध संवेग एकाकीपन है। इस संवेग की उत्पत्ति से प्राणी अपनी जाति में जाकर मिल जाना चाहता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। एकाकीपन उसे पसन्द नहीं। उसके सामूहिक जीवन का आभास प्रारम्भ में ही मिल जाता है। अकेले कहीं छोड़ देने से बच्चा रोने लगता है। अन्य पशुओं के साथ रहने वाला

अपनी जाति के किसी सदस्य की ध्वनि अथवा गन्ध ज्ञानात्मक अङ्ग; संवेग--'एकाकीपन'; सामूहिकता सामाजिक

जीवन की भित्ति, इससे आत्म और जाति की रक्षा-प्रवृत्ति की पूर्ति।

पशु कभी अकेला हो जाता है तो हमें चिल्लाते चिल्लाते तङ्ग कर डालता है। मनुष्य के लिये एकाकी जीवन बड़ा ही अरुचिकर होता है। विशेष यातना देने के लिये कभी कभी अपराधियों को कालकोठरी में बन्द कर दिया जाता है। सामूहिकता ही हमारे सामाजिक जीवन की भित्ति है। इसी से सारे सामाजिक गुण मनुष्य प्राप्त करता है। किसी व्यक्ति से बहिष्कृत होने पर किसी प्रकार सान्त्वना मिल सकती है, पर जाति से बहिष्कृत होने पर मनुष्य मर जाना ही अच्छा समझता है। तुलसीदास ने ठीक ही कहा है:—"सबसे कठिन जाति अपमाना।" यदि मनुष्य समाज से अलग कर दिया जाय तो उसका जीना कठिन हो जायगा। गत अध्याय में कहा गया है कि सामूहिकता से आत्म व जाति की रक्षा-प्रवृत्ति की पूर्ति होती है। यदि समाज हित को भूल कर अपने ही स्वार्थ में सब लोग लीन हो जाँय तो संसार का सारा व्यापार ही बन्द हो जाय। अतः प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः ऐसा कार्य करता है कि समाज उससे प्रसन्न रहे। यदि उसका विकास मानवोचित हुआ तो वह समाज हित को ही अपना हित समझने लगता है।

सामूहिकता का विकास प्रायः जन्म से ही हो जाता है। माँ के न रहने पर बालक रोने लगता है। दूसरे के साथ रहने में वह प्रसन्नचित्त दिखलाई पड़ता है। तीन वर्ष की उम्र तक बालक वैयक्तिक खेल में प्रसन्नता का अनुभव करता है। पर बाल्यकाल में सामूहिकता की प्रवृत्ति विशेष रूप से जागृत हो जाती है। समवयस्क बालकों के साथ के लिये वह विकल हो जाता है। ऐसा साथ मिलने पर उसे खाने पीने की सुधि बहुत कम रहती है। अन्य बालकों के समूह में रहना उसे स्वर्ग समान लगता है। इस सामूहिक जीवन में किसी प्रकार की बाधा पड़ने पर वह तिलमिला सा जाता है। बालकगण अपने में से सब से बड़े को नेता मान कर उसकी आज्ञाओं का पालन बड़े मन से करते हैं। इसी समय उनकी सामूहिक भावनाओं के विकास से उनमें नैतिकता की वृद्धि होने लगती है। बालकों के सामूहिक जीवन में किसी प्रकार की बाधा डालना अमनोवैज्ञानिक है। सामूहिक खेल से अलग कर देने से उनकी बहुत सी प्रवृत्तियों का समुचित विकास ही बन्द हो जाता है। कुछ अभिभावक बालकों को उनके साथियों में खेलने से रोकते हैं, जिससे वे उनकी बुरी आदतें न सीख लें। ऐसा करना ठीक नहीं। साथियों से अलग न रख कर, अभिभावकों को यह देखना चाहिये कि बालक अच्छे लोगों को ही अपना साथी बनायें। इसके लिये माता-पिता को अच्छे पड़ोसियों के बीच में ही रहना चाहिये। यदि पड़ोसी अच्छे हैं तो उनके घर के बच्चे भी प्रायः अच्छे ही होंगे। इन बच्चों का संग बालक के लिये कभी अहितकर नहीं हो सकता।

बाल्यकाल में सामूहिकता की प्रवृत्ति विशेष जागृत, इसके विकास से नैतिकता की वृद्धि, बालकों को उनके साथियों से अलग रखना अमनोवैज्ञानिक।

११—भोजनान्वेषण (.फूड-सीकिङ्ग)—

आत्मरक्षार्थ भोजनान्वेषण की प्रवृत्ति बड़ी महत्वपूर्ण है। यह प्रवृत्ति प्रत्येक प्राणी में पाई जाती है। सृष्टि के रचना-काल से ही यह प्रवृत्ति प्राणी के साथ है। काम-प्रवृत्ति के सदृश् यह प्रवृत्ति भी रुच्यात्मक है। इसकी जागृति शरीर की विशिष्ट अवस्था में ही होती है। इसका ज्ञानात्मक अङ्ग खाद्य वस्तु की 'गन्ध' अथवा उसे 'देखना' है। ड्रेवर के अनुसार इस प्रवृत्ति में रुच्यात्मक और प्रतिक्रियात्मक दोनों स्वभाव का संकेत मिलता है, क्योंकि इसको बाह्य वस्तु तथा शरीर की आन्तरिक दशा दोनों से उत्तेजना मिलती है। इससे सम्बद्ध संवेग 'भूख' है। इसका क्रियात्मक अङ्ग 'खाद्य वस्तु को खोजना व खाना' है। यदि व्यक्ति की इस प्रवृत्ति पर नियन्त्रण न रखा गया तो वह पेटू हो जायगा। खाद्य वस्तु के देखने से ही उसके मुँह से लार टपकने लगती है, वह धैर्य खो बैठता है। बालक इस विषय में बड़ी ही आतुरता दिखलाते हैं। भोजन के दीखने पर ही उसे पाने के लिये वे विकल हो जाते हैं। यदि किसी कुटुम्ब में कई भाई व बहन हुए तो कुछ बालक भोजन की माँग से ही अपने माता-पिता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। अपने माता-पिता का एकलौता बालक भोजन पर असाधारण आतुरता नहीं दिखलाता। पर कई बच्चों के होने के कारण सबसे अधिक तिरस्कृत बालक बहुधा "भूख लगी है, भूख लगी है" कहा करता है। नियम व संयम से ठीक समय पर पर्याप्त भोजन देने से बालकों की आदत इस सम्बन्ध में अच्छी डाली जा सकती है। इस सम्बन्ध में बुरी आदत पड़ने पर बालक का मानसिक विकास कुण्ठित हो सकता है।

रुच्यात्मक, ज्ञानात्मक अङ्ग 'खाद्य वस्तु की गन्ध या उसको देखना'; संवेग-'भूख'; इस पर उचित नियन्त्रण न होने से मानसिक विकास कुण्ठित।

१२—संग्रह-वृत्ति (अक्वीज़ीशन)—

संग्रह-वृत्ति मनुष्यों तथा कुछ चतुर पशु-पक्षियों में पाई जाती है। खाद्य अथवा घर बनाने योग्य वस्तु को देखना इसका ज्ञानात्मक अङ्ग है। 'अधिकार भावना' की प्रेरणा से यह प्रवृत्ति क्रियाशील होती है। अतः इससे सम्बद्ध संवेग 'अधिकार-भावना' है। वस्तु को देखने पर उसे प्राप्त करना अथवा प्राप्त कर उसकी रक्षा करना इस प्रवृत्ति का क्रियात्मक अङ्ग है। इस प्रवृत्ति का विकास मानसिक चेतना से प्रारम्भ होता है। गौरैया व मैना इत्यादि पक्षियों और चींटी तथा शहद की मक्खियों आदि में संग्रह-वृत्ति पाई जाती है। गौरैया घोंसला बनाने के लिये छोटे छोटे तिनकों का

'खाद्य अथवा घर बनाने योग्य वस्तु को देखना'—इसका ज्ञानात्मक अंग; संवेग—'अधिकार-भावना'; 'वस्तु को प्राप्त करना या प्राप्त करने के बाद उसकी

रक्षा करना' इसका क्रियात्मक अंग।

संग्रह करती है। चींटीं और शहद की मक्खियाँ वर्षा काल के लिये अपनी खाद्य सामग्री का संग्रह करती हैं। मनुष्य भी इसी प्रकार अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करता है। चार-पाँच वर्ष का बालक अपने खेलने के लिये अनाप-शनाप वस्तुओं का संग्रह किया करता है। ये वस्तुएँ बड़ों की दृष्टि में व्यर्थ हो सकती हैं। पर बालक के लिये वे बड़ी ही महत्वपूर्ण होती हैं। उनमें किसी प्रकार की बाधा बालक के लिये असह्य होती है। यदि बालक के संग्रह की ही वस्तुओं को देखा जाय तो उसमें फटी चिट्ठियाँ तथा पुस्तकें, टूटे शीशे, कलम, कंकड़, पत्थर, चित्र और डिब्बे इत्यादि वस्तुएँ मिलेंगीं। बालक का इन सब वस्तुओं पर उतना ही मोह होता है जितना कि नादिरशाह का मुग़लआज़म हीरे पर था।

बालक की संग्रह-वृत्ति पर नियन्त्रण आवश्यक है। यदि इस पर उचित ध्यान न दिया गया तो वह लोभी तथा चोर और कृपण हो सकता है। कृपणता का दोष संग्रह-वृत्ति की वृद्धि से ही आता है। कुछ लोगों को कई प्रकार के कलमों के रखने की रुचि होती है, कोई चित्र रखना चाहते हैं, कोई विचित्र प्रकार के जूतों का ही संग्रह करना चाहता है। अपनी अपनी वृत्ति और रुचि के अनुसार व्यक्ति विभिन्न वस्तुओं का संग्रह करना चाहता है। इस प्रवृत्ति के अनुचित विकास से व्यक्ति का चरित्र बिगड़ सकता है। अतः प्रारम्भ से ही यह देखना चाहिये कि बालक की प्रवृत्ति उपयोगी वस्तुओं के संग्रह पर ही है। यहाँ वातावरण का विशेष महत्व है। वातावरण की वस्तुओं के अनुसार ही बालक की संग्रह-वृत्ति जागृत होगी। अतः यह आवश्यक है कि बालक का वातावरण शिक्षा सम्बन्धी वस्तुओं से पूर्ण हो। बालक को अच्छी अच्छी पुस्तकें, चित्र और टिकट आदि संग्रह करने की प्रेरणा दी जा सकती है। महापुरुषों के चित्र-संग्रह से उनके गुणों के अपनाने की प्रवृत्ति बालक में उत्पन्न हो सकती है। टिकट व चित्र आदि के संग्रह से बालक में विभिन्न देशों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार इस प्रवृत्ति के समुचित विकास से बालक सभ्यता के निर्माण में भाग ले सकता है। प्राचीन सभ्यता का जो कुछ भी स्मृति-चिन्ह आज हमारे समक्ष हैं वे सब हमारे संग्रह-वृत्ति के ही कारण हैं। इस प्रकार संग्रह-वृत्ति का शिक्षा में बड़ा उपयोग किया जा सकता है। इस वृत्ति के अवदमन से व्यक्ति का विकास रुक सकता है और शोधन से उसमें अनेक गुणों का समावेश हो सकता है।

संग्रह-वृत्ति पर नियन्त्रण न होने से बालक के लोभी, चोर और कृपण हो जाने का डर; उपयोगी वस्तुओं के संग्रह के लिये उत्साहित करना, वातावरण का महत्व, प्राचीन सभ्यता का स्मृति-चिन्ह संग्रह-प्रवृत्ति के कारण।

Constructiveness

१३—विधायकता या रचना-प्रवृत्ति (कन्स्ट्रक्टिवनेस)—

विधायकता या रचना-प्रवृत्ति मनुष्यों तथा सभी चतुर पशु-पक्षियों में पाई जाती है। चिड़िया का घोंसला बनाना, लोमड़ी या खरगोश का अपनी माँद बनाना रचना-प्रवृत्ति का ही द्योतक है। घर या घोंसले बनाने के लिये उपयुक्त सामग्री की उपस्थिति इस वृत्ति का ज्ञानात्मक अंग है। इससे सम्बद्ध संवेग कृतिभाव है। वस्तु पाकर रचना-क्रिया में लग जाना इसका क्रियात्मक अंग है। प्रायः एक वर्ष की अवस्था से ही बालक अपनी इस प्रवृत्ति का प्रदर्शन करने लगता है। वह खिलौने को तोड़-फोड़ डालता है। किसी वस्तु के पाने पर उसे पटकना और तोड़ना वह प्रारम्भ कर देता है। उसे कोई वस्तु दीजिये, वह दो ही घण्टे में उसका कचूमर निकाल कर रख देगा। ऐसा क्यों? यह उसकी विधायकता-प्रवृत्ति का ही द्योतक है। पहले उसकी जिज्ञासा-प्रवृत्ति जागृत होती है। वह देखना चाहता है कि अमुक पदार्थ में है क्या? इसके बाद उसमें वह अपनी इच्छानुसार परिवर्तन लाना चाहता है। इस परिवर्तन से बड़े लोग हँस सकते हैं। उनके लिये इसका कुछ भी मूल्य नहीं, अपितु वे इस पर अप्रसन्न हो जायँगे। पर उनका अप्रसन्न होना अमनोवैज्ञानिक है। किसी वस्तु को तोड़-फोड़ देने के कारण उसे डाँटना ठीक नहीं, वरन् उसकी इस क्रिया में यदि सम्भव हो तो योग देना चाहिये। इन्हीं सब क्रियाओं से बालक अपनी ज्ञानेन्द्रियों पर कुछ नियन्त्रण प्राप्त करता है। उसे कुछ ऐसी वस्तुएँ देनी चाहिये जिससे उनकी इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिले। उदाहरणार्थः लकड़ी, कागज व कार्डबोर्ड इत्यादि से हम उसकी रचना-प्रवृत्ति को मनोवैज्ञानिक प्रोत्साहन दे सकते हैं। रचना-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने से ही प्रॉजेक्ट पद्धति और मॉन्तेसरी प्रणाली शिशु-शिक्षा के लिये उपयोगी होती है। बालक के पढ़ने-लिखने में मन्द होने पर शिक्षकों का यह पता लगाना कर्त्तव्य है कि उसकी कौन सी मूलप्रवृत्ति प्रबलतर है। बहुत सम्भव है कि पढ़ने-लिखने में ध्यान न देने वाला बालक शिल्पकला, इञ्जीनियरिङ्ग, चित्रकला तथा कविता आदि में रुचि रखता हो। इसका ठीक पता लगा कर यदि उचित प्रोत्साहन दिया जाय तो बालक अपने भावी जीवन में क्या नहीं कर सकता?

घर बनाने के लिये उपयुक्त सामग्री की उपस्थिति इस का ज्ञानात्मक अङ्ग; संवेग-कृतिभाव; खिलौने का तोड़ना विधायकता प्रवृत्ति के कारण, रचना-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना आवश्यक।

संवेग कृतिभाव

रचना-प्रवृत्ति का बालक की कल्पना-शक्ति के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रवृत्ति के प्रोत्साहन से उसकी कल्पना का विकसित होना अपेक्षित है। किसी वस्तु की रचना करने के पूर्व बालक शिल्पकार अथवा इञ्जीनियर के सदृश उस वस्तु का पूरा चित्र अपने मस्तिष्क में ठीक कर लेता है। बालक के बहुत से खेलों में उसकी रचना-

रचना-प्रवृत्ति से कल्पना

कल्पना का घनिष्ठ सम्बन्ध, खेलों से रचना-प्रवृत्ति का आभास, इसके अवदमन से आत्म-विश्वास का खोना।

प्रवृत्ति का आभास मिल सकता है। जिस प्रकार खेलों में भाग लेकर बालक अपने भावी जीवन की तैयारी करता है उसी प्रकार अपनी रचना-प्रवृत्ति से अनजान में अपने को वह भविष्य के लिये तैयार करता है। रचना-प्रवृत्ति के अवदमन से बालक आत्म-विश्वास खो बैठता है। उसके मन के उद्गार भीतर ही भीतर मसोस कर रह जाते हैं और उसकी क्रियाशीलता सदा के लिये कुण्ठित हो जाती है।

१४—हास (लॉफ़्टर) (Laughter)

मैग्डूगल ने हास को भी एक मूलप्रवृत्ति माना है। पर यह प्रवृत्ति केवल मानव जाति में ही पाई जाती है। हमारे सामने बहुधा ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं जो हमें हँसने को बाध्य करती हैं। ऐसी परिस्थितियों में न हँसने से हमें क्रोध आयेगा अथवा दुःख होगा। अतः ऐसी परिस्थिति का आना हास मूलप्रवृत्ति का ज्ञानात्मक अंग है। किसी साइकिल वाले को या दौड़ते हुए व्यक्ति को गिरते हुए देख कर हम हँसते हैं या सहानुभूति-प्रदर्शन हेतु 'च च च' करते हैं। हमारे सामने यदि कोई मूर्खता की बातें करता है तो हमें क्रोध आता है या हम हँस देते हैं। इस प्रकार क्रोध और सहानुभूति-प्रदर्शन से बचने के हेतु प्रकृति ने मनुष्य को हास की प्रवृत्ति दी है। इस प्रवृत्ति के अभाव में व्यक्ति दूसरों का कष्ट देख सदा दुःखी होता अथवा सहानुभूति-प्रदर्शन में अपना कार्य ही छोड़ बैठता, या इसके अभाव में वह बहुधा दूसरे पर क्रोध करके झगड़ा मोल लिया करता। इस प्रकार उसका जीवन ही कठिन हो जाता। अतः प्रकृति ने बड़ी चतुरता से मनुष्य को हास-प्रवृत्ति दी है।

केवल मानव जाति में ही, हँसाने वाली परिस्थिति का आना इसका ज्ञानात्मक अङ्ग; क्रोध या सहानुभूति प्रदर्शन से बचने के हेतु हास-प्रवृत्ति।

हास मूलप्रवृत्ति

हास-प्रवृत्ति की सहायता से व्यक्ति कठिन से कठिन कार्य के करने में समर्थ हो सकता है। कुछ ऐसे लोग होते हैं जो विषम परिस्थितियों का सामना करते हुए हँसमुख दिखलाई पड़ते हैं। वीर सेनापति हँसते हँसते अपनी सेना को विजयी बना देता है। इसके विपरीत कोई व्यक्ति तनिक भी कठिन कार्य के आने से सर सिकोड़ बैठता है। अभिभावकों और शिक्षकों को चाहिये कि वे बालकों में विषम परिस्थितियों में हँसते हुए कार्य करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करें। किन्तु उन्हें यह भी ध्यान रखना है कि कहीं इस हँसने की बागडोर एकदम ढीली न हो जाय। हँसने पर नियन्त्रण न

हास-प्रवृत्ति की सहायता से कठिन कार्य सम्भव, विषम परिस्थितियों में हँसना सिखलाना, नियन्त्रण न रहने से अशिष्टता आने का भय, अपनी बात पर

हँसना आत्म-हीनता का द्योतक, अभिभावकों और शिक्षकों की सतर्कता।

रखने से व्यक्ति में अशिष्टता आ जाने का डर रहता है। कुछ लोग अपनी ही बात कह कर अट्टहास करने लगते हैं। अपनी ही बात पर हँसना बड़ा ही बुरा है। इस प्रकार का हँसना प्रायः आत्म-हीनता अथवा आत्मप्रदर्शन-प्रवृत्ति के अवदमन का द्योतक होता है। यदि इस बात को स्पष्ट कर दिया जाय तो बालक में यह बुरी आदत न पड़ेगी। कुछ बड़े लोगों के समूह में बैठे हुए यह प्रायः देखा जाता है कि दो व्यक्ति हाथ की आड़ में आपस में फुसफुस कुछ कह कर हँसते हैं। यह बारात अथवा कवि सम्मेलनों आदि उत्सवों में बहुधा देखा जाता है। यह अशिष्टता है। इसका वहाँ उपस्थित बालकों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। वे भी इस प्रकार की अशिष्टता प्रारम्भ कर देते हैं। व्यक्ति का इस प्रकार का हँसना उसकी आत्म-हीनता-भावना (इनफ़िरियॉरिटी कॉम्प्लेक्स) का प्रमाण है। थोड़े से संकेत मात्र से बालक को इस बुरी आदत से बचाया जा सकता है। कुछ लोगों में दूसरों की गलतियों पर हँसने की आदत होती है। उदाहरणार्थः अध्यापक कोई बात एक विद्यार्थी को समझा रहा है। विद्यार्थी के मूढ़ प्रश्न पर अथवा अज्ञानतामयी मुद्रा पर दूसरा विद्यार्थी हँसने लगता है। इस प्रकार का हँसना आत्म-प्रदर्शन के अवदमन का दुष्परिणाम है। यह व्यक्ति का आत्म-दम्भ भी दिखलाता है। बालक की इस प्रवृत्ति को रोकना अति आवश्यक है; अन्यथा उसके चरित्र में सदा के लिये गाँठ पड़ जायगी। कभी कभी अभिभावक बालकों की गलती पर कहकहे मार कर हँसने लगते हैं। यह बड़ा ही अमनोवैज्ञानिक है। इससे बालक की कोमल भावनाओं पर बड़ा आघात लगता है। उसका हृदय बैठ जाता है। वह एक साँस लेकर रह जाता है। अपने बड़ों की इस आदत का स्वभावतः वह अपनी परिस्थिति में अनुकरण करता है। इस प्रकार अभिभावकों का बालकों के समान अपनी हास की प्रवृत्ति पर भी नियन्त्रण रखना अति आवश्यक है।

१५—मूलप्रवृत्तियाँ और मस्तिष्क—

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूलप्रवृत्तियों को विभिन्न मानसिक शक्तियाँ नहीं समझनी चाहिये। वस्तुतः मूलप्रवृत्तियाँ वातावरण के सम्बन्ध में क्रियाशील होने के लिये प्राणी की प्रेरणा शक्ति रूपी वृक्ष की विभिन्न शाखाएँ हैं। मूलप्रवृत्तियाँ हमें यह बतलाती हैं कि मस्तिष्क किन किन रूपों में क्रियाशील होता है। वे ऐसी प्रेरणा-शक्तियाँ हैं जिनसे प्रभावित हो विभिन्न मानसिक शक्तियाँ प्रसंगानुसार एक विशिष्ट दिशा की ओर अग्रसर होती हैं। मस्तिष्क को 'मूलप्रवृत्तियों का योग' मात्र नहीं समझना चाहिये। आधुनिक मनोवैज्ञानिक मस्तिष्क में झुकाव का आभास

मूलप्रवृत्तियाँ मानसिक शक्तियाँ नहीं, मस्तिष्क मूलप्रवृत्तियों का दास नहीं, मूलप्रवृत्तियाँ विभिन्न मानसिक शक्तियों के प्रकाशन के प्रकार।

पाते हैं। उसे वे चेतना से परिपूर्ण मानते हैं। मूलप्रवृत्तियाँ मस्तिष्क को अपना दास नहीं बना सकतीं। मूलप्रवृत्तियाँ विभिन्न मानसिक शक्तियों के प्रकाशन के पृथक पृथक प्रकार हैं। वे यह दिखलाती हैं कि किसी विशिष्ट परिस्थिति में मस्तिष्क किस प्रकार क्रियाशील हो सकता है।

सहायक पुस्तकें

१—ड्रेवर—सम इन्स्टिंक्ट इन मैन, अध्याय ८।
२— ,, —ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन, अध्याय ६।
३—मैग्डूगल—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल साइकॉलॉजी, अध्याय ४।
४— ,, इनरज़ीज़ ऑव् मैन।
५— ,, ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी।
६—डम्विल—फण्डामेण्टल्स ऑव् साइकॉलॉजी।
७—स्टर्ट ऐण्ड ऑकडेन—मॉडर्न साइकॉलॉजी ऐण्ड एडूकेशन, अध्याय ३, ४, ६, व ७।
८—जेम्स—टॉक्स टु टीचर्स।
९—बैगले—एडूकेटिव् प्रॉसेस।
१०—होमरलेन—टॉक्स टु पेरैण्ट्स ऐण्ड टीचर्स।
११—लालजीराम शुक्ल—बाल मनोविकास अध्याय ५।
१२— ,, —बाल मनोविज्ञान, परिच्छेद ७।
१३—रॉस—ग्राउण्डवर्क ऑव् एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ४।
१४—सरयू प्रसाद चौबे—बालमनोविज्ञान, अध्याय ४ व ५।
१५—सरयू प्रसाद चौबे—किशोर मनोविज्ञान की भूमिका, अध्याय १-७।

७

कुछ सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ

सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियों का उल्लेख पाँचवें अध्याय में किया गया है। मूलप्रवृत्तियों और उनके भेद पर भी प्रकाश डाल दिया गया है। अब यहाँ पर प्रत्येक के स्वरूप का सविस्तार वर्णन करते हुए बालक की शिक्षा से उनका सम्बन्ध दिखलाया जायगा।

१—निर्देश (सज्जेशन)—

विद्वानों में मतभेद, दूसरे के विचारों से वशीभूत होना, अपना विचार-स्वातन्त्र्य लुप्त, निर्देश का स्पष्ट रूप सम्मोहन क्रिया में, मानसिक रोगों को दूर करने के लिये बड़ा अच्छा साधन।

निर्देश के स्वरूप के विषय में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद पाया जाता है। स्टर्न महोदय के अनुसार "आन्तरिक अनुकरण द्वारा मस्तिष्क में किसी समान वृत्ति को उत्पन्न करना निर्देश है।" टी० पी० नन बिना स्वेच्छा के किसी के विचार को अपना लेने को निर्देश की संज्ञा देते हैं। ओकडेन निर्देश को सामूहिकता मूलप्रवृत्ति का ज्ञानात्मक अंग मानते हैं। मैग्डूगल के अनुसार 'निर्देश द्वारा व्यक्ति अनजान में दूसरे के विचारों का अनुगामी हो जाता है। पर वह अपने अनुगमन का कोई कारण नहीं दे सकता।' इस प्रकार दूसरों के विचारों से वशीभूत होने को निर्देशित होना कहते हैं। निर्देशित होने में अपना विचार-स्वातन्त्र्य लुप्त हो जाता है। व्यक्ति दूसरे के विचारों को अपना समझने लगता है और तदनुसार आचरण करता है। इस आचरण में व्यक्ति यह नहीं समझता कि वह दूसरे के विचारों के अनुसार कार्य कर रहा है। निर्देश का स्पष्ट रूप मनोविश्लेषणवादियों के सम्मोहन-क्रिया (हिप्नोटिज़्म) में देखा जा सकता है। मानसिक रोगों को दूर करने के लिये निर्देश बड़ा अच्छा साधन सिद्ध किया जा चुका है। सम्मोहन-क्रिया में मनोविश्लेषक (साइकोअनलिस्ट) निर्देश द्वारा रोगी को चेतनाशून्य करके अपनी इच्छानुसार कार्य कराता है। मनोविश्लेषक कहता है कि 'बस, तुम्हें अब नींद आ रही है' और रोगी को नींद आ जाती है। पीली वस्तु दिखला कर वह कहता है कि वह लाल है और उसे वह लाल ही दिखलाई पड़ती है।

निर्देश-योग्यता पर परीक्षण (सजेस्सीबिलिटी)—

निर्देश-योग्यता के माप के लिये कई परीक्षण किये गये हैं। इनमें सीशोर और आउसेज के परीक्षण विशेष प्रसिद्ध हैं। सीशोर-परीक्षण में व्यक्ति के हाथ में एक तार का टुकड़ा दे दिया जाता है। इस तार से बिजली आने की व्यवस्था रहती है। व्यक्ति जानता है कि बिजली आने से वह तार की गरमाहट अनुभव करेगा। स्विच उसकी दृष्टि में नहीं रखा जाता। उसके सामने एक बल्ब भी रहता है। बिना स्विच का प्रयोग किये ही व्यक्ति से पूछा जाता है कि तार गरम हुआ कि नहीं। इसके साथ ही दूसरे स्विच से सम्बन्धित बल्व को जला दिया जाता है। बलब को जलते देख व्यक्ति समझता है कि तार गरम हो गया इस आत्म-निर्देश के फलस्वरूप उसका उत्तर सकारात्मक होता है।

सीशोर परीक्षण।

आउसेज परीक्षण बहुधा स्कूल के बालकों के साथ किया जाता है। इसमें बालक के सामने एक चित्र टाँग दिया जाता है। इस चित्र के सम्बन्ध में उससे कुछ बेतुके प्रश्न किये जाते हैं। मान लीजिये चित्र रावण के दरबार का है। इसके सम्बन्ध में ऐसे प्रश्न पूछे जायेंगे। रावण के पास तीन आदमी बैठे हैं न? अंगद भी सिंहासन पर है न? क्या रावण के पास एक स्त्री भी खड़ी है? वास्तव में इन सब प्रश्नों का चित्र से कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। कुछ लड़के तो दिये हुए संकेत को मान लेते हैं और कुछ अपनी निरीक्षण-शक्ति के अनुसार ठीक ठीक उत्तर देते हैं। यदि १०० दिये गये निर्देश में से किसी ने ५० स्वीकार किये तो उसकी निर्देश-योग्यता $\frac{1}{2}$ मानी जायगी। $\frac{1}{2}$ में १०० का गुणा कर देने से निर्देश-लब्धि (सजेसीबिलिटी-कोशेण्ट) ५० मानी जायगी। बुद्धि की स्थिरता के अनुसार निर्देश-लब्धि का परिमाण दिखलाई पड़ता है। जिसमें जितनी ही विवेचना-शक्ति अधिक होगी वह उतना ही कम निर्देश से प्रभावित होगा। अब हम नीचे देखेंगे कि निर्देश-योग्यता किन किन बातों पर निर्भर करती है।

आउसेज परीक्षण।

निर्देश-योग्यता कई बातों पर निर्भर—

(१) उम्र—

निर्देश-योग्यता (सजेसीबिलिटी) प्रत्येक व्यक्ति में पाई जाती है। अपने स्वभावानुसार प्रत्येक की योग्यता दूसरे से भिन्न होती है। निर्देश का प्रभाव चार बातों पर निर्भर होता है। सबसे पहले निर्देश का प्रभाव उम्र के अनुसार पड़ता है। विवेचन-शक्ति के अभाव में निर्देश का प्रभाव सरलता से

विवेचन-शक्ति के अभाव में निर्देश का प्रभाव अधिक,

हठी या असाधारण बुद्धि वाले को निर्देशित करना कठिन, निर्देश का प्रभाव विचार-शक्ति की शून्यता से नहीं, बालक के जीवन में निर्देश का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण।

होता है। ज्ञान तथा अनुभव की कमी होने से बालक में विवेचन-शक्ति कम होती है। अतः यह निर्देश के प्रभाव में शीघ्र आ जाता है। पर बालक यदि हठी या असाधारण बुद्धि का हुआ तो निर्देश से उसे प्रभावित करना सरल नहीं। कुछ व्यक्ति बड़े हो जाने पर भी मस्तिष्क की परिपक्वता नहीं प्राप्त कर पाते। मानसिक दासता उनका पिण्ड नहीं छोड़ती। ऐसे प्रौढ़ व्यक्ति भी बच्चों के समान दूसरों के प्रभाव में शीघ्र आ जाते हैं। यहाँ पर मानसिक निर्बलता का तात्पर्य विचार-शक्ति की सर्वथा शून्यता से नहीं। यदि विचार-शक्ति का एकदम अभाव रहेगा तो व्यक्ति का कार्य केवल शारीरिक अनुकरण तक ही सीमित रहेगा। छोटा बच्चा हमें चुटकी बजाते हुए देखता है। वह भी चुटकी बजाने की चेष्टा करता है। पर ऐसा स्वयं करने का वह कारण नहीं समझता। अतः निर्देश का प्रभाव विचार-शक्ति की शून्यता में नहीं, वरन् विवेचन-शक्ति के अभाव में सम्भव होता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि बालक के जीवन में निर्देश का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। उससे जैसा कहा जाता है वैसा ही वह करने लगता है। अतः अभिभावकों और शिक्षकों को अपने आदेश और व्यवहार पर सदैव ध्यान रखना चाहिये। अमनोवैज्ञानिक लोग बालकों को डाँट कर बहुधा कह दिया करता है कि "तुम मूर्ख हो, तुम कुछ भी नहीं सीख सकते, तुम्हारा जीवन व्यर्थ है।" शिक्षकों और अभिभावकों को बालक बड़ी श्रद्धा से देखता है। अतः उनके शब्दों का प्रभाव उस पर शीघ्र होता है। जैसे साल भर खिला-पिला कर एक बार दुत्कार दिया जाय तो सब कुछ मिट्टी में मिल जाता है, वैसे ही साल भर पढ़ा कर एक बार इस प्रकार कह दिया जाय तो पढ़ाया और सिखाया हुआ सब चौपट हो जाता है और बालक अपने विकास में बहुत पीछे हट जाता है।

(२) ज्ञान और दृढ़ धारणा तथा (३) मानसिक स्थिति (नॉलेज एण्ड कनविक्शन मूड)—

जिनका ज्ञान पर्याप्त होता है, जिनकी अपनी कुछ धारणा होती है, वह शीघ्रता से निर्देशित नहीं होता। किसी बात के सुनने पर वह उसकी पूरी आलोचना करता है। मानसिक स्थिति पर भी निर्देश का प्रभाव निर्भर होता है। जब व्यक्ति थका अथवा अस्वस्थ रहता है तब उस पर निर्देश का प्रभाव शीघ्र पड़ता है। निर्देश के विवेचन की उसकी रुचि नहीं रहती और वह दूसरों की बात को शीघ्र मान लेता है।

(४) संकेत का उद्गम—

निर्देश के उद्गम पर उसका प्रभाव बहुत कुछ निर्भर करता है। यदि निर्देश

देने वाले व्यक्ति पर पाने वाले का पूर्ण विश्वास है तो निर्देश का प्रभाव शीघ्र ही पड़ेगा। अभिभावकों, माता-पिता, बड़े भाई-बहिनों तथा शिक्षकों से पाये हुए निर्देश का बालक पर शीघ्र प्रभाव पड़ता है। प्रेम करने वाले व्यक्ति पर हमारा अधिक विश्वास रहता है। बालक अपनी माँ से प्रेम करता है। अतः माता के निर्देश पर वह तुरन्त विश्वास कर लेता है। वस्तुतः माता के विश्वास को वह अपना लेता है। माता का ही स्थान उसके लिये मन्दिर, मसजिद और गिरजाघर हो जाता है। बच्चे अपने बड़े तथा ऊँचे साथियों के प्रभाव में शीघ्र आ जाते हैं। यदि साथी कुछ बड़ा हुआ तो उसके सभी निर्देशों का बालक पर शीघ्र प्रभाव पड़ेगा। उसी के अनुसार उस चरित्र का गठन होगा। डाक्टर के किसी बात के कहने पर रोगी शीघ्र विश्वास कर लेता है, पर दूसरे के कहने पर नहीं। यदि माता कहती है कि "अरे गोगो आया" तो बालक डर जाता है। पर अपने किसी साथी के ऐसा कहने पर वह नहीं डरता। यदि माँ हर समय डर दिखा कर रोते हुए बच्चे को चुप कराना चाहती है तो इसका प्रभाव अच्छा न होगा। अतः बालकों का पालन-पोषण इस प्रकार करना है कि उसे सदा लाभप्रद निर्देश मिला करे। इसमें अभिभावकों और शिक्षकों का बड़ा भारी हाथ रहता है। निर्देश से चाहे जिस ओर वे बच्चों को झुका सकते हैं।

अपने से बड़ों के निर्देश का प्रभाव शीघ्र, बालक को सदा लाभप्रद निर्देश देना, निर्देश से उसे किसी ओर भी झुकाना सम्भव।

निर्देश के प्रकार—

निर्देश चार प्रकार के होते हैं:—

(१) आत्म-निर्देश (ऑटो सजेश्शन)
(२) आप्त-निर्देश (प्रेस्टिज सजेश्शन)
(३) समूह-निर्देश (मास सजेश्शन)
(४) विरुद्ध-निर्देश (कन्ट्रा सजेश्शन)

(१) आत्म-निर्देश—

आत्म-निर्देश का स्थान शिक्षा में बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इसमें बड़ी अद्भुत शक्ति होती है। इसके सहारे व्यक्ति उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है अथवा अपना सर्वनाश भी कर सकता है। आत्म-निर्देश की शक्ति बड़ी साधना से प्राप्त होती है। जो जितना महान् होता है उसमें उतनी ही अधिक यह शक्ति होती है। मूर्ख और अज्ञान व्यक्ति सदा दूसरे के संकेत पर नाचा करता है। उसमें आत्म-निर्देश की शक्ति बहुत ही कम होती है। यदि व्यक्ति नित्य अपने से कहता रहे

अद्भुत शक्ति, यह शक्ति बड़ी साधना से, उन्नति की मूल में आत्म-निर्देश की शक्ति, बालकों में इस शक्ति

का संचार आवश्यक।

कि 'वह जीवन में अमुक पद पर अवश्य पहुँचेगा' तो निश्चय ही एक दिन वह उस पद पर आसीन होगा। (इस बात का इतिहास साक्षी है। बहुत से महापुरुषों की उन्नति के मूल में उनकी आत्म-निर्देश की शक्ति ही रहती है। आत्म-निर्देश ही के बल पर नैपोलियन नैपोलियन हो सका। आत्म-निर्देश ही के बल पर क्लाइव भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डाल सका। यदि व्यक्ति यह विश्वास कर ले कि "उसका जन्म किसी प्रयोजन से हुआ है, वह प्राणी के कल्याण के हेतु ईश्वर का एक विशिष्ट सन्देश लाया है, जो उसमें शक्ति है वह दूसरे में नहीं," तो वह इस जीवन में क्या नहीं कर सकता ? आत्म-शक्ति से क्या सम्भव नहीं है ? यह एक ऐसी शक्ति है जिससे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। अतः अभिभावकों और शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे बालकों में इस प्रकार की शक्ति का संचार करते रहें।)

आत्म-निर्देश से हानि भी, अतः उसका स्वस्थकर होना आवश्यक।

आत्म-निर्देश से कभी कभी हानि भी हो जाती है। यदि अन्धेरे में जाते हुए किसी झाड़ी अथवा पेड़ को देख कर व्यक्ति भूत समझ ले, तो उसकी कल्पनानुसार निश्चय ही एक भूत दिखलाई पड़ेगा। आत्म-निर्देश से निर्बल लोग अपने में विभिन्न प्रकार के रोगों का आह्वान कर लेते हैं। अपने निर्देश के अनुसार व्यक्ति कभी कभी भयङ्कर परिस्थितियाँ भी पा जाता है। अतः यह आवश्यक है कि निर्देश सदा स्वस्थकर ही हो।

(२) आप्त-निर्देश—

देने वाले की प्रतिष्ठा पर निर्भर, अधिक निर्देश देना अमनोवैज्ञानिक, पहले बालक को सोचने और निश्चय करने के लिये उत्साहित करना।

आप्त-निर्देश निर्देश देने वाले की प्रतिष्ठा पर निर्भर रहता है। यदि निर्देश देने वाला, बल, बुद्धि और विद्या में प्रतिष्ठित हुआ तो उसका प्रभाव दूसरे पर शीघ्र पड़ जाता है। कक्षा में शिक्षक, घर पर माता-पिता, भीड़ में नेता, सभाभवन में भाषणवक्ता प्रतिष्ठा या आप्त-निर्देश से दूसरों पर अपना प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार के निर्देश से शिक्षक क्या नहीं कर सकता ? अच्छे काम करने के लिये बालक में कूट-कूट कर वह उत्साह भर सकता है। बिलकुल निराशी बालक को भी यह अनुप्राणित कर सकता है। परन्तु शिक्षक को यह ध्यान रहे कि निर्देश की अधिकता से बालकों का मानसिक विकास रुक भी सकता है। वे सदा दूसरे पर ही निर्भर रहेंगे। विचार-स्वातन्त्र्य उनमें न रहेगा। धीरे धीरे वे अपना व्यक्तित्व खो बैठेंगे। अतः अधिक निर्देश देना अमनोवैज्ञानिक है। पहले बालक को अपनी बुद्धि के अनुसार सोचने और निश्चय करने के लिये उत्साहित करना चाहिये। उसके

असफल होने पर ही निर्देश द्वारा उसमें आवश्यक शक्ति अथवा विचार देना लाभप्रद सिद्ध होगा।

अपने शिक्षक तथा अभिभावकों पर बालकों की अटूट श्रद्धा और विश्वास होता है। अतः बालकों के सामने उनके शब्द एकदम तुले हुए निकलने चाहिये। उनसे प्रशंसा या अप्रशंसा पाने पर बालकों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। उपयुक्त अवसर पर प्रशंसा अवश्य देनी चाहिये। यदि बालक स्कूल में कोई अच्छा कार्य करता है तो सब बालकों के सामने उसकी प्रशंसा कर देने से उसे बड़ा आत्म-बल मिलता है। शिक्षक को बालक के गुण जान कर उसमें उनकी चेतना लानी चाहिये। इससे बालक अपने व्यक्तित्व को समझने लगेगा। शिक्षक और अभिभावक का यह परम कर्त्तव्य है कि वे अपना चरित्र-बल बढ़ायें। उनके सभी कार्य बालक के लिये आदर्श स्वरूप होने चाहिये; क्योंकि वह उन्हें सभी बातों में अपना आदर्श मानता है। इससे उनका उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है।

उपयुक्त अवसर पर प्रशंसा देना आवश्यक, बालक में उसके गुणों की चेतना लाना, शिक्षक और अभिभावक के सभी कार्य का आदर्श स्वरूप होना।

(३) समूह-निर्देश—

व्यक्ति पर समूह के विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। समूह के साथ रहने से उसके विचारों को मान लेने की उसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यही कारण है कि सभा में बैठा हुआ व्यक्ति भाषणवक्ता की बातों के प्रभाव में शीघ्र आ जाता है। यदि वही बात उससे अकेले में कही गई होती तो कदाचित् उसका उसके ऊपर प्रभाव न होता। समूह में रहने के समय व्यक्ति अपना व्यक्तित्व भूल जाता है। वह समूह के विचारों के अनुसार आचरण करने लगता है। स्कूल, कक्षा, खेल-मैदान, सभा तथा गोष्ठियों में समूह-निर्देश का प्रभाव भली भाँति दिखलाई पड़ता है। सामूहिकता में एक बड़ी प्रबल शक्ति होती है। इस शक्ति को मुहम्मद साहबने सबसे पहले पहचाना। इसीलिये उन्होंने सामूहिक रूप में नमाज़ पढ़ने की विधि निकाली। मुसलमानों की एकता का एक यह भी कारण है। समूह-निर्देश का उपयोग स्कूलों में अच्छी प्रकार किया जा सकता है। बालकों की नैतिक उन्नति में यह बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है। स्कूलों में कभी कभी सभी बालकों को समूह में एकत्रित कर उपदेश देना चाहिये। इसका बालक के चरित्र पर बड़ा प्रभाव पड़ेगा। उसकी बुरी आदतें इस प्रकार निकाल कर उसमें

व्यक्ति पर समूह के विचारों का प्रभाव शीघ्र, समूह में व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व भूल जाना, समूह-निर्देश नैतिक उन्नति में सहायक, बहुत सी आदतें समूह-निर्देश पर आधारित।

अनेक गुण भरे जा सकते हैं। वास्तव में हमारी बहुत सी आदतें समूह-निर्देश के आधार पर ही बनती हैं। हमारा धार्मिक विश्वास, शिष्टाचार तथा पहनावे का ढंग अनजान में समूह-निर्देश द्वारा ही बनता है। हमारे विश्वास का वैयक्तिक आधार कम हुआ करता है। हम किसी बात पर विश्वास करते हैं, क्योंकि दूसरे भी उसे मानते हैं। पुस्तक में छपी हुई बात पर शीघ्र विश्वास हो जाता है, क्योंकि हम मान लेते हैं कि उस पर सब का विश्वास है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण बड़ा मनोरंजक है। "पञ्च" के सम्पादक महोदय अपनी पत्नी को यह समझाने में असफल हुए कि अमुक वस्तु स्वास्थ्य के लिये हानिकर होती है। उनकी पत्नी बहुधा वही वस्तु बना कर उन्हें परोस दिया करती थीं। सम्पादक महोदय तंग आ गये। उन्हें एक उपाय सूझा। उस वस्तु के हानि-लाभ पर उन्होंने एक लेख लिख कर बिना लेखक का नाम दिये अपनी पत्रिका में छाप दिया। लेख पढ़ने के बाद उनकी पत्नी ने उस वस्तु का प्रयोग एकदम बन्द कर दिया।

(४) विरुद्ध-निर्देश—

कभी कभी निर्देशित विचार के विरुद्ध व्यक्ति कार्य कर बैठता है। निर्देश से विरुद्ध कार्य करने की प्रवृत्ति को विरुद्ध-निर्देश कहते हैं। यह प्रवृत्ति छोटे बालकों में विशेषकर देखी जाती है। आशा से कहा जाता है कि चली जाओ तो वह कहती है कि 'नहीं जाऊँगी' वह 'बैठो' का उत्तर 'नहीं बैठूँगी' देती है। यदि किसी बालक से कहा जाता है कि उस कुर्सी पर मत बैठना तो वह निश्चय ही जाकर उस पर बैठ जाता है। यदि उससे कहा जाय कि यह पुस्तक तुम्हें नहीं पढ़नी चाहिये तो उसकी उत्सुकता बढ़ जाती है, और उसे पढ़ने की वह लाख चेष्टा करता है। किसी डाक्टर ने एक रोगी को बोतल भरी दवा देते हुए कहा कि 'इसे पीते हुए बन्दर का ध्यान न करना।' लाख चेष्टा करने पर भी रोगी को बन्दर का ध्यान आ जाता था। उसने डाक्टर साहब से कहा कि "यदि आपने बन्दर का नाम ही न लिया होता तो कदाचित् मैं उसके बारे में कभी न सोचता।" यदि रात्रि में किसी अनजान स्थान को जाते समय किसी व्यक्ति से कह दिया जाय कि "अमुक इमली के वृक्ष के नीचे एक बड़ा भारी नट प्रेत-रूप में निवास करता है, अतः उससे डरना नहीं"—तो निश्चय है कि उस वृक्ष के पास आने पर उस नट का उसे अचानक ध्यान आ जायेगा। हो सकता है कि उसके पहले उसका तनिक भी ध्यान न रहा हो। इन सब बातों के आधार में विरुद्ध-निर्देश की ही शक्ति छिपी रहती है। सन्दूक न खोलने के विरुद्ध-निर्देश से ही पिण्डोरा ने उसे खोल कर नाना प्रकार की विपत्तियों का आह्वान किया। एडम और ईव से ज्ञानफल को चखने के लिये मना किया गया था। इसीलिये उन्होंने उसे चख अपनी उत्सुकता दूर

छोटे बालकों में विशेषकर, विरुद्ध-निर्देश देना हानिकर।

की। एक कमरे से दूसरे कमरे में सितार ले जाते हुए एक व्यक्ति से लेखक सदा कहा करता था कि "देखो, सँभाल कर जाना कहीं टक्कर न लग जाय"। इस आदेश का परिणाम यह होता था कि टक्कर सदा लग जाया करती थी। वह व्यक्ति लाख चेष्टा करने पर भी असफल होता था। यह आत्म-विरुद्ध-निर्देश का फल था। उसे टक्कर न लगने का सदा ध्यान रहता था, इसलिये सदा टक्कर लग जाया करती थी। लेखक को पहले यह बात समझ में न आई कि मना करने पर भी टक्कर क्यों लग जाया करती है। पर बाद में उसने उसे हर बार टक्कर लगने का कारण समझा दिया और सावधान करना भी छोड़ दिया। फलतः टक्कर लगना बन्द हो गया।

इस प्रकार विरुद्ध-निर्देश का प्रभाव आशय के एकदम विपरीत होता है। अतः बालकों को अभावात्मक आदेश देना हानिकर है। "यह न करो, वह न करो" कहना ठीक नहीं। बालकों को सदा यथातथ्य (पॉज़ीटिव) आदेश देना ही ठीक होगा। 'बुरा न लिखो' कहने से 'सुन्दर लिखो' कहना अधिक अच्छा है। बालकों के सामने यथासम्भव 'ठीक बातों' का उदाहरण रखना चाहिये। श्यामपट पर किसी शब्द को गलत लिख कर उसे ठीक कहलवाने की प्रणाली मनोवैज्ञानिक नहीं। कहीं कहीं विरुद्ध-निर्देश का प्रभाव लाभकारी भी सिद्ध हो सकता है। पर इसमें बड़ी चातुरी और अवसर की उपयुक्तता के पहचानने की आवश्यकता है। किसी कार्य से विरत करने के हेतु यदि उसे करने के लिये किसी बालक से उपयुक्त अवसर पर कहा जाय तो बहुत सम्भव है कि वह उसे न करे।

अभावात्मक आदेश देना हानिकर, बालकों के सामने ठीक बातों का उदाहरण रखना आवश्यक।

विरुद्ध-निर्देश के सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है। यदि शिक्षक का चरित्र व आचरण अच्छा न हुआ तो उसके आदेशों का उलटा प्रभाव पड़ेगा। आदर्श सम्बन्धी उसकी लम्बी लम्बी बातों पर विद्यार्थी हँसेंगे। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षक अपना आचरण सदा पवित्र रखे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो बालकों तथा साथ ही साथ राष्ट्र का वह बड़ा अहित करेगा। ऐसे शिक्षक शिक्षक नहीं, वरन् जेल में रखे जाने योग्य अपराधी हैं।

शिक्षकों का आचरण पवित्र होना आवश्यक।

निर्देश का दुरुपयोग—

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि निर्देश के बाहुल्य से बालक में आत्म-निर्भरता और विवेचन-शक्ति का अभाव हो सकता है। अतः निर्देश का प्रयोग उचित अवसर पर ही करना चाहिये। बालक के विकास के साथ उसकी निर्देश-योग्यता भी कम हो

निर्देश-योग्यता का कम

होना अच्छा लक्षण, भय का कारण बचपन का कुसंस्कार।

जाती है। धीरे धीरे निर्देश-योग्यता का कम होना सामान्यतः अच्छा ही लक्षण कहा जायगा। निर्देश के सम्बन्ध में बालक की चेतनावस्था से भी सतर्क रहना चाहिये। कुछ माताएँ बहुधा बच्चों को चुप करने के लिये डराया करती हैं। इसका परिणाम बड़ा ही बुरा होता है। एक बार भय के बैठ जाने से उसका निकलना कठिन हो जाता है। बड़े हो जाने पर भी व्यक्ति को कुछ वस्तुओं का भय बना रहता है। उसे उन बाँस के पेड़ों के पास रात्रि को जाने में डर लगता है। वह उस कुएँ के पास नहीं जायगा। लाख रुपया पाने पर भी वह अर्द्ध रात्रि को उस पीपल के वृक्ष के नीचे जाने का साहस न करेगा। बैशाख और ज्येष्ठ के दोपहर में भी वह उस इमली के पेड़ के पास नहीं जायगा। इन सब स्थानों में उसे किसी कल्पित भूत, प्रेत, जिन्न या चुड़ैल का डर रहता है। यह सब डर बचपन के कुसंस्कारों से ही पड़ जाता है। इस कुसंस्कार का सारा उत्तरदायित्व अभिभावकों पर है। बचपन में भय दिखलाने से बालक के हृदय पर एक ऐसा आघात लगता है जिसकी छाप सदा के लिये स्थापित हो जाती है। अपने अधिकार में करने के लिये बच्चे को किसी प्रकार का भय दिखलाना वास्तविक दण्ड देने से भी अधिक घातक है, क्योंकि इसका उसके व्यक्तित्व पर आघात पहुँचता है। क्या ही अच्छा होता यदि अभिभावक बच्चों के पालन-पोषण में मनोवैज्ञानिक पथ का अनुसरण करते !!! यदि बालक का वातावरण ठीक रखा जाय, यदि प्रारम्भ से ही उसे दृढ़ बनाने की चेष्टा की जाय तो उसमें भय की प्रवृत्ति प्रबल न होगी। वह वीर और साहसी होगा। उचित शिक्षा के पाने पर वह जीवन में कौन सी वीरता का कार्य नहीं कर सकता।

२—सहानुभूति—

दूसरे के भावों का अनुकरण करना, सामाजिकता का भाव निहित, सभी चतुर पशु-पक्षी और मनुष्य में।

कुछ मनोवैज्ञानिक सहानुभूति को मूलप्रवृत्ति की कोटि में रखते हैं, पर बहुधा यह सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति मानी जाती है। मैग्डूगल सहानुभूति, निर्देश और अनुकरण को अर्ध मूलप्रवृत्ति (सूडो इन्स्टिंक्ट्स) मानता है। जेम्स ने सहानुभूति को एक संवेग माना है। ड्रेवर के अनुसार सहानुभूति दूसरों की संवेदना और संवेग के केवल देख ही लेने पर अनुभव करने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है।* जैसे निर्देश में व्यक्ति दूसरे के विचारों का अनुकरण करता है उसी प्रकार सहानुभूति में भी वह दूसरे के भावों का अनुकरण करता है। सहानुभूति में सामाजिकता का भाव निहित

* ड्रेवर—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु एडूकेशनल साइकोलॉजी, पृष्ठ ८३।

है। इसकी क्रियाशीलता के लिये कम से कम दो व्यक्तियों का होना आवश्यक है। सहानुभूति प्रायः सभी चतुर पशु-पक्षियों और मनुष्यों में पाई जाती है। एक जाति के सदस्य से उसी जाति के अन्य सदस्य में यह संक्रामित होती है। यदि दो कुत्तों ने लड़ना प्रारम्भ किया तो प्रायः गाँव के सभी कुत्ते उनकी ध्वनि से आकर्षित हो जाते हैं और "भौंव भौंव" करने लगते हैं। एक सियार के बोलने से सभी सियारों का "हुँआँ हुँआँ" प्रारम्भ हो जाता है। भय से एक गाय के चिल्लाने पर सभी गायें भय से एकत्रित हो जाती हैं (एक स्त्री के रोने से गाँव की अधिकतर स्त्रियाँ इकट्ठा होकर रोने लगती हैं।)

सहानुभूति की क्रियाशीलता के लिये संवेग का ठीक ठीक समझना आवश्यक नहीं।

सहानुभूति के क्रियाशील होने के लिये यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति दूसरे के संवेग को पहले ठीक ठीक समझ ले। दूसरे के संवेग के रूप को बिना भली भाँति समझे ही व्यक्ति उसका अनुभव करने लगता है। उदाहरणार्थः हम किसी को रोते देख कर रोने लगते हैं। यहाँ सहानुभूतिवश रोने लगने का तात्पर्य यह नहीं कि हम उसके भाव (फीलिङ्ग) को समझते हैं; वरन् उसके बाह्य प्रकाशन के देखने मात्र से हम प्रभावित हो जाते हैं।

निष्क्रिय और सक्रिय सहानुभूति—

पशुओं की सहानुभूति निष्क्रिय, मनुष्य में सक्रिय सहानुभूति भी, सक्रिय निष्क्रिय से ही।

सहानुभूति दो प्रकार की होती है:—(१) निष्क्रिय (पैसिव्), और (२) सक्रिय (ऐक्टिव्)। दूसरे के भाव के अनुभव की प्रवृत्ति को निष्क्रिय सहानुभूति कहते हैं। पशुओं की सहानुभूति का रूप बहुधा निष्क्रिय ही हुआ करता है। मनुष्य पशु से बहुत आगे है। अतः उसमें 'निष्क्रिय' के अतिरिक्त सक्रिय सहानुभूति भी होती है। वह दूसरों के भाव की अनुभूति मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं होता। वह उसे दूसरों तक पहुँचाना भी चाहता है। वह अपने सुख व दुःख को अकेले नहीं, अपितु दूसरों के साथ भोगना चाहता है। (अपनी इस प्रवृत्ति की पूर्ति वह व्याख्यान, लेख, नाटक इत्यादि साधनों द्वारा करता है) इस वृत्ति को सक्रिय सहानुभूति कहते हैं। भिखमङ्गा सक्रिय सहानुभूति के द्वारा अपने दुःखों से दूसरों को प्रभावित कर अपनी रोटी कमाना चाहता है। सभा का भाषणवक्ता भी इस वृत्ति का सहारा लेता है। सक्रिय सहानुभूति निष्क्रिय से ही निकलती है। निष्क्रिय के अभाव में सक्रिय का होना सम्भव नहीं।

सहानुभूति-प्रवृत्ति मानव निर्बलता—

साधारणतः यह कहा जा सकता है कि सहानुभूति मनुष्य की निर्बलता का

द्योतक है, क्योंकि इसी के सहारे अनेक बुरे या अच्छे कार्य के करने की ओर वह अग्रसर हो सकता है। भाषणवक्ता भाषण के सहारे भीड़ के संवेग का अनुचित लाभ उठा कर चाहे उसे जिस ओर ले जा सकता है। भाषणवक्ता की भावनाओं से सहानुभूतिवश भीड़ ने क्या क्या काम नहीं किया है? इतिहास इसका साक्षी है।

बुरे या अच्छे कार्य की ओर सहानुभूति से झुकाया जाना।

सामाजिक जीवन के लिये सहानुभूति आवश्यक—

यह निर्विवाद है कि दुरुपयोग से सहानुभूति प्रवृत्ति हानिकर सिद्ध हो सकती है, पर इसके बिना सामाजिक जीवन असम्भव हो जायगा। सब लोग अपना अलग अलग राग अलापने लगेंगे। वास्तव में सहानुभूति तो सामूहिक जीवन-प्रवृत्ति (ग्रीगेरियस इन्स्टिंक्ट) से सम्बद्ध संवेग है। बिना संवेग के कोई मूलप्रवृत्ति क्रियाशील होती नहीं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। शैशव से ही उसमें सामाजिकता का आभास मिलने लगता है। अतः हम कह सकते हैं कि बालक के विकास में सहानुभूति प्रवृत्ति का विशेष स्थान है। उसके संवेगात्मक विकास में सहानुभूति ही कार्य किया करती है। सहानुभूति ही के कारण मनुष्य के कार्यों में एक अनुरूपता का आभास मिलता है। इसी से हम एक दूसरे के स्वार्थ का ध्यान रखते हैं। इससे आपस में प्रेम की वृद्धि होती है। सहानुभूति पशुओं में बुद्धि के अभाव को कुछ पूरा करती है। सहानुभूतिवश पशु एक दूसरे की सहायता कर बुद्धि का प्रदर्शन करते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

सहानुभूति बिना सामाजिक जीवन असम्भव, बालक के विकास में सहानुभूति का विशेष स्थान, सहानुभूति से ही मनुष्य के कार्यों में अनुरूपता, सहानुभूति से पशुओं में बुद्धि के अभाव की पूर्ति।

सहानुभूति-अनुभव के लिये कुछ बातों का होना आवश्यक है। पहले, संवेग का प्रदर्शन इस प्रकार हो कि दूसरे भली भाँति उसे देख सकें। इस लिये भीड़ में संवेग शीघ्र फैल जाता है और लोग सहानुभूति का अनुभव करने लगते हैं। दूसरे, सहानुभूति के लिये औदार्य भाव का होना आवश्यक है। यदि व्यक्ति में उदारता का अभाव है तो पिल्ले को कष्ट से कराहते हुये देख कर वह द्रवीभूत नहीं हो सकता था, या वध किये जाते पशु के चीत्कार पर उसे तनिक भी रोमांच न होगा। ज्यों ज्यों व्यक्ति में औदार्य का विकास होगा त्यों त्यों उसकी सहानुभूति-सीमा भी बढ़ती जायगी। सहानुभूति का प्रारम्भ सर्वप्रथम अपने कक्ष के लोगों से प्रारम्भ होता है। अपने विकास के अनुसार हम धीरे धीरे इसे बढ़ाना सीखते हैं। शताब्दियों बाद मनुष्य पशुओं के प्रति

सहानुभूति के लिये संवेग का देखना और औदार्य-भाव आवश्यक, इसका प्रारम्भ अपने कक्ष के लोगों से।

सहानुभूति दिखलाना सीखा । मध्यकालीन योरुप में लोग दासों (स्लेवज़) के प्रति सहानुभूति नहीं रखते थे । मानवता के विकास के साथ सहानुभूति-वृत्ति भी विकसित होती गई है । कुछ हिन्दू और मुसलमान अभी तक एक दूसरे के प्रति द्वेष से मुक्त नहीं हुए हैं । अतएव एक दूसरे वर्ग के शरणार्थियों के प्रति सहानुभूति का अनुभव उनके लिये कठिन सिद्ध हुआ । वास्तव में मानव आदर्श की चरम सीमा तो तभी पहुँचेगी जब हर एक व्यक्ति दूसरे को प्रेम से गले लगा सके—चाहे वह हिन्दू, मुसलमान, बुद्ध, ईसाई अथवा यहूदी हो ! वह दिन कितना अच्छा होगा !! महात्मा बुद्ध, ईसा और गांधी ने इसी दिन की कल्पना की है !!!

सहानुभूति और शिक्षा—

घटनाओं तथा चित्रों के वर्णन में उपयुक्त संवेग जागृत करना, शिक्षक में विशेष अनुभूति शक्ति आवश्यक ।

बालक के संवेगात्मक (इमोशनल) विकास में शिक्षक का उत्तरदायित्व बड़ा भारी है । बालक की कोमलता का अनुचित लाभ न उठा कर उसे उसी के विकास की ओर प्रवाहित करना है । शिक्षक बालक को रुला और हँसा सकता है । वह उसमें क्रोध व घृणा का संवेग भर सकता है । वह उसमें अदम्य उत्साह भर सकता है । शिक्षक को समझना चाहिये कि किस समय किस संवेग का उत्पादन बालक के विकासके लिये उचित होगा । मनोविज्ञान की सहायता से ही वह अपने इस कर्त्तव्य का पालन कर सकता है । इतिहास तथा साहित्य के पाठ में शिक्षक जिस भाव व संवेग से अनुप्राणित होगा उसका बालक पर स्थायी प्रभाव पड़े बिना न रहेगा । विभिन्न घटनाओं तथा चरित्रों के वर्णन के समय शिक्षक को उपयुक्त संवेग से बालकों को जागृत करना चाहिये । यदि शिक्षक में स्वयं किसी वस्तु विशेष की अनुभूति की शक्ति है, अर्थात् यदि वह स्वयं किसी विशिष्ट परिस्थिति में सहानुभूति का प्रदर्शन कर सकता है तो निश्चय है कि बालक भी उस सहानुभूति का अनुभव करेंगे । यदि शिक्षक ने किंचित् भी इस अवसर पर गलती की तो उसका प्रभाव बालकों पर घातक होगा । तब वह बालकों में उपयुक्त स्थायीभाव (सेन्टीमेण्ट्स) नहीं उत्पन्न कर सकेगा । सहानुभूति द्वारा बालकों में अनेक गुण उत्पन्न किये जा सकते हैं । नैतिकता के विकास का आधार सहानुभूति है । यदि दुर्बुद्ध बालक अच्छे वातावरण में रख दिया जाय तो उसका चरित्र स्वतः सुधर जायगा ।

३—अनुकरण (इमीटेशन)

अनुकरण का रूप—

वास्तव में निर्देश, सहानुभूति और अनुकरण एक त्रिभुज की तीन भुजायें हैं । कुछ मनोवैज्ञानिकों ने तो इन्हें सामूहिक मूलप्रवृत्ति का क्रमशः ज्ञानात्मक,

संवेगात्मक और क्रियात्मक अङ्ग माना है। कुछ मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में वे एक ही प्रवृत्ति के तीन पहलू हैं। निर्देश से हम अनजान में दूसरों का अनुकरण करने लगते हैं। सहानुभूति से हम दूसरे के भावों और 'अनुकरण' (इमीटेशन) से हम किसी की क्रिया का अनुकरण करते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने 'अनुकरण' को एक सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति माना है। यह सभी मनुष्यों में पाई जाती है। अनुकरण प्रवृत्ति से पशु-पक्षी भी वञ्चित नहीं। बन्दरों की अनुकरण-प्रवृत्ति प्रसिद्ध है। तोता अनुकरण-प्रवृत्ति से ही 'राम राम' रटना सीख लेता है। अनुकरण-प्रवृत्ति से ही सरकस वाले कुछ पशुओं द्वारा कौतुक दिखलाया करते हैं। संध्याकाल की प्रसन्नता या खेल में एक कुत्ते के भूँकने से गाँव के सभी कुत्ते इकट्ठे होकर चिल्लाना प्रारम्भ कर देते हैं। दो कुत्तों को खेलते देख तीसरा भी उसी में जुट जाता है। यह अनुकरण-प्रवृत्ति ही है। बालक हमें मुस्कराते हुए देख स्वयं मुस्कराने लगता है। हम जैसे जैसे अपनी आँखें और ऊँगलियाँ नचाते हैं वैसे वैसे वह भी करने लगता है। यह सब अनुकरण प्रवृत्ति का ही प्रदर्शन है।

क्रिया का अनुकरण करना बन्दरों और बच्चों में।

विकास में अनुकरण का महत्व—

प्राणी के विकास में अनुकरण का महत्व बड़ा भारी है। अनुकरण से ही पक्षी उड़ना सीखता है। आगे आगे माँ उड़ कर दिखलाती है और बच्चे को उड़ने के लिये प्रेरित करती है। उड़ने से ही वे दाना चुँगना सीखते हैं। इसी प्रकार अनुकरण से ही अन्य पशु-पक्षी अपनी आवश्यकता को पूरा करने का ढंग सीखते हैं। मानव जीवन में भी अनुकरण का स्थान महत्वपूर्ण है। यदि अनुकरण की प्रवृत्ति न होती तो पता नहीं आज की सभ्यता का रूप क्या होता। जेम्स के अनुसार "अनुकरण और आविष्कार रूपी पैरों पर मानव जाति सदा चलती रही है।" हमारा सामाजिक विकास अनुकरण का ही फल होता है। अनुकरण से ही हम अपनी विभिन्न आदतें, बोलने, चलने, बैठने और सोने का ढंग सीखते हैं। अनुकरण से ही हम बन्द गला या खुला गला का कोट पहनना निश्चय करते हैं। अनुकरण से ही हम मूँछे एक दम मुड़ा देते हैं अथवा 'गजगुच्छ' रखते हैं। सामूहिक मूलप्रवृत्ति जिन जिन प्राणियों में पाई जाती हैं उनमें अनुकरण की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ेगी। थॉर्नडाइक अनुकरण को 'सामान्य प्रवृत्ति' नहीं मानता। उसके अनुसार बालक अनुकरण के आधार पर नहीं, अपितु अपने अनुभव के आधार पर सीखता है। इस प्रकार थॉर्नडाइक 'अनुकरण' का श्रेय 'आदत' को देता है। पर ड्रेवर और

विकास में इसका स्थान महत्वपूर्ण, सामाजिक विकास अनुकरण का ही फल, बालक का अनुभव सीमित, अतः अनुकरण प्रवृत्ति उसके लिये बड़ी आवश्यक।

मैग्डूगल थॉर्नडाइक से सहमत नहीं। उनकी दृष्टि में बालक अनुकरण के आधार पर बहुत कुछ सीखता है। वास्तव में बालक का अनुभव बहुत ही सीमित होता है। अनुकरण की प्रवृत्ति के अभाव में उसका विकास बहुत ही पीछे रह जायगा। सभी क्षेत्रों में उसका विकास बड़ों के ढंगों के अनुकरण पर निर्भर करता है। कदाचित् यही कारण है कि छोटे बालकों में बड़ों की अपेक्षा अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक प्रबल होती है। यदि ऐसी बात न होती तो माँ अथवा दाई इतनी शीघ्रता से उन्हें बोलना न सिखा सकतीं। किसी प्रौढ़ व्यक्ति को विदेशी भाषा उतनी शीघ्रता से नहीं आती जितनी कि छोटे बालक को।

अनुकरण प्रवृत्यात्मक इच्छा की पूर्ति के लिये—

इसकी स्वाभाविकता—

अनुकरण की प्रवृत्ति स्वाभाविक, अनुकरण क्रिया में मूलप्रवृत्यात्मक इच्छा की पूर्ति।

पाँचवें अध्याय में हम कह चुके हैं कि सामान्य प्रवृत्तियों को क्रियाशील करने के लिये किसी विशिष्ट परिस्थिति की आवश्यकता नहीं होती, तथा उनकी क्रिया में अन्य मूलप्रवृत्तियों का भी क्रियात्मक समावेश हो जाता है। अतः किसी प्राणी की अनुकरण क्रिया उसके लिये कुछ विशिष्ट प्रयोजन रखती है। दूसरों की दृष्टि में वह व्यर्थ सी प्रतीत हो सकती है। पर उस प्राणी के विषय में ऐसी बात नहीं। उसकी अनुकरण क्रिया जिज्ञासा, युयुत्सा अथवा विधायकता आदि मूलप्रवृत्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति में हो सकती है। अनुकरण की यह प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। पर ऊपर हम देख चुके हैं कि थॉर्नडाइक को अनुकरण की स्वाभाविकता मान्य नहीं। वह पूछता है कि "बालक अनुकरण के बल पर प्रारम्भ से ही बड़ों के समान बोलने क्यों नहीं लगता? वह अनुभव से ही ठीक ठीक बोलना सीखता है।" थॉर्नडाइक के इस कथन में कुछ तथ्य अवश्य दिखलाई पड़ता है। पर बच्चे को हम मोटर चलाने वाले का अनुकरण करते हुए देखते हैं। वह सिपाही का नाटक करता है। छड़ी को घोड़ा मान कर उस पर सवारी करता है। खिलौने को बच्चा मानकर उसे दूध पिलाने की चेष्टा करता है। माँ को बर्तन स्वच्छ करते देख बर्तन स्वच्छ करने लगता है। क्या ये सब क्रियाएँ अनुभव के फल हैं? स्पष्ट है कि अनुकरण की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है।

अनुकरण की गति—

१—भीतर से बाहर की ओर—

अनुकरण की गति भीतर से बाहर की ओर होती है। निर्देश की गति केवल भीतर की ही ओर होती है। व्यक्ति विचारों को ग्रहण करने के बाद

उसकी प्रतिक्रिया अपने कार्यों द्वारा दिखलाता है। देश में किसी संस्था अथवा सिद्धान्त का प्रचार इसी मनोवैज्ञानिक सत्य के बल पर होता है। प्रचारक पहले अपने विचारों को निर्देश और सहानुभूति के द्वारा फैलाता है। तत्पश्चात् लोग उन विचारों का अनुकरण करते हैं।

२—अति तीव्र—

विचार के ग्रहण कर लेने पर अनुकरण की गति बड़ी तीव्र हो जाती है। जब तक महात्मा ईसा के विचारों को लोगों ने न समझा तब तक उन्हें नाना प्रकार की यातनाएँ भोगनी पड़ीं। पर विचार समझ लेने के बाद उनके अनुकरण की गति बड़ी तीव्र हो चली। यदि व्यक्ति अपने सिद्धान्तों पर डटा रहे तो उनका अनुकरण धीरे धीरे प्रारम्भ होकर तीव्र गति से चलने लगता है। यह बात महात्मा गांधी के जीवन से भी स्पष्ट है।

अनुकरण के प्रकार

मैग्डूगल का वर्गीकरण—

मैग्डूगल अनुकरण का पाँच भागों में वर्गीकरण करता है। इन पाँच में तीन को वह प्रधान (मेन) मानता है और दो को गौण (माइनर)।

प्रधान अनुकरण—

१—सहज अनुकरण (सिम्पैथेटिक इमीटेशन)—

शैशव में।

बालक दूसरे को हँसते अथवा रोते देख कर हँसने या रोने लगता है। हम मुँह टेढ़ा करते हैं तो वह भी वैसा ही टेढ़ा करता है। चुटकी बजाने पर वह भी चुटकी बजाने लगता है। इस प्रकार के अनुकरण को मैग्डूगल सहज अनुकरण की संज्ञा देता है। इन सब कार्यों में सहानुभूति का विशेष हाथ रहता है; पर 'गति' का दुहराना अनुकरण प्रवृत्ति से सरल हो जाता है। इस प्रकार का अनुकरण विशेषकर शैशव में ही होता है।

२—विचार-जन्य अनुकरण (आइडिओ-मोटर टाइप ऑव इमीटेशन)—

कभी कभी किसी विचार के आने के साथ ही साथ उसका प्रकाशन भी हमारे अनुकरण द्वारा हो जाता है। हम किसी कलाकार को रस्सी पर नृत्य करते हुए देखते हैं। वह अपने हाथों से अपने शरीर का सन्तुलन करता है। अपने को गिरने से बचाने के लिये वह

बालक की बहुत सी

गतियाँ इसी कोटि में, विभिन्न हावभाव को इसी से सीखना।

जैसे जैसे अपने हाथ को टेढ़ा करता है वैसे ही दर्शक भी अपना हाथ टेढ़ा करता हुआ दिखलाई पड़ता है। किसी फुटबाल खिलाड़ी को गोल मारते हुए असफल देख कर दर्शक भी "अरे रे रे!" करते हुए टेढ़े हो जाते हैं। दर्शक की ये सब क्रियाएँ अनजान में ही होती हैं। मैग्डूगल के अनुसार बच्चों की बहुत सी गतियाँ इसी कोटि में रखी जा सकती हैं। बालक बहुत ही चतुर दर्शक होता है। वातावरण की वस्तुओं से उसकी रुचि रहती है। वातावरण की प्रत्येक गति को वह ध्यानपूर्वक देखता है। वस्तुतः बालक की यह चतुरता ही उसके विकास का सबसे बड़ा रहस्य है। विचार-जन्य अनुकरण के द्वारा वह विभिन्न हाव-भावों को सीख लेता है।

३—विचारपूर्वक अनुकरण (डेलीबरेट इमीटेशन)—

इस प्रकार के अनुकरण में व्यक्ति सब कुछ जान बूझ कर करता है। मस्तिष्क की गति पर उसका पूरा नियन्त्रण रहता है। व्यक्ति किसी आदर्श के अनुकरण की ओर झुकता है। इस प्रकार का अनुकरण छोटे बालकों में सम्भव नहीं। जब उनमें कुछ रुचियाँ आ जाती हैं तभी उनमें विचारपूर्वक अनुकरण सम्भव हो सकता है।

किसी आदर्श का जान बूझकर अनुकरण।

गौण अनुकरण—

४—विचाररहित अनुकरण—

विचाररहित अनुकरण को 'विचार जन्य' और 'विचारपूर्वक' के मध्य में रखा जा सकता है। मैग्डूगल के अनुसार छोटे बच्चों के अनुकरण प्रायः इसी कोटि के होते हैं। उन्हें किसी आदर्श अथवा सिद्धान्त का बोध नहीं। उनके अनुकरण में किसी विचार का प्रायः अभाव रहा करता है। वे किसी घटना या परिस्थिति से उत्पन्न ध्वनि अथवा दृश्य से प्रभावित हो जाते हैं। इस प्रभाव के कारण बिना कुछ समझे ही वे अनुकरण करना प्रारम्भ कर देते हैं।

छोटे बच्चों का अनुकरण इसी कोटि में, ध्वनि अथवा दृश्य से प्रभावित होने के कारण।

५—निरर्थक अनुकरण—

निरर्थक अनुकरण कोमल शिशुओं में देखा जा सकता है। चार-पाँच मास के बालक को कुछ भी ज्ञान नहीं होता। तथापि वह हमारी मुस्कराहट पर मुस्करा दिया करता है। इस प्रकार के अनुकरण में ज्ञानात्मक और भावात्मक अंग नहीं। मैग्डूगल के अनुसार इसी प्रकार का अनुकरण शुद्ध कहा जा सकता है।

ड्रेवर का वर्गीकरण—

ड्रेवर अज्ञात (अनकॉन्शस) और ज्ञात (डेलीबरेट) के रूप में अनुकरण के दो भेद करता है। उसके अनुसार व्यक्ति के कार्य के आधार सविकल्पकात्मक (परसेपचुअल) अथवा विचारात्मक (आइडियेशनल) हुआ करते हैं। सविकल्पकात्मक आधार पर उसका अनुकरण प्रायः क्रिया को देखने पर ही बिना कुछ समझे हुआ करता है। विचारात्मक आधार पर उसका अनुकरण उसके निश्चय के अनुसार हुआ करता है।

(१) अज्ञात और (२) ज्ञात अनुकरण व्यक्ति के कार्यों का सविकल्पकात्मक और विचारात्मक आधार।

१—अज्ञात अनुकरण—

अज्ञात अनुकरण में व्यक्ति बेसुध रहता है। वह अनजान में दूसरों का अनुकरण करता है। इस अनुकरण की क्रिया बड़े धीरे धीरे चलती है, पर इसमें निश्चयता रहती है। हमारी आकस्मिक शिक्षा (इन्सीडेण्टल एड्रकेशन) का आधार अज्ञात अनुकरण ही होता है। अज्ञात रूप में हम सदा वातावरण से शिक्षा ग्रहण किया करते हैं। हमारी रहन सहन तथा बोलने का ढंग इत्यादि अज्ञात अनुकरण का ही फल होता है। वातावरण का प्रभाव व्यक्ति के ऊपर सदा पड़ा करता है। अतः यह आवश्यक है कि बालक के वातावरण को सभी प्रकार से सदा ठीक रखा जाय। बालक को अच्छा बनाने के लिये उसके साथ केवल मनोवैज्ञानिक व्यवहार की ही आवश्यकता नहीं। जिस घर में माता व पिता में सदा कलह हुआ करती है, पिता सदा नौकरों पर डाँटा करता है, तथा अपनी साधारण सी आवश्यकता के लिये भी सदा नौकरों अथवा बच्चों को बुलाया करता है; साधारण से साधारण सी बात पर यदि वह दुर्वासा का रूप धारण कर दूसरों को 'मूर्ख' की संज्ञा दिया करता है; उसका वातावरण बालकों के लिये कभी हितकर नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिस स्कूल में विनय (डिस्सीप्लिन) का अभाव है, जहाँ के अध्यापक विशेषकर देर से आया करते हैं और पढ़ाने के समय कक्षा से बाहर निकल कर गप्पें हाँका करते हैं, जहाँ खेल इत्यादि का समुचित प्रबन्ध नहीं, जहाँ साहित्य तथा कला सम्बन्धी प्रतियोगिताओं का आयोजन नहीं, जहाँ का प्रधानाध्यापक चिड़चिड़ा तथा बात बात पर डण्डों से बातें करता है—उसमें बालकों को शिक्षा के लिये कभी न भेजना चाहिये। स्पष्ट है कि घर और स्कूल के वातावरण की शुद्धता की आवश्यकता पर जितना कहा जाय थोड़ा ही है।

आकस्मिक शिक्षा का आधार तथा बोलने का ढंग इत्यादि इसी का फल, घर और स्कूल के वातावरण की शुद्धता आवश्यक।

२—ज्ञात अनुकरण—

ज्ञात अनुकरण में व्यक्ति एक निश्चित आदर्श की ओर जान बूझकर बढ़ता है। वह किसी में कोई अच्छी बात देखता है और उस ओर आकर्षित हो जाता है। ज्ञात अनुकरण दो प्रकार का होता है। व्यक्ति किसी बात का अनुकरण उसमें अपनी रुचि के कारण कर सकता है। उदाहरणार्थः चित्रकला में उन्नति के लिये किसी चित्र का अनुकरण करना व्यक्ति की उसमें रुचि के कारण हुआ। पर यदि यही अनुकरण किसी प्रतियोगिता में पुरस्कार हेतु किया गया तो उद्देश्य बदल गया। वास्तव में कला की दृष्टि से इस प्रकार का अनुकरण पहले से हीन है। प्रायः देखा जाता है कि प्रतियोगिता की सम्पाप्ति अथवा पुरस्कार पा जाने पर व्यक्ति का उत्साह ढीला पड़ जाता है। इस अनुकरण का प्रभाव उसकी आदत का स्थायी अंग में नहीं आता। अतः रुचि के आधार वाला अनुकरण बालक में उत्साहित करना चाहिये।

निश्चित आदर्श की ओर, रुचि वाले अनुकरण को बालक में प्रोत्साहित करना।

अनुकरण की उपयोगिता

अनुकरण की उपयोगिता क्या है? कुछ लोगों का कहना है कि इससे दास-वृत्ति की वृद्धि होती है और मौलिकता का ह्रास होता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनुकरण की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हाँ, यह सत्य है कि इसकी भी सीमा होनी चाहिये। उच्च आदर्श के अनुकरण के आधार पर बालक सभ्यता की विभूतियों तक पहुँचने में समर्थ हो सकता है। उसे आत्म-बोध हो सकता है। अनुकरण से वह अपनी सीमा का अनुमान लगा के तदनुसार आगे बढ़ने का प्रयत्न कर सकता है। वातावरण को सीमित कर ज्ञात अनुकरण का उपयोग स्कूलों में भली-भाँति किया जा सकता है। यदि बालक के वातावरण में केवल कुछ चुनी हुई बातें ही अपने आदर्श रूप में उपस्थित की जायँ तो उसमें दास-वृत्ति के वृद्धि की सम्भावना नहीं हो सकती। किसी वस्तु से प्रेम के कारण उसका किया हुआ अनुकरण सदा शक्तिवर्द्धक होगा। अज्ञात अनुकरण में व्यक्ति आत्म-हीनता का अनुभव करता ही नहीं।

उच्च आदर्श का अनुकरण लाभप्रद, इससे दास-वृत्ति के वृद्धि की सम्भावना नहीं।

यदि अनुकरण का इतना महत्व है तो शिक्षा में इसका क्या स्थान होना चाहिये? क्या शिक्षा का उद्देश्य अनुकरण ही होना चाहिये? आजकल शिक्षा-क्षेत्र में आत्म-बोध (सेल्फ-रीयलाइज़ेशन) की माँग हो रही है। क्या अनुकरण व्यक्ति को इस

अनुकरण के प्रोत्साहन

में आविष्कार शक्ति को नहीं भूलना, अनुकरण विकास की पहली सीढ़ी।

उद्देश्य की ओर अग्रसर कर सकता है? क्या इसके आधिक्य से व्यक्ति की रचनात्मक शक्ति का ह्रास नहीं होगा? यहाँ पर हमें जेम्स के कथन पर ध्यान देना होगा। अनुकरण को प्रोत्साहन देते समय 'आविष्कार-शक्ति' को नहीं भूल जाना है। बड़े से बड़े आविष्कारक को भी प्रारम्भ में अनुकरण का सहारा लेना पड़ता है। हमारा जीवन इतना छोटा है और कार्य इतना अधिक है कि हमें अनुकरण करना ही पड़ेगा। क्या कापरनिकस, न्यूटन तथा टैगोर ने अनुकरण का सहारा नहीं लिया है? कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो उसे अनुकरण की अवस्था में आना ही होगा। टी० पी० नन के अनुसार 'अनुकरण व्यक्तित्व के विकास की प्रथम सीढ़ी है।" जापान का उदाहरण हमारे सामने है। अनुकरण के ही बल पर उसने एक बार संसार को हिला दिया। नैपोलियन भी कहा करता था "अपने शत्रुओं की एक ही सेना के सामने सदा न लड़ा करो, नहीं तो वे तुम्हारी सारी कलाएँ सीख लेंगे।"

शाब्दिक उपदेश के स्थान साक्षात् उदाहरण रखना।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बालकों की शिक्षा में उसकी अनुकरण की प्रवृत्ति का उपयोग करना चाहिये। बालक का स्वभाव अनुकरणशील होता है। दूसरों में कुछ देखने से उसके अनुकरण करने की प्रवृत्ति उसमें जागृत हो जाती है। अतः बालक के सामने कभी कोई बुरी बात आनी ही न चाहिये। इस विषय में अभिभावकों और अध्यापकों का उत्तरदायित्व बड़ा भारी है। शाब्दिक उपदेश न देकर यदि बालकों के सामने साक्षात् उदाहरण रखा जाय तो अधिक लाभप्रद होगा। "सत्य बोलना चाहिये, स्वच्छता से रहना चाहिये, सुन्दर लिखना चाहिये, नित्य सूर्योदय के पहले उठना चाहिये, नियमानुसार अपने सब कार्य करने चाहिये, अपने कपड़े ठीक से रखने चाहिये, क्रोध नहीं करना चाहिये, स्वावलम्बी होना चाहिये, मृदुभाषी होना चाहिये—"इत्यादि का केवल कोरा उपदेश ही न देकर यदि अभिभावक और शिक्षक स्वयं इन उपदेशों को कार्यान्वित कर बालकों के सामने आदर्श उपस्थित करें तो वास्तव में बालकों के लिये बड़ा कल्याणकर होगा। पर खेद है कि हमारे वचन व कर्म में कितना असामञ्जस्य है।

अनुकरण की प्रवृत्ति में स्पर्धा के समावेश से व्यक्तित्व का ह्रास नहीं।

यदि स्कूल में किसी बालक ने कोई अच्छा काम किया तो उसका प्रकाशन सब के सामने करना बड़ा ही मनोवैज्ञानिक है। इस प्रकाशन से अच्छा बालक उत्साहित होकर और आगे बढ़ने की चेष्टा करेगा और अन्य बालकों में स्पर्धा की भावना से अनुकरण की प्रवृत्ति बढ़ेगी। अनुकरण की प्रवृत्ति में स्पर्धा का समावेश हो गया तो व्यक्तित्व का ह्रास न होकर

अभिवृद्धि होती है। बिना स्पर्धा के उल्लेख के अनुकरण का प्रकरण पूरा नहीं कहा जा सकता। अतः अब हम इसी ओर आते हैं।

स्पर्धा (इम्यूलेशन)

स्वरूप—

एक प्रकार का अनुकरण, बराबरी वालों से स्पर्धा, आगे बढ़ जाने की प्रवृत्ति, प्रबल इच्छा-शक्ति वाले व्यक्तियों में स्पर्धा, स्पर्धा में अनुकरण, द्वन्द प्रवृत्ति और आत्म-प्रदर्शन का मिश्रण, स्पर्धा ईर्ष्या से भिन्न।

स्पर्धा की प्रवृत्ति व्यक्ति में स्वाभाविक होती है। यह एक प्रकार का अनुकरण ही है। इसके समावेश से अनुकरण का दोष निकल जाता है। अनुकरण और स्पर्धा में सैद्धान्तिक भेद है। व्यक्ति अपने से बड़ों का अनुकरण करते हुए उनके आदर्शों तक पहुँचने की चेष्टा करता है। स्पर्धा में व्यक्ति दूसरे से आगे बढ़ जाने की प्रवृत्ति रखता है। कुछ लोगों का कहना है कि हम अपने से बराबरी वालों से स्पर्धा करते हैं और बड़ों का अनुकरण। पर यह मनोवैज्ञानिक सत्य नहीं। वास्तव में हम अपने बड़ों से भी स्पर्धा कर उनसे बड़े बनने की उत्कट कामना कर सकते हैं। पर इसका उदाहरण अधिक नहीं मिलता। यह प्रबल इच्छा शक्ति वालों में ही मिल सकती है। स्पर्धा में आगे बढ़ जाने की प्रवृत्ति होती है। अतः अनुकरण और इसमें मौलिक भेद दिखलाई पड़ता है। स्पर्धा में व्यक्ति दूसरे से बढ़ जाना चाहता है तथा यह दिखलाना चाहता है कि वह उससे छोटा नहीं है। इस इस प्रकार स्पर्धा में अनुकरण, द्वन्द प्रवृत्ति और आत्म-प्रदर्शन का मिश्रण रहता है। ईर्ष्या, द्वेष या डाह 'स्पर्धा' से एक दम भिन्न है। ईर्ष्या में व्यक्ति दूसरे का अनर्थ चाहता है। यह मनोवृत्ति कभी हितकारी नहीं। इससे करने और किये जाने वाले दोनों का अनर्थ होता है। पर स्पर्धा में ऐसी बात नहीं। इसमें दोनों का हित निहित होता है।

स्पर्धा और शिक्षा—

स्पर्धा का होना शुभ लक्षण, अधिकांश अच्छे कार्य इसी प्रवृत्ति से, एक आदर्श पर पहुँच जाने पर दूसरा आदर्श बालक के

बालक में स्पर्धा के प्रवृत्ति का होना शुभ लक्षण है। इसको दबाना ठीक नहीं। इसकी सहायता से बालक बहुत दूर तक जा सकता है। इसके बिना उसकी उन्नति नहीं हो सकती। संसार के अधिकांश अच्छे कार्य इसी प्रवृत्ति से किये जाते हैं। स्पर्धा वाला बालक होड़ लगा कर दूसरे बालक से बढ़ जाना चाहता है। ऐसा बालक सदैव उन्नति करता रहता है। अभिभावकों और अध्यापकों को जानना चाहिये कि स्पर्धा की वृद्धि कैसे की जा

सामने रखना, पुरस्कार से स्पर्धा जागृत करना, बार बार प्रतियोगिता की भावना जागृत करना अमनोवैज्ञानिक।

सकती है। यदि एक आदर्श तक बालक पहुँच जाता है तो उसके सामने दूसरा उच्चतर आदर्श रखना बड़ा आवश्यक है, अन्यथा बालक में दम्भ आ सकता है। उसे सदा यह चेतना रहनी चाहिये कि अभी उसे आगे बढ़ना है। बालकों को प्रोत्साहन देने के लिये उपयुक्त अवसर पर सदा पुरस्कार देते रहना चाहिये। इससे स्पर्धाहीन बालकों में भी स्पर्धा जागृत हो सकती है। पर अध्यापकों को ध्यान रहे कि स्पर्धा ईर्ष्या, द्वेष या डाह में न परिणित हो जाये। जब प्रतियोगिता की भावना अपरिमित हो जाती है तो स्पर्धा ईर्ष्या में परिवर्तित हो जाती है। अतः बार बार प्रतियोगिता की भावना जागृत करना अमनोवैज्ञानिक है। शिक्षक को बार बार अंकगणित, चित्र अथवा अन्य उत्तर पर अंक नहीं देना चाहिये; क्योंकि इससे बालक अधिक अंक पाने की इच्छा से ही परिश्रम करने लगेंगे। आत्मोन्नति का भाव उनके मनसे जाता रहेगा। इसका एक दुष्परिणाम यह होता है कि कम अंक पाने वाले बालक में आत्महीनता का भाव उत्पन्न हो जाता है।"

स्पर्धा से सामूहिक प्रवृत्ति का विकास—

स्पर्धा के उपर्युक्त कुपरिणाम से बचने के लिये उसे एक सामूहिक रूप दिया जा सकता है। स्कूल अथवा कक्षा को विभिन्न वर्ग में विभाजित कर बालकों को एक दूसरे से किसी विशिष्ट कार्य में बढ़ जाने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिये। इसमें व्यक्ति अपने वर्ग अथवा समुदाय को जिताने के लिये स्पर्धा करेगा, न कि अपनी व्यक्तिगत उन्नति के लिये। इस प्रकार स्पर्धा से सामूहिक प्रवृत्ति का भी विकास किया जा सकता है।

आत्मस्पर्धा—

शिक्षक को बालकों में अपने अतीत पर भी दृष्टि डालने की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिये। व्यक्ति बहुधा यह सोचता है कि वह अवनति के पथ पर तो नहीं जा रहा है। इस प्रकार की प्रवृत्ति को आत्मस्पर्धा कहते हैं। इसे प्रोत्साहन देने से व्यक्ति अपने दोषों व गुणों को स्वयं समझने लगेगा। आत्मस्पर्धा की उन्नति के लिये दिनपत्रिका (डायरी) का लिखना सहायक सिद्ध होगा। इससे व्यक्ति अपने अतीत पर दृष्टि डाल अपने भविष्य का पथ निश्चित कर सकता है।

अतीत पर दृष्टि डालना आवश्यक, दिनपत्रिका लिखना।

४—खेल (खे)

स्वरूप—

खेल एक सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति प्रायः सभी चेतन

प्राणियों में पाई जाती है। खेल बालक की रचनात्मक (क्रिएटिव) क्रियाशीलता का प्रकाशन कहा जा सकता है। स्वाभाविकता, स्वतन्त्रता और आनन्द से खेल-क्रिया रंजित रहती है। बालक से लेकर बूढ़े तक में खेलने की प्रवृत्ति पाई जाती है। खेल केवल मनुष्य में ही नहीं देखा जाता। गाय के बछड़े, शेर, बिल्ली तथा कुत्तों इत्यादि पशुओं में भी खेल की प्रवृत्ति देखी जाती है। खेल मनुष्य के जीवन का तो अत्यन्त ही व्यापक अंग हो गया है। प्रकृति पथ से हट कर मनुष्य खेल की प्रवृत्ति का प्रदर्शन अब कई साधनों से करने लगा है। खेल में प्राणी को स्वतन्त्रता और आनन्द की अनुभूति होती है। यह स्वतन्त्रता और आनन्द किसी अन्य कार्य में नहीं। खेल में व्यक्ति अपने को भूल सा जाता है। मैग्डूगल ने खेल को निर्देश अथवा अनुकरण के सदृश् एक प्रवृत्ति माना है। खेल की प्रवृत्ति के अभाव में हमारी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास सम्भव नहीं। कदाचित् यही कारण है कि मन्दबुद्धि बालक में खेलने की प्रवृत्ति कम होती है। जो शिशु बहुत खेलता है उसे होनहार का विशेषण दिया जाता है।

खेल रचनात्मक क्रियाशीलता का प्रकाशन; स्वाभाविकता, स्वतन्त्रता और आनन्द से रंजित; मानव जीवन का व्यापक अंग।

खेल में व्यक्ति किसी बाहरी बन्धन से मुक्त रहता है। इसमें किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति की इच्छा नहीं रहती। खेल का उद्देश्य खेल ही में निहित रहता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि खेल निष्प्रयोजन होता है। वस्तुतः चेतन प्राणी का कोई भी कार्य बिना किसी प्रयोजन के नहीं होता। खेलना बालक का जन्मजात स्वभाव है। जैसे उसके लिये खाना-पीना आवश्यक है, उसी प्रकार खेलना भी। बिना खेले वह रह ही नहीं सकता। खेलने की उसमें एक आन्तरिक प्रवृत्ति होती है। युवा व्यक्ति बिना खेले रह सकता है, पर बालक नहीं। खेल मानव जीवन की महान् अभिप्रेरक शक्तियों में से एक है। पर यह एडलर की "लिबिडो" अथवा बर्गसेन का 'इलान वाइटल' नहीं है।* जैसे मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया में व्यक्ति में आत्म-प्रकाशन की भावना निहित रहती है, उसी प्रकार खेल में आत्म-प्रकाशन का भाव रहता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों की गति इसे एक मूल-प्रवृत्ति मानने की ओर दिखलाई पड़ती है। पर मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाओं के लिये तो विशिष्ट परिस्थिति की आवश्यकता होती है। खेल के लिये ऐसी बात नहीं। खेलने में विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों का प्रकाशन होता है। खेलने में हम में क्रोध, भय, आनन्द तथा कृतिभाव इत्यादि सवेगों का समावेश हो सकता है।

खेल में बाहरी बन्धन से मुक्त, अन्य उद्देश्य के पूर्ति की इच्छा नहीं, खेलना जन्मजात प्रवृत्ति, अभिप्रेरक शक्ति, खेल में आत्म-प्रकाशन का भाव, विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रकाशन।

* पाँचवाँ अध्याय देखिये।

खेल का रूप व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों होता है। प्रायः तीन-चार वर्ष की अवस्था तक बालक अकेले ही खेलना पसन्द करता है। सामाजिक गुण के कारण तीन-चार वर्ष के बालक समूह में खेलते हुए पाये जा सकते हैं। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे सामूहिक खेल में लीन हैं। इस अवस्था तक प्रत्येक बालक अपने व्यक्तिगत खेल में ही दत्तचित्त रहता है। बाल्यकाल अथवा ५-६ वर्ष के हो जाने पर उसमें सामूहिकता का गुण आ जाता है और इसकी छाप उसके खेलों पर दिखलाई पड़ती है। तृतीय अध्याय में इस पर प्रकाश डाला जा चुका है। इस प्रकार व्यक्तिगत विकास के अतिरिक्त खेल से बालक का सामाजिक विकास भी होता है, क्योंकि शैशव के बाद प्रायः अकेले खेलना कठिन होता जाता है। खेलने में कम से कम दो की उपस्थिति तो आवश्यक हो ही जाती है। बालक अपने बड़ों के अनुकरण से विभिन्न सामाजिक गुण सीखता है। प्रायः उसी का प्रदर्शन वह अपने खेलों में करता रहता है। किसी घुड़सवार अथवा चरवाहे को भैंस की सवारी करते देख वह छड़ी को दोनों पैरों के बीच डाल सवारी करने का नाटक करता है। अपने पिता के साथ दूकान पर जाकर बनिये को वह सौदा तोलते देखता है। वह भी अपने साथियों में धूल इत्यादि को समान मान कर दूकानदार बन बैठता है। इस प्रकार अपनी शारीरिक व मानसिक शक्तियों का विकास वह अनजान में करता रहता है। उसके खेलों में कल्पना का आधिक्य रहता है। इस कल्पना ही के कारण खेल और कार्य का भेद अधिक स्पष्ट हो जाता है। अब हम इसी भेद की ओर आते हैं।

व्यक्तिगत और सामूहिक रूप, पाँच-छः वर्ष के बाद सामूहिक खेल, देखी हुई बात का प्रदर्शन खेल में, कल्पना का आधिक्य।

खेल और कार्य—

खेल और कार्य में हमारी विभिन्न मानसिक वृत्तियों के कारण भेद आ जाता है। कार्य सदा एक विशिष्ट उद्देश्य से प्रेरित होकर किया जाता है। सभी मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाओं में यह उद्देश्य स्पष्ट रहता है। खेल का उद्देश्य खेल ही होता है। किसी कार्य में रत व्यक्ति से पूछा जाय तो वह अपनी क्रियाशीलता का उद्देश्य क्रिया से परे किसी विशिष्ट फल की ओर बतलायेगा। खिलाड़ी अपना उद्देश्य खेल ही बतलायेगा। खेल में आनन्द का अनुभव खेल-क्रिया में ही होता है। कार्य में आनन्द का अनुभव फल-प्राप्ति के बाद में होता है। पर आदर्श की दृष्टि से खेल और कार्य में अन्तर होना ही न चाहिये। आदर्श तो यही है कि हम किसी भी कार्य में

खेल का उद्देश्य खेल ही; कार्य का एक विशिष्ट उद्देश्य, खेल में आनन्द का अनुभव खेल की क्रिया से, कार्य में आनन्द का अनुभव फल की प्राप्ति पर, आदर्श की दृष्टि से खेल और कार्य में अन्तर नहीं।

Md. Hanif
B.A. II
A.U.A.

उतना ही आनन्द का अनुभव करें जितना कि किसी खेल में। वस्तुतः महापुरुषों के सम्बन्ध में यही होता है। जो सांसारिक राग से विरक्त रहता है उसके कार्य में खेल की प्रवृत्ति का समावेश हो जाता है। अपने सामने सभी कार्यों को वह कर्त्तव्य की दृष्टि से देखता है। इस कर्त्तव्य का पालन मानो वह खेल खेल में करता है। यहाँ पर कृष्ण का उदाहरण कितना उपयुक्त है!! कृष्ण के कार्यों को हम 'कृष्णलीला' कहते हैं। क्योंकि उन्होंने अपने कर्तव्यों का पालन हँसते हँसते खेल में किया था।

खेल में भी हमें कभी कभी कुछ उद्देश्य दिखलाई पड़ता है। फुटबॉल या हॉकी खेलने में "गोल" मारने का उद्देश्य रहता है तथा क्रिकेट में 'रन' बनाने का। इसके अतिरिक्त खेल में सदा स्वतन्त्रता भी नहीं होती। खिलाड़ी को कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। तो खेल और कार्य में भेद क्या है? इसके उत्तर में ड्रेवर का कहना है कि खेल में हम कल्पित संसार में भ्रमण करते हैं। हमें वास्तविकता की सुधि नहीं रहती। खेल के उद्देश्य का सम्बन्ध भी कल्पित संसार से हुआ करता है। खेल में प्रतिबन्ध हम अपनी इच्छानुसार स्वयं डालते हैं। कार्य में हमें दूसरों द्वारा निर्धारित कुछ नियमों का पालन करना अनिवार्य हुआ करता है। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि बालकों के खेल में कल्पित भावना का आधिक्य रहता है। अतएव अपने खेल में वह विभिन्न प्रकार का नाटक किया करता है। बड़ों के साथ उसे अपनी भावनाओं के व्यक्त करने का अवसर नहीं मिलता। उसके और बड़ों के बीच में लम्बी खाई होती है। कदाचित् इस खाई का रहना भी स्वाभाविक ही है। अतः बालक अपनी भावनाओं के प्रकाशन के लिये कल्पित संसार के क्षेत्र में अवतरित होता है।

खेल में भी कभी कभी उद्देश्य, पर खेल का सम्बन्ध कल्पित संसार से, खेल का प्रतिबन्ध अपनी इच्छानुसार, कार्य में दूसरों द्वारा निर्धारित नियमों का पालन।

खेल में कल्पित भावनाओं का आधार रहता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि बालक अथवा खेलाड़ी में खेलते समय गम्भीरता का अभाव रहता है। बालक खेलने में उतना ही गम्भीर रहता है जितना कि कोई भी अपने कार्य में हो सकता है। प्रायः देखा जाता है कि बालक खेलते समय अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं की ओर भी ध्यान नहीं देता। प्यास अथवा भूख को भी वह सह सकता है। किसी बड़े के आने पर उसे प्रणाम करना वह भूल जाता है। खेल में किसी प्रकार की बाधा पड़ने से वह क्रोध से लाल हो जाता है। इस बाधा से कदाचित् उसे उतना ही धक्का लगता होगा जितना कि किसी सेनापति को अपनी सेना की हार से।

खेलते समय गम्भीरता का भाव नहीं, खेलते समय बालक का अपनी स्वाभाविक आवश्यकता का भूलना।

खेल कार्य रूप में भी।

खेल को कभी कभी कार्य का भी रूप दिया जा सकता है। यदि हॉकी फुटबॉल, अथवा क्रिकेट आदि खेलों पर टिकट लगा कर धन इकट्ठा करने का आयोजन किया जाय तो यही खेल कार्य हो जायगा। जीविका निर्वाह की दृष्टि से कुश्ती लड़ने वाले अथवा गाने बजाने वालों के लिये उनका खेल कार्य सा हो जाता है। पर खेल और कार्य का यह मिश्रण बड़ा ही मधुर होता है।

खेल के सिद्धान्त

व्यक्ति क्यों खेलता है? प्रकृति ने उसे यह प्रवृत्ति क्यों दी है? मूलप्रवृत्तियों के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि प्रत्येक के सम्बन्ध में प्रकृति का एक निश्चित प्रयोजन रहता है। पर खेल के सम्बन्ध में अभी उपर्युक्त प्रश्नों का एकमत से उत्तर नहीं दिया जा सका है। इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वान अपना अपना अलग राग अलापते देखे जाते हैं। खेल के रहस्य को ठीक ठीक समझने के लिये उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की विवेचना आवश्यक जान पड़ती है। अतः अब हम उसी पर आते हैं।

प्रवृद्ध शक्ति का सिद्धान्त (सरप्लस इनरजी थियरी)—

प्रवर्तक शीलर और स्पेन्सर; बची हुई शक्ति को खेल में लगाना, बच्चों के पास अधिक शक्ति।

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक श्री शीलर कहे जाते हैं। इसका प्रतिपादन स्पेन्सर ने भी किया है। प्रत्येक प्राणी को अपने दैनिक कार्यों के करने के लिये प्रकृति ने कुछ शक्ति दी है। इन कार्यों में उपयोग के बाद जो शक्ति बच जाती है वह प्राणी खेल में व्यय करता है। बच्चे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सदा दूसरों पर निर्भर रहते हैं। उन्हें स्वयं कुछ कार्य नहीं करना पड़ता। इस प्रकार उनकी अधिकांश शक्ति बच जाती है। इस शक्ति का उपयोग वे खेल में किया करते हैं। बच्चे बूढ़ों से अधिक खेलते हैं, क्योंकि उनके पास बची हुई शक्ति अधिक होती है

आलोचना—

इस सिद्धान्त का बालक की शारीरिक शक्ति पर ही ध्यान, खेल की

प्रवृद्ध शक्ति के सिद्धान्त के अनुसार प्राणी की शक्ति खेल द्वारा उसी प्रकार निकल जाती है जैसे एञ्जिन की अतिशय शक्ति भाप की नली से। यह सिद्धान्त बालक की केवल शारीरिक शक्ति पर ही अपना विचार केन्द्रित करता है। उसकी सम्भावित मानसिक शक्ति का इसे कुछ ध्यान नहीं। अतः इससे हमें बालक के हाथ व पैर के केवल कुछ निरर्थक गतियों के कारण का ही

विभिन्नता मानसिक शक्ति की विभिन्नता के कारण, प्रवृद्ध शक्ति सिद्धान्त अधूरा, इससे सभी खेलों पर प्रकाश नहीं।

पता लगता है। विभिन्न प्राणियों के बच्चों के खेल में भिन्नता होती है। यह भिन्नता उनकी विभिन्न मानसिक शक्ति के कारण रहती है। पर प्रवृद्ध शक्ति का सिद्धान्त इस समस्या का समाधान नहीं करता। थका हुआ बालक क्यों खेलने के लिये दौड़ जाता है? प्रवृद्ध शक्ति के सिद्धान्त के अनुसार तो थक जाने पर कोई खेलेगा ही नहीं। पर हम देखते हैं कि दिन भर कार्य में व्यस्त रहने के बाद मनुष्य सन्ध्याकाल खेलने की उत्कट इच्छा प्रगट करता है। इस प्रकार प्रवृद्ध शक्ति का सिद्धान्त अधूरा दिखलाई पड़ता है। इससे सभी प्रकार के खेलों पर प्रकाश नहीं पड़ता।

२—पुनप्रार्प्ति का सिद्धान्त (रीक्रिएटिव् थियरी)—

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन बर्लिन के लाज़रस ने किया था। इसका समर्थन इङ्गलैण्ड के लॉर्ड कैम्पस ने किया है। जी० टी० डब्ल्यू पैट्रिक का भी नाम इस सम्बन्ध में लिया जाता है। कार्य करते करते व्यक्ति के अवयव थक जाते हैं। इस व्यय की हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिये व्यक्ति खेल का अवलम्बन लेता है। खेलने से वह स्फूर्ति का अनुभव करता है। अपने अपने विकास के अनुसार लोगों के खेल विभिन्न प्रकार के हुआ करते हैं। स्कूल-शिक्षा से थका हुआ बालक खेल के मैदान में दौड़ जाता है। कार्यालय का थका हुआ अफसर टेनिस खेलने चला जाता है।

खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए खेल का अवलम्बन

आलोचना—

पुनप्राप्ति के सिद्धान्त से भी हम सब खेलों का कारण नहीं समझ सकते। इससे हमें प्रौढ़ व्यक्तियों के खेलों का ही कुछ पता लगता है। यह माना जा सकता है कि खेल से व्यक्ति अपने क्लिष्ट कार्य की कटुता को थोड़ी देर के लिये भूल जाता है और वह कुछ स्फूर्ति का अनुभव करता है। पर बालक खेलने में क्यों इतना लगा रहता है? वह किस कार्यालय में कार्य करने से थका रहता है? न थके रहने पर भी तो हम में खेलने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर पुनप्राप्ति का सिद्धान्त नहीं देता। इस प्रकार इससे केवल कार्य-भार से थक जाने वाले व्यक्तियों के खेल का ही अर्थ समझ में आता है। पर विभिन्न प्रकार के खेलों का समाधान इससे नहीं होता।

सब खेलों का कारण स्पष्ट नहीं, केवल थके हुये व्यक्तियों के ही खेल का स्पष्टीकरण।

३—पूर्वाभिनय का सिद्धान्त (ऐण्टीसीपेटरी या प्रैक्टिस थियरी)

पूर्वाभिनय के सिद्धान्त की ओर सर्वप्रथम मेजरबेन्ग ने संकेत किया।

परन्तु इसका विस्तृत वर्णन कार्ल ग्रूस ने किया है। कार्लग्रूस ने विभिन्न प्राणियों के खेलों का सूक्ष्म अध्ययन किया। उसे इन खेलों में प्राणी के भावी जीवन की तैयारी का कुछ आभास मिला। बिल्ली का बच्चा फटे कपड़े पर पंजे मारता है। गेंद के पीछे ऐसा दौड़ता है मानो वह किसी चूहे का पीछा कर रहा हो। पिल्ले आपस में खूब लड़ते हैं। एक दूसरे का पीछा करते हैं। हिरण का बच्चा सदा चौकड़ी भरा करता है। बिल्ली के बच्चे को अपनी जीवन-रक्षा के लिये चूहों आदि पर आश्रित रहना पड़ेगा। अतः उसके खेल में इस प्रकार की तैयारी का आभास मिलता है। कुत्ते को अपना पेट भरने के लिये दूसरे कुत्तों से प्रायः लड़ना पड़ता है अथवा किसी छोटे जानवर को मारना पड़ता है। अतः पिल्ला खेलने में इसका अभ्यास करता है। हिरण के बच्चे को जंगली जानवर से अपनी रक्षा करनी होती है। अतः उसके खेल में दौड़ने की ही प्रधानता है। इसी प्रकार की भावी तैयारी बालकों में भी दिखलाई पड़ती है। उसके खेल में सिपाही, राजा, घुड़सवार, शिक्षक आदि के नाटक उसकी भावी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं। बालक को अपनी रुचि के अनुसार अपने को एक विशिष्ट कार्य के योग्य बनाना है। वह कभी खेलने में घर बनाता है, कभी पुल, तो कभी दूकानदारी करते हुए दृष्टिगोचर होता है। कार्लग्रूस महोदय का कहना है कि बालक इस प्रकार अनजान में अपने स्वभावानुसार अपने जीवन की तैयारी करता है। यही कारण है कि विभिन्न प्राणियों और व्यक्तियों के खेल में भिन्नता होती है। बालिका का खेल बालक से भिन्न होता है। वह अपने खेल में गुड्डा व गुड्डी के विवाह का स्वाँग रचती है। ३-४ वर्ष की बालिका खिलौने को अपना दूध पिलाने का नाटक करती है। पर प्रायः बालक ऐसा नहीं करता। उसका खेल दूसरे प्रकार का होता है।

खेलों में भावी जीवन की तैयारी का उद्योग, बालक का खेल बालिका से भिन्न।

बालक कल्पित भावनाओं से भरा रहता है। इन्हीं कल्पित भावनाओं के आधार पर वह अपने खेल रचता है। इन कल्पित भावनाओं से ऊपर उठना बालक के लिये आवश्यक है। काल्पनिक से उसे वास्तविक संसार में आना है। वास्तविक में आने के लिये वह अपने काल्पनिक विचारों को बाल्यकाल में खेलों द्वारा कार्यान्वित करता है। कार्लग्रूस का कहना है कि किसी जाति का जीवन जितना ही विकसित रहता है उतने ही विलक्षण प्रकार के खेल उसके बालकों में दिखलाई पड़ते हैं और उसी के अनुसार उसके खेलने की अवस्था अथवा बाल्यकाल अधिक काल तक चलता है। मनुष्य के बालकों की असमर्थता बहुत दिन तक चलती है और उनके खेल के प्रकार

कल्पित भावनाओं के आधार पर खेल की रचना, विकास की सीमानुसार खेल की विलक्षणता, निम्न कोटि के प्राणियों में खेलने की अवस्था नहीं, खेल का प्रकार मानसिक विकास पर निर्भर।

भी विभिन्न हुआ करते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी है। निम्न कोटि के प्राणियों में खेलने की अवस्था होती ही नहीं। शहद की मक्खियाँ तथा छिपकली आदि छोटे प्राणी पूर्ण शरीर प्राप्ति करने के बाद तुरन्त ही अपनी जीवन क्रिया में रत हो जाते हैं। बन्दर तथा कुत्तों जैसे कुछ ऊँचे प्राणियों में खेलने का काल प्रकृति द्वारा स्पष्ट निर्धारित दिखलाई पड़ता है। मनुष्य का तो कहना ही क्या? उसके पूर्ण जीवन का तृतीयांश तो खेलने ही में व्यतीत होता है, और उसके खेल की विलक्षणता अन्य प्राणियों की अपेक्षा बढ़ी हुई होती है। मनुष्यों में भी विभिन्न जाति के बालकों के खेल-काल में भेद दिखलाई पड़ता है। सभ्य जातियों के बालक असभ्यों की अपेक्षा अधिक खेलते हैं। इतना ही नहीं, वरन् उनके खेल-प्रकार में भी विलक्षणता दिखलाई पड़ती है। पाठक अपने पड़ोस के हरिजन बालकों के अध्ययन से इस बात की पुष्टि स्वयं कर सकते हैं। हरिजन बालक किसी उच्च वंश के बालक की अपेक्षा अपने जीवन-कार्य करने के लिये शीघ्र तैयार हो जाता है और उसके खेल भी साधारण होते हैं। वंशानुक्रम तथा परिस्थिति का बालक की मानसिक शक्ति पर प्रभाव पड़ता ही है। खेल का प्रकार भी बालक के मानसिक विकास पर ही निर्भर करेगा। स्पष्ट है कि हरिजन बालकों के खेल क्यों अति साधारण हुआ करते हैं।

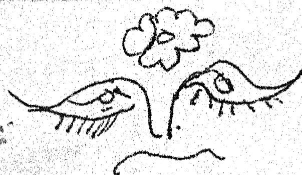
किसी जाति के खेल का काल क्यों छोटा अथवा बड़ा होता है? इस पर मनोवैज्ञानिकों ने प्रकाश डाला है। इसका कारण नाड़ी मण्डल (नर्वस सिस्टम) हुआ करता है। विकास के अनुसार जाति के नाड़ी-मण्डल की विलक्षणता बढ़ जाती है। उत्कृष्टता पर ही अनुभव के ग्रहण करने की शक्ति निर्भर करती है। अतः प्राणी जितना ही उच्च कोटि का होगा उसमें उतनी ही अनुभव ग्रहण करने की शक्ति होगी। इसी अनुभव करने की भावी तैयारी में खेल का काल दीर्घ अथवा अल्प हुआ करता है।

नाड़ी मण्डल।

आलोचना—

कार्ल ग्रूस के उपर्युक्त सिद्धान्त से हमारी शंका का समाधान अधिक होता है। इससे हमें अनेक प्रकार के खेलों का कारण स्पष्ट हो जाता है। पूर्वाभिनय के सिद्धान्त से एक शिक्षा सिद्धान्त की ओर संकेत मिलता है। खेल से ही बालक अपने विभिन्न अवयवों और इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त करता है। अतः खेल में किसी प्रकार का हस्तक्षेप हानिकर है। बालक के खेल में मनोवैज्ञानिक ढंग पर सहायता देनी चाहिये। इससे उसका शारीरिक और मानसिक विकास होता है।

अनेक प्रकार के खेलों का कारण स्पष्ट, खेल में किसी प्रकार का हस्तक्षेप हानिकर।



४—पुनरावृत्ति का सिद्धान्त (रीकेपचुलेशन थियरी)—

पुनरावृत्ति के सिद्धान्त के प्रवर्त्तक अमेरिका के स्टैनली हाल कहे जाते हैं। यह पूर्वाभिनय के सिद्धान्त का उलटा दिखलाई पड़ता है। पूर्वाभिनय का सिद्धान्त प्राणी के भावी जीवन की ओर संकेत करता है और पुनरावृत्ति की सिद्धान्त उसके भूत की ओर। स्टैनली हाल महोदय का कहना है कि प्राणी खेल में अपनी जाति के विकास की सीढ़ियों को पार करता है। सभ्यता के आदि काल में मनुष्य की मानसिक स्थिति कदाचित् आज के बालकों के समान थी। बालक अपने पूर्वजों के सभी अनुभव का उत्तराधिकारी होता है। वह सूक्ष्म रूप में उनके समस्त संस्कार लेकर उत्पन्न होता है। इन संस्कारों की पुनरावृत्ति वह अपने खेलों द्वारा किया करता है। पर इस पुनरावृत्ति की आवश्यकता क्या है? कदाचित् इसका उत्तर माँ के पेट में स्थित भ्रूण की विभिन्न अवस्थाओं से मिल सकता है। शरीर-विज्ञान-शास्त्रियों का मत है कि भ्रूण अपनी माँ के पेट में सभी प्रधान जीवों की मूल अवस्था को पार करने के बाद मानव जाति के आकार में आता है। प्रकृति की लीला विचित्र है! इसके रहस्य के समझने की जितनी ही चेष्टा की जाती है उतना ही छिपा हुआ रहस्य आगे आता जाता है। उत्तरोत्तर होने वाले वैज्ञानिक आविष्कार इसके प्रमाण हैं। स्टैनली हाल के अनुसार कार्ल ग्रूस अतीत के महत्व को भूल जाता है। उसका कहना है कि बालक अपने खेलों में असभ्य मानवता के काल की पुनरावृत्ति करता है। बालक के बहुत से ऐसे खेल होते हैं जिन्हें हम कार्ल ग्रूस के मतानुसार भविष्य के लिये तैयारी नहीं कह सकते। उदाहरणार्थ, आखेट करना, छिपना व खोजना इत्यादि। इस स्थल पर रॉस महोदय का एक वाक्य उल्लेखनीय है "छिपना व खोजना, पीछा करना, आखेट करना व मछली मारना, पत्थर फेंकना, घर तथा अन्य प्रकार के आश्रयों का बनाना, पेड़ों तथा कन्दराओं के प्रति प्रेम प्रदर्शित करना, सब मानव जाति के बाल्यकाल के अकाट्य स्मारक हैं।* स्टैनली हाल कहता है कि "कदाचित् बालक का खेल के प्रति इसीलिये इतना प्रेम है कि उससे उसको किसी खोये हुए स्वर्ग की मधुर स्मृति जागृत हो जाती है।"†

> खेल द्वारा जाति-विकास की सीढ़ियों को पार करना, संक्रमित संस्कारों की पुनरावृत्ति खेलों द्वारा, कुछ खेलों की भित्ति स्पष्ट।

पुनरावृत्ति के सिद्धान्त से भी हमारी शंका का पूर्ण समाधान होते नहीं दिखलाई पड़ता। पर इतना निर्विवाद है कि इससे कुछ खेलों की भित्ति अवश्य स्पष्ट हो

---

* रॉस—ग्राण्उडवर्क ऑव एडूकेशनल साइकॉलॉजी, पृष्ठ १०४।

† स्टैनली हॉल—एडोलेसेन्स—पृष्ठ २०१।

जाती है। इसी से कुछ सम्बन्धित रेचक सिद्धान्त का कुछ विद्वानों ने उल्लेख किया है।

५—रेचक सिद्धान्त (कैथारटिक थियरी)—

मनुष्य अपनी आदि-प्रवृत्तियों से पूर्णतः मुक्त नहीं, सामाजिक बन्धनों के अभाव में इन वृत्तियों का प्रकाशन सरल, पर यह सदा सम्भव नहीं, अतः खेलों द्वारा उनका प्रकाशन।

कभी कभी बड़ों के भी कुछ खेल ऐसे होते हैं जो हमें मानव की आदि सभ्यता का स्मरण कराते हैं। इसका क्या कारण है? इसका उत्तर हमें रेचक सिद्धान्त से मिलता है। मनुष्य अपने जीवन को कितना ही परिष्कृत क्यों न बना ले, पर वह अपनी आदि प्रवृत्तियों (प्रिमीटिव् टेण्डेन्सीज़) से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकता। अवसर पाने पर इन आदि प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य करने को वह स्वभावतः प्रेरित हो जाता है। सामाजिक बन्धन के न रहने से इन प्रवृत्तियों के प्रकाशन में बड़ी सरलता होती है। पाठक इस बात को स्वीकार करेंगे कि अपने अन्तरङ्ग मित्रों के साथ में वे कुछ हसी के ऐसे कार्य कर बैठते हैं अथवा कुछ ऐसा कह देते हैं जिन्हें औरों के समक्ष करने की वे कल्पना तक नहीं कर सकते। ऐसा क्यों होता है? यह कुछ आदि प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि के लिये ही होता है। पर आदि प्रवृत्तियों का प्रकाशन इस प्रकार सदा सम्भव नहीं। रेचक सिद्धान्तों के अनुसार इनका प्रकाशन खेलों के द्वारा हो जाता है। जैसे किसी रेचक के प्रयोग से शरीर का सारा मल बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार खेलों के रूप में आदि प्रवृत्तियाँ कुछ समय के लिये निकल जाती हैं।

आलोचना—

ठीक से न प्रकाशित होने वाली मूलप्रवृत्तियों का खेलों द्वारा प्रकाशित होना।

रेचक सिद्धान्त में कुछ तथ्य अवश्य दिखलाई पड़ता है। अतीत जीवन में व्यक्ति अपनी जिन मूलप्रवृत्तियों का प्रकाशन ठीक प्रकार नहीं कर पाता, उनके लिये खेल रेचक का कार्य करता है। उदाहरणार्थः सभ्य समाज में युयुत्सा, पलायन तथा निवृत्ति आदि मूलप्रवृत्तियों का प्रकाशन कम हो पाता है। यदि हम यह कहें कि इन प्रवृत्तियों का कुछ प्रकाशन खेल द्वारा हो जाता है तो अनुपयुक्त न होगा। खेल में व्यक्ति युद्ध करता है, भागता है तथा घृणा आदि भी दिखलाता है। बालक के कल्पित खेलों (मेक-बिलीव् प्लेज़) का कुछ आधार भी रेचक सिद्धान्त में दिखलाई पड़ता है।

उपसंहार—

डी० पी० नन के अनुसार उपर्युक्त मत एक दूसरे के विरोधक नहीं, अपितु

पूरक हैं। कुछ खेल अवश्य ही पूर्वाभिनय के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं, पर कुछ अतीत की ओर संकेत करते हुए पुनरावृत्ति की भी तथ्यता बतलाते हैं। अतीत 'वस्तु' तो अवश्य देता है, परन्तु तैयारी तो भविष्य के ही लिये होती है। मनुष्य के पास संस्कारगत कुछ ऐसी मानसिक प्रवृत्तियाँ अवश्य हैं जो कि जाति विकास के फल स्वरूप प्रतीत होती हैं। व्यक्ति के विकास में इनका विशेष महत्व होता है"। नन के अनुसार प्रौढ़ व्यक्तियों के हॉकी, फुटबॉल, क्रिकेट, अथवा टेनिस आदि ऐसे सुसंगठित खेल पुनर्प्राप्ति के सिद्धान्त पर अवलम्बित हैं। कार्यभार के बाद श्रमित हो जाने पर मनोरंजन के द्वारा व्यक्ति अपना व्यय हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करना चाहता है। अतः वह इन सब खेलों का आश्रय लेता है। नन को रेचक सिद्धान्त की यथार्थता स्वीकार है। वह कहता है कि कभी कभी व्यक्ति अपनी आदि प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि के लिये भी खेलों का सहारा लेता है।

उपर्युक्त मत एक दूसरे के पूरक, खेल से अतीत और भविष्य दोनों की ओर संकेत, मनोरंजन तथा रेचक हेतु भी खेलों का आश्रय।

खेल के प्रकार

शिक्षा में खेल की उपयोगिता पर दृष्टिपात करने के पहले खेल के प्रकार समझ लेना आवश्यक है। इसके समझने से ही हम यह समझ सकेंगे कि एक विशिष्ट अवस्था की शिक्षा के लिये किन किन प्रकार के खेलों का उपयोग समीचीन होगा। यहाँ पर सभी प्रकार के खेलों का उल्लेख करना सम्भव नहीं। अतः हम केवल कुछ शिक्षा विषयक खेलों पर ही ध्यान देंगे।

खेलों को हम वैयक्तिक और सामूहिक दो भागों में बाँट सकते हैं। इन दो भागों में भी कई प्रकार का उल्लेख किया जा सकता है। हम यहाँ कुछ प्रधान प्रकार पर ही दृष्टिपात करेंगे। वैयक्तिक खेल की अवधि प्रायः छः वर्ष तक ही होती है। छः वर्ष के उपरांत बालक का ध्यान अपना एक समूह बनाने की ओर जाता है।

१—विभिन्न अवयवों के संचालन से खेल—

चेतना प्राप्त कर लेने पर बालक का खेल प्रारम्भ हो जाता है। सर्वप्रथम वह अपने शरीर से ही खेलना प्रारम्भ करता है। चार पाँच महीने का शिशु हाथ व पैरों को पटकता तथा मुँह से "हू हू" की ध्वनि निकालते हुए पाया जायगा। बैठने लगने पर वह अपने आप इधर उधर अंग-संचालन कर आनन्द का अनुभव करता है। चलना अथवा दौड़ना सीख लेने पर इधर उधर जाना उसके लिये साधारण बात सी हो जाती है। उछलना, कूदना थिरकना तथा

बालक का खेलों द्वारा विभिन्न इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त करना, बाधा अमनोवैज्ञानिक।

मटकना उसका स्वभाव हो जाता है। इस प्रकार की शारीरिक गति अथवा खेलों से वह अपनी विभिन्न इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त करता है। कभी कभी शिशु की इन गतियों से माता-पिता आदि तंग आकर उसे एक स्थान पर स्थिर रखने का प्रयत्न करते हैं। यह बड़ा ही अमनोवैज्ञानिक है। बालक का वातावरण ऐसा होना चाहिये कि उसे चलने और दौड़ने में किसी प्रकार की बाधा का अनुभव न हो। ऐसी बाधा से उसकी शारीरिक उन्नति रुक जाती है। बालक के उपर्युक्त प्रकार के खेल प्रायः दो वर्ष तक चलते रहते हैं।

२—वस्तुओं से खेल—

(अ) ध्वंसात्मक खेल—

कुछ अधिक शारीरिक व मानसिक शक्ति प्राप्त कर लेने पर बालक वस्तुओं के साथ खेलना पसन्द करता है। उसे लाल रंग बड़ा आकर्षक लगता है। विभिन्न रंगों की वस्तुओं को देखने पर पहले वह लाल पदार्थ को ही उठाता है। वस्तु को उठाकर उसे वह इधर उधर देखता, फेंकता और पटकता है। उसकी पहली प्रवृत्ति होती है उसे ठीक से समझने की। किसी वस्तु के पाने पर उसे तोड़-फाड़ कूच कर ही वह साँस लेता है। सजाई हुई पुस्तक को इधर उधर अनायास बिखेर देता है। कागज पाने पर उसे फाड़ डालता है। यदि उसे स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो वह क्या अनर्थ नहीं ढाह सकता?

कुछ उम्र प्राप्त कर लेने पर वस्तुओं द्वारा खेल, लाल रंग आकर्षक, किसी न किसी प्रकार जागृतावस्था में प्रायः सदा क्रियाशील।

(ब) रचनात्मक खेल—

वस्तुतः बालक अपनी जान में कुछ नष्ट नहीं करता। हम कह चुके हैं कि वस्तुओं को खेल में नष्ट करना उसकी रचनात्मक प्रवृत्ति का ही द्योतक है। उसके ध्वंसात्मक और रचनात्मक खेलों में घनिष्ट सम्बन्ध होता है। रचनात्मक खेलों में बालक की विधायकता प्रवृत्ति क्रियाशील रहती है। रचनात्मक खेल वैयक्तिक और सामूहिक दोनों होते हैं। बालक अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न वस्तुओं के बनाने का स्वाँग रचा करता है। कभी वह घर बनाते हुए दिखलाई पड़ता है। कभी वह सीढ़ी बनाते हुए दृष्टिगोचर होता है। वह कभी खिलौने बनाने में दत्तचित दिखलाई पड़ता है। बालिका कभी भोजन बनाने का स्वाँग रचती है। कभी नीम की सीकों अथवा फूलों की माला अथवा कान, नाक और पैर

ध्वंसात्मक और रचनात्मक प्रवृत्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध, रचनात्मक खेल वैयक्तिक और सामूहिक दोनों, सामाजिक भाव का समावेश, रचनात्मक खेल बालकों में अधिक।

में पहनने के लिये आभूषण बनाने का वह नाटक करती है। इस प्रकार के खेलों में हमें काल ग्रूस के पूर्वाभिनय के सिद्धान्त का आभास मिलता है। वैयक्तिक अथवा सामूहिक दोनों प्रकार के रचनात्मक खेलों में कुछ सामाजिक भाव का समावेश रहता है। पूर्व बाल्यकाल में रचनात्मक खेल साधारण कोटि के होते हैं। उत्तर काल अथवा किशोरावस्था में उनका रूप धीरे धीरे गूढ़ होने लगता है। रचनात्मक प्रवृति का प्रारम्भ प्रायः तीसरे अथवा चौथे साल से होता है। स्टर्न महोदय के अनुसार बालकों में यह प्रवृत्ति बालकाओं से अधिक होती है। फलतः उनमें आविष्कार की भी प्रवृत्ति बालिकाओं से विशेष होती है। बालिकाओं में अनुकरण की प्रवृत्ति बालकों की अपेक्षा अधिक दिखलाई पड़ती है।

३—अनुकरणात्मक खेल—

ऊपर हम कह चुके हैं कि बालकों में अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृति की छाप उनके खेलों में स्पष्ट रहती है। गाँव का बालक किसानों के अनुकरण से हल जोतने का नाटक करता है और शहर का बालक किसी मशीन चलाने का स्वाँग रच सकता है। अतः वातावरण का भेद स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। अनुकरणात्मक खेलों से पूर्वाभिनय के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। बालक की अनुकरण की प्रवृति को ठीक रास्ते पर लगाने के लिये यह आवश्यक है कि उसके वातावरण में किसी प्रकार का विकार न हो। अभिभावकों तथा शिक्षकों को उसके सामने ऐसे कार्य करने चाहिये जिनके अनुकरण करने से उसमें आविष्कारात्मक वृत्ति की वृद्धि हो। बालिका में बालक की अपेक्षा अनुकरणात्मक शक्ति अधिक प्रबल होती है। बालक में स्वभावतः मौलिकता अधिक होती है। यदि किसी खिलौने के अनुकरण के लिये बालक को दिया जाय तो वह उसमें कुछ नयापन लाने की चेष्टा करेगा; पर बालिका की प्रवृत्ति विशेषतः केवल अनुकरण करने की ही ओर रहेगी।

वातावरण का प्रभाव, पूर्वाभिनय के सिद्धान्त की पुष्टि, आविष्कारात्मक वृत्ति को प्रोत्साहन।

४—आविष्कारात्मक खेल—

आविष्कारात्मक खेल की प्रवृत्ति प्रायः बाल्यकाल से उत्तेजित होती है। बालक अपने वातावरण की विभिन्न वस्तुओं का इस काल में बड़े ध्यान से अध्ययन करता है। सिपाही अथवा डाक्टर के इनसे अनुकरण करने में बालक की आविष्कारात्मक प्रवृत्ति सहायक होती है। अपने सूक्ष्मतम निरीक्षण के आधार पर वह सिपाही अथवा डाक्टर आदि के कार्यों का अनुकरण करते हुये अपनी बुद्धि से कुछ बातें कहता है। इन बातों

बाल्यकाल से, मानसिक शक्ति का पता।

का आधार उसकी आविष्कारात्मक शक्ति होती है। इन प्रकार के खेलों से बालक की मानसिक शक्ति का कुछ पता लगता है। अपनी बातों में बालक नाटक करते हुए दिखलाई पड़ता है। इन सब खेलों में जो बालक जितना ही स्वाँग रच सकता है प्रायः वह उतना आगे चल कर प्रखर बुद्धि का निकलता है।

सामूहिक खेल—

शैशव में भी कुछ अनुकरणात्मक सामूहिक खेल।

यों तो सामूहिक खेल का वास्तविक रूप शैशव के बाद ही प्रारम्भ होता है, पर शैशव के कुछ खेलों को भी हम सामूहिक का विशेषण दे सकते हैं। छोटी अवस्था में बालक अपने माता-पिता, बड़े भाई व बहन इत्यादि परिचित लोगों से खेलना पसन्द करता है। वह आकर कभी खेल में खिलाता है, कभी मारता है, कभी ऊपर पानी फेंकता है या कभी कपड़े खींचता है। इन प्रकार के खेलों में उसे बड़ा ही आनन्द आता है। ऐसे खेल वह अपने उम्र वालों के साथ बहुत कम खेलता है। इन सब सामूहिक खेलों में बालक की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति अधिक कार्य करती है।

उम्र के बढ़ने पर सामूहिक खेल विचारात्मक, अपने ही उम्र वालों के साथ खेलना, टोली बनाना, इसके प्रति असीम भक्ति, मानसिक शक्ति का विकास।

उम्र के बढ़ने के साथ सामूहिक खेल विचारात्मक होने लगते हैं। अब बालक अपने ही अवस्था वालों के साथ खेलना अधिक पसन्द करता है। बड़ों की उपस्थिति उसे बड़ी खलती है। वह चाहता है कि उसके अभिभावक सदा बाहर ही रहें जिससे वह इच्छा भर खेल सके। बालक अपनी उम्र वालों की एक टोली बना लेता है। इस टोली के प्रति उसकी बड़ी भक्ति होती है। समय समय पर बालक गण ऐसे खेलों का आयोजन करते हैं जिनमें टोली के अधिकांश सदस्य भाग लेते हैं। प्रत्येक का भाग अलग अलग होता है। हर एक को अपना भाग भली भाँति पूरा करने के लिये सोचना पड़ता है। ऐसे खेलों से मानसिक शक्ति का विकास होता है। अभिभावकों को ऐसे खेलों में किसी प्रकार की बाधा न उपस्थित करके सदा प्रोत्साहन देते रहना चाहिये। आजकल की शिक्षा-प्रणाली में ऐसे खेलों का महत्व बढ़ता जा रहा है। इसकी उपयोगिता की ओर फ्रोबेल ने सबसे पहले संकेत किया था। ड्यूई के शिक्षा सिद्धान्तों में भी ऐसे खेलों का पूरी तरह समर्थन किया गया है।

कार्ल ग्रूस का वर्गीकरण—

पूर्वाभिनय के सिद्धान्त के प्रवर्त्तक कार्ल ग्र ूस महोदय ने खेलों के पाँच प्रकार

का उल्लेख किया है। इन पर थोड़ा प्रकाश डालना यहाँ समीचीन होगा। ये प्रकार निम्नलिखित हैं :—

१—परीक्षणात्मक खेल (एक्सपेरीमेण्टल प्ले)
२—गतिशील खेल (मूवमेण्ट प्ले)
३—रचनात्मक खेल (कन्स्ट्रक्टिव प्ले)
४—लड़ाई के खेल (फ़ाइटिङ्ग प्ले)
५—मानसिक खेल (इण्टेलेक्चुअल प्ले)

शिशुओं के खेल परीक्षणात्मक, गतिशील खेलों में भागना व दौड़ना इत्यादि, रचनात्मक खेल, लड़ाई के खेल सुसंगठित।

कार्ल ग्रूस के अनुसार छोटे शिशुओं के खेल प्रायः परीक्षणात्मक हुआ करते हैं। किसी पदार्थ के देखने पर उसे छूने तथा हिलाने की उसकी प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। उसे उलटना, पटकना तथा फोड़ना वह प्रारम्भ कर देता है। इन सब कार्यों में उसका कुछ उद्देश्य नहीं होता। वह केवल स्वभावतः वस्तुओं की परीक्षा करते हुये उनसे परिचित होना चाहता है। गतिशील खेलों में बालक भागते व दौड़ते हैं। ये सामूहिक होते हैं। एक बालक दूसरे का पीछा करता है। इन खेलों से शारीरिक विकास होता है। रचनात्मक खेलों में बालक किसी पदार्थ के बनाने में रत रहता है। इस पर प्रकाश डाला जा चुका है। लड़ाई के खेल प्रायः सुसंगठित होते हैं। इसमें हार-जीत का प्रश्न निहित होता है। हॉकी व फुटबाल इत्यादि इसी प्रकार के खेल कहे जा सकते हैं। इनमें बालक के विभिन्न मानसिक गुणों का विकास होता है। यहाँ बालक वैयक्तिक हित को त्याग सामाजिकता का पाठ सीख सकता है।

मानसिक खेल-विचारात्मक, संवेगात्मक और प्रेरणात्मक; इन खेलों द्वारा भावी जीवन की तैयारी।

मानसिक खेलों का कार्ल ग्रूस विचारात्मक, संवेगात्मक और प्रेरणात्मक (वॉलीशनल) तीन भाग करता है। विचारात्मक खेल में व्यक्ति को अपनी पूरी मानसिक शक्ति लगा देनी होती है। उदाहरणार्थः शतरंज इस प्रकार के उच्च श्रेणी का खेल माना जाता है। संवेगात्मक खेल में मनुष्य की भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। नाटक इत्यादि खेलों में व्यक्ति को विभिन्न पात्रों के केवल शब्दों को ही सरलता से नहीं कहना है, वरन् उनके भावों को भी इस प्रकार व्यक्त करना होता है कि श्रोताओं पर उसका अपेक्षित प्रभाव पड़े। यह तभी सम्भव है जब अभिनेता पात्र के स्थायीभाव को समझ उसके संवेगात्मक भाव में सन जाय। प्रेरणात्मक खेलों में इच्छा शक्ति का तात्पर्य निहित रहता है। उदाहरणार्थः हँसने के स्थान पर हँसना रोकना तथा चिल्लाने के स्थान पर चिल्लाना रोकने के लिये कहा जाता है। नियम के प्रतिकूल चलने वाले की हार हो जाती है। कार्ल ग्रूस की धारणा है कि व्यक्ति

इन प्रकार के खेलों के द्वारा भावी जीवन के विभिन्न परिस्थितियों के लिये अपने को तैयार करता है।

Education and Play

खेल और शिक्षा

शिक्षा में खेल-प्रणाली (द प्ले वे इन एडूकेशन)—

खेल व्यक्ति के पूरे स्वभाव का दर्पण, यथासम्भव सब कुछ खेल के रूप में पढ़ाना, खेल प्रणाली का तात्पर्य शिक्षा को अधिक मनोरंजक बनाना, शिक्षा में खेल-प्रवृत्ति का उपयोग आवश्यक, शिक्षा में खेल तत्परता और प्रसन्नता के सीखने की एक मनोवैज्ञानिक विधि।

शिक्षा में खेल-प्रणाली के प्रवर्त्तक श्री कैल्डवेल कुक कहे जाते हैं। कुक महोदय के दृष्टिकोण से खेल में व्यक्ति की सभी रचनात्मक प्रवृत्ति का केवल आभास ही नहीं मिलता, अपितु खेल उसके पूरे स्वभाव का दर्पण है। अमुक बालक जिस प्रकार का खेल पसन्द करता है उसके सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक अध्ययन से उसके भविष्य का पूरा अनुमान लगाया जा सकता है। यही कारण है कि शिक्षा-शास्त्रियों ने खेल को इतना महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि यथासम्भव सब कुछ खेल के रूप में पढ़ाना चाहिये। पर यदि खेल केवल मनोरंजन मात्र है और उसमें व्यक्ति अपनी व्यय हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करना चाहता है तो उसमें गम्भीरता कहाँ से आई? अतः खेल में गम्भीरता के अभाव से हम उसे शिक्षा में स्थान नहीं दे सकते। इस प्रश्न का उत्तर हम पीछे दे चुके हैं। खेल में बालक गम्भीर रहता है। खेल के समय बालक और कुछ नहीं करना चाहता। खेल-प्रणाली का तात्पर्य शिक्षा को अधिक मनोरंजक बनाना है। शिक्षा में अमनोवैज्ञानिक विधि का अनुसरण करने से बालक ऊब जाते हैं। वे स्कूल को बन्दीगृह समझ उससे भागना चाहते हैं। स्कूली शिक्षा को बालक प्रायः आज जेल में चक्की पीसने के समान समझते हैं। कदाचित् अभिभावकों का भय न हो तो वे पढ़ना ही छोड़ दें। क्या कारण है कि स्कूल से छुट्टी होने पर बालक अति प्रसन्नता प्रकट करता है? किसी आनन्द के अवसर पर बालक प्रधानाध्यापक से क्यों छुट्टी के लिये आग्रह करते हैं? स्पष्ट है कि अभी तक शिक्षा को पूर्णरूपेण मनोरंजक नहीं बनाया जा सका है। अभी हम फ्रोबेल के सिद्धान्त से कि "स्कूल ऐसा हो कि बालक वहाँ वैसे ही हँसते हुये जाय जैसे वह खेल-मैदान में जाता है" बहुत दूर हैं! स्कूल के प्रति बालक में प्रेम उत्पन्न करने के लिये आवश्यक है कि हम शिक्षा में उसकी खेल प्रवृत्ति का उपयोग करें। इस प्रकार हम कठिन कार्य को भी उसके लिये अति सरल बना सकते हैं। शिक्षा में खेल खेल नहीं है, वरन् तत्परता और प्रसन्नता से सीखने की यह एक मनोवैज्ञानिक विधि है।

शिक्षा में खेल की मनोवृत्ति उत्पन्न करने का तात्पर्य यह हुआ कि खेल के

प्रधान गुणों का इसमें भी समावेश होना चाहिये। स्वतन्त्रता, उत्तरदायित्व और रुचि खेल के प्रधान गुण हैं। ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि खेल में बालक पूरी स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। वहाँ उसकी रुचि प्रधान है—चाहे वह यह खेल खेले या वह। इस पर कोई बन्धन नहीं लगा सकता। इसमें उत्तरदायित्व भी उसी का ही रहता है। खेल में किये गये कार्य अथवा लगी हुई चोट का उत्तरदायित्व बालक पर है। खेल-प्रणाली से हम शिक्षा में बालक की स्वतन्त्रता, और रुचि को प्रधानता देते हैं। अपने विकास के लिये हम उसे उत्तरदायी बना देते हैं। उपयुक्त वातावरण उपस्थित करके उसके किसी कार्य में बाधा नहीं डाली जाती। इस प्रकार उसे स्वतन्त्रता भी दे दी जाती है। उसके सामने कुछ परिस्थितियाँ रख दी जाती हैं। अपनी रुचि के अनुसार किसी परिस्थिति में कार्य करना वह प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार उसकी रुचि पर भी आवश्यक ध्यान दे दिया जाता है। बालकों को अपने ऊपर स्वयं नियन्त्रण रखना पड़ता है। शिक्षा में सभी बातें सदा मनोरंजक नहीं हुआ करतीं। कुछ का अमनोरंजक होना भी स्वाभाविक ही होता है। कुछ क्रियाओं में बालक स्वभावतः मनोरंजन का अनुभव करता है और कुछ क्रियायें उसके लिये स्वभावतः अमनोरंजक होती हैं। शिक्षा में खेल-प्रणाली से हम मनोरंजक और अमनोरंजक क्रियाओं में सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। एक ही कार्य हमारे लिये मनोरंजक और अमनोरंजक दोनों हो सकता है। अपना स्वास्थ्य बनाने के लिए एक बालक सौ बैठकें करता है, पर यदि यही उसे दण्ड स्वरूप करना हुआ तो यह कार्य अमनोरंजक हो जायगा। अतः मनोरंजक और अमनोरंजक कार्यों को अलग अलग करना सरल नहीं। वास्तव में मनोरंजकता वा अमनोरंजकता तो मानसिक स्थिति अथवा परिस्थिति के आधीन होती है। किसी कार्य को मनोरंजक बनाने के लिये हमें बालक को उसके पूरे महत्त्व को समझा देना चाहिये। इस प्रकार कार्य में उसकी रुचि शीघ्र उत्पन्न हो जायगी। खेल में बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति क्रियाशील रहती है। किसी नयी वस्तु के बनाने की सफलता में उसे बड़ा आनन्द आता है। यदि स्कूल में किसी नई वस्तु के बनाने के लिये उत्साहित किया जाता है तो उसके आनन्द की सीमा नहीं। यदि इतिहास, भूगोल, अङ्कगणित, भाषा इत्यादि के पाठ में बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाय तो अमनोरंजक बातें भी बालक के लिये मनोरंजक हो जायँगी। यही कारण है कि वर्तमान शिक्षा में खेल को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। किण्डरगार्टेन, मॉन्तेसरी, प्रॉजेक्ट, डाल्टन, स्काउटिङ्ग आदि शिक्षा पद्धतियों में खेल का समावेश किया गया है। अब हम नीचे इन्हीं का अति संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

खेल प्रणाली से शिक्षा में बालक की स्वतन्त्रता, उत्तरदायित्व और रुचि को प्रधानता; मनोरंजक और अमनोरंजक क्रियाओं में सम्बन्ध स्थापित करना, रचनात्मक प्रवृत्ति को उत्तेजित करना।

किण्डरगार्टेन—

किण्डरगार्टेन पद्धति के निर्माता जर्मनी के शिक्षा-शास्त्री फ्रोबेल हैं। फ्रोबेल का विश्वास है कि 'खेल' बच्चे की स्वाभाविक क्रिया है। अतः खेल में योग देने से ही उसका भली भाँति विकास हो सकता है। बच्चे के खेल में फ्रोबेल दार्शनिक और आध्यात्मिक महत्व देखता है। फ्रोबेल के अनुसार 'गाना', "संकेत करना" और कुछ 'बनाना' बालक का सरल स्वभाव होता है। इन्हीं तीन साधनों द्वारा वह अपने विचारों का प्रकाशन करता है। अतः इन्हीं पर बालकों की शिक्षा आधारित होनी चाहिये। लिखना, पढ़ना, अंकगणित, इतिहास आदि का ज्ञान उन्हें इन्हीं के द्वारा देना चाहिये। गाना इतना सरल हो कि बालक भी उसमें सरलता से भाग ले सके। कागज तथा मिट्टी के खिलौने की सहायता से किसी घटना का कुछ अर्थ समझाया जा सकता है। जैसे स्वतन्त्रता, स्वाभाविक क्रियाशीलता और मनोरंजकता खेल के विशिष्ट गुण हैं; उसी प्रकार फ्रोबेल के अनुसार ये शिक्षा के मुख्य सिद्धान्त हैं। बालक को कुछ सामाजिक ज्ञान देना आवश्यक है। अतः उसके खेल में व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध का समावेश होना चाहिये। इस हेतु फ्रोबेल बालकों को एक समूह में खेलने के लिये प्रेरित करता है। शिक्षक को उपदेश न देकर केवल समयानुसार निर्देश देते रहना है। फ्रोबेल के अनुसार बच्चों के स्कूल की पाठ्य-वस्तु में शारीरिक परिश्रम, चित्रकारी, प्रकृति अध्ययन, बागवानी, प्राकृतिक विज्ञान, गणित, भाषा, कला, व धर्म आदि होना चाहिये। फ्रोबेल बालकों को कुछ उपहार (गिफ्ट्स) देता है। इन उपहारों से सम्बन्धित कार्य (ऑक्यूपेशन्स) में उन्हें क्रियाशील होना हैं। इस प्रकार 'उपहार' और कार्य किण्डरगार्टेन पद्धति के प्रधान स्तम्भ है। फ्रोबेल इन 'उपहार और कार्य' का चुनाव अपने दार्शनिक विचारों की भित्ति पर करता है। फ्रोबेल एक दैवी शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करता है। उसका विश्वास है कि इस दैवी शक्ति के अनुसार न चलने से ही अवनति होती है। प्रत्येक वस्तु में इस शक्ति का अंश निहित रहता है। अतः यह दैवी अंश ही वस्तु की सच्ची कल्पना हो सकती है। पूर्ण विकास के लिये इस शक्ति का समझना आवश्यक है। इसके लिये व्यक्ति को प्रकृति अथवा ईश्वर के विभिन्न कार्यों का अध्ययन करना चाहिये। इस अध्ययन से उसे हर स्थान पर क्रियाशीलता दिखलाई पड़ेगी। यही क्रियाशीलता शिक्षा का वास्तविक रूप है।

बच्चे का विकास खेल में योग देने से; गाना, संकेत करना और बनाना बच्चे का सरल स्वभाव; बालकों की आदर्श शिक्षा इन्हीं पर आधारित; स्वतन्त्रता, स्वाभाविक क्रियाशीलता, और मनोरंजकता शिक्षा के मुख्य सिद्धान्त; उपहार और कार्य किण्डरगार्टेन के प्रधान स्तम्भ, प्रत्येक वस्तु में एक दैवी शक्ति, शिक्षा में इसकी अवहेलना हानिकर।

बच्चे में स्वाभाविक क्रियाशीलता उत्पन्न करने के लिए प्रथम उपहार में

ऊन के रंग विरंगे छः गेंद होते हैं। फ्रोबेल का विश्वास है कि बालक इन गेंदों से अपने जीवन की समानता अनुभव करेगा। गेंद कोमल होती है और बालक भी कोमल होता है। दूसरे उपहार में त्रिघात (क्यूब), गोल (स्क्वायर) तथा नलाकार (सिलीण्डर) दिये जाते हैं। बालक त्रिघात में स्थिरता, तथा 'गोल' में अस्थिरता देखता है। नलाकार एक स्थिति में स्थिर रहता है और दूसरी में अस्थिर अर्थात् लुढ़क जाता है। इस प्रकार नलाकार में स्थिरता और अस्थिरता का सामञ्जस्य है। फ्रोबेल का विश्वास है कि इन उपहारों के साथ खेलने से बालक प्रकृति तथा सृष्टि के नियमों को समझेगा। दो भिन्न वस्तुओं में एकता का स्पष्ट उदाहरण पाकर उसे प्रकृति की एकता का भास होगा। तृतीय उपहार में लकड़ी के त्रिघात के विभिन्न भाग दिये जाते हैं। इन भागों की सहायता से बालक 'सम्पूर्ण' और 'अंश' के आन्तरिक सम्बन्ध को समझेगा। चौथे, पाँचवें और छठें उपहार में टिकिया (टैबलेट), छड़ी (स्टिक) और छोटी कुण्डली (रिङ्ग) क्रमशः सतह, रेखा, और बिन्दु की कल्पना देने के लिये दी जाती हैं।

प्रथम उपहार में गेंद; द्वितीय उपहार में त्रिघात, गोल और नलाकार; तृतीय, चतुर्थ, पंचम और षष्ठम् उपहार।

फ्रोबेल के सिद्धान्तों की विशद् व्याख्या* अथवा आलोचना करना यहाँ हमारे क्षेत्र के बाहर है। पर इतना कहा जा सकता है कि फ्रोबेल के निर्णय ठीक हैं, किन्तु उनके कारण भ्रमात्मक प्रतीत होते हैं। उसके शिक्षा सिद्धान्त दार्शनिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित हैं। फ्रोबेल अपनी एकता की कल्पना को बहुत दूर तक खींच ले जाता है। यह समझना कठिन है कि बालक गेंद और अपने जीवन में एकता का कैसे अनुभव करेगा तथा 'नलाकार' में उसे स्थिरता और अस्थिरता दो विभिन्न गुणों की सामञ्जस्यता का आभास कैसे मिलेगा। पर हमारा तात्पर्य यहाँ केवल उसकी नयी शिक्षा-प्रणाली के स्थायी महत्त्व से है। फ्रोबेल ने यह दिखलाया है कि खेल की सहायता से छोटे बच्चों की शिक्षा का संचालन कितने मनोवैज्ञानिक ढंग पर किया जा सकता है। आजकल 'स्वाभाविक क्रियाशीलता', 'सहकारिता', 'शारीरिक परिश्रम' आदि को शिक्षा-कार्यक्रम में समावेश करते समय फ्रोबेल से बड़ी ही प्रेरणा मिलती है।

फ्रोबेल के निर्णय ठीक पर कारण भ्रमात्मक, उसके सिद्धान्तों का दार्शनिक आधार बालक के लिये कठिन; फ्रोबेल द्वारा शिक्षा में खेल के महत्त्व का दिखलाना।

---

* लेखक द्वारा 'पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास',—देखो–पृष्ठ १७८–१९१, प्र० लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १९४९।

मॉन्तेसरी प्रणाली—

मॉन्तेसरी प्रणाली के निर्माता स्वयं डा० मान्तेसरी हैं। फ्रोबेल के अनुसार आप भी बालकों की शिक्षा का केन्द्र खेल ही बनाती हैं। मॉन्तेसरी का विश्वास है कि बालकों का विकास स्वतन्त्रता, आत्मशिक्षण, इन्द्रिय-शिक्षा तथा उपयोगी व्यावहारिक क्रियाओं के अभ्यास पर निर्भर होता है। उसके विकास के इन साधनों का सामञ्जस्य हमें उसके खेल में मिल जाता है। अतः उसकी शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार खेल है। एक प्रकार से मॉन्तेसरी प्रणाली को किण्डर-गार्टेन पद्धति का परिवर्द्धित रूप कह सकते हैं। मॉन्तेसरी बालकों को कृत्रिम वातावरण में रखने के विपक्ष में हैं। उनके अनुसार बालकों को आवश्यक ज्ञान देने का आयोजन होना चाहिये। मॉन्तेसरी स्कूल में ढाई से सात वर्ष के उम्र वाले बालकों का प्रवेश किया जाता है। व्यावहारिक क्रियाओं द्वारा ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षित करने की चेष्टा की जाती है। खेल ही द्वारा उसे रूप तथा आकार का ज्ञान दिया जाता है। इस प्रकार उसकी स्पर्श, दृष्टि तथा श्रवण की शक्ति बढ़ाई जाती है। उसे लम्बाई व चौड़ाई, बड़ी व छोटी, मोटे तथा पतले, धीमी तथा कड़ी ध्वनि पहचानना, तौल तथा प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष आदि का ज्ञान खेल ही द्वारा दिया जाता है। विभिन्न खेलों की सहायता से लिखना, पढ़ना तथा अंकगणित का ज्ञान उसे दिया जाता है। मॉन्तेसरी प्रणाली में "स्व-शिक्षा" प्रधान विधि है। बालक अपने विकास के लिये स्वयं उत्तरदायी समझा जाता है। बाह्य हस्तक्षेप बहुत ही कम किया जाता है।

बालकों की शिक्षा का केन्द्र खेल, खेल में बालकों की शिक्षा का आयोजन, व्यावहारिक जीवनोपयोगी कार्य बालक को सिखलाना, खेल द्वारा विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा, लिखने पढ़ने का ज्ञान खेलों द्वारा, स्व-शिक्षा प्रधान विधि।

जैसे बालकों के खेल में 'विनय' (डिस्सीप्लिन) की समस्या उपस्थित नहीं होती उसी प्रकार मॉन्तेसरी स्कूल में पूर्ण स्वतन्त्रता के कारण विनय-समस्या का स्वतः समाधान हो जाता है। सभी बालक अपनी स्वाभाविक क्रियाशीलता में मग्न दिखाई पड़ते हैं। कोई पेड़ पर चढ़ता हुआ दिखलाई पड़ता है। कोई कुर्सी व मेज उलटते हुये, कोई माला बनाते, कोई गेंद खेलते इत्यादि इत्यादि। मान्तेसरी प्रणाली में शारीरिक दण्ड को स्थान नहीं। समय-व्यवस्था की कठोरता वहाँ नहीं दिखलाई पड़ती। पाठ्य-वस्तु पहले से नहीं निर्धारित रहती। इस प्रकार मॉन्तेसरी प्रणाली को हम "बच्चों का स्वराज्य" कह सकते हैं।

विनय-समस्या का स्वतः समाधान, मॉन्तेसरी प्रणाली बच्चों का स्वराज्य।

प्रॉजेक्ट प्रणाली—

प्रॉजेक्ट प्रणाली का प्रारम्भ अमेरिका में किया गया। खेल द्वारा शिक्षा

देने की यह एक नवीन प्रणाली है। इस प्रणाली का निर्माण शिक्षा में प्रयोजनता लाने के हेतु किया गया। स्कूल की पाठ्य-वस्तु पहले से ही निर्धारित नहीं रहती। अपनी दैनिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में बालकों को खेल के रूप में शिक्षा दी जाती है। अपनी आवश्यकता-सम्बन्धी कुछ वस्तुओं को उन्हें बनाना पड़ता है; उदाहरणार्थः भोजन पकाना, सीना, बुनना तथा जूता, मेज, कुर्सी बनाना। इस प्रणाली में "करने से सीखने" (लर्निङ्ग बाई डूइङ्ग) की प्रेरणा दी जाती है। भोजन पकाने अथवा मेज व कुर्सी इत्यादि बनाने में आवश्यक वस्तुओं के संकलन के अतिरिक्त नौकरों की व्यवस्था, स्वच्छता इत्यादि सभी बातों का प्रबन्ध बालकों को ही करना पड़ता है। भोजन पकाने के सम्बन्ध में क्रमशः उन्हें कृषि तथा किसान के जीवन इत्यादि का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार उन्हें अन्य आवश्यक विषयों का भी ज्ञान आवश्यकतानुसार हो जाता है। स्वतन्त्रता, स्वाभाविकता, सहकारिता और क्रियाशीलता के कारण प्रोजेक्ट प्रणाली को एक प्रकार से खेल का ही अंग समझा जा सकता है।

शिक्षा में प्रयोजनता, पाठ्य वस्तु पहले ही से निर्धारित नहीं, आवश्यकता सम्बन्धी वस्तुयें बनाना आवश्यक, विषयों का ज्ञान आवश्यकतानुसार।

डाल्टन योजना—

डाल्टन योजना की प्रवर्त्तक श्रीमती पार्कहर्स्ट हैं। स्वतन्त्रता, सामाजिकता और व्यक्तिगत कार्य इस योजना के तीन प्रधान अंग हैं। इसमें बालकों को कक्षा में शिक्षा नहीं दी जाती। पन्द्रह दिन या एक महीने के लिये उनका कार्य निर्धारित कर दिया जाता है। उन्हें आवश्यक संकेत भी दे दिये जाते हैं। बालक अपनी रुचि अनुसार जब चाहे जो विषय पढ़ सकता है। पर निर्धारित समय के अन्दर उसे अपनी उन्नति का पूरा विवरण देना होता है। एक प्रकार से अपनी उन्नति के लिये बालक स्वयं उत्तरदायी बना दिया जाता है। उसकी स्वतन्त्रता व स्वाभाविक क्रियाशीलता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाता। जैसे खेल में सहकारिता और सामाजिकता का भाव निहित रहता है, उसी प्रकार डाल्टन योजना भी इन्हीं बातों पर अवलम्बित है। अतः इसे भी शिक्षा में खेल प्रणाली का समर्थक कहते हैं।

स्वतन्त्रता, सामाजिकता और व्यक्तिगत कार्य इसके प्रधान अंग; कार्य निर्धारण, आवश्यक संकेत, निर्धारित समय के अन्दर अपनी उन्नति का विवरण देना।

ह्यूरिस्टिक पद्धति—

ह्यूरिस्टिक पद्धति का प्रतिपादन प्रो० आर्मस्ट्राङ्ग ने किया है। इस पद्धति में

विद्यार्थी स्वयं सीखने के लिये उत्साहित किया जाता है। इस पद्धति का मन्तव्य प्रत्येक शिक्षार्थी को अनुसन्धानकर्त्ता और आविष्कारक बना देना है। इस पद्धति में भी बालक की स्वतन्त्रता और क्रियाशीलता पर पूर्ण विश्वास किया जाता है। अतः इसे भी हम एक प्रकार से खेल-प्रणाली की कोटि में रख सकते हैं।

स्वयं सीखने के लिये बालक को उत्साहित करना।

बालचर पद्धति (स्काउटिङ्ग)—

इस पद्धति के प्रतिपादक वेडेन पॉवेल महोदय हैं। यह बालकों के लिये बड़ी उपयोगी है। इसका प्रचार संसार के प्रायः प्रत्येक देश में है। बालक जितने प्रकार के खेल खेलता है उन सबका समावेश इस पद्धति में कर दिया गया है। इस पद्धति का प्रधान तात्पर्य बालक के अवकाश-समय का सदुपयोग करना है। बालक की विभिन्न आन्तरिक प्रवृत्तियों को ठीक रास्ते पर लाने के लिये इस पद्धति की योजना की गई है। खेल के जितने सिद्धान्तों की ऊपर विवेचना की गई है उन सबके सारांश पर बालचर पद्धति के अन्तर्गत विभिन्न खेलों का आयोजन किया गया है। जिन भावना-ग्रन्थियों के कारण व्यक्ति का जीवन दुःखी हो जाता है उनका निवारण बालचर पद्धति बड़ी सुगमता से करती है। किशोरावस्था में व्यक्ति के मन में नाना प्रकार के व्यतिरेक उठा करते हैं। उन व्यतिरेकों के समाधान के लिये बालचर पद्धति बड़ी सहायक सिद्ध हुई है, क्योंकि इससे व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत तथा सामाजिक भावों और इच्छाओं का प्रकाशन बड़ी सरलता से कर सकता है। इससे उसका वास्तविकता से परिचय हो जाता है। उन्हें छोटी-छोटी बातों का ज्ञान हो जाता है। उदाहरणार्थः किसी यात्रा की तैयारी में बालकों को यह समझना पड़ता है कि बाहर किन किन व्यावहारिक वस्तुओं का ले चलना अत्यावश्यक है। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक हो जाता है। बालचर पद्धति में बालकों को ऐसा शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है कि उनका स्वास्थ्य ठीक हो जाता है और शरीर में स्फूर्ति आ जाती है। इस पद्धति में खेलों का ऐसा आयोजन किया जाता है कि बालकों में विभिन्न सामाजिक गुणों का विकास हो जाय। बालचर पद्धति से मिलता हुआ योरप में विभिन्न प्रकार के "युवक संगठन" (यूथ मूवमेंट्स) संगठित किये गये हैं।

हर प्रकार के खेल का समावेश, अवकाश—समय का सदुपयोग, इसका प्रधान तात्पर्य खेल के सभी सिद्धान्तों के सारांश पर खेल का आयोजन, किशोरावस्था के व्यतिरेक का समाधान इस पद्धति से सरल, वास्तविकता से परिचय, विभिन्न सामाजिक गुणों का विकास।

नाट्य प्रणाली और रसानुभूति पाठ—

नाट्य प्रणाली (ड्रेमेटिक मेथड) से भाषा, इतिहास और भूगोल आदि पढ़ाने की प्रथा का प्रारम्भ भी अब किया गया है। यह भी शिक्षा में खेल-प्रणाली का एक अंग है। रसानुभूति-पाठ (एप्रीशियेशन लेसन) में हम बालकों को किसी साहित्य, संगीत, अथवा कला के सौन्दर्य को समझने के लिये उत्साहित करते हैं। इससे उनका सौन्दर्य-बोध क्रियाशील हो जाता है। अपनी भावनाओं के आत्म-प्रकाशन के लिये उन्हें उत्साहित किया जाता है। अतः यह कृत्रिम उपाय न होकर स्वाभाविक है। बालक को केवल अनुकूल परिस्थिति में रख दिया जाता है। कला-वस्तु का रसास्वादन कर उसके सौन्दर्य को अपने शब्दों में व्यक्त करना बालक का कार्य होता है। इस प्रकार रसानुभूति-पाठ भी खेल-प्रणाली का ही अंग माना जाता है।

खेल-प्रणाली के ही अंग।

५—आवर्तन प्रवृत्ति (रूटीन टेन्डेन्सी)

'आवर्तन' एक स्वाभाविक सामान्य प्रवृत्ति है। टी० पी० नन महोदय मनुष्य के कार्यों का दो भाग करते हैं; १—संरक्षणात्मक (कंजरवेटिव्) और २—रचनात्मक (क्रिएटिव्)। ये दोनों प्रकार के कार्य समान रूप से स्वाभाविक होते हैं। बिना संरक्षण की प्रवृत्ति के रचनात्मक की नींव पड़ ही नहीं सकती। अतः ये दोनों प्रकार प्रत्येक मनुष्य में पाये जाते हैं। मनुष्य स्वभावतः परिवर्तन का विरोधी होता है। भूतकाल की वस्तुओं और अनुभवों में उसका स्वाभाविक प्रेम होता है। जिस वस्तु से वह एक बार ठीक से परिचित हो जाता है उसके लिये वह बहुधा लालायित हुआ करता है। पाठकों को अनुभव होगा कि कभी हम कोई कार्य केवल इसीलिये करते हैं क्योंकि उसे हम सदा से करते आये हैं। मैग्डूगल के अनुसार हम किसी कार्य को जितनी ही बार करते हैं उतनी ही बार उसकी आवृत्ति करने की प्रवृत्ति हमारे में आ जाती है। स्पीयरमैन के ज्ञान—(कॉगनीशन) सिद्धान्त के अनुसार भी 'किसी ज्ञानात्मक बात के बार बार होने से उसका आवर्तन प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।'

संरक्षक और रचनात्मक प्रवृत्ति, किसी कार्य के बार-बार करने से उसकी आवर्तन की प्रवृत्ति।

हमारी आवर्तन प्रवृत्ति का प्रकाशन प्रतिदिन सैकड़ों प्रकार से हुआ करता है। बिना एक क्षण सोचे ही हम नित्य अनेक कार्य किया करते हैं। उदाहरणार्थः सोना, उठना खाना, पीना व स्नान करना आदि। इसी प्रकार हमारे शरीर के आन्तरिक यन्त्र हृदय तथा फेफड़े की धड़कन, पाचन-क्रिया इत्यादि कार्य स्वतः किया करते हैं। इनमें आवर्तन प्रवृत्ति का ही आभास मिलता है। नित्य के इन अनिवार्य कार्यों

आवर्तन प्रवृत्ति का प्रकाशन नित्य, इस प्रवृत्ति से मस्तिष्क को कठिन कार्यों के करने के लिये अवकाश,

आवृत्ति प्रकृति का भी नियम।

में यदि मनुष्य को समय देना पड़े तो उसका जीवन ही कठिन हो जाय। इसीलिए प्रकृति ने आवर्तन प्रवृत्ति की व्यवस्था की है। इस प्रवृत्ति के कारण हमारा मस्तिष्क अन्य आवश्यक कार्यों में सरलता से समय दे सकता है। हम आवर्तन प्रवृत्ति के इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि हमारे कुछ कार्य होजाते हैं, पर हमें उनका पता नहीं चलता। वास्तव में प्रकृति का भी यह नियम है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य में हमें आवर्तन प्रवृत्ति का आभास मिलेगा। नित्य सूर्य निकलता और डूबता है, तीन ऋतुयें क्रमशः हर वर्ष आया करती हैं। सभी वस्तुएँ अपनी प्रकृति के अनुसार अपने स्वभाव की आवृत्ति किया करती हैं।

बालकों में आवर्तन प्रवृत्ति बड़े ही प्रबल रूप में पाई जाती है। आद्या एक ही गाने को बार बार गाती हैं। यदि उसे 'क, ख, ग, घ ङ' याद हो गया तो वह बार बार उसे दोहराया करती है। खेल में बच्चे अपनी एक ही क्रिया को बार बार दोहराते हुए पाये जाते हैं। डॉ० मान्तेसरी की अपने परीक्षणों के आधार पर धारणा है कि सामान्य बालक में अपने सफल कार्य के बार बार दोहराने की प्रवृत्ति होती है। पर मन्द बालक की किसी कार्य को दोहराने में तनिक भी रुचि नहीं। किसी कार्य के एक ही बार करने से उसे सन्तोष हो जाता है। इस प्रकार बालकों में आवर्तन प्रवृत्ति का होना आवश्यक है। इससे उनकी बुद्धि का पता चलता है। बालकों के कार्य बहुत ही सीमित हुआ करते हैं, पर उन्हें अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों पर नियन्त्रण करना रहता है। यह नियन्त्रण वे अपनी आवर्तन प्रवृत्ति की प्रबलता से पाते हैं। बालक और प्रौढ़ का अन्तर यहाँ स्पष्ट हो जाता है। प्रौढ़ में किसी क्रिया के दोहराने की आदत आ जाना उसके शक्ति के ह्रास अथवा किसी निर्बलता का द्योतक है। उदाहरणार्थः कुछ लोग बातचीत करते समय किसी विशिष्ट शब्द का प्रयोग बार बार करते हैं, कुछ लोग एक ही दृष्टान्त बार बार देने की चेष्टा किया करते हैं। यह सब उनकी किसी मानसिक ग्रन्थि की ओर संकेत करता है। पर बालक में ऐसी बात नहीं। किसी कार्य की आवृत्ति करना उसका स्वभाव होता है, क्योंकि उसकी उन्नति इसी से सम्भव होती है।

बालकों में आवर्तन प्रवृत्ति प्रबल, अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों पर बालक का इसी प्रवृत्ति से नियन्त्रण पाना।

बालक की आवर्तन प्रवृत्ति का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी होता है। हम देख चुके हैं कि बालक में आत्म-गौरव अथवा आत्म-प्रकाशन (सेल्फ डिस्पले) की प्रवृत्ति बड़ी प्रबल होती है। आवर्तन प्रवृत्ति के आधार पर ही वह अपनी इस प्रवृत्ति की सन्तुष्टि करता है। आवृति में बालक सफलता की भावना का अनुभव करता है। इसमें उसे बड़ा ही आनन्द आता है। यह सत्य है कि उत्कृष्ट कोटि का आत्म-प्रकाश

आवर्तन प्रवृत्ति से आत्म-प्रकाशन प्रवृत्ति की सन्तुष्टि।

रचनात्मक कार्यों द्वारा होता है, पर अपनी सीमित शक्तियों के कारण बालक वहाँ तक नहीं पहुँच सकता। अतः वह आवृत्ति का ही अवलम्बन लेता है।

आवर्तन प्रवृत्ति और शिक्षा—

यदि अभिभावक और शिक्षक चतुरता से कार्य करें तो आवर्तन प्रवृत्ति की क्रियाशीलता से मानसिक विकास में किसी प्रकार का विघ्न नहीं पड़ सकता। यदि आवर्तन से बालकों के आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति को पूरी तृप्ति मिलती है तो इससे उनका मस्तिष्क सुसंगठित होता। सुसंगठित मस्तिष्क ही भावी सफलता का मूल है। बालक को मानसिक सन्तोष होना आवश्यक है। यह सन्तोष उसे आवर्तन प्रवृत्ति की क्रियाशीलता से प्राप्त हो सकता है। बालकों को कुछ ऐसे कार्य सिखलाने चाहिये जिन्हें दोहराने से उनमें निपुणता की वृद्धि हो। अंकगणित, संगीत, चित्रकला तथा लकड़ी व मिट्टी के कार्य में आवर्तन प्रवृत्ति के उत्साहन से बालक की प्रवीणता बढ़ेगी। 'रटने' के कार्य में कुछ बुद्धि सम्बन्धी क्रिया का भी समावेश आवश्यक है। उदाहरणार्थः यदि उन्हें पहाड़े रटने हैं तो उनका क्रम उन्हीं से ठीक करवाना चाहिये। तर्क-शक्ति की वृद्धि के लिये ही किसी नियम का रटवाना मनोवैज्ञानिक है, और यह बालक को रुचिकर भी लगेगा। आवृर्तन प्रवृत्ति की क्रियाशीलता से ही बालक स्कूल के समय-सारिणी (टाइम-टेबुल) के अनुसार चलना पसन्द करते हैं। इस प्रकार बार बार समय व्यवस्था के परिवर्तन की झंझट नहीं उठती। व्यक्ति के जीवन में आदत का बड़ा महत्व होता है। आदत का आधार आवर्तन प्रवृत्ति ही होती है। किसी कार्य के बार बार करने से हमें उसके करने की आदत पड़ जाती है। अतः अभिभावकों और शिक्षकों को देखना है कि बालक किसी गलत बात को न दोहराये नहीं तो उसमें बुरी आदत पड़ जायगी। नीचे हम आदत पर ही विचार करेंगे।

आवर्तन प्रवृत्ति की क्रियाशीलता से बालक को मानसिक सन्तोष, रटने में बुद्धि सम्बन्धी क्रिया का समावेश आवश्यक, तर्क-शक्ति की वृद्धि ही के लये रटवाना मनोवैज्ञानिक।

६—आदत (हैबिट)

Km. P. Agrawal
B. A. final

आदत और मूलप्रवृत्ति—

प्राणी में प्रायः दो प्रवृत्तियाँ हुआ करती हैं:—स्वाभाविक और अर्जित। मूलप्रवृत्तियाँ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं, और आदतें अर्जित। आदतें मनुष्य और पशु दोनों में पाई जाती हैं। पशु को खूँटे से छोड़ा जाता है तो चारे की नाँद के पास पहुँचने की उसकी आदत होती है। मूलप्रवृत्तियों की प्रेरणा से जैसे मनुष्य

मूलप्रवृत्ति स्वाभाविक, आदत-अर्जित, मूलप्रा०—

क्रियात्मक प्रवृत्ति, आदत--क्रिया विशेष का मार्ग, मूलप्रवृत्ति के सदृश् आदत भी मनुष्य का मानसिक संस्कार।

अनेक कार्य किया करता है, उसी प्रकार आदतों के फलस्वरूप भी वह कार्य किया करता है। उदाहरणार्थः सितार बजाने की किसी की आदत होती है। किसी की टाइप करने की आदत होती है। एक विशिष्ट प्रकार से बैठने की किसी का आदत होती है। मूलप्रवृत्ति हमें एक क्रियात्मक प्रवृत्ति न देकर एक क्रिया विशेष का मार्ग देती है। जेम्‍स ने आदत को मनुष्य के दूसरे स्वभाव (सेकेण्ड नेचर) की संज्ञा दी है। व्यवहारवादी आदत और मूलप्रवृत्ति में बहुत भेद नहीं मानते। उनकी दृष्टि में जैसे मूलप्रवृत्ति मनुष्य को एक विशिष्ट अनुभव के लिये प्रेरित करती है, उसी प्रकार आदत भी पूर्वानुभव की पुनर्प्राप्ति के लिये उसे आतुर बना देती है। मूलप्रवृत्तियाँ जाति के वंशानुक्रमीय नियमों के अनुसार व्यक्ति को प्राप्त होती हैं। पर आदत व्यक्तिगत जीवन के अभ्यास के फलस्वरूप होती है। कदाचित् इसीलिये मैग्डूगल की धारणा है कि आदत प्रेरणा का रूप कभी नहीं ले सकती। उसके अनुसार प्रत्येक आदत किसी मूलप्रवृत्ति की प्रेरणानुसार पड़ती है। अतः आदत की स्वतन्त्र प्रेरणा नहीं होती, यदि कभी होती है तो उसका सम्बन्ध किसी मूल-प्रेरणा से ही होता है। हाँ, यह हम मानते हैं कि आदत के बनने का आधार कोई मूलप्रवृत्ति होती है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रेरणा देने में आदत का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। काम-प्रवृत्ति के शोधन के फलस्वरूप कोई संगीत का प्रेमी हो जाता है। पर अपने निश्चित समय पर सितार लेकर बैठ जाने की प्रेरणा जो संगीतज्ञ को मिलती है वह उसकी काम-प्रवृत्ति से नहीं, अपितु सितार बजाने की उसकी आदत से। मूलप्रवृत्ति के सदृश् आदत भी व्यक्ति के मानसिक संस्कार का अंग हो जाती है।

आदत की नींव

मूलप्रवृत्तियों की परिवर्तनशीलता से ही आदत का बनना सम्भव, आदत पड़ने के लिये ज्ञात और अज्ञात पर एक विशिष्ट क्रिया का प्रभाव पड़ना आवश्यक, आदत बनाना स्वभाव पर निर्भर।

मनुष्य की मूलप्रवृत्तियाँ पशुओं की भाँति सुदृढ़ नहीं होतीं। अतएव उनमें परिवर्तन लाना अधिक सम्भव होता है। यदि यह परिवर्तन सम्भव न होता तो आदतों का विकास होता ही नहीं। यही कारण है कि पशुओं में मनुष्यों की अपेक्षा कम आदतें पड़ती हैं; क्योंकि वे मूलप्रवृत्तियों के दास होते हैं। ज्ञात और अज्ञात चेतना हमारे मस्तिष्क के दो प्रधान अंग होते हैं। किसी कार्य का प्रभाव सर्वप्रथम ज्ञात चेतना पर पड़ता है। तत्पश्चात् उससे अज्ञात चेतना अवगत होती है। इस प्रकार ज्ञात चेतना के प्रत्येक अनुभव का प्रभाव अज्ञात चेतना पर पड़ता है। किसी आदत के पड़ने के पूर्व ज्ञात और अज्ञात चेतना पर उस विशिष्ट क्रिया का प्रभाव पड़ना

आवश्यक है। यह प्रभाव जितनी ही प्रबलता से अज्ञात चेतना पर आयेगा उतना ही शीघ्र दृढ़तर आदत पड़ती है। इस प्रकार आदत का बनना व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर रहता है। भौतिकवादी मनोवैज्ञानिकों की ऐसी धारणा है।

व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों का विश्वास है कि किसी कार्य के बार बार करने के फलस्वरूप मेरुदण्ड के वाहक तन्तुओं में एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। किसी नये सम्बन्ध स्थापित होने के समय पुराने सम्बन्ध विघ्न उपस्थित करते हैं। एक सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर मानसिक शक्ति का उसी सम्बन्ध के अनुकूल एक झुकाव हो जाता है। यह झुकाव ही आदत है। यही कारण है कि किसी आदत के पड़ जाने पर उसका छोड़ना सरल नहीं होता, क्योंकि वाहक तन्तुओं में स्थापित सम्बन्ध दूसरे नये सम्बन्ध का विरोध किया करते हैं।

मेरुदण्ड के वाहक तन्तुओं में एक सम्बन्ध स्थापित होने से आदत का पड़ना।

बर्गसन ने आदत बनने के उपर्युक्त सिद्धान्त का खण्डन किया है। उसके अनुसार आदत अथवा अभ्यास वाहक तन्तुओं में स्थापित सम्बन्ध का फल नहीं है, अपितु चेतन प्राणी की स्वेच्छा का फल है। बर्गसन कहता है कि चेतन प्राणी का व्यवहार जड़ के सदृश नहीं, अपितु वाहक तन्तुओं में स्थापित सम्बन्ध को तोड़ने की उसमें पर्याप्त क्षमता होती है। जब वह यह सम्बन्ध नहीं तोड़ना चाहता तो अभ्यास की अधिकता से उसमें आदत पड़ जाती है। इस प्रकार आदत का प्रधान आधार चेतना की इच्छा है, न कि अभ्यास अथवा वाहक तन्तुओं में स्थापित सम्बन्ध।

बर्गसन के अनुसार आदत चेतन प्राणी की स्वेच्छा का फल।

प्रयोजनवादी और मनोविश्लेषणवादी मनुष्य को आदतों का दास नहीं मानते। वे आदत का आधार रुचि मानते हैं। किसी कार्य का कितने ही बार अभ्यास क्यों न किया जाय, पर यदि वह अरुचिकर हुआ तो मनुष्य की आदत उसमें नहीं पड़ेगी। इस प्रकार आदत का रुचि से घनिष्ट सम्बन्ध है। रुचि की उत्पत्ति के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति उस क्रिया की उपयोगिता को ठीक से समझ ले। यदि क्रिया हितकर हुई तो व्यक्ति की रुचि उसमें हो जायगी और वही रुचि बाद में आदत के रूप में परिवर्तित हो जायगी।

प्रयोजनवाद और मनोविश्लेषणवाद के अनुसार रुचि आदत का आधार।

आदत की विलक्षणताएँ

आदत की चार विलक्षणताओं की ओर मनोवैज्ञानिकों ने संकेत किया है :—

१—एकरूपता (यूनीफ़ॉर्मिटी)

२—सुगमता (फ़ैसीलिटी)
३—रोचकता (प्रोपेन्सिटी)
४—ध्यान-स्वातन्त्र्य (इराडीपेराडेन्स ऑव् अटेन्शन)

१—एकरूपता—

आदत के फलस्वरूप व्यक्ति जो काम करता है उसमें एकरूपता रहती है। लिखने की आदत होती है। अतः हमारी लिखावट में प्रायः एकरूपता रहती है। उसे देखकर हमारे मित्र तुरन्त पहचान लेते हैं। हमारे सोने, चलने, दौड़ने तथा बोलने इत्यादि में एक विशिष्ट आदत दिखलाई पड़ती है। अतः हमारा सोना, चलना इत्यादि प्रायः एक ही प्रकार का होता है।

आदत के कार्य प्रायः समान।

Susheel Kumar Shukla
B.A. II

२—सुगमता—

किसी कार्य के करने की आदत पड़ जाने पर बाद में वह कार्य बड़ा ही सुगम हो जाता है। प्रारम्भ में सितार सीखने में बड़ी ही कठिनाई होती है। पर आदत पड़ जाने पर हाथ बड़ी सुगमता से चलने लगता है। पहले व्यायाम प्रारम्भ करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है, पर अभ्यस्त हो जाने पर वही बड़ा सरल हो जाता है। आदत पड़ जाने पर बालक घराटों बैठे लिखा करता है। बालिका को भोजन बनाना सीखने में बड़ा कष्ट हो जाता है; पर सीख लेने पर वह सुगमता से भोजन बना लेती है। — NO

अभ्यस्त हो जाने पर कार्य में सुगमता।

३—रोचकता—

आदत पड़ने पर रुचि भी उत्पन्न हो जाती है। आदत न रहने से बालक पहले स्कूल से भाग जाया करता है। पर आदत पड़ जाने पर स्कूल जाना उसके लिये बड़ा रुचिकर हो जाता है। बिना स्कूल गये उसे चैन नहीं मिलती। जिन्हें समाचार-पत्र पढ़ने की आदत है, उन्हें उसमें बड़ा ही आनन्द आता है। गप्प मारने वाले को गप्प में बड़ा आनन्द आता है। घूमने वालों को बिना घूमे चैन नहीं। छुट्टी के दिन भी वह साइकिल उठा कर इधर उधर घूमा करता है। आदत न रहने पर हमें पहले कोई कार्य व्यर्थ और अरुचिकर लगता है, पर आदत पड़ जाने पर वही रुचिकर हो जाता है। अतः अभ्यास से अरुचिकर से अरुचिकर कार्य भी मनोरंजक बनाया जा सकता है।

अभ्यास से अरुचिकर कार्य भी मनोरंजक।

की आदत डालने के लिये उसकी उपयोगिता समझाते हुए जगत-विख्यात सैण्डो तथा प्रो० राममूर्ति आदि का दृष्टान्त दिया जा सकता है। अध्ययनशीलता की आदत डालने के लिये ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे महापुरुषों का नाम लिया जा सकता है। ऐसे उदाहरणों से बालक में दृढ़ संकल्प आ जायगा और वांछित आदत वह अपना लेगा।

२—कार्यशीलता—

कार्य न प्रारम्भ करने से मानसिक दुर्बलता।

बड़े बड़े आदर्शों के ज्ञान से ही आदत का पड़ना सम्भव नहीं, इसके लिये क्रियाशीलता का होना आवश्यक है। देखा जाता है कि कुछ लोग बड़ी लम्बी लम्बी बातें छाँट जाते हैं, पर कुछ करने के समय बगलें झाँकने लगते हैं। ऐसे व्यक्तियों की जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। ऐसे लोग बड़े ही अयोग्य अभिभावक अथवा शिक्षक होते हैं। इनका उदाहरण बालकों के लिये कभी हितकर नहीं हो सकता। बालकों से आदत सम्बन्धी कार्य शीघ्रातिशीघ्र प्रारम्भ करवा देना चाहिये, अन्यथा उन्हें मानसिक दुर्बलता आ घेरेगी और उनका संकल्प ढीला पड़ जायगा।

३—संलग्नता—

जब तक आदत पक्की न होजाय उसमें लगा रहना।

आदत सीखने में संलग्नता का बड़ा भारी महत्व है। प्रायः संगीतज्ञ गुरु कहा करते हैं कि एक दिन भी अभ्यास छूट गया तो छः महीने का परिश्रम जाता रहता है। कहने का तात्पर्य यह कि जब तक आदत पक्की न हो जाय तब तक उसमें संलग्न रहना चाहिये। एक दिन की भी ढिलाई से काम बिगड़ जाता है। अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि "गुण के लिये कभी भी अवकाश नहीं है।" यदि हम यह संकल्प कर लें कि नित्य संगीत पर अभ्यास करेंगे, अथवा नित्य व्यायाम करेंगे, तो एक दिन की भी भूल न पड़नी चाहिये।

४—अभ्यास—

आदत पड़ जाने पर अभ्यास का छोड़ना ठीक नहीं।

आदत पड़ जाने पर उसे दृढ़ रखने के लिए नित्य का अभ्यास बड़ा आवश्यक है। आदतें कठिनता से पड़ती हैं, पर अभ्यास के न करने से शीघ्र ही लुप्त हो जाती हैं। यदि हम आधा घण्टे नित्य व्यायाम में देते हैं तो परिस्थितिवश कभी उसके लिये एक मिनट भी देना बुरा लग सकता है। पर यह ठीक नहीं, अच्छा होगा कि कम से कम एक ही मिनट दे दिया जाय। यह प्रवृत्ति हमें हर एक आदत में रखनी चाहिये। इससे आदतें दृढ़ हो जाती हैं।

आदत के प्रकार

भली और बुरी दो प्रकार की आदतें होती हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि हम कितना ही सभ्य क्यों न हो जाँय पर प्राथमिक (प्रिमिटिव्) प्रवृत्तियों से हम सर्वथा मुक्त नहीं हो सकते। यही कारण है कि व्यक्ति में बुरी आदतें सरलता से पड़ जाती हैं, और कठिनाई से छूटती हैं; और अच्छी आदतें कठिनाई से पड़ती हैं, पर वे शीघ्र ही छूट सकती हैं। हमारे चरित्र का विकास स्थायीभाव तथा आदतों पर निर्भर रहता है। (स्थायीभाव का वर्णन प्रसंगानुसार आगे किया जायगा)। अच्छी आदतें वाला व्यक्ति सचरित्र कहा जाता है। समाज उसका मान करता है। बुरी आदतों वाला व्यक्ति समाज में संक्रामक रोग समझा जाता है। उसके सम्पर्क में जितने लोग आयेंगे उन सबके दूषित हो जाने का भय रहता है। अतः सामाजिक उत्तरदायित्व के नाते भी हमें अच्छी आदतों के सीखने का प्रयत्न करना चाहिये।

बुरी आदतों का सरलता से पड़ना, पर कठिनता से उनका छूटना; अच्छी आदतों की गति इसकी उलटी, अच्छी आदतों का सीखना सामाजिक उत्तरदायित्व।

जटिल आदतें क्यों पड़ती हैं

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर मनोविश्लेषणवाद से मिलता है। कभी कभी हम किसी व्यक्ति की आदत देख दंग रह जाते हैं। फ्रान्स में एक शिष्ट कुल की महिला को पुराने जूते चोरी करने की लत थी। मरने पर उसके घर में कई जोड़े जूते मिले। कुछ लोगों को दूसरों की पेंन्सिलें चुरा लेने की आदत होती है। छोटे छोटे बालक पैसे चुराने की आदत सीख जाते हैं। कुछ के लिये झूठ बोलना बड़ा सरल होता है। कुछ लोग डींग मारने की चरम सीमा तक पहुँच जाते हैं। इन सब आदतों का छुड़ाना बड़ा ही विकट है। मार-पीट तथा अन्य प्रकार के दण्ड से ये आदतें और दृढ़ होती जाती हैं। ये आदतें मन में उपस्थित भावना-ग्रन्थियाँ (कॉम्प्लेक्सेज़) के कारण होती हैं। यदि इन ग्रन्थियों का सुलझाव कर दिया जाय तभी व्यक्ति बुरी आदतों से मुक्त हो सकता है। मनोविश्लेषणवाद के अनुसार आदतें अभ्यास द्वारा नहीं पड़तीं। प्रत्येक आदत किसी संवेग के आधार पर बनती हैं। जैसे संवेगात्मक प्रेरणा से किसी मूलप्रवृत्ति को क्रियाशील होने की उत्तेजना मिलती है, उसी प्रकार आदत की क्रियाशीलता में भी किसी संवेग का हाथ रहता है। संवेग की शिथिलता से

मारने व पीटने से आदतों का और भी दृढ़ होना, बुरी आदतें भावना-ग्रन्थियों के कारण, आदत का आधार संवेग, बुरी आदतों को छुड़ाने के लिये उनसे सम्बद्ध विकृत संवेग का नष्ट करना और भावना-ग्रन्थियों का खोलना आवश्यक।

आदत की क्रियाशीलता में भी ढिलाई आ जाती है। भली आदतों का सम्बन्ध अच्छे संवेगों से होता है और बुरे का सम्बन्ध बुरे से होता है। व्यक्ति से बुरी आदतों से विपरीत क्रिया कराने पर भी वे दूर नहीं होतीं। उनके दूर करने के लिये उनसे सम्बद्ध विकृत संवेग (कॉम्प्लेक्स इमोशन) को ही नष्ट करना आवश्यक है। विकृत संवेग के नष्ट होने से मानसिक ग्रन्थियाँ खुल जाँयगी और व्यक्ति बुरी आदतों से मुक्त हो जायगा। हेडफ़ील्ड महोदय का कथन है कि "भावना-ग्रन्थियों के हटा लेने से बुरी आदतें वैसे ही भाग जाती हैं जैसे बिजली के प्रकाश से अन्धेरा। यदि बुरी आदतें न हटीं' तो यह निश्चय है कि भावना-ग्रन्थियाँ अभी समूल नष्ट नहीं हुई। कभी एक साधारण सी बात से भी व्यक्तियों का उद्धार होते देखा गया है। संवेगात्मक जीवन में वांछित परिवर्तन आ जाता है तो व्यक्ति स्वतः बुरी आदतों से मुक्त हो जाता है। भावना-ग्रन्थियों के निराकरण में सप्ताह तथा महीनों तक लग सकते हैं, पर उनका सुलझाव हो जाने से बुरी आदतें दूर हो जाती हैं। यह नियम केवल आचरण सम्बन्धी बुरी आदतों में ही लागू नहीं है, वरन् सभी बुरी शारीरिक आदतों, दुखों की अकारण अनुभूति तथा अकारण भय का भी आधार जटिल भावना-ग्रन्थियाँ ही होती हैं।"* हेडफ़ील्ड महोदय की उक्ति उनके अनेक परीक्षणों के आधार पर अवलम्बित है। इसकी पुष्टि अन्य मनोविश्लेषणवादियों ने भी की है। स्पष्ट है कि बुरी आदतों से किसी व्यक्ति को मुक्त करने के लिये उसकी विशिष्ट भावना-ग्रन्थियों का पता लगाना आवश्यक है। इसमें मनोविश्लेपक ही हमारी सहायता कर सकता है।

कुछ बुरी आदतों का निराकरण

१—चोरी करना—

कुछ बालकों में चोरी करने की आदत पड़ जाती है। वे इतनी साधारण वस्तुओं को चुराते हैं कि आश्चर्य होता है कि इनसे उनका क्या लाभ होगा। मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार चुराने की आदत काम-प्रवृत्ति के अवदमन के दुष्परिणाम से पड़ती है। चुराने में व्यक्ति काम-भावना की तृप्ति के संवेगका कुछ अनुभव करता है। बहुधा बालक अपने मित्रों को चिढ़ाने के लिये उनकी वस्तुयें चुराया करते हैं। इसमें उन्हें बड़ा आनन्द आता है। यह आदत किसी प्रकार के मैथुन में क्रूर व्यवहार करने की उनकी प्रवृत्ति का द्योतक है। पर घर में पड़ी हुई वस्तुओं को बालक क्यों चुराता है? पिताजी के जेब से वह पैसे क्यों निकाल लेता है? अपने पिता के किसी मित्र के घर में जा कर चाकू,

चोरी करने की आदत काम-प्रवृत्ति के अवदमन का दुष्परिणाम, अभिभावकों का अमनोवैज्ञानिक व्यवहार भी इसका कारण।

* साइकॉलॉजी एण्ड मारल्स, पृष्ठ ४९ का सारांश।

वा पेन्सिल वह चुरा लिया करता है। इसका क्या कारण है? इस प्रकार की चोरी की आदत अभिभावकों के अमनोवैज्ञानिक व्यवहार का ही परिणाम है। अभिभावक उपयुक्त अवसर पर बच्चे पर नियन्त्रण लगाने में असमर्थ होते हैं। यह असमर्थता उनकी किसी जटिल भावना-ग्रन्थि का ही दुष्परिणाम होती है। वे बच्चों को कभी तो बहुत लाड़-प्यार दिखलाते हैं, और कभी झिझक में उन्हें बहुत पीट देते हैं। इसका प्रभाव बुरा पड़ता है। अपने इस अमनोवैज्ञानिक व्यवहार की प्रतिक्रिया में वे थोड़ा ही देर बाद बच्चे का आदर करना आरम्भ कर देते हैं। कभी कभी माता-पिता काम-पिपासा की ज्ञात अथवा अज्ञात तृप्ति में बच्चों की उपस्थिति का ध्यान नहीं दे पाते। शिष्टाचार पर बहुत ध्यान देने पर भी उनके परस्पर व्यवहार बोलचाल, उठना व बैठना इत्यादि ऐसा हुआ करता है कि उनका बालकों के मस्तिष्क पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। फलतः उनकी भी काम-प्रवृत्ति अपनी सीमा के अन्दर जागृत हो जाती है। इस प्रवृत्ति का प्रकाशन बच्चों की चोरी की आदत में होता है। मनोविश्लेपणवादियों के परीक्षण इसके अकाट्य प्रमाण हैं।

२—चिढ़ाना—

कुछ लड़कों में दूसरों को चिढ़ाने अथवा तंग करने की आदत पड़ जाती है। मनोविश्लेषणवाद के अनुसार यह आदत आत्म-प्रकाशन अथवा काम-प्रवृत्ति के अवदमन का दुष्परिणाम है। जिन बालकों को घर पर प्यार नहीं मिलता, जिनकी माता-पिता या बड़े भाई-बहन अवहेलना किया करते हैं वे स्कूल के अध्यापक द्वारा सम्मानित लड़कों को चिढ़ाया या तंग किया करते हैं। उनकी ईर्षा-भावना यहाँ उत्तेजित हो जाती है। किसी को मान पाते देख सम्मान पाने की उनकी भी इच्छा होती है। वे अपने व्यक्तित्व को स्थापित करना चाहते हैं। उनकी इच्छा होती है कि माता-पिता या शिक्षक उनकी योग्यता को समझें। इस इच्छा की पूर्ति न होने के कारण वे ऊधम मचाना प्रारम्भ कर देते हैं; क्योंकि दूसरों को आकर्षित करने का उन्हें यही साधन दिखलाई पड़ता है। यदि ऐसे बालकों को आत्म-प्रकाशन का अवसर दिया जाय तो उनकी बुरी आदत छूट जायगी।

आत्म-प्रकाशन अथवा काम-प्रवृत्ति के अवदमन का दुष्परिणाम, दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने का यह एक साधन।

३—झूठ बोलना—

बालकों में झूठ बोलने के कई कारण होते हैं। किसी वस्तु का वास्तविक रूप न रखना झूठ बोलना कहा जा सकता है। कभी कभी हम देखते हैं कि बालक किसी बात का गलत वर्णन कर रहा है। इस प्रकार के झूठ बोलने का कारण उसकी कल्पना शक्ति हो सकती है। बालक की धारणा-शक्ति तीव्र नहीं

कल्पना और स्मृति में समानता न होने से बालक

का झूठ बोल जाना क्षम्य। होती। किसी वस्तु को देखने के बाद उसे वह शीघ्र ही भूल सकता है। इन्द्रिय-ज्ञान और अपनी कल्पना के विचार के भेद को वह नहीं समझ पाता। अतः कभी कभी वह देखता कुछ है और वर्णन कुछ और ही कर जाता है। सरोजकुमार की कल्पना-शक्ति बड़ी तीव्र है। पर स्मरण-शक्ति उसकी समानता नहीं कर पाती। अतः कभी कभी वह देखता कुछ और है, पर वर्णन कुछ और ही कर जाता है। इस प्रकार का झूठ बोलना झूठ बोलना नहीं हुआ। इसके लिये उसे दण्ड देने का परिणाम घातक होगा। ऐसे समय बालक से यह कभी नहीं कहना चाहिये कि तुम झूठ बोल रहे हो। ऐसी डाँट से जिस वस्तु को वह जानता भी नहीं उसे भी जानने की चेष्टा करने लगेगा और अधिक झूठ बोलना प्रारम्भ कर देगा। अतः ऐसे झूठ के लिये दण्ड न देकर वास्तविक स्थिति को सहानुभूतिपूर्वक समझा देना चाहिये।

अनुकरण से झूठ बोलना सीखना, अतः वातावरण का पवित्र रखना।

बालक दूसरों के अनुकरण से भी झूठ बोलना सीख लेता है। जिस घर के लोग बात बात में झूठ बोला करते हैं, अथवा साधारण सी बात में अपने काल्पनिक सम्मान की रक्षा में झूठ बोलते हैं, उस घर के बालक पर इसका बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ता है। बालक भी बड़ों के अनुकरण में झूठ बोलना प्रारम्भ कर देता है। धीरे धीरे इसमें अभ्यस्त होकर वह दूसरों से "झूठा" का विशेषण भी पाने लगता है। बालक कभी कभी अपने सहपाठियों के अनुकरण में भी झूठ बोलना सीख लेता है। अतः सभी प्रकार से वातावरण का पवित्र रखना आवश्यक है।

ज्ञात और अज्ञात चेतना में असामञ्जस्य के कारण झूठ बोलना।

कभी कभी बालक अनजान में भी झूठ बोलता है। यदि उससे कहा जाय कि तुम झूठ बोलते हो तो उसे वह मिथ्या दोषारोपण समझेगा। ऐसे बालकों की ज्ञात और अज्ञात चेतना में बड़ा असामञ्जस्य रहता है। ज्ञात चेतना में वह बड़ा ही सच्चरित्र हो सकता है; पर जटिल भावना-ग्रन्थियों के कारण उसके अचेतन मन में बड़ा द्वन्द्व हो सकता है। इस द्वन्द्व के कारण वह कभी आश्चर्यजनक झूठ बोल या लिख सकता है।

भय से झूठ—

दण्ड के भय से भी बालक में झूठ बोलने की आदत पड़ जाती है। जो माता-पिता बालकों को साधारण सी साधारण बात पर दण्ड दिया करते हैं उनके बच्चे दण्ड से बचने के लिये बहुधा झूठ बोला करते हैं। आदत पड़ जाने पर हर बात में झूठ बोलना उनका स्वभाव हो जाता है। उदाहरणार्थः बाहर

से आने पर जब पिता डाँट कर बच्चे से पूछता है "क्यों जी ! जो जो यहाँ आये थे उनका नाम लिख रक्खा है कि नहीं ?" बालक भय से झूठ बोल देता है कि 'पूछने पर उन लोगों ने अपने नाम बतलाये ही नहीं'।

आत्म-प्रकाशन के अवदमन से झूठ—

कठोर व्यवहार से झूठ बोलने की आदत पड़ना, छोटी छोटी इच्छाओं की पूर्ति, झूठ की आड़ में आत्म-प्रकाशन।

बालक कभी कभी अपनी शक्तियों के प्रदर्शन के लिये झूठ बोलने लगता है। जब सत्य बोलने पर उसकी प्रशंसा नहीं की जाती तो वह झूठ बोल कर लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। ऐसे बालकों में चुगलखोरी करने की बुरी लत पड़ जाती है। साधारणतः माता-पिता का कठोर व्यवहार बालक में झूठ बोलने की आदत डाल देता है। बालक की स्वाभाविक इच्छाओं का दमन न करना चाहिये। यदि वह खेलने जाना चाहता है तो रोकना हानिकारक होगा। उसके किसी पुस्तक या चित्र के लिये माँग उपस्थित करने पर उसे पूरी करना आवश्यक है। छोटी छोटी इच्छाओं की भी पूर्ति बालक के विकास के लिये आवश्यक है। इच्छाओं को दबाने के लिये भय दिखलाना या दण्ड देना हानिकर होता है। इच्छाओं की पूर्ति से आत्म-प्रकाशन प्रवृत्ति की स्वाभाविक क्रियाशीलता बढ़ती है। उनके दमन से आत्म-प्रकाशन नहीं हो पाता और बालक झूठ की आड़ में आत्म-प्रकाशन करता है। इसके लिये पीटना और हानिकर होता है। पीटने से झूठ बोलने की आदत बढ़ती है, क्योंकि मार खाने में बालक अभ्यस्त होकर अपने आत्म-प्रकाशन के लिये बहुधा झूठ की शरण ले सकता है।

अनजान में झूठ सिखाना—

अभिभावकों की असावधानी से।

कुछ माता-पिता अज्ञानतावश बालकों को झूठ बोलना सिखलाते हैं। कुछ लोग आगन्तुकों से मिलते मिलते तंग आकर अपने बच्चे से कह दिया करते हैं कि कोई आये तो कह देना कि 'बाबूजी नहीं हैं।' पैसा रहते हुए भी पिता दूसरों से कह देता है कि पैसे नहीं हैं। इन सब बातों का बालक की मनोवृत्ति पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। वह समझता है कि झूठ बोलना बुरा नहीं है। फलतः अपना अर्थ सिद्ध करने के लिये इसका वह भी अवलम्बन लिया करता है।

नैतिक झूठ के लिये

रूसो का कहना है कि यदि बालक की सत्य बात पर भी विश्वास करना छोड़ दिया जाय तो झूठ बोलने की उसकी आदत छूट जायगी। ऐसा करने से तंग आकर वह झूठ बोलना स्वयं छोड़ देगा। नैतिक झूठ के लिये कभी कभी दण्ड दिया जा सकता है, पर

दण्ड कभी कभी, बालकों के कार्यों में रुचि दिखलाना आवश्यक, प्रत्येक झूठ में एक इच्छा-शक्ति छिपी, इसका पता लगा कर झूठ की आदत को दूर करना, दुश्चरित्र के उपदेश का उलटा परिणाम।

इसका आधिक्य नहीं होना चाहिये। बड़ों को बालकों के कार्यों में थोड़ी रुचि दिखलाना आवश्यक है। इससे उन्हें बड़ा हर्ष होता है और उनकी आत्म-प्रकाशन प्रवृत्ति की सन्तुष्टि भी होती है। प्रत्येक झूठ के पीछे एक इच्छा-शक्ति छिपी रहती है। यदि इस इच्छा का पता लगाकर उसकी पूर्ति का उपाय किया जाय तो झूठ बोलने की आदत स्वतः दूर हो जायगी। माता-पिता को बालक के झूठ से विशेष घबड़ाना न चाहिये। यदि बार बार बालक को वे बताते रहें कि तुम अब झूठ बोले' तो ध्यान आकर्षित करने के लिये वह बहुधा झूठ बोला करेगा। सत्य बोलने के लिये बार बार उपदेश देने से भी झूठ बोलने की आदत पड़ जाती है। यह विरुद्ध-निर्देश का फल होता है। जो स्वयं झूठ बोला करते हैं पर बालकों को सत्य बोलने का उपदेश दिया करते हैं उनके उपदेश का परिणाम विपरीत होता है। यह झूठ बोलने के ही सम्बन्ध में नहीं, अपितु अन्य स्थान पर भी दुश्चरित्र व्यक्तियों के उपदेश का उलटा परिणाम होता है। जो अभिभावक या शिक्षक स्वयं तो व्यायाम नहीं करते, पर बालकों को व्यायाम करने का उपदेश दिया करते हैं उनके कथन का एकदम उलटा प्रभाव पड़ता है। जिनका जीवन पतित है वे बालकों पर कभी अच्छा प्रभाव नहीं डाल सकते। बालकों में सदा कुछ सद्वृत्ति होती है। अतः ऐसे अभिभावकों के प्रति बालकों में सदैव कुछ न कुछ शंका बनी रहती है। ऐसी स्थिति वास्तव में बड़ी दयनीय होती है।

झूठ की उपयोगिता—

उपर्युक्त विवेचन से यह समझना भूल होगी कि हम बालक के जीवन को झूठ से सर्वथा अलग कर सकते हैं। बालक कहानियों में बड़ी रुचि दिखलाता है। इन कहानियों के सुनने अथवा पढ़ने से उसकी कल्पना-शक्ति का विकास होता है। परन्तु इन कहानियों में सब झूठ का ही जाल रहता है। "गदहे ने लोमड़ी से कहा", "कौवा हँसने लगा" इत्यादि इत्यादि क्या सत्य का रूप है? पर बालक के मस्तिष्क-विकास के लिये ऐसी कहानियों का पढ़ना बड़ा आवश्यक है। इन कहानियों के झूठे आवरण के भीतर सत्यता कूट कूट कर भरी रहती है। इस सत्यता का मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अतः इनके पढ़े बिना बालक का विकास अधूरा रह जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। पर इतना ध्यान रहे कि इन कहानियों में किसी अनैतिक बात का उल्लेख न रहे, अन्यथा बालक पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। होमर की रचनाओं में आये हुये देवता अनैतिक कार्यों में लिप्त

उपदेशप्रद कहानियों में, अनैतिक कहानियों को न पढ़ाना।

दिखलाई पड़ते हैं। इसीलिये प्लैतों ने बालक की शिक्षा में होमर को स्थान न दिया। हमारी कुछ पौराणिक कथायें भी ऐसी होती हैं जिनमें देवतागण विभिन्न प्रकार के दुराचार और व्यभिचार के भागी दिखलाये गये हैं। ऐसी कथाओं को बालकों की शिक्षा से अलग रखना होगा।

धूम्र-पान—

बालक में धूम्र-पान की आदत बहुधा अनुकरण से आती है। बालक बहुधा अपने बड़ों को सिगरेट या बीड़ी पीते देखता है। वह समझता है कि केवल बड़े लोग ही धूम्र-पान कर सकते हैं, अर्थात् धूम्र-पान करना बड़े लोगों का चिन्ह है। इस भावनावश वह भी धूम्र-पान करना प्रारम्भ कर देता है। मिल या फैक्टरी में कार्य करने वाले बालकों में बीड़ी अथवा सिगरेट पीने की आदत पड़ जाती है। यह बहुधा अनुकरण का परिणाम होता है। बहुत से बालक किशोरावस्था में धूम्रपान की आदत डाल लेते हैं।

आत्म-प्रकाशन की भावना तथा अनुकरण से, किशोरावस्था में धूम्रपान की आदत अतृप्त वासना का द्योतक।

मनोविश्लेषकों के परीक्षण से यह सिद्ध है कि यह उनकी वासना-प्रवृत्ति के सन्तुष्टि का सांकेतिक चिन्ह है। स्पष्ट है कि बालकों के सामने सदैव अच्छा ही उदाहरण रखना चाहिये। उनकी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति में किसी प्रकार की अमनोवैज्ञानिक रुकावट न डालनी चाहिये।

सहायक पुस्तकें

१—मैग्डूगल—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल साइकॉलॉजी, अध्याय ४।
२— ,, —ग्रुप माइण्ड।
३—ड्रेवर—इन्स्टिंक्ट इन मैन, अध्याय ८।
४— ,, —ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन, अध्याय ६।
५—डम्विल—द फ़ण्डामेण्टल्स ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय, १२।
६—स्टर्न—साइकॉलॉजी ऑव् अर्लीचाइल्डहूड, अध्याय ३२।
७—वैलेनटाइन, सी० डब्लू० —दी साइकॉलॉजी ऑव् अर्लीचाइल्डहूड—अध्याय, ९, १०, ११, १३, १६।
८—स्ट्रैङ्ग, रूथ—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु चाइल्ड स्टडी, अध्याय, ११,१६,२०।
९—नन, टी० पी०—एडूकेशनः इटस डेटा ऐण्ठ फ़र्स्ट प्रिन्सीपल्स।
१०—कर्टिस—एडूकेशन थ्रू प्ले।
११—मॉन्तेसरी—द मॉन्तेसरी मेथड।
१२—होमरलेन—टॉक्स टु पेरेण्ट्स ऐण्ड टीचर्स।
१३—मिस बर्ज़ले—दी लिटिल कॉमनवेल्द।
१४—रैनी—द प्लेस ऑव् प्ले इन एडूकेशन।

१५—काल्डवेल कुकु—द प्ले वे।
१६—ग्रूस, कार्ल—द प्ले ऑव् एनीमल्स।
१७—रॉस—द ग्राउण्ड वर्क ऑव् एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय, १५।
१८—लालजीराम शुक्ल—सरल मनोविज्ञान, अध्याय ७।
१९— ,, —बाल मनोविकास, प्रकरण ६, ७, १०।
२०— ,, बाल-मनोविज्ञान, परिच्छेद, ८,११, १४, १५।
२१—हॉल—एडोलेसेन्स
२२—सिम्पसन—ऐन ऐडवेञ्चर टु एडूकेशन।
२३—मैकमन—द चाइल्ड्स पाथ टु फ्रीडम।
२४—पार्कहर्स्ट—द डाल्टन प्लान।
२५—सरयू प्रसाद चौबे, बाल मनोविज्ञान।
२६— ,, ,, किशोर मनोविज्ञान की भूमिका।

सर्वथा असमर्थ रहते हैं। किसी कार्य के न करने से वे दूसरों पर तो बहुत बिगड़ेंगे, पर अपनी कृति पर वे ध्यान नहीं दे सकेंगे। दूसरों द्वारा कर्तव्यावहेलना पर वे आग बबूले हो उठेंगे, पर अपनी अवहेलना का उन्हें तनिक भी ध्यान न रहेगा। वास्तव में ऐसे व्यक्ति को कुछ दोष देना अज्ञानता का द्योतक है। उन्हें मानसिक रोगी समझना चाहिये और परिचर्या के लिये किसी मनोविश्लेषक के उत्तरदायित्व पर छोड़ देना चाहिये।

ऐसे मानसिक रोगियों में एक बात और देखी जाती है। यह तो निर्विवाद है कि उनके रोग की जड़ उनकी प्रतिरुद्ध काम-प्रवृत्ति अथवा काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि होती है। काम-प्रवृत्ति का सम्बन्ध कोमल वृत्तियों से होता है। संसार की सारी कोमल वस्तुओं, विचार और भावों का सम्पर्क उनसे जोड़ा जा सकता है। अतः रोगी वह कार्य करने की कभी इच्छा न करेगा जिसमें तनिक भी कठोरता का समावेश रहता है। उदाहरणार्थः यदि उससे व्यायाम करने के लिये कहा जायगा तो वह कहेगा कि "व्यायाम से मैं अपने शरीर को कठोर नहीं बनाना चाहता—मैं सौन्दर्य का प्रेमी हूँ, मैं प्राकृतिक वस्तुओं को अधिक प्यार करता हूँ, व्यायाम करना अप्राकृतिक है, क्या गाय व भैंस व्यायाम करते हैं? वे क्यों स्वस्थ दिखलाई पड़ते हैं? मैं भी व्यायाम नहीं करूँगा, क्योंकि यह अप्राकृतिक है।" आधुनिक कृत्रिम सभ्यता में पले हुए मानव की यह कितनी बड़ी बिडम्बना है! मानव जीवन अन्य पशुओं के समान प्राकृतिक कहाँ रहा? अतः स्वास्थ्य बनाने के लिये व्यायाम तो करना ही पड़ेगा। पशुओं की उपमा देना तो केवल दयनीय भ्रम है!

मानसिक रोग की जड़ प्रतिरुद्ध काम-प्रवृत्ति, काम-प्रवृत्ति का सम्बन्ध कोमल वृत्तियों से।

ऐसे मानसिक रोगी को यदि उचित शिक्षा न मिली तो उसकी जीवन-नौका किस घाट लगेगी नहीं कहा जा सकता। उचित शिक्षा से अपने अर्जित सुसंस्कार के बल पर ऐसा रोगी सुधर सकता है। अधोगति के गर्त में गिरने का प्रलोभन उसके जीवन में कई बार आता है। पर अपनी सद्वृत्तियों के कारण वह सम्हल उठता है। कितनी ही उच्च शिक्षा वह क्यों न पाये, पर प्रतिरुद्ध इच्छायें अज्ञात चेतना में जाकर जम जाती हैं और वहाँ से प्रसंगानुसार व्यक्ति के व्यवहार पर प्रभाव डालती रहती हैं। यही कारण है कि सामान्य मानसिक अवस्था प्राप्त कर लेने पर भी कभी कभी उसके व्यवहार में विचित्रता दिखलाई पड़ती है। साधारण सी साधारण बात पर उबल पड़ना, बात बात में झगड़ पड़ना उसके लिये बड़ा सरल होता है। ऐसे व्यक्तियों के साथ रहना रस्सी पर नाचने के समान है।

मानसिक रोगी को उचित शिक्षा आवश्यक, सामान्य मानसिक अवस्था प्राप्त कर लेने पर भी कभी कभी उसके व्यवहार में विचित्रता।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि का परिणाम बड़ा भयानक हो सकता है। अतः अभिभावकों और शिक्षकों को उचित है कि बहुत प्रारम्भ से ही बालक की काम-प्रवृत्ति के विकास का सूक्ष्मतम अध्ययन करें और अपने व्यवहार में कभी अमनो-वैज्ञानिक न हों।

काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि का परिणाम बड़ा भयानक।

प्रभुत्व की भावना-ग्रन्थि—

प्रभुत्व की भवना-ग्रन्थि कड़े अभिभावकों के नियन्त्रण का परिणाम होता है। ऐसे अभिभावक बालकों को सदा अपनी आज्ञा पर नचाया करते हैं। यह आज्ञा बालकों की भलाई के लिये ही दी जाती है। उदाहरणार्थः "नित्य सुबह उठो, व्यायाम करो, पढ़ो, यह करो और वह करो इत्यादि"। इन आज्ञाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी होती हैं जो आलस्यपूर्ण अभिभावकों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भी हुआ करती है:—जैसे, पानी पिलाओ, स्नान करने के लिये पानी रक्खो, यह पुस्तक लो दे देना, उसके यहाँ जाकर ये ये बातें पूछ आओ, बाजार से इनके लिये मिठाई लेते आओ, आदि। ऐसी आज्ञायें चलाते समय कुछ अभिभावक किंचित भी ध्यान नहीं देते कि बालक क्या कर रहा है। इससे बालक का कार्य और मानसिक अवस्था एकदम छिन्न भिन्न हो जाती है। अभिभावकों का कितना क्रूर व्यवहार है यह !!! ऐसी स्थिति में पले हुए बालक शासन-ग्रन्थि के अभियुक्त हो जाते हैं। वे अभिभावकों के विरोधी हो जाते हैं। मर्यादावश भले ही वे चुपचाप उनकी आज्ञाओं का पालन कर दें पर मन ही मन वे सदा भनभनाते रहते हैं। उनका चेतन मन तो आज्ञानुसार कार्य कर देता है, पर अचेतन मन सदा उपद्रव करने के लिये प्रस्तुत रहता है। यदि ऐसे बालकों को उचित शिक्षा न मिल सकी, यदि उनके संचित संस्कार सम्भ्रान्त न हुए तो उनमें नियन्त्रण तथा शासन के विरोध करने की प्रवृत्ति आ जाती है। इस प्रवृत्ति के क्रियाशील होने पर वह सन्तोष का अनुभव करता है। मर्यादावश बालक अभिभावकों और शिक्षकों के सामने इस प्रवृत्ति का अवदमन करता है, पर आगे चलकर यह प्रवृत्ति, धार्मिक, नैतिक, सामजिक और राजनैतिक नियमों के प्रतिकूल चलने की ओर संलग्न हो सकती है। मनोविश्लेपकों की धारणा है कि संसार के प्रसिद्ध डाकू, चोर, उपद्रवी तथा व्यभिचारी इसी प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं।

कड़े नियन्त्रण का परिणाम; इस ग्रन्थि का सामाधान न किया जाय तो धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक नियमों के प्रतिकूल जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न।

भावना-ग्रन्थियाँ कैसे सुलझाई जा सकती हैं ?

मनोविश्लेषक का ही कार्य, निदान जानना आवश्यक, कारणों को दूर करना, आत्मप्रकाशन के लिये अवसर देना, स्वाभाविक कार्यों में पर्याप्त स्वतन्त्रता, काम-प्रवृत्ति का शोधन।

भावना-ग्रन्थियों का सुलझाव मनोविश्लेषक ही कर सकते हैं। इसमें साधारण अभिभावकों व शिक्षकों की पहुँच नहीं। सबसे पहले ग्रन्थि का निदान जानना आवश्यक है। हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि निदान जान लेना ही ग्रन्थि का सबसे बड़ा उपचार है। यदि व्यक्ति अपनी ग्रन्थियों का कारण समझ जायगा तो वह स्वतः ग्रन्थि से मुक्त हो जायगा। निदान को जानने के लिये किन किन विधियों का अनुसरण करना चाहिये इस पर प्रकाश डालना इस पुस्तक की सीमा के बाहर है। मनोविश्लेषण की पुस्तक ही इस पर प्रकाश डाल सकती है। अतः हम केवल सिद्धान्तों की ओर ही संकेत कर सकते हैं। निदान का पता लग जाने पर व्यक्ति के लिये पुनर्शिक्षा की आवश्यकता है। नैतिक उपदेश का नाम शिक्षा नहीं। जिन कारणों से ग्रन्थियाँ पड़ी थीं उन्हीं कारणों को व्यक्ति के जीवन से दूर करना है; अर्थात् अब उसे आत्म-प्रकाशन के लिये पूरा अवसर मिलना चाहिये। उसके साथ व्यवहार में कोई ऐसी बात न आवे जिससे उसमें आत्म-हीनता का अनुभव हो। उसको स्वाभाविक कार्यों में पर्याप्त स्वतन्त्रता देनी होगी। उसकी काम-प्रवृत्ति का अवदमन न करना चाहिये। मनोवैज्ञानिक विधि से इन सब प्रवृत्तियों का शोधन करना चाहिये।

सहायक पुस्तकें

१—बारबरालो—द अन कॉनशस इन ऐक्शन।
२—क्रिकटन मीलर—एच० साइकोएनालेसिस ऐण्ड इट्स डीराइवेटिव्स।
३—ड्रेवर—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन, अध्याय ८।
४—मैग्डूगल—सोशल साइकॉलॉजी, अध्याय ७, ९।
५— ,, —ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय १७।
६—शैण्ड—दी फ़ॉउण्डेशन्स ऑव् कैरेक्टर, भाग १।
७—नन—एडूकेशन एट्स डेटा ऐण्ड फ़र्स्ट प्रिन्सीपुल्स, अध्याय १२, १३।
८—जेम्स—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय ४।
९—रस्क—एक्सपेरीमेण्टल एडूकेशन, अध्याय १३।
१०—सैण्डीफ़ोर्ड—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ९-११।
११—लालजीराम शुक्ल—सरल मनोविज्ञान, प्रकरण ८।
१२— ,, —बाल मनोविकास प्रकरण, ८।
१३—सरयू प्रसाद चौबे—बाल मनोविज्ञान, अध्याय ४, ५, १३।
१४— ,, ,, ,,—किशोर मनोविज्ञान की भूमिका, अध्याय ४, ६, ९, १०, ११।

१०

संकल्प-शक्ति और चरित्र

(विल ऐण्ड कैरेक्टर)

संकल्प-शक्ति

निर्णय करने की शक्ति, व्यक्ति में कई प्रकार की चाह, चाह को विचार की कसौटी पर कसना, तब किसी वस्तु के लिए इच्छा प्रकट करना।

संकल्प-शक्ति मनुष्य की निर्णय करने की शक्ति है। इसी शक्ति से बालक यह निश्चय करता है कि पास के पैसे से आम खरीदें या लड्डू। इसी से किसान यह निश्चय करता है कि गाय खरीदें या भैंस। पहले व्यक्ति को किसी वस्तु की चाह होती है। यह उसकी विभिन्न मूलप्रवृत्तियों की वातावरण के संघर्ष अथवा उसके स्थायीभाव का निष्कर्ष होती है। चाह को भूख भी कह सकते हैं। व्यक्ति में विभिन्न भोगों के उपभोग की चाह होती है। पशु में भी कुछ भूखें होती हैं। पर उसकी भूखें इतनी सीमित होती हैं कि सामान्य वातावरण के सम्पर्क से ही उनकी निवृत्ति हो जाती है। अतः जगत की वस्तुओं के सम्बन्ध में विचार के आधार पर उनमें आन्तरिक प्रेरणा बहुत ही कम होती है। मनुष्य की कहानी दूसरी है। उसकी भूखें अगणित हैं। उनकी निवृत्ति के लिये उसकी विचार-धारा अविरल गति से चलता रहती है। इस निवृत्ति के प्रयास में उसका ध्यान जगत की वास्तविकता की ओर आकर्षित होता है। फलतः उसे चाह की वस्तु का ज्ञान होता है और वह चाह को अपने विचार की कसौटी पर कसता है। इसके उपरान्त वह किसी विशिष्ट वस्तु के लिये अपनी इच्छा प्रकट करता है।

संकल्प-शक्ति क्रियात्मक मनोवृत्ति, परस्पर विरोधी इच्छायें, फलतः अन्तर्द्वन्द, इसका निर्णय संकल्प-शक्ति में

डरिवल के अनुसार क्रियात्मक मनोवृत्ति (कोनेशन) को संकल्प-शक्ति कहते हैं। व्यक्ति में अनेक मनोवृत्तियाँ अथवा इच्छायें होती हैं। अतृप्त इच्छायें वासना के रूप में अचेतन मन में बैठी रहती हैं और समय समय पर व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित किया करती हैं। कभी कभी इच्छायें परस्पर विरोधी भी होती हैं। ऐसी स्थिति में अन्तर्द्वन्द का निर्णय व्यक्ति की संकल्प-शक्ति

द्वारा, इच्छा और संकल्प-शक्ति में भेद, संकल्प-शक्ति के निर्बलता के कारण आदर्श का कार्यान्वित होना कठिन, संकल्प-शक्ति की निर्लबता से निर्णय-शक्ति का अभाव।

करती है। वास्तव में इस प्रकार का निर्णय करना ही संकल्प-शक्ति का प्रधान कार्य है। इच्छा और संकल्प-शक्ति में भेद है। किसी इच्छा को कार्यान्वित करने की व्यक्ति में जो शक्ति होती है वह उसकी संकल्प-शक्ति है। संकल्प-शक्ति किसी भी इच्छा को कार्यान्वित होने से रोक सकती है। संकल्प-शक्ति किसी इच्छा को सबल या निर्बल बना सकती है। अपने संस्कार के अनुसार संकल्प-शक्ति प्रबल या निर्बल होती है। कुछ व्यक्ति अपने उद्देश्य शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि उनमें कार्य करने की प्रबल संकल्प-शक्ति होती है। ऐसे ही व्यक्ति अपने आदर्शों के अनुसार कार्य करने में सफल होते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो आदर्श तो बना लेते हैं पर संकल्प-शक्ति की निर्बलता के कारण उन्हें कार्यान्वित करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। संकल्प-शक्ति की निर्बलता के कारण कुछ लोग अपनी साधारण बात का शीघ्र निर्णय नहीं कर पाते। लेखक के एक मित्र हैं जो सरलता से निश्चय नहीं कर पाते कि यह कोट पहन कर बाहर जाँय कि वह। इसी में उनका बहुत सा समय लग जाता है। यदि संकल्प-शक्ति की दुर्बलता न होती तो वर्तमान स्थिति की अपेक्षाकृत वे बहुत ही ऊँचे पद पर होते। ट्रेनिङ्ग कॉलेज के एक विद्यार्थी ने लेखक का २० मिनट केवल यही निर्णय में व्यय किया कि पढ़ाने के लिये हिन्दी लें कि अंग्रेजी। निर्णय-शक्ति का अभाव संकल्प-शक्ति की निर्बलता का द्योतक है। इस निर्बलता से उत्कृष्ट कोटि का मस्तिष्क रखते हुये भी व्यक्ति अपने वांछित पद पर नहीं पहुँच पाता। जो दबंग और दृढ़ होते हैं उनका निर्णय बड़ी तत्परता के साथ हुआ करता है। सेनापतियों और राज्य के कर्णधारों का विषम परिस्थिति में शीघ्र निर्णय पर पहुँच जाना उनकी कुशलता का परिचायक है।

संकल्प की विभिन्न परिभाषा; अभिलाषाओं का स्पष्टीकरण न होने से बालक में प्रौढ़ की अपेक्षा

किसी कार्य को विषम परिस्थिति में भी बहुत देर तक स्वतः करने की योग्यता को संकल्प-शक्ति कह सकते हैं।* जिनमें संकल्प-शक्ति, लगन अथवा निष्ठा का अभाव होता है वे किसी कार्य को बहुत देर तक नहीं चला सकते। वुडवर्न † के अनुसार किसी कार्य में लगे रहने की प्रवृत्ति को संकल्प-शक्ति कहते हैं। मैग्डूगल § ने "क्रियात्मक चरित्र को संकल्प-शक्ति कहा है। ऐञ्जिल ¶ का कथन

* जेम्स—प्रिन्सीपुल्स ऑव् साइकॉलॉजी, भाग २, पृष्ठ ५४९।

† वुडवर्न—ह्यूमन नेचर ऐण्ड एडूकेशन, पृ० २१५।

§ मैग्डूगल—ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, पृ० ४४२।

¶ एञ्जिल—साइकॉलॉजी—पृष्ठ ४३७।

संकल्प-शक्ति-कम, दैनिक जीवन में संकल्प शक्ति हर समय समान नहीं, यह उसके स्वास्थ्य पर निर्भर।

है कि सारे मस्तिष्क की क्रियाशीलता संकल्प-शक्ति है। ‡ ड्रेविल के अनुसार निर्बल उद्देश्य वाला व्यक्ति अपनी मूलप्रवृत्ति के प्रबल शक्ति के सामने हार जाता है। उसकी क्रिया मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया के साथ चलती है। पर ऐसी स्थिति में आत्म-गौरव के स्थायीभाव से बड़ी सहायता मिल सकती है। इस समय अपनी हार्दिक इच्छाओं और अभिलाषाओं पर ध्यान देने से एक नई शक्ति का संचार हो जाता है। पर ध्यान देने की यह बात है कि प्रवृत्ति अवस्थानुसार आती है। छोटे बालक में प्रौढ़ की अपेक्षा संकल्प-शक्ति कम रहती है, क्योंकि उसकी अभिलाषाओं का स्पष्टीकरण ठीक से नहीं हो पाता। उसमें आत्म-गौरव का स्थायीभाव अपनी चरम सीमा पर नहीं पहुँचा रहता। व्यक्ति के दैनिक जीवन में संकल्प-शक्ति हर समय एकसी नहीं दिखलाई पड़ती। किसी समय उसकी प्रबलता रहती है और किसी समय निर्बलता। जब वह थका या बीमार रहता है तो उसमें संकल्प-शक्ति का अभाव रहता है, पर स्वस्थता लाभ करने के बाद उसकी स्थिति पहले जैसी हो सकती है।

संकल्प-शक्ति मानसिक शक्ति नहीं, प्रकृतिदत्त नहीं, शिक्षा और विकास का फल, संकल्प-शक्ति में व्यक्ति का सारा व्यक्तित्व नहीं।

उन्नीसवीं शताब्दी तक संकल्प-शक्ति एक स्वाभाविक मानसिक-शक्ति मानी जाती थी। इसकी वृद्धि के लिये कुछ निश्चित अभ्यास दे दिया जाता था। परन्तु अब यह धारणा बदल दी गई है। संकल्प-शक्ति को अब कोई रहस्यमयी शक्ति नहीं मानते। इसे प्रकृतिदत्त नहीं समझा जाता। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार संकल्प-शक्ति शिक्षा और विकास का फल है। मैग्डूगल का कथन है कि संकल्प-शक्ति की क्रिया को किसी क्षणिक अनुभव के समान नहीं समझना चाहिए। इस क्रिया में व्यक्ति का सारा व्यक्तित्व निहित रहता है। संकल्प-शक्ति अथवा व्यक्तित्व के सहारे ही वह किसी निर्णय पर पहुँचता है। संकल्प-शक्ति को ठीक ठीक समझने के लिये निर्णय का प्रकार समझना आवश्यक है।

निर्णय के प्रकार

पाँच प्रकार के निर्णय,

निर्णय पाँच प्रकार के होते हैं:—विवेकयुक्त (रेशनल), आकस्मिक (ऐक्सीडेण्टल), संवेगात्मक (इम्पल्सिव), बाध्य (फ़ोर्स्ड) और पुनर्विचारात्मक निर्णय। वातावरण के सम्पर्क में आने से व्यक्ति के मन में कई प्रकार की इच्छायें उत्पन्न होती

---

‡ ड्रेविल—द फ़ण्डामेण्टल्स ऑव् साइकॉलॉजी पृ० २०५।

Sushil Kumar Sh

निर्णय पर पहुँचने के पहले कुछ मानसिक स्थितियों को पार करना आवश्यक।

हैं। इन इच्छाओं में से किसी एक ही को वह प्रथम बना सकता है। फलतः उसका गहन विचार प्रारम्भ हो जाता है। कल्पना के आधार पर वह विवेचना करने लगता है कि किस प्रवृत्ति को आगे बढ़ाना ठीक होगा। वह अपने कार्य के सम्भावित फल का मूल्य आँक कर निर्णय पर पहुँचने की चेष्टा करता है। निर्णय पर पहुँचने पर उसकी प्रवृत्ति उसे कार्यान्वित करने की ओर अग्रसर करती है। हर प्रकार के निर्णय में व्यक्ति इन मानसिक स्थितियों से होकर निकलता है।

विवेकयुक्त निर्णय—

सर्वश्रेष्ठ, पर सब नहीं कर पाते, गुप्त वासनायें बाधक, आदर्श बन जाने पर सरल।

विवेकयुक्त निर्णय सर्वश्रेष्ठ होता है। पर ऐसा निर्णय सब लोग नहीं कर पाते। हमारे अधिकांश निर्णय विवेक से खाली होते हैं। मूलप्रवृत्तियों के प्रभाव में हम शीघ्र आ जाते हैं। सुप्त वासनायें और पूर्व-संचित संस्कार भी हमारे निर्णय को बहुधा प्रभावित करते हैं। आदर्श तथा सिद्धान्त बन जाने के बाद निर्णय के विवेकपूर्ण होने की अधिक सम्भावना रहती है। अपने आदर्श के अनुसार चलने वाले व्यक्ति की संकल्प-शक्ति प्रबल हो जाती है। सिद्धान्तवादी बहुधा अन्तर्द्वन्द से मुक्त रहता है। वास्तव में ऐसे ही व्यक्ति संसार में बड़ा कार्य करते हैं। महापुरुषों के जीवन चरित्र से स्पष्ट है कि वे सिद्धान्तवादी थे। कार्य को करने से पहले ये लोग भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों पर ध्यान देते थे। बिना विवेक की कसौटी पर कसे कोई कार्य करना इनका स्वभाव नहीं होता था।

आकस्मिक निर्णय—

आत्म-वञ्चना का भाव निहित।

कभी कभी व्यक्ति ऐसी विषम परिस्थिति में पड़ जाता है कि उसके लिये किसी बात का निर्णय करना कठिन हो जाता है। वह कार्य करने या न करने का बहाना ढूँढ़ना चाहता है। पर उसे किसी बात की याद आ जाती है और वह निर्णय कर बैठता है। मान लीजिये उसे कॉलेज जाना है। कुछ वृष्टि हो रही है। उसका मन जाने का नहीं है, परन्तु कुछ निर्णय करने में वह असमर्थ हो रहा है। इतने में एक विद्यार्थी कॉलेज से लौटते हुये दिखलाई पड़ा, और वह झट निर्णय कर लेता है कि उसके जाने की आवश्यकता नहीं। आकस्मिक निर्णय में आत्म-वञ्चना का भाव निहित रहता है। इसमें व्यक्ति अपनी निष्क्रियता के लिये कोई बहाना निकालना चाहता है।

संवेगात्मक निर्णय—

संवेगात्मक निर्णय भी प्रायः आकस्मिक की ही भाँति होते हैं। भेद केवल इतना है कि आकस्मिक में कारण वाह्य जगत का होता है और संवेगात्मक में कारण आन्तरिक होता है। जो व्यक्ति अव्यवस्थित चित्त के होते हैं, जो साधारण सी साधारण बात पर भी अपने मस्तिष्क की शान्ति खो बैठते हैं, उनके बहुत से व्यवहार संवेगात्मक निर्णय के अनुसार होते हैं। परिस्थिति-विशेष में अपने ऊपर वे तनिक भी नियन्त्रण नहीं रख सकते। जहाँ उनकी इच्छा के विपरीत कुछ हुआ कि वे तुरन्त सभामण्डली अथवा घर से उठ कर चल देते हैं। वास्तव में ऐसे व्यक्ति मानसिक रोगी ही कहे जा सकते हैं। अतः इनका किसी मनोविश्लेषक से उपचार कराना आवश्यक है।

आन्तरिक कारण, अव्यवस्थित चित्त वालों का निर्णय ऐसा ही।

वाध्य निर्णय—

वाध्य निर्णय मन की निर्बलता और विवेकशक्ति के अभाव में किया जाता है। जब व्यक्ति सोचते सोचते थक जाता है और उसे कोई उपाय नहीं सूझता तो संयोग पर कार्य करना वह निश्चय करता है। पुरोहित से मुहूर्त पूछ कर अथवा रुपये की उछाल में 'चित-पट' के आधार पर अथवा इसी प्रकार किसी अन्य आधार पर कार्य करने का व्यक्ति अनायास निर्णय कर लेता है।

संयोगवश कार्य करने का निश्चय करना।

पुनर्विचारात्मक निर्णय—

पुनर्विचारात्मक निर्णय आकस्मिक निर्णय के समान होता है, पर इसमें पहले से ही विवेकयुक्त निर्णय का समावेश रहता है। इसमें बहुत पहले ही व्यक्ति निर्णय पर पहुँच चुका रहता है, पर नई स्थिति के ज्ञान से वह अपना विचार बदल देता है। यह निर्णय प्रायः व्यक्ति के हित में ही होता है। इससे उसके विचार की परिपक्वता दिखलाई पड़ती है।

विचार की परिपक्वता निहित।

संकल्प-शक्ति और विचार

संकल्प-शक्ति व्यक्ति के विचारों पर निर्भर रहती है। यदि विचार ही नहीं है तो संकल्प-शक्ति कैसी और निर्णय का प्रयोजन ही तब क्या ? विचार के संगठित न रहने से निर्णय भी अधूरे और घातक होते हैं। जिसे राजनीति का ज्ञान नहीं वह

संकल्प-शक्ति विचारों पर

निर्भर, विचार के असंगठित होने से निर्णय घातक ।

राजनैतिक समस्याओं के समाधान की ओर क्या संकेत करेगा? इस प्रकार हमारी संकल्प-शक्ति और अभिलाषा हमारे विचारों तक सीमित रहती है। संकल्प-शक्ति और निर्णयशक्ति विचारों के ही साथ खेलती हैं। यदि व्यक्ति के दूषित विचार हुए तो उसकी संकल्प-शक्ति भी दूषित होगी। चोर की संकल्पशक्ति यही होती है कि इस या उस धन पर कैसे हाथ लगावें।

संकल्प-शक्ति और ध्यान

घनिष्ठ सम्बन्ध, ध्यान न लगने से संकल्प-शक्ति का घटना, मूलप्रवृत्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति में संकल्प शक्ति की आवश्यकता नहीं, आत्मसंयम संकल्प-शक्ति की प्रबलता से प्राप्त, वासना-तृप्ति में लीन व्यक्तियों में संकल्प-शक्ति का अभाव।

संकल्प-शक्ति का ध्यान की एकाग्रता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि व्यक्ति की संकल्प-शक्ति प्रबल हुई तो उसका ध्यान भी सदा उसके संकल्प की ही ओर रहेगा। व्यक्ति का ध्यान किसी विषय या वस्तु में अधिक लग जाता है तो उसकी संकल्प-शक्ति भी उसके लिये बढ़ जाती है। ध्यान न लगने से संकल्प-शक्ति घट जाती है और विषय कठिन जान पड़ने लगता है। ध्यान की स्थिरता से संकल्प-शक्ति की वृद्धि होती है। हमारे भारतीय दार्शनिकों ने भी इस सत्य की पुष्टि की है। ध्यान ही स्थिर करके वैज्ञानिकों ने विज्ञान के विभिन्न चमत्कार हमारे सामने रखने में सफल हो सके हैं। ध्यान की स्थिरता से ही दिन रात परिश्रम करने की प्रबल संकल्प-शक्ति उनमें उत्पन्न हो सकी। मूलप्रवृत्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति में संकल्प-शक्ति की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनमें हमारा ध्यान बड़ी सरलता से चला जाता है। इनके प्रतिकूल जाने में ही हमें आत्म-संयम की आवश्यकता होती है। आत्म-संयम संकल्प-शक्ति की प्रबलता से ही प्राप्त होता है। अतः जिसमें आत्म-संयम जितना ही कम होता है उतनी ही कम उसमें संकल्प-शक्ति भी होती है। स्पष्ट है कि जिनका मन सदा विषय-वासनाओं में रमता है वे संकल्प-शक्ति से हीन होते हैं। वे संसार में कोई कार्य नहीं कर सकते। पशुओं के सदृश मूल-प्रवृत्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति ही उनके जीवन का उद्देश्य हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों में ध्यान स्थिरता नहीं होती। किसी कार्य में उनका चित्त नहीं लगता। फलतः उनमें संकल्प-शक्ति का नितान्त अभाव रहता है।

संकल्प-शक्ति, आवेश और हठ

आवेश—

संवेगात्मक प्रवृत्ति के आवेश में आकर हम कभी कभी कुछ कर देते हैं।

आवेश में आकर कार्य करना संकल्प-शक्ति की निर्बलता का द्योतक है। प्रायः बालक आवेश ही में आकर सब कार्य किया करते हैं, क्योंकि उनमें संकल्प-शक्ति कम होती है। जब तक व्यक्ति विचारों की परिपक्वावस्था पर नहीं पहुँचता तब तक उसमें उच्च श्रेणी के स्थायीभाव नहीं आते। ऐसे स्थायीभाव के आने पर ही व्यक्ति में आत्म-गौरव का स्थायीभाव बनता है। संकल्प-शक्ति की प्रबलता व्यक्ति के आत्म-गौरव के भाव पर निर्भर रहती है। बालक में आत्म-गौरव का भाव निम्नकोटि का रहता है। अतः संकल्प-शक्ति का भी उसमें अभाव रहता है। संकल्प-शक्ति की प्रबलता उम्र पर निर्भर नहीं रहती। यही कारण है कि बहुत से प्रौढ़ व्यक्तियों में भी संकल्प-शक्ति का अभाव दीख पड़ता है। ऐसे व्यक्ति अपनी प्रौढ़ावस्था में भी बालक सा व्यवहार करते दिखलाई पड़ते हैं। अतः संकल्प-शक्ति की वृद्धि के लिये यह आवश्यक है कि आवेश में कोई कार्य न किया जाय। ऐसा करने से चरित्र का भी पूर्ण विकास सम्भव हो सकेगा।

आवेश में कार्य करना संकल्प-शक्ति की निर्बलता का द्योतक, संकल्प-शक्ति की प्रबलता आत्म-गौरव के स्थायीभाव पर निर्भर।

हठ—

हठ भी संकल्प-शक्ति की दुर्बलता का द्योतक है। जैसे आवेश में आकर बालक कार्य कर बैठता है वैसे ही हठ करना भी उसका स्वभाव है। जिस बात का वह हठ पकड़ लेता है उसे छोड़ता नहीं। कहता है कि नहीं खायेंगे तो वह नहीं खाता है। जिस वस्तु को लेने का हठ पकड़ लेता है उसे ले करके ही वह छोड़ता है। बालक की यह प्रवृत्ति उसके आवेश-वृत्ति के सदृश उसके चरित्र-विकास अथवा संकल्प-शक्ति की वृद्धि के लिये भी हानिकर है। हठ केवल बालकों ही तक नहीं सीमित रहता। कुछ प्रौढ़ लोग भी हठी दिखलाई पड़ते हैं। जड़तावश कुछ ग्रामीणजन हठ कर बैठते हैं कि रोगी को डॉक्टर को दिखाने से कोई लाभ नहीं, जो भाग्य में लिखा होगा वह होगा। यह प्रवृत्ति कितनी घातक है! पता नहीं हमारे देश में कितनों को इस प्रवृत्ति का अभियुक्त होना पड़ता है! ऐसे ही कुछ प्रौढ़ व्यक्ति कभी कभी बिना लाभ हानि का विचार किये जिस बात का निर्णय कर लेते हैं उसे करके ही छोड़ते हैं। बालक का हठ तो कुछ क्षम्य भी हो सकता है, क्योंकि वह विवेकहीन होता है, पर प्रौढ़ लोगों का हठ क्षम्य नहीं।

हठ संकल्प-शक्ति की दुर्बलता का द्योतक, हठ चरित्र विकास के लिये घातक।

चरित्र

चरित्र और मूलप्रवृत्तियाँ—

चरित्र अच्छा व बुरा दोनों होता है। पर नैतिक दृष्टि से चरित्र का तात्पर्य

सदा अच्छा ही समझा जाता है। अतः चरित्र से हमारा तात्पर्य यहाँ अच्छे से ही रहेगा। चरित्र संकल्प-शक्ति तथा आत्म-गौरव के स्थायीभाव का दूसरा नाम है। चरित्रवान् व्यक्ति का तात्पर्य संकल्प-शक्ति और आत्म-सम्मान से भरे हुए व्यक्ति से होता है। ऐसा व्यक्ति अपने सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करता है। वह सब कुछ अपना कर्तव्य समझ कर करता है। जिनका अपना कोई सिद्धान्त नहीं वे केवल अपने लाभ-हानि की दृष्टि से ही कार्य किया करते हैं। जो और भी हीन होते हैं वे दण्ड के भय से अथवा पुरुस्कार पाने की इच्छा से कार्य करते हैं। जो पशुवत् होते हैं उनके सभी कार्य मूलप्रवृत्तियों की प्रेरणानुसार हुआ करते हैं। यद्यपि सभी मनुष्यों में सब प्रकार की मूलप्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, पर प्रत्येक में उनकी मात्रा का भेद रहता है। किसी में एक मूल-प्रवृत्ति निर्बल होती है तो दूसरी प्रबल। यही बात सब में पाई जाती है। मूलप्रवृत्तियों में चरित्र की नींव स्थित रहती है। जिस व्यक्ति में मूलप्रवृत्तियाँ जितनी ही प्रबल होती हैं उसके चरित्र के उतने ही दृढ़ होने की सम्भावना रहती है। कारण यह है कि मूलप्रवृत्तियों के शोधन से ही चरित्र का निर्माण होता है। यदि मूलप्रवृत्ति प्रबल हुई तो उसका शोधन आवश्यक हो जायगा, अन्यथा अवदमन के परिणामस्वरूप व्यक्ति की दशा दयनीय हो जायगी। मान लीजिये, किसी में युयुत्सा की प्रवृत्ति बड़ी प्रबल है। यदि इस प्रवृत्ति का शोधन न किया गया तो व्यक्ति अपने आवेश में बह जायगा। निर्बलों तथा दुखियों का सताना उसका स्वभाव हो सकता है। पर यदि इसी का शोधन कर दिया गया तो व्यक्ति का चित्त परोपकार तथा देशभक्ति की ओर जा सकता है। चरित्र हमारे सभी अनुभवों और मूलप्रवृत्तियों के प्रभाव से बनता है। अतः यदि आदर्श चरित्र अपेक्षित है तो मूलप्रवृत्तियों तथा बालक के विभिन्न अनुभवों पर प्रारम्भ से ही कड़ी मनोवैज्ञानिक दृष्टि रखनी होगी। यहाँ एक बात पर ध्यान रखना आवश्यक है। बिना मूलप्रवृत्ति के चरित्र खाली घड़े के समान होगा, परन्तु वह चरित्र जिसमें मूलप्रवृत्तियों पर नियन्त्रण नहीं है, बड़ा अवांछित और निन्दनीय है। कोई प्रबल मूलप्रवृत्ति न अच्छी होती है और न बुरी ही। उसकी अच्छाई अथवा बुराई उसके शोधन अथवा अवदमन पर निर्भर रहती है। यदि आत्म-गौरव की मूलप्रवृत्ति सुसंगठित हुई है तो चरित्र अच्छा बनेगा, क्योंकि आत्म-गौरव के भाव की ओर ही आत्म का स्थायीभाव केन्द्रित होते हैं।

संकल्प-शक्ति तथा आत्म-गौरव के स्थायीभाव का दूसरा नाम, मूलप्रवृत्तियों में चरित्र की नींव, मूल-प्रवृत्ति की प्रबलता पर चरित्र की दृढ़ता निर्भर, मूलप्रवृत्तियों के शोधन से ही चरित्र का निर्माण, मूलप्रवृत्तियों पर नियन्त्रण बिना चरित्र दूषित।

चरित्र और आदत—

कुछ विचारकों के अनुसार चरित्र आदतों का पुञ्ज है। पर यह धारणा

भ्रमात्मक है। आदतें यान्त्रिक होती हैं। उसपर निर्भर नहीं रहा जा सकता। आदत से व्यक्ति को कोई ऐसी मानसिक शक्ति नहीं प्राप्त होती जिससे वह सदैव अपने आचरण को निर्धारित करता रहे। विवेक के अनुसार जो कार्य किया जाता है उसके करने से अच्छी आदत पड़ जाती है और वह व्यक्ति के चरित्र का अंग बन जाती है। परन्तु वस्तुतः ऐसी आदतें स्थायीभाव के रूप में परिणित हो जाती हैं। चरित्र स्थायीभावों का पुञ्ज होता है, आदतों का नहीं।

चरित्र आदतों का पुञ्ज नहीं, आचरण को निर्धारित करने के लिये आदत से मानसिक शक्ति का प्राप्त न होना।

चरित्र और स्थायीभाव— character and sentiments

अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण उच्च स्थायीभावों द्वारा होता है। इन्हीं स्थायीभावों के गुणनफल से व्यक्ति का आदर्श अथवा सिद्धान्त बनता है। सचरित्र व्यक्ति अपने स्थायीभावों से अपना आत्मसात् कर देता है। फलतः आदर्श की रक्षा के लिये वह अपने सर्वस्व की भी बाजी लगा सकता है। व्यक्ति में ऐसी वृत्ति स्थायीभावों के सुसंगठन से ही आती है। जिसमें इनका संगठन नहीं होता उनका कोई आदर्श ही नहीं बन पाता, उनका चरित्र दूसरों के लिये आदर्श नहीं हो सकता। मैग्डूगल महोदय ने तो आत्मभिमान के भाव को ही चरित्र कहा है। यद्यपि इस मत से सभी लोग सहमत नहीं; पर यह निर्विवाद है कि स्थायीभावों का स्थान व्यक्ति के चरित्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति का व्यवहार मूलप्रवृत्तियों अथवा स्थायीभावों द्वारा होता है। पर उसके विचार आचरण को तभी प्रभावित करते हैं जब वे स्थायीभाव का रूप धारण कर लेते हैं। मानव आचरण केवल विचारों द्वारा ही नहीं, अपितु भावों द्वारा भी होता है। विवेक ही सब कुछ नहीं कर सकता। उसमें भाव का पुट भी आवश्यक है। बड़े बड़े विवेकी अवसर पर पलथी मारे बैठे दिखलाई पड़ते हैं। वे क्रियाशील नहीं होते, क्योंकि उनमें भावों का अभाव रहता है। अतः यह आवश्यक नहीं कि सिद्धान्त छाँटने वाला व्यक्ति सचरित्र होगा। सिद्धान्त कार्यान्वित करने के लिये शक्ति की आवश्यकता है और यह शक्ति भाव से ही प्राप्त होती है। यही कारण है कि मनोविज्ञान अथवा दर्शन के ज्ञान से कोई मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक नहीं बन जाता, क्योंकि ज्ञान मात्र ही सब कुछ नहीं। ज्ञान के साथ भाव अर्थात् कार्यरूप में परिणित करने की शक्ति व प्रेरणा भी चाहिये। बहुत से बड़े ज्ञाने

स्थायीभावों से सचरित्र व्यक्ति का आत्मसात्, सिद्धान्त छाँटने वाला व्यक्ति का कभी कभी सचरित्र न होना, सचरित्र होने के लिये भाव का होना आवश्यक, चरित्रगठन के लिये विचार और कार्य का सामञ्जस्य आवश्यक, यह सामञ्जस्य स्थायीभावों से ही प्राप्त।

वाले दार्शनिक ऐसे हैं जिनका दैनिक जीवन उन्हें पुकार पुकार कर लोलुप का विशेषण देता है, पर यदि उनके विचारों को पढ़ा जाय तो पता चलता है कि मानो निर्विकार ब्रह्म के वे अवतार हैं। कितनी बड़ी आत्म-प्रवञ्चना है यह! चरित्र-गठन के लिये विचार और कार्य का सामञ्जस्य आवश्यक है। यह सामञ्जस्य बिना स्थायीभाव के सम्भव नहीं। अतः स्पष्ट है कि चरित्र और स्थायीभावों में घनिष्ठ सम्बन्ध है और बहुत अंशों में चरित्र उच्च स्थायीभावों पर ही अवलम्बित है।

चरित्र और संकल्प-शक्ति—

चरित्र और संकल्प-शक्ति में बड़ी घनिष्ठता है। जिसकी संकल्प-शक्ति जितनी ही प्रबल होती है उसका चरित्र-बल भी उतना ही दृढ़ होता है।

घनिष्ठता, चरित्रवान् व्यक्ति के कार्य आवेश और हठपूर्ण नहीं, चरित्रवान् व्यक्ति संकल्प-शक्ति के अनुसार कार्य करने को कटिबद्ध।

चरित्रवान् व्यक्ति के कार्य आवेश तथा हठपूर्ण नहीं होते। ऊपर हम देख चुके हैं कि आवेश और हठ संकल्प-शक्ति की निर्बलता के द्योतक हैं। सच्चरित्र व्यक्ति अपने व्यवहारों में उच्छृङ्खल नहीं होता। उसके कोई कार्य भय अथवा लोभवश नहीं होते। अपनी संकल्प-शक्ति के अनुसार कार्य करने को वह कटिबद्ध हो जाता है।

चरित्र-विकास—

जीवन में चरित्र का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति के सारे सामाजिक व्यवहार चरित्र से ही सञ्चालित होते हैं। यदि चरित्र अच्छा हुआ तो व्यक्ति का व्यवहार अच्छा होगा, अन्यथा बुरा।

सारे सामाजिक व्यवहार चरित्र से ही सञ्चालित; चरित्र सभी उच्च प्रेरणाओं का आधार; चरित्र सारी अर्जित वृत्तियों का गुणनफल; चरित्र से स्थायी स्वभाव की प्राप्ति; संकल्प-शक्ति की क्रियाशीलता आवश्यक; चरित्र-विकास के लिये विवेक, तर्क तथा उलझन की सहायता; रुचियों को विकसित करना; ज्ञान से चरित्र की वृद्धि।

चरित्र वह मानसिक संगठन है जो कि मनुष्य की सभी प्रेरणाओं का आधार है। चरित्र में व्यक्तित्व की पूरी छाप रहती है। इस प्रकार चरित्र सारी वृत्तियों का गुणनफल है। इससे व्यक्ति को एक स्थायी स्वभाव मिलता है जिसका प्रभाव उसके आचरण पर सदा पड़ा करता है। चरित्र-निर्माण के लिये संकल्प-शक्ति की क्रियाशीलता आवश्यक है। अच्छे कार्य करने की आदत बिना संकल्प-शक्ति की सहायता से नहीं पड़ सकती। अतः यह आवश्यक है कि बहुत प्रारम्भ से ही बालक को संकल्प-शक्ति की क्रियाशीलता के लिये अवसर दिया जाय। चरित्र-विकास के लिये बालक का वातावरण ऐसा बना देना है कि वह स्वतन्त्रता का अनुभव कर सके और संकल्प-शक्ति की क्रियाशीलता

में किसी प्रकार के विघ्न का अनुभव न करे। उसे ठीक पथ को खोजने की प्रेरणा देनी चाहिये। उसके सामने इतनी बातें हों कि वह विवेक, तर्क तथा उलझन में पड़ जाय। ऐसा करने से उसकी संकल्प-शक्ति का विकास होगा और साथ ही साथ चरित्र-बल भी बढ़ेगा। परन्तु ज्ञान के अभाव से कदाचित् वह ठीक रास्ते को न अपना सके, अतः उसे ज्ञान देकर उसकी रुचियों को विकसित करना है। रुचियों के विकसित होने से उसके चरित्र का भी विकास होगा।* हरबार्ट ने अपना "बहुरुचि" का सिद्धान्त इसी भावना से प्रतिपादित किया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ज्ञान से चरित्र बढ़ता है। ज्ञानहीन व्यक्ति मूर्ख होता है। वह भले व बुरे की पहचान नहीं कर सकता। फलतः वह चरित्रहीन हो जाता है।

चरित्र-विकास में संकल्प-शक्ति का स्थान—

ज्ञान के उपयोग के लिये संकल्प-शक्ति का शिक्षित होना आवश्यक, अभ्यास से संकल्प-शक्ति को प्रबल बनाना, छोटी छोटी बातों पर ध्यान देना, नित्य के लिये कुछ कार्य निर्धारित कर देना, प्रशंसा देना आवश्यक, कार्य देते हुए बालक की सीमित शक्तियों पर ध्यान देना।

चरित्र-विकास के लिये संकल्प-शक्ति को शिक्षित बनाना आवश्यक है, क्योंकि देखा जाता है कि बड़े बड़े ज्ञानी, विवेकी और बुद्धिमान संकल्प-शक्तिविहीन होते हैं। पर कभी कभी अशिक्षित व्यक्ति भी अपार इच्छा-शक्ति वाले दिखलाई पड़ते हैं। बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो अपने विवेक का सदुपयोग नहीं कर पाते। वे यह जानते हुए भी कि क्या करना चाहिये कुछ कर नहीं पाते। यह उनकी संकल्प-शक्ति की दुर्बलता का परिचायक है। अतः ज्ञान को उपयोगी बनाने के लिये संकल्प-शक्ति को शिक्षित करना आवश्यक है। इसके लिये कोई निश्चित मार्ग बतलाना कठिन है। जैसे व्यायाम से शरीर को पुष्ट बनाया जाता है उसी प्रकार अभ्यास से संकल्प-शक्ति को भी बढ़ाया जा सकता है। जैसे एक एक बूँद से समुद्र भरता है वैसे ही साधारण सी साधारण बातों पर ध्यान देने से संकल्प-शक्ति अथवा चरित्र का विकास होता है। छोटी बातों को अनावश्यक समझ कर उनकी अवहेलना करना बुद्धिमानी से खाली होगा। जो व्यक्ति छोटी बातों पर ध्यान नहीं देता वह बड़ी पर भी ध्यान देना भूल जाता है। अतः अभिभावकों और शिक्षकों को यह देखना है कि एक भी ऐसा अवसर खाली न जावे जिससे बालक की संकल्प-शक्ति का अभ्यास सम्भव हो। नित्य के लिये कुछ न कुछ कार्य अवश्य निर्धारित कर देना चाहिये। इससे उनकी कार्यशीलता सदैव जीवित रहेगी और संकल्प-शक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता रहेगा। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि दिन का आयोजित कार्य पूरा हुआ कि नहीं, इससे अपनी शक्तियों का सदा ठीक ठीक अनुमान होता

* लेखक द्वारा रचित 'पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास' देखिये पृष्ठ १७२-१७४।

रहेगा। यदि बालक कोई प्रशंसा का कार्य करता है तो उसकी प्रशंसा अवश्य करनी चाहिये। इससे उसके उत्साह और अभिलाषा की वृद्धि होती है। यदि ऐसा न किया जाय तो उसमें आत्म-हीनता की भावना आ सकती है। कार्य देते समय उनकी शक्तियों का शिक्षकों को ठीक ठीक अनुमान चाहिये, अन्यथा अधिक कार्य देने पर वे अपनी असफलता के कारण हतोत्साहित हो सकते हैं। इन सब बातों पर ध्यान देने से बालकों में उच्च स्थायीभावों का विकास हो सकता है। इनके विकास से ही संकल्प-शक्ति का भी विकास सम्भव है।

मूलप्रवृत्तियों के सदृश् संकल्प-शक्ति के भी ज्ञानात्मक, संवेगात्मक, और क्रियात्मक तीन अंग होते हैं। यहाँ पर हमारा सम्बन्ध विशेषकर क्रियात्मक अंग से है। पर अन्य दो अंगों की अवहेलना करना युक्तिसंगत न होगा। संकल्प-शक्ति के संवेगात्मक अंग पर विशेष ध्यान देने से व्यक्ति में भावुकता की प्रधानता आ सकती है। भावुकता के कारण व्यक्ति सदा अपने भावों में ही मग्न रह सकता है। मान लीजिये वह किसी से प्रेम करता है। भावुकतावश वह अपने प्रेम से ही प्रेम करना प्रारम्भ कर सकता है। दिन रात अपने प्रेमभाव में डूबा रहता है; पर प्रेम की जो वस्तु है उसके लिये कुछ करने में वह निरा असमर्थ सिद्ध होता है। इसी प्रकार देशभक्ति की भावुकता में देश के लिये कुछ करने में वह असमर्थ हो सकता है। ऐसी मानसिक स्थिति कभी वांछनीय नहीं हो सकती। स्पष्ट है कि संवेगात्मक अंग पर अधिक बल देना लाभप्रद नहीं।

> इच्छा के संवेगात्मक अंग पर ध्यान देने से भावुकता की प्रधानता, पर इस पर अधिक ध्यान देना वांछनीय नहीं।

इसी प्रकार संकल्प-शक्ति के ज्ञानात्मक अंग पर भी उचित ध्यान देना है। बालक को यह समझना चाहिये कि बिना सोचे समझे कोई कार्य करना ठीक नहीं, अन्यथा परिणाम घातक हो सकता है। भावी फल पर भी दृष्टि रखना आवश्यक है। प्रेय को छोड़ कर व्यक्ति को श्रेय पर ध्यान लगाना चाहिये। क्षणिक सुख की प्राप्ति से व्यक्ति स्थायी सुख से वञ्चित हो सकता है। आवेशवश किसी कार्य में कूद पड़ना ठीक नहीं; आवेश को दबा कर आत्म-संयम प्राप्त करना आवश्यक है। क्योंकि सच्ची संकल्प-शक्ति के अन्तर्गत आत्म-संयम की भावना भी निहित होती है। पर इसके साथ यह भी ध्यान रखना है कि मन 'डाँवाडोल' न हो जाय। डाँवाडोल होने के कारण व्यक्ति साधारण सी बात का भी निर्णय करने में असफल होता है। यह भी संकल्प-शक्ति की दुर्बलता ही है। अतः हमें सामान्यतया सब पर समयानुसार आवश्यक ध्यान देना है। स्कूलों में क्रियात्मक अंग पर ध्यान कम दिया जाता

> ज्ञानात्मक अंग पर भी ध्यान देना आवश्यक, बिना सोचे समझे कार्य करना ठीक नहीं, क्रियात्मक अंग की अवहेलना नहीं।

है । इसके लिये बालकों को नित्य कुछ ऐसे कार्य करने को देना चाहिये जिनसे संकल्प-शक्ति के क्रियात्मक अंग की भी शिक्षा हो ।

चरित्र-विकास में नैतिक शिक्षा का स्थान—

घनिष्ठ सम्बन्ध, उपदेश से प्रत्यक्ष उदाहरण अधिक लाभप्रद, बचपन में ही अच्छे चरित्र की नींव डालना, इतिहास तथा साहित्य के पाठ में छोटी कहानियों द्वारा नैतिक गुणों की ओर संकेत, उपदेश संकेत रूप में ।

"चरित्र द्वारा जो कार्य निर्धारित होते हैं उन्हें मूलप्रवृत्त्यात्मक कार्यों की तुलना में नैतिक कार्य की संज्ञा दी जाती है ।······व्यक्ति का कार्य तब तक नैतिक नहीं कहा जा सकता जब तक वह दूसरों के सम्बन्ध में अपने कर्तव्य को नहीं समझ लेता है ।··· अतः नैतिक व्यवहार का सम्बन्ध सामाजिक व्यवहार से है ।"* नैतिक शिक्षा का चरित्र-विकास से बड़ा घनिष्ठ है । इस भौतिकवाद के युग में सभी लोग नैतिक शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव करते हैं । अतः यह ध्वनि अब स्कूलों में भी सुनी जाती है । पर हमारे भारतीय स्कूलों की परम्परा में अभी इसको स्थान नहीं दिया जा सका है, क्योंकि यह निश्चय करना कठिन हो रहा है कि इस नैतिक शिक्षा का रूप क्या हो । वास्तव में नैतिक शिक्षा की समस्या बहुत कठिन है । इतिहास, भूगोल व गणित आदि विषयों की शिक्षा के लिये शिक्षक मिल जाते हैं, पर इसक शिक्षा का उत्तरदायित्व किसी को सौंपने में बड़ी सतर्कता की आवश्यकता होती है, क्योंकि यदि इसका शिक्षक योग्य व्यक्ति न हुआ तो विरुद्ध-निर्देश होने का भय रहता है । दूसरे, नैतिक शिक्षा बालकों को स्वभावतः रुचिकर नहीं हो सकती, क्योंकि वे कोरी बात सुनना कम पसन्द करते हैं । उनको प्रत्यक्ष उदाहरण चाहिये और उपदेशों के कार्यान्वित करने के लिये अवसर भी । इस समस्या का समाधान आज की शिक्षा की सबसे बड़ी समस्याओं में से है । यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि किसी कोरे उपदेश से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है । रेमॉन्ट † का कथन है कि नैतिक उपदेश से बालक अनायास अवांछित बातों से अवगत हो जाते हैं । पर विशेषकर नकारात्मक उपदेशों के ही विषय में ऐसा कहा जा सकता है । बाल्यकाल के संस्कार स्थायी होते हैं । यदि बचपन में ही अच्छे चरित्र की नींव डाल दी जाय तो काम बन सकता है । साहित्य तथा इतिहास के पाठ में छोटी छोटी कहानियों द्वारा नैतिक गुणों की ओर संकेत किया जा सकता है । ये कहानियाँ ऐसी हों कि बालक उन्हें पढ़ कर उपदेश को स्वयं समझ ले । उदाहरणार्थः हितोपदेश की कथा का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है । इन कहानियों के पढ़ने से बालक स्वतः आत्म-

---

*—वुड्वर्थ—"द फण्डामेण्टल्स ऑव् साईकॉलॉजी", अध्याय, १४ ।

†—रेमॉण्ट—प्रिन्सीपुल ऑव् एडूकेशन, पृष्ठ, २३१ ।

निर्देशित होता है। अतः नैतिक शिक्षा निर्देश के रूप में देनी चाहिये। भाषण के रूप में इसे देना मानो पत्थर पर पानी छिड़कना है। इस प्रकार चरित्र-विकास में हम निर्देश के महत्व पर आते हैं।

चरित्र-विकास में निर्देश व अनुकरण का स्थान—

निर्देश का स्थान—

वीरगाथा तथा उच्च आदर्श द्वारा निर्देश देना, वातावरण का स्वस्थकर होना आवश्यक।

चरित्र-विकास में निर्देश के स्थान पर सातवें अध्याय में संकेत किया जा चुका है। निर्देश में एक ऐसी शक्ति है जो व्यक्ति को कहीं भी ले जा सकती है और कुछ भी करा सकती है। कदाचित् पाठक इस कहानी से परिचित हों:—"एक ब्राह्मण एक छोटा बछड़ा कन्धे पर लिये हुये घर जा रहा था। बछड़े को झटकने के उद्देश्य से रास्ते में पाँच ठग पाँच स्थान पर उस ब्राह्मण से दूर दूर बैठ गये। प्रत्येक ने ब्राह्मण से यह कहना प्रारम्भ किया कि वह गधा कन्धे पर लिये जा रहा है। अन्त में ब्राह्मण को विश्वास हो गया कि वास्तव में वह गधा ही लिये हुये है। अतः बछड़े को वहीं फेंक कर उसने अपना रास्ता लिया।" निर्देश के ही प्रभाव से ब्राह्मण ने बछड़े को गधा समझ लिया। बालकों की भी यही प्रवृत्ति होती है। यदि उन्हें अच्छी अच्छी कहानियाँ वीरगाथा, तथा उच्च आदर्श द्वारा प्रोत्साहन दिया जावे, यदि उनसे यह कहा जाय कि वे उन्नति कर रहे हैं, पर उन्हें और अधिक प्रयत्न करना चाहिये तो वे सचमुच अपनी रुचि अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति करते जायेंगे। इसके विपरीत यदि उन्हें विशेषणों से युक्त कर हतोत्साहित कर दिया गया तो उनका पतन निश्चय है। अतः अभिभावकों और शिक्षकों का परम कर्तव्य है कि बालकों के सम्बन्ध में वे अपने उत्तरदायित्व को समझ कर मनोवैज्ञानिक विधि का अनुसरण करें। जो संसार के कल्याण हेतु कुछ कर सके हैं वे सदैव स्वस्थकर निर्देश के ही वातावरण में रहे हैं। उनका इतिहास इसका साक्षी है। वीरता, आत्म-त्याग तथा सामाजिक सेवा का उच्च आदर्श सदा उनको उत्साहित करता रहा है। छोटा व कोमल पौधा वातावरण के साधारण परिवर्तन से भी प्रभावित हो जाता है। साधारण हवा बहने से भी उनका इधर उधर डगमग होना आरम्भ हो जाता है। बालक एक छोटे पौधे के समान है। जो प्रौढ़ के लिये बहुत ही साधारण है उसका भी उस पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः उसके सामने हमारे मुख से वही बात निकलनी चाहिये जिससे वह प्रभावित हो किसी उच्च आदर्श का ही अनुसरण कर सके।

अनुकरण का स्थान—

अनुकरण के महत्व पर भी कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। बालक के सामने

जैसा कहा और किया जाता है वैसा ही वह करने की चेष्टा करता है। अभिभावकों और शिक्षकों को बालक आदर्श रूप मानता है। अतः उन्हें उसके सामने बड़ा ही सतर्क रहना है। पर प्रायः हम अपने उत्तरदायित्व को भूल जाते हैं और अपने व्यवहार में कम सतर्क रहते हैं। त्रुटियों के लिये अभिभावक और शिक्षक बालक को डाँट फटकार लगाते हैं। पर ऐसा करते समय वे यह नहीं सोचते कि उसकी त्रुटियाँ उन्हीं के अनुकरण के फलस्वरूप हैं। बालक अपने अभिभावक अथवा शिक्षक का अनुकरण कर कुछ कहता या करता है। पर उसे डाँट खानी पड़ती है। उसे बड़ा ही आश्चर्य होता है। यहीं पर उसे अपने बड़ों का नग्न चित्र दिखलाई पड़ता है। उसे उनकी विडम्बना, आडम्बर तथा आत्म-प्रवञ्चना पर हँसी आती है। वह सोचता है कि उसके बड़े वही करते हैं जिसके लिये वे दूसरों को डाँटते हैं। ऐसे लोगों को अभिभावक अथवा शिक्षक होने का अधिकार नहीं। बालकों को केवल कोरे उपदेश देने से कुछ न होगा। उनके सामने 'करके' दिखलाना होगा। यदि अभिभावक और शिक्षक अपने व्यवहार और आचरण में सुधार करें तो बालकों में स्वतः सुधार आ जायगा। अतः बालक को सुधारने के पहले अभिभावकों को सबसे पहले 'अपने को' सुधारना चाहिये।

शिक्षक और अभिभावक को सतर्क रहना, उन्हें अपने व्यवहार और आचरण में सुधार करना आवश्यक।

चरित्र-विकास में लाड़-प्यार का स्थान—

बालक प्रेम का भूखा है। वह सबसे प्रेम चाहता है। बिना प्रेम के बालक का उचित विकास न हो सकेगा, उसे आत्म-विश्वास और प्रोत्साहन न मिल सकेगा। पर बालक के प्रति प्रेम दिखलाने का भी प्रसंग और समय होता है। उसकी त्रुटियों के समय उससे प्रेम दिखलाना तथा प्रेम से उचित पथ की ओर संकेत करना चाहिये। उसके साथ हर प्रकार की सहानुभूति दिखलाना आवश्यक है। पर हमारे व्यवहार में तनिक भी अमनोवैज्ञानिकता न होनी चाहिये। अमनोवैज्ञानिक लाड़-प्यार से बच्चे बिगड़ जाते हैं। यदि पिता किसी नवागुन्तक सज्जन से बातें कर रहा है तो बालक भी आकर अपनी देह पिता की कुर्सी से अथवा शरीर से शरीर रगड़ने लगता है। देह तोड़ना, अँगड़ाइयाँ लेना, सीटी बजाना, शोर करना अथवा धीरे धीरे पिताजी से कुछ कहना उसके व्यवहार का साधारण रूप होता है। नवागुन्तक सज्जन तथा पिता के लिये बालक का व्यवहार बड़ा ही अप्रिय लगता है। यह अप्रियता उनकी मुद्रा से स्पष्ट

बिना प्रेम के बालक का उचित विकास सम्भव नहीं, त्रुटियों से प्रेम दिखलाना, अमनोवैज्ञानिक लाड़-प्यार हानिकर, उचित वातावरण आवश्यक, सभी इच्छाओं की पूर्ति आवश्यक नहीं, प्यार और डाँट देने के समय को समझना आवश्यक।

झलकती है। कदाचित् प्रत्येक पाठक बालक के ऐसे व्यवहार से अवगत होंगे। हम मानते हैं कि बालक का ऐसा व्यवहार उसके आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति का अंग हो सकता है, पर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यह पिता द्वारा अमनोवैज्ञानिक लाड़-प्यार पाने का ही फल है। बालक की ऐसी मनोवृत्ति उसके आत्म-प्रकाशन के मूलप्रवृत्ति के अवदमन का परिणाम है। पिता बालक को बाहर जाकर अपने समवयस्क के साथ खेलने का अवसर नहीं देता, या उसका वातावरण ही ऐसा है कि उसे उपयुक्त साथी खेलने को मिलते ही नहीं। बालक की त्रुटि, पर पिता उसे मारता या डाँटता है, किन्तु उसके थोड़ी ही देर बाद पुनः पुचकारने लगता है'। यदि माँ की डाँट या मार से बच्चा रो रहा है तो पिता बाहर से आकर, बिना यह पूछे कि रोने का कारण क्या है, झट उसका आदर करने लगता है। ऐसे बालक बड़े उपद्रवी हो जाते हैं। वे किसी वस्तु के लेने के लिये नट जाते हैं। निर्बल तथा अमनोवैज्ञानिक माता-पिता बिना हानि-लाभ देखे उनकी इच्छाओं की पूर्ति में सदा लगे रहते हैं। इसी का नाम अमनोवैज्ञानिक लाड़-प्यार है। चरित्र-विकास के लिये ऐसा लाड़-प्यार घातक है। इससे बालक में स्वार्थ की प्रवृत्ति घुस जाती है। सामाजिकता का उसमें अभाव हो जाता है। मानसिक उन्नति का उसमें ह्रास हो जाता है। ऐसी स्थिति में क्या चरित्र-विकास होगा? अतः बालक के विकास के लिये अभिभावकों और शिक्षकों को यह समझना चाहिये कि उन्हें कब प्यार दिया जाय और कब डाँट।

दण्ड का स्थान—

"दण्ड यदि प्रभाव डाल सका तो वह केवल गलत कार्य के करने से रोक सकता है, परन्तु उचित भावना नहीं उत्पन्न कर सकता"।* प्रसंगानुसार हम पीछे कह चुके हैं कि अवदमन से बालक में किसी प्रकार का सुधार नहीं लाया जा सकता। कड़े नियन्त्रण से भले ही बाल्यकाल में बालक कुछ शान्त दिखलाई दे, पर बाद में नियन्त्रण से बाहर आने पर उसके बुरे व्यवहार फिर चलने लगते हैं। हम अपनी शिक्षा-व्यवस्था से "दण्ड सर्वथा नहीं निकाल सकते हैं। कभी केवल दण्ड ही ऐसा साधन दिखलाई पड़ता है जिससे कोई अवांछित आचरण रोका जा सकता है। पर दण्ड का प्रयोग तभी करना चाहिये जब अन्य साधन असफल हो जाँय"। † दण्ड देने का उद्देश्य

दण्ड से सुधार सम्भव नहीं, पर दण्ड कभी कभी आवश्यक, दण्ड से आत्म-हीनता की भावना-ग्रन्थि के पड़ने का डर, दण्ड का रूप ऐसा हो कि बालक उसे न्यायबद्ध समझ सके, दण्ड का कम प्रयोग अच्छा।

* ममफोर्ड—द डॉन ऑव् कैरेक्टर, पृ० ११४।

† डम्विल—फण्डामेण्टल्स ऑव् साईकॉलॉजी पृष्ट, २४२।

बदला लेना नहीं, वरन् सुधार का है। यदि चरित्र-निर्माण के हित में आवश्यक हुआ तो दण्ड देना अनुचित नहीं। पेस्तालॉजी भी इसी मत का पोषक था। उसका शिक्षा आदर्श स्कूल को "प्यार का घर" बनाना था। "यदि स्कूल एक घर है तो उसमें दण्ड दिया जा सकता है, क्योंकि माता-पिता भी तो कभी कभी दण्ड दिया ही करते हैं। माता-पिता के दण्ड देने पर बालक को ग्लानि नहीं होती, क्योंकि उसे उनके अभिप्राय में कभी सन्देह नहीं होता। शिक्षक का भी व्यवहार ऐसा हो कि दण्ड देने पर बालक उनके आशय में सन्देह न कर सके। बहुत अच्छा होता यदि दण्ड की आवश्यकता ही न उठती, क्योंकि दण्ड का प्रभाव देने और पाने वाले दोनों पर बुरा पड़ता है। अतः जहाँ तक सम्भव हो इसे दूर ही करने की चेष्टा करनी चाहिये।"* बार बार दण्ड देने से बालक में आत्म-हीनता की भावना-ग्रन्थि पड़ जाती है। बालक अपने को अयोग्य समझने लगता है। उसकी उन्नति रुक जाती है। चरित्र का विकास कुण्ठित हो जाता है। बालक को कभी कभी आज्ञा के उलंघन के लिये दण्ड देना आवश्यक होता है। यहाँ दण्ड देते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बालक की उद्दण्डता कहीं उसकी स्वतन्त्रता-भावना की परिचायक न हो। बहुत कड़ा दण्ड देकर बालक की इस भावना का उन्मूलन न करना चाहिये; अन्यथा बालक का चरित्रबल जाता रहेगा। दण्ड देने की विधि और उसका रूप इस प्रकार का हो कि बाद में सोचने पर बालक उसे स्वयं न्यायबद्ध समझ सके। दण्ड की अमनोवैज्ञानिता तो सिद्ध कर दी गई है। शिक्षा के कर्णधारों ने इसे नियम के प्रतिकूल घोषित कर दिया है। बालक के सुधार में दण्ड एक निषेधात्मक साधन है। अतः जहाँ तक इसका कम प्रयोग किया जाय अच्छा है।

सहायक पुस्तकें

१—डम्विल—द फण्डामेंटल्स ऑव् साइकॉलॉजी अध्याय १४।
२—जेम्स—प्रिन्सीपुल्स ऑव् साइकॉलॉजी भाग १, अध्याय १०।
" " " " " २, " १७।
३—मैक्डूगल—ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय १७।
४— " —सोशल साइकॉलॉजी, अध्याय ७, ११।
५—रेमॉण्ट—दी प्रिन्सीपुल्स ऑव् एडूकेशन ३२८–३२९।
६—अरिस्टॉटिल—एथिक्स, १, ८, (१२)।
७—स्टाउट—मैनुअल ऑव् साइकॉलॉजी, भाग ४, अध्याय ७, १०।
८—शैण्ड—द फ़ाउण्डेशन्स ऑव् कैरेक्टर, भाग १।
९—ड्यूई—ह्यूमन नेचर ऐण्ड कॉण्डक्ट।
१०—ड्रेवर—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन, अध्याय ७।

* लेखक द्वारा रचित "पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १६१।

ईश्वर का सविकल्पकात्मक, विचारात्मक और विवेकात्मक वर्गीकरण अधिक मनोवैज्ञानिक; समूह के विकास की तीन श्रेणियाँ भीड़, गोष्ठी और समाज।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सभी प्रकार के समूहों के तीन वर्ग बनाया है: हमारे मानसिक विकास की तीन श्रेणी होती है: सविकल्पकात्मक (परसेप्चुअल लेवेल), विचारात्मक (आइडियेशनल) तथा विवेकात्मक (रेशनल)। इनका कुछ उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। पर प्रसंगानुसार इनको यहाँ पुष्टिपेषण अरुचिकर न होगा। हमारे सविकल्पकात्मक व्यवहार निम्नकोटि के होते हैं। इसमें हमारी मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया ही प्रधान हुआ करती है। विचारात्मक व्यवहार सविकल्पकात्मक से ऊँचा होता है। इसमें व्यक्ति की रुचियों और स्थायीभावों का कुछ समावेश हो जाता है और उसके व्यवहार सविकल्पकात्मक न होकर स्थायीभावों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। तृतीय श्रेणी विवेकात्मक व्यवहार की होती है। यह श्रेणी सर्वश्रेष्ठ है। इस सीमा तक पहुँचने में व्यक्ति को अपना आदर्श बना लेना होता है। हम कह चुके हैं कि 'आदर्श' विभिन्न मूलप्रवृत्तियों के शोधन तथा 'आत्म-गौरव' के स्थायीभाव का परिणाम होता है। जैसे व्यक्ति के विकास की ये तीन श्रेणियाँ होती हैं उसी प्रकार समूह के विकास की भी तीन श्रेणियाँ होती हैं:-भीड़ (क्राउड), गोष्ठी (क्लब) तथा समाज (कम्युनिटी)। नीचे हम तीनों पर अलग अलग अति संक्षेप में विचार करेंगे।

भीड़

सविकल्पात्मक, भीड़ का समूह-मन पशु-मन के सदृश, प्रवृत्यात्मक क्रिया, भीड़ उत्सुकता की भावना से।

भीड़ को हम सविकल्पकात्मक कोटि का समूह मान सकते हैं। किसी स्थान पर किसी बात के हो जाने पर लोग यकायक वहाँ एकत्रित हो जाते हैं। उनके एकत्रित होने का कुछ उद्देश्य अवश्य होता है, पर यह उद्देश्य तत्काल ही बनता है, उसके विषय में पहले से कुछ निर्णय नहीं हुआ रहता। मोटर से साइकिल भिड़ी। कुछ लोग एकत्रित हो गये और सहानुभूति, निर्देश अथवा अनुकरण के आधार पर उनमें कुछ क्रियाशीलता आ गई। कुछ लोगों का यह कहना कि भीड़ में समूह-मन नहीं होता भ्रमात्मक है। भीड़ का समूह-मन पशु-मन के समान होता है। जहाँ कुछ खटका कि सभी भेड़ें अथवा गायें दौड़ कर एक स्थान पर एकत्रित हो जाती हैं। इस प्रकार का एकत्रित होना आत्म-रक्षा की भावना से होता है। मन की क्रिया प्रवृत्त्यात्मक है। इसी प्रकार भीड़ की भी क्रिया प्रवृत्त्यात्मक होती है। उदाहरणार्थ: मोटर-साइकिल घटना पर भीड़ कुछ प्रयोजन और उद्देश्य से ही एकत्रित होती है; हाँ, यह ठीक है कि यह प्रयोजन और उद्देश्य बड़ा अस्थायी होता है। भीड़ बहुधा

उत्सुकता-सम्बन्धी भावना को लेकर एकत्रित होती है और उसकी सन्तुष्टि के बाद छिन्न भिन्न हो जाती है।

गोष्ठी

गोष्ठी कई प्रकार की होती है। इसका प्रयोजन स्वास्थ्य, कला, साहित्य, संगीत, राजनीति, खेल तथा व्यापार आदि हो सकता है। इसका उद्देश्य पहले ही से निश्चित होता है। सदस्यगण कुछ निश्चित विचार से इसमें एकत्रित होते हैं। पर यह विचार बहुत सीमित होता है। यही कारण है कि गोष्ठी सदस्यों के जीवन के सभी अंगों पर विचार नहीं करती। जीवन के विभिन्न अंगों के लिये व्यक्ति कई गोष्ठियों का सदस्य हो सकता है। प्रत्येक गोष्ठी का अपना एक विधान होता है। गोष्ठी के समय इसी विधान के अनुसार सब को चलना होता है। इस विधान की अवहेलना करने पर व्यक्ति को गोष्ठी द्वारा दिये गये दण्ड का भागी होना पड़ता है, अथवा उसकी सदस्यता जाती रहती है। इस प्रकार गोष्ठी भीड़ से ऊँचा समूह है, और यह कहा जा सकता है कि इसका आधार विचारात्मक होता है। अतः इसका समूह-मन भीड़ के मन से अच्छा होता है। गोष्ठी-मन की क्रिया केवल प्रवृत्यात्मक ही नहीं होती, वरन् उस पर अतीत की स्मृतियों और स्थायीभाव का भी प्रभाव रहता है। इस प्रकार गोष्ठी-मन का गठन अधिक सुदृढ़ और प्रयोजनात्मक होता है।

कई प्रकार; प्रयोजन—स्वास्थ्य, कला, साहित्य इत्यादि; उद्देश्य पहले ही निश्चित; जीवन के सभी अंगों पर विचार नहीं; प्रत्येक गोष्ठी का अपना विधान; भीड़ से ऊँचा; आधार विचारात्मक; क्रिया पर अतीत की स्मृतियों और स्थायीभाव का प्रभाव।

समाज

समाज उत्कृष्ट कोटि का समूह है। इसका संगठन गोष्ठी के सदृश केवल किसी निश्चित उद्देश्य से ही नहीं होता, अपितु एक आदर्श को लेकर होता है। इस आदर्श की रक्षा करना उसके सदस्य अपना कर्तव्य समझते हैं। समाज में व्यक्ति अपने को समाज के हितों से आत्मसात् कर देता है और उसका सारा परिश्रम समाज-हित के लिये होता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह अपना व्यक्तित्व खो बैठता है। समाज का संगठन ऐसा होता है कि अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुये भी व्यक्ति समाज-हित का पूरा ध्यान रख सकता है। डाक्टर, इंजीनियर, शिक्षक, कलाकार तथा संगीतज्ञ आदि होता हुआ भी व्यक्ति अपने क्षेत्र में समाज

उत्कृष्ट कोटि का; संगठन आदर्श पर; व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए भी समाज का ध्यान; समाज का उद्देश्य विस्तृत; इसमें व्यक्ति के जीवन के सभी अंग; राष्ट्र एक समाज; आत्मोत्कर्ष की चेतना।

के आदर्श के अनुसार कार्य कर सकता है। समाज का उद्देश्य व्यापक और स्थायी होता है। उसके अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन के सभी अंग आ जाते हैं। राष्ट्र इसी प्रकार का समाज कहा जा सकता है। जैसे व्यक्ति में आत्मोत्कर्ष की चेतना होती है, उसी प्रकार आज राष्ट्र में भी यह चेतना देखी जा रही है। प्रत्येक राष्ट्र अपना भाग्य-विधाता होना चाहता है। उसका एक आदर्श होता है। इस आदर्श की रक्षा में वह अपना सब कुछ लगा देने को तैयार हो सकता है। विवेक की स्थिति पर व्यक्ति-मन में भी इन्हीं सब भावनाओं का संचार होता है। अतः राष्ट्र जैसा समूह आदर्श कहा जा सकता है। इसके तत्वावधान में व्यक्ति अपनी सभी मनोकामनायें पूरी कर सकता है। ड्रेवर के अनुसार "ऐसा समूह उत्कृष्ट कोटि के मनोवैज्ञानिक विकास पर पहुँचा हुआ होता है। इसमें केवल कुछ सामान्य परम्परा तथा स्थायीभाव ही नहीं होते, वरन् प्रयोजन और आदर्श भी। इसके अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन का कोई विशिष्ट अंग ही नहीं आता, वरन् उसके जीवन सम्बन्धी सारी बातें आ जाती हैं।" *

स्कूल का संगठन

Educational Implication

स्कूल भी एक मनोवैज्ञानिक समूह है। इसका संगठन विवेकात्मक अर्थात् किसी आदर्श के आधार पर होना चाहिये। अपनी "द ग्रूप माइण्ड" † नामक पुस्तक में मैग्डूगल ने समूह-मन के निर्माण के लिये कुछ आवश्यक बातों का उल्लेख किया है। उसके आधार पर हम यह निश्चय कर सकेंगे कि स्कूल किस प्रकार का समूह है और उसको आदर्श-समूह बनाने के लिये किन किन बातों पर ध्यान देना चाहिये।

स्कूल एक मनोवैज्ञानिक समूह, इसका एक आदर्श।

'समूह का स्थायित्व' आदर्श समाज-संस्थापन की पहली आवश्यकता है। भीड़ में समूह का स्थायित्व नहीं रहता। थोड़ी देर भीड़ जमी है, फिर एक दो करके सब निकल जाते हैं। गोष्ठी में कुछ स्थायित्व हमें दिखलाई पड़ता है; पर यह स्थायित्व व्यापक नहीं। इसका क्षेत्र बहुत ही सीमित होता है। समाज का स्थायित्व अनुकरणीय है। समाज का विनाश करने का तात्पर्य व्यक्ति के विनाश से होगा। स्कूल में समाज ही के सदृश् कुछ स्थायित्व दिखलाई पड़ता है। स्कूल भीड़ के समान नहीं, जहाँ लोग अपनी इच्छानुसार आते जाते रहते हैं, न वह गोष्ठी के ही सदृश् है। स्कूल में कुछ वर्षों तक लड़के

समूह का स्थायित्व पहली आवश्यकता; समाज का स्थायीत्व अनुकरणीय; स्कूल में समाज के सदृश् स्थायित्व; स्कूल में विभिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर बालक का आदर्श सीखना; स्कूल का कार्य

*—ड्रेवर—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु एडूकेशनल साइकॉलॉजी—पृष्ट, २१५।

†—ग्रूप माइण्ड—पृष्ट, ४०, ५०।

सहानुभूति, निर्देश और अनुकरण के आधार पर।

पढ़ते हैं। एक दूसरे के साथ उनका सम्पर्क होता है। जीवन की विभिन्न समस्याओं पर यहाँ विचार किया जाता है। जैसे समाज में व्यक्ति पारस्परिक संघर्ष द्वारा अनेक गुण सीखता है उसी प्रकार स्कूल में भी बालक विभिन्न प्रकृति के बालकों के सम्पर्क में आकर आदर्श गुणों का समावेश अपने चरित्र में करता है। जैसे समूह में व्यक्ति सहानुभूति, निर्देश और अनुकरण के आधार पर क्रियाशील हो उठता है उसी प्रकार स्कूल में भी बालक अधिकांश बातें इन्हीं सब के आधार पर सीखता है। शिक्षक किसी व्यक्ति अथवा घटनास्थल के प्रति सहानुभूति प्रगट करता है। इस सहानुभति का अनुभव करना बालक का स्वभाव होता है। यही बात निर्देश अथवा अनुकरण के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। परन्तु स्कूल में इन सब प्रवृत्तियों का उपयोग जानबूझ कर किसी उद्देश्य से किया जाता है अतः स्कूल भीड़ अथवा गोष्ठी ऐसे समूह से बहुत ऊँचा उठ जाता है। उसमें आदर्श समूह बनने की क्षमता दिखलाई पड़ती है।

दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि 'प्रत्येक सदस्य समूह के रूप की समीक्षा करे और उसके कर्तव्य और योग्यता को ठीक से समझे'। बिना इसे समझे

कर्तव्य पालन के हेतु समूह की समीक्षा आवश्यक; स्वार्थान्धता समाज के लिये घातक; सामाजिक भावना की जागृति स्कूल से ही; स्कूल में पढ़ने वाले एक ही परिवार के सदस्य; नाटक, वार्षिकोत्सव व खेल-कूद का आयोजन आवश्यक।

व्यक्ति समूह के प्रति अपने कर्तव्य को नहीं समझ सकता। जिस समाज के व्यक्ति स्वार्थान्ध हो जाते हैं उसका कल्याण नहीं हो सकता। किसी भी देश का इतिहास इसका साक्षी है। यदि हम समाज से कुछ लेना चाहते हैं तो उसके प्रति हमारा कुछ उत्तरदायित्व भी है। समाज के सभी व्यक्तियों का मन एक होना चाहिये, उनकी नस नस में एक ही आवेश की दौड़ होनी चाहिये। सामाजिक भावना से सभी को ओत-प्रोत रहना चाहिये। सामाजिक भावना की जागृति स्कूल से ही की जा सकती है। स्कूल में कुछ ऐसे कार्यों का संगठन करना चाहिये जिससे बालकों में सामाजिकता का विकास हो। हमारी ऐसी चेष्टा हो कि प्रत्येक बालक समझे कि स्कूल में पढ़ने वाले सभी एक ही परिवार के सदस्य हैं। इस भावना के विकास के लिये उन्हें स्कूल के तत्वावधान में किसी सामूहिक कार्य में भाग लेना होगा। इसके लिये, नाटक, वार्षिकोत्सव तथा खेल-कूद आदि का उपयोग किया जा सकता है। देशभक्ति उत्पन्न करने के लिये कुछ समाज-सेवा सम्बन्धी कार्य बालकों से कराये जा सकते हैं।

सामाजिक भावना का पूर्ण विकास केवल अपने ही समूह में रहने से सम्भव नहीं। अतः 'विभिन्न आदर्श और उद्देश्य वाले दूसरे समूहों के सम्पर्क

में आना' तीसरी आवश्यकता है। इस सम्पर्क से अपनी सीमा का अनुमान हो जाता है और कमी को पूरा करने का उत्साह आता है। दूसरों के सम्पर्क में आने से सहकारिता, प्रतियोगिता अथवा शत्रुता का भाव उत्पन्न होता है, पर इसमें सन्देह नहीं कि इससे सामूहिकता की भावना का बड़ा विकास होता है, और समूह में आत्म-चेतना आ जाती है। खेल तथा वाद-विवाद आदि में स्कूलों की परस्पर प्रतियोगिता से बालकों में अपने स्कूल के प्रति एक अनुराग उत्पन्न हो जाता है। सभी लोग अपने स्कूल को विजयी देखना चाहते हैं। उस अवसर पर स्कूल के आत्म-सम्मान के लिये बालक क्या क्या करने को तैयार नहीं हो जाते? यदि इस प्रकार की प्रतियोगिता का मनोवैज्ञानिक ढंग पर आयोजन किया जाय तो इससे सामाजिक भाव का बड़ा विकास होगा, पर यह ध्यान रहे कि ऐसे आयोजन शत्रुता का रूप धारण न कर लें। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्कूल के आदर्श बहुत ऊँचे होने चाहिये।

विभिन्न आदर्श वालों का दूसरे समूह के सम्पर्क में आना आवश्यक, इससे सामूहिकता की भावना का विकास, प्रतियोगिता से आत्मचेतना।

सामाजिक-भावना के विकास के लिये चौथी आवश्यकता 'समूह की अपनी एक परम्परा' है। यह परम्परा ऐसी हो कि उसका प्रत्येक सदस्य को गर्व हो और उसी से सब लोग एक दूसरे तथा समूह के प्रति अपने सम्बन्ध समझें। इस परम्परा के कारण प्रत्येक सदस्य उसकी रक्षा के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करेगा। जो स्कूल सदा खेल या परीक्षा में अन्य स्कूलों में प्रथम आता है उसके विद्यार्थी सदा स्कूल की प्राचीन परम्परा की रक्षा का प्रयत्न करते हैं। उन्हें अपने स्कूल को सदैव ऊँचा रखने की चिन्ता होगी। जो स्कूल 'विनय' (डिस्सीप्लिन) के लिये प्रसिद्ध होता है उसके विद्यार्थी कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहते जिससे स्कूल के आत्म-सम्मान पर धक्का लगे। मनोवैज्ञानिक प्रधानाध्यापक स्कूल के इस सम्मान की रक्षा के लिये अवसरानुसार बालकों को उत्साहित किया करते हैं। प्रत्येक स्कूल को अपनी एक परम्परा बना लेनी चाहिये। यह सत्य है कि यह परम्परा धीरे धीरे वर्षों में बनती है, पर परम्परा की चेतना तो बालकों को प्रारम्भ में ही दी जा सकती है। यह परम्परा विशेषकर आचरण की शुद्धता, बौद्धिक, शारीरिक तथा अन्य के विकास के सम्बन्ध में होनी चाहिये।

समूह की अपनी परम्परा आवश्यक, इस पर प्रत्येक सदस्य को गर्व, स्कूल की अपनी परम्परा हो।

समाज के सदस्यों के कर्तव्य का विभाजन करना मैक्डूगल के अनुसार समाज की पाँचवीं आवश्यकता है। यदि कर्तव्य का विभाजन न किया जाय तो व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को समझ ही न पावेगा। एक व्यक्ति एक विशिष्ट प्रकार का ही कार्य कर सकता

प्रत्येक के कर्तव्य का

विभाजन आवश्यक, इसी से समाज का समुचित विकास सम्भव, नेतृत्व करने की शिक्षा।

है। इसके लिये सबकी योग्यता और रुचि का पता लगाना आवश्यक है। अपनी रुचि के अनुसार कार्य पा जाने पर व्यक्ति उसे बहुत अच्छी प्रकार करता है। उसे आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिलता है। ऐसे ही व्यक्ति दूसरे के नेता हो सकते हैं। यदि भीड़ को हमें आदर्शरूपी समाज में परिवर्तित करना है तो हमें योग्य व्यक्तियों को खोज कर उन्हें नेता बनने की शिक्षा देनी होगी। आजकल जनतन्त्र का युग है। बिना योग्य नेता के समाज का कल्याण सम्भव नहीं। अतः नेता के कुछ आवश्यक गुणों की यहाँ चर्चा कर देना अनुपयुक्त न होगा। इसके बाद हम यह भी देखेंगे कि स्कूल इस कार्य में कहाँ तक योग दे सकता है।

सामूहिक जीवन में नेता का स्थान

नेता मानव की आशाओं से परिचित हो, अभिलाषाओं का नियन्त्रण सामाजिक सहकारिता की ओर हो, नेता में आत्म-संयम की शक्ति आवश्यक, नेता बनाना स्कूल का कर्तव्य, नेता का कर्तव्य अनुकूल वातावरण का आयोजन करना, समाज के नेतृत्व के लिये दूसरों के साथ सोचना और अनुभव करना आवश्यक।

नेता को मानव की इच्छाओं और आशाओं से भली भाँति परिचित होना चाहिये, क्योंकि इसके बिना वह लोगों का उचित पथ-प्रदर्शन न कर सकेगा। उसे व्यक्ति की अभिलाषाओं का इस प्रकार नियन्त्रण करना है कि उनकी चरमसीमा सामाजिक सहकारिता में ही पहुँचे। नेता अपने इस उत्तरदायित्व का सफल सम्पादन तब तक नहीं कर सकता जब तक वह स्वयं आत्म-संयम की शक्ति न पा ले। बिना इस शक्ति के वह स्वयं स्वार्थ के गर्त में गिरता रहेगा। आत्म-संयम के न होने से देश के पुराने भक्त पद पा जाने पर अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिये क्या क्या नहीं करते? वर्षों की परतन्त्रता से मुक्त हुए किसी देश का इतिहास इसका साक्षी है। समाज के नेता बनने की योग्यता किस व्यक्ति में है इस ओर स्कूल बहुत अच्छी प्रकार संकेत कर सकता है। इतना ही नहीं, वरन् यदि हम यह कहें कि यह स्कूल का ही कर्तव्य है तो अयुक्ति न होगी। नेता का प्रथम कार्य यह देखना है कि प्रत्येक व्यक्ति का समुचित विकास हो रहा है वा नहीं। इसके लिये उसे हरएक का अध्ययन उसके सामाजिक सम्बन्ध में करना पड़ेगा। यह अध्ययन ही उसे उचित नीति-निर्धारण में सहायक हो सकता है। शिक्षा और समाज के कर्तव्य में क्या सम्बन्ध है? दोनों व्यक्ति को इस योग्य बनाना चाहते हैं कि वह समाज में अपना उचित स्थान प्राप्त कर सके। अतः अनुकूल वातावरण की आवश्यकता है, जिससे सब लोग अपनी योग्यता का अनुमान लगा सकें। अनुकूल वातावरण का आयोजन करना नेता का ही कार्य है। नेता के गुण समाज में कार्य करने से ही प्राप्त हो सकते हैं। दूसरों के

3/8/60

साथ सोचने और अनुभव करने से ही दूसरों को समझा जा सकता है। व्यक्तित्व का विकास घर बैठे बैठे विचार-मग्नता से सम्भव नहीं। कुछ लोग बहुत उत्साह से दूसरों की शिक्षा में रुचि लेते हैं, परन्तु ये लोग अपने संरक्षितों को यह सिखाना भूल जाते हैं कि उन्हें भी इस प्रकार दूसरों की शिक्षा में रुचि और उत्साह दिखलाना है। यदि इस आवश्यक बात की अवहेलना न की जाती तो समाज में आज इतना असन्तोष न दिखलाई पड़ता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नेतृत्व की शक्ति के लिये मानव स्वभाव तथा उस पर प्रभाव डालने वाली बातों का गहन अध्ययन आवश्यक है। इसके लिये ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता है जो दूसरों में विश्वास उत्पन्न कर सके। दूसरे में विश्वास उत्पन्न करने की क्षमता उसी में हो सकती है जो स्वयं अपने में विश्वास करता है। अतः सच्चा नेता वही है जो अपने तथा दूसरों में विश्वास करता है। ऐसा ही नेता उत्तरदायी और आत्म-नियन्त्रित व्यक्तियों को उत्पन्न कर सकता है। योग्य नेता के सहारे व्यक्ति आदर्शरूप वीरता का प्रदर्शन कर सकता है। अयोग्य नेता समूह से घृणित से घृणित कार्य करा सकता है। यदि समूह का नेतृत्व व संगठन अच्छी प्रकार किया गया तो समूह की मनोवृत्ति व्यक्तिगत मनोवृत्ति से उत्तम हो सकती है और व्यक्ति अपने को नेता के व्यक्तित्व में छिपा सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामाजिक जीवन के लिये योग्य नेतृत्व नितान्त आवश्यक है। बिना योग्य नेतृत्व के बड़े बड़े देश बहुत छोटे छोटे देशों से हार जाते हैं। इतिहास इसका साक्षी है। जब देश में योग्य नेताओं का अभाव रहता है तो राष्ट्र के सामने बड़ी घातक स्थिति आ जाती है। आजकल विश्वबन्धुत्व की चर्चा की जाती है, पर यह बिना योग्य नेतृत्व के सम्भव नहीं।

नेतृत्व करने के लिये मानव स्वभाव का अध्ययन आवश्यक, अपने तथा दूसरों में विश्वास करने वाला ही सच्चा नेता, योग्य नेता के सहारे समूह का आदर्श होना, योग्य नेतृत्व नितान्त आवश्यक।

कुछ लोगों का कहना है कि नेतृत्व की शक्ति प्रकृतिदत्त होती है। इस युक्ति में कुछ सत्य अवश्य है, पर इसका तात्पर्य अपनी शिक्षा-व्यवस्था में उस सम्बन्ध में कुछ ढिलाई लाने से नहीं है। प्रकृतिदत्त शक्ति कुछ भी कार्य नहीं कर सकती जब तक उचित शिक्षा से उसका नियन्त्रण न किया जाय। नेतृत्व की स्वाभाविक शक्ति का संकेत हमें स्कूल के खेल के मैदानों तथा साहित्यिक प्रतियोगिताओं में मिल जाता है, पर यह संकेत पाने के बाद उसकी शिक्षा देना आवश्यक है। हमारे देश के स्कूल इस ओर बड़े उदासीन से दिखलाई पड़ते हैं।

नेतृत्व शक्ति प्रकृतिदत्त—पर उसकी शिक्षा आवश्यक।

एक दृष्टि से हम शिक्षक को ही समाज का नेता कह सकते हैं। समाज ने

उसे अपना प्रतिनिधि बना कर भावी नवयुवकों का नेतृत्व करने के लिये स्कूल में भेजा है। क्या शिक्षक इस नेतृत्व में सफल हो सकता है? नहीं, क्योंकि उसकी अवस्था और अनुभव कुछ ऐसा है कि बालकों के साथ हिलमिलकर रहना उसे असम्भव जान पड़ता है। कुछ अध्यापक नेतृत्व करने की चेष्टा अवश्य करते हैं। प्रारम्भ में वे कुछ सफल अवश्य दिखलाई पड़ते हैं, पर उम्र के बढ़ने के साथ साथ उनके और बालकों के बीच की खाई बढ़ती जाती है। "अध्यापक अपने विद्यार्थियों द्वारा कभी नेता नहीं स्वीकार किया जाता। अतः अच्छा यह होगा कि वह विद्यार्थी के नेताओं का नेतृत्व करे और उन्हें अपने उद्देश्य और आदर्श से कूट कूट कर भर दे ..."* कुछ दिन बालकों को शिक्षा देने के बाद उन्हें कुछ बातों का नियन्त्रण करने का कुछ अधिकार दिया जा सकता है। कक्षा में मॉनीटर, खेल में कप्तान, तथा साहित्य-गोष्ठियों में मन्त्री आदि के पद को विद्यार्थी सफलतापूर्वक निभा सकते हैं। नेतृत्व की शिक्षा यहीं से प्रारम्भ होती है। जहाँ तक सम्भव हो अधिक से अधिक विद्यार्थियों को ऐसा नेतृत्व करने का अवसर देना चाहिये। आत्म-नियन्त्रिता (सेल्फ गवर्नमेण्ट) की लहर जो कुछ स्कूलों में चल पड़ी है वह इसी भावना की परिचायक है।

शिक्षक समाज का नेता, समाज का वह प्रतिनिधि, शिक्षक बालकों के नेतृत्व करने में सफल नहीं, शिक्षक को नेताओं का नेतृत्व करना, आत्म-नियन्त्रण से नेतृत्व की शिक्षा।

समूह मनोविज्ञान के आधार पर हम कह सकते हैं कि कौशल-सम्बन्धी तथा बौद्धिक विषयों को छोड़ अन्य विषयों की शिक्षा विशेषकर समूह में ही देनी चाहिये। श्रोताओं की संख्या जितनी ही अधिक होती है उतना ही अधिक उन पर प्रभाव पड़ता है। प्रायः प्रत्येक सफल शिक्षक या भाषण-वक्ता का यह अनुभव है कि बड़ी संख्या के सामने वह अपने भावों का प्रकाशन अधिक सफलता से कर पाता है, क्योंकि अधिक संख्या के रहने पर उसे उत्साह अधिक मिलता है। बड़ी संख्या में रहने से व्यक्ति की सहानुभूति, निर्देश तथा अनुकरण की प्रवृत्तियाँ शीघ्र क्रियाशील हो जाती हैं। ये प्रवृत्तियाँ आवश्यक बातें सीखने में बड़ी सहायक होती हैं। "साहित्य, संगीत अथवा कला का पाठ बड़ा ही सफल होता है जब शिक्षक अपनी भावना को बड़ी कक्षा के समूह-मन में डाल देता है।"† ऐसे ही जब स्कूलों में बालकों के एकत्र होने का अवसर मिलता है तो उन्हें जीवन के उच्च उद्देश्य से परिचित कराया जा सकता है। समूह में सुनी हुई बातें का

कौशल-सम्बन्धी तथा बौद्धिक विषयों को छोड़ अन्य विषयों की शिक्षा समूह में ही, समूह में सुनी हुई बात का अधिक प्रभाव।

* रॉस—ग्राउण्डवर्क ऑव् एडूकेशनल साइकॉलोजी, अध्याय १५, पृ० २६३।

† रॉस—ग्राउण्डवर्क ऑव् एडूकेशनल साइकॉलोजी, अध्याय १५, पृ० २६४।

व्यक्ति के ऊपर अधिक प्रभाव पड़ता है। बहुत सम्भव है कि समूह में बालक उच्च भावना से प्रेरित होकर अपने भावी जीवन का आदर्श कार्यक्रम बना उसे कार्यान्वित करने के लिये कटिबद्ध हो जाय। अकेले बुला कर उसे ऐसी शिक्षा दी जाय तो कदाचित् उस पर कुछ भी प्रभाव न पड़े।

समूह-मनोविज्ञान से शिक्षा में व्यक्तिवाद और समाजवाद का समझौता सम्भव।

शिक्षा में व्यक्तिवाद और समाजवाद के परस्पर विरोधी विचारों में समझौता लाने के रास्ते की ओर समूह मनोविज्ञान ने संकेत किया है। आजकल वैयक्तिक भिन्नता के आधार पर व्यक्ति को शिक्षित बनाने की लहर दिखलाई पड़ती है। फलतः शिक्षकों का ध्यान व्यक्ति की ओर अधिक जाता दिखाई पड़ता है। यह सत्य है कि समाज की उन्नति के लिये पहले हमें व्यक्ति के विकास पर ही ध्यान देना होगा, क्योंकि समाज व्यक्तियों का ही समूह है। पर इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि व्यक्ति के बहुत से गुणों का प्रादुर्भाव और विकास सामाजिक जीवन में ही सम्भव है। समूह मनोविज्ञान हमें इस सामाजिक जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से अवगत कराता है। इन्हीं परिस्थितियों के ज्ञान से हम यह समझ सकते हैं कि सामाजिक जीवन को विकसित करने के लिये हमें किन किन साधनों की आवश्यकता होती है। यदि शिक्षक केवल व्यक्तिगत मनोविज्ञान पर ही निर्भर रहे तो शिक्षा में वह व्यक्तिवाद और समाजवाद में कभी समझौता नहीं ला सकता, और व्यक्ति का विकास एकांगी और अपूर्ण रह जायगा।

सहायक पुस्तकें

१—रॉस—फ़ाउण्डदर्स ऑव् एडूकेशन साइकॉलॉजी, अध्याय १५।
२—ड्रेवर—इन्ट्रोडक्शन टु द साइकॉलॉजी आव् एडूकेशन, अध्याय, ११।
३—बैक्स्टर ऐण्ड कैसीडी—ग्रूप ऐक्सपीरियन्स द डेमोक्रेटिव वे, अध्याय १।
४—ट्रॉटर—इन्स्टिंक्ट ऑव् दी हर्ड इन पीस ऐण्ड वार।
५—मुकर्जी ऐण्ड सेनगुप्ता—इन्ट्रोडक्शन टु सोशल साइकॉलॉजी।
६—ऐडम्स—मॉडर्न डेवलपमेण्ट्स इन एडूकेशनल प्रैक्टिस, अध्याय ५, ६।
७—लीबोन—दी क्राउड।
८—मैक्डूगल—ऐन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल साइकॉलॉजी, अध्याय ४, १५।
९— ,, —द ग्रूप माइण्ड अध्याय, ८।
१०—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मॉडर्न साइकॉलॉजी ऐण्ड एडूकेशन अध्याय ४।
११—नन—एडूकेशन इट्स डेटा ऐण्ड फ़र्स्ट प्रिन्सीपुल्स अध्याय १, १०, १५।
१२—राबर्ट, एच० लोवी—सोशल आर्गेनीज़ेशन।
१३—ऑगबर्न ऐण्ड निनकॉफ़—सोशियॉलॉजी अध्याय ६, ९, १३।
१४—बेनेट ऐण्ड टुमिन—सोशल लाइफ़, अध्याय ११, १६।

१२

वैयक्तिक भेद और शिक्षा में उसकी व्यवस्था

(इण्डीविडुवल डिफ़रेन्सेज़ ऐण्ड एडजस्टमेण्ट इन एडूकेशन)

वैयक्तिक भेद पर विशेष बल देना आधुनिक मनोविज्ञान की विशेषता है। अर्थात् सामान्य बालक के स्थायित्व में इसका विश्वास नहीं। प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक गवेषणायें वैयक्तिक भेद की ओर संकेत करती हैं। एक व्यक्ति दूसरे से इतनी बातों में भिन्न जान पड़ता है कि यह कहना असम्भव है कि अमुक दो व्यक्ति समान हैं। व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक दोनों दृष्टिकोण से एक दूसरे से भिन्न होते हैं। हमें छोटे, बड़े, सुन्दर, भद्दे, साँवले तथा गोरे आदि कई प्रकार के व्यक्ति दिखलाई पड़ते हैं। व्यक्ति की शारीरिक आकृति का उसकी मनोवृत्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यह समझना भ्रम है कि दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं। सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चलेगा कि वातावरण की वस्तुओं के प्रति व्यक्ति का विचार सदा उसकी सुन्दर या असुन्दर शारीरिक आकृति से प्रभावित होता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि लम्बे व्यक्ति नाटों की अपेक्षा प्रायः अधिक प्रभावशाली होते हैं। इसके विपरीत, कुछ का कहना है कि लम्बे व्यक्ति अधिक प्रभावशाली नहीं होते, क्योंकि वे अचेतन मन में यह सोचा करते हैं कि लम्बे होने के कारण वे प्रभावशाली हैं ही—अतः इस धारणा से उनके चेतन मन की चेष्टा रुक जाती है। कुछ का कहना है कि नाटे आदमी को सदा डर बना रहता है कि समाज में वह कहीं नगण्य न समझ लिया जाय; अतः वह अपना प्रभाव डालने की सदा चेष्टा किया करता है। इन सब मतों का मनोवैज्ञानिक मूल्य चाहे जो हो, पर इतना निर्विवाद है कि शारीरिक आकृति का वैयक्तिक भेद पर प्रभाव अवश्य पड़ता है।

व्यक्तिगत भिन्नता पर बल देना आधुनिक मनोविज्ञान की विशेषता, विभिन्न प्रकार के व्यक्ति, शारीरिक आकृति और मनोवृत्ति में घनिष्ट सम्बन्ध।

यद्यपि मूलप्रवृत्तियाँ सभी व्यक्तियों में पाई जाती हैं; पर हर एक में उनकी

क्रियाशीलता का भेद होता है। किसी में युयुत्सा की प्रवृत्ति अधिक है तो वह बात बात में लड़ने को तैयार हो जाता है। किसी में जिज्ञासा की प्रवृत्ति प्रधान है तो उसका कान हर बात के लिए खड़ा दिखलाई पड़ता है। संचय-प्रवृत्ति की प्रबलता से कुछ लोग अधिक लोभी दिखलाई पड़ते हैं। इसके विपरीत यदि इन विभिन्न प्रबल प्रवृत्तियों का शोधन सम्भव हो सका तो अन्याय के शत्रु, चमत्कार के आविष्कारक तथा संगीत, साहित्य व कला के मर्मज्ञ विभिन्न व्यक्ति दिखलाई पड़ सकते हैं। व्यक्तियों के स्वभाव में भी गहरा भेद दिखलाई पड़ता है। कोई सदैव प्रसन्न चित रहते हैं तो कोई हर समय मुँह लटकाये हुए दीख पड़ते हैं। किसी की बतीसी खिल रही है तो किसी के चेहरे पर साढ़े बारह बजा हुआ है। कोई झक्की होता है और आवेश में असम्भव को सम्भव कर देने की चेष्टा में लग जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कोई दो व्यक्ति एक से नहीं हैं। साथ ही जन्म लेने वाले जोड़ुवे भी कई प्रकार की भिन्नता रखते हैं। इस प्रकार की भिन्नता पर व्यक्तित्व के विवरण में और प्रकाश डाला जायगा।

मूलप्रवृत्तियों की क्रियाशीलता में भेद, स्वभाव में भी गहरा भेद, कोई दो व्यक्ति समान नहीं।

वैयक्तिक भेद के कई कारण होते हैं। पहला कारण वंशनुक्रम को माना जाता है। वंशानुक्रम के प्रभव से व्यक्ति तीव्र या मन्द बुद्धि पा सकता है, गूँगा या बहरा हो सकता है, अथवा कोई भयानक रोग अपने साथ ले आ सकता है। वातावरण का भी प्रभाव पड़ता ही है। हम कह चुके हैं कि व्यक्ति वंशानुक्रम और वातावरण का गुणनफल है। वातावरण के प्रभाव से कोई अन्धा, लंगड़ा, रोगी, निर्बल अथवा बली आदि हो सकता है। समाज का प्रभाव व्यक्ति पर विभिन्न प्रकार से पड़ता है। समाज वातावरण का एक अंग ही है। अंग्रेजी समाज में पैदा हुआ बालक भारतीय समाज के बालक से भिन्न होगा। हरिजन समाज में उत्पन्न हुआ बालक ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय समाज के बालक से भिन्न होगा।

वंशानुक्रम तथा वातावरण वैयक्तिक भेद के कारण।

वैयक्तिक भेद का कारण जाति अथवा लिङ्ग भी है। स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक कोमलाङ्गी होती हैं। उनमें शील लज्जा धैर्य, दया, स्नेह तथा ममता आदि गुणों की मात्रा पुरुषों से अधिक होती है। पुरुष स्वभावतः स्त्रियों से अधिक क्रोधी, वीर तथा साहसी होता है। स्मृति तथा भाषा आदि में स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक कुशल होती हैं। प्रायः हर पाठक का यह अनुभव होगा कि बचपन में लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा बहुत पहले बोलना सीख लेती हैं।

वैयक्तिक भेद का कारण जाति और लिङ्ग, स्त्रियों में सामान्यता अधिक, कुछ शारीरिक कठिनाइयों को छोड़ कर स्त्री किसी भी

बात में पुरुष से कम नहीं। कुछ लोगों का अनुमान है कि स्त्रियों में बुद्धि कम होती है। मनोवैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा यह अनुमान गलत सिद्ध कर दिया गया है। लिङ्ग भेद के कारण बुद्धि में भेद नहीं आता। इसके और भी कारण हो सकते हैं। इन कारणों पर हम आगे प्रकाश डालेंगे। पर यह बात सिद्ध कर दी गई है कि स्त्रियों में सामान्य प्रवृति अधिक पाई जाती है। उनमें न अधिक उत्कृष्ट कोटि के बुद्धिमान् मिलेंगी और न निरी मूर्ख। स्त्रियों में सामान्यता अधिक पाई जाती है। अति का उनमें अभाव सा दिखलाई पड़ता है। यही कारण है स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा कम पागल होती हैं, पर इसके साथ ही संख्या में वे पुरुषों की भाँति उत्कृष्ट बुद्धि की भी कम होती हैं। कुछ व्यक्तिगत उदाहरणों को छोड़ कर दर्शन तथा विज्ञान का सारा चमत्कार प्रायः पुरुषों के ही मस्तिष्क का फल है। इसका प्रधान कारण यह है कि स्त्रियों का वातावरण पुरुषों की भाँति नहीं होता। उनका वातावरण पुरुषों की अपेक्षा कुछ निम्न कोटि का होता है। सभ्यता के प्रारम्भ से ही संयोगवश मानव का ऐसा विधान चलता आ रहा है। इसमें किसी का दोष नहीं। स्त्री और पुरुष का कर्तव्य भिन्न भिन्न है। एक अपने क्षेत्र में दूसरे से महान् है। तथापि परीक्षण के आधार पर यह सिद्ध कर दिया गया है कि उचित वातावरण के मिलने पर, कुछ शारीरिक कठिनाइयों को छोड़कर, किसी बात में स्त्री पुरुष से नीचे नहीं। दोनों की भिन्नता उनके विशेष शारीरिक बनावट, आवश्यकता तथा विभिन्न सामाजिक वातावरण का ही परिणाम समझना चाहिये। आवश्यक वातावरण के पाने पर स्त्री स्त्री होने के नाते पुरुष से पीछे नहीं हो सकती।

शिक्षा में वैयक्तिक भेद पर ध्यान

कक्षा-शिक्षण में वैयक्तिक भिन्नता पर कम ध्यान, एक समय सबसे एक ही प्रकार का कार्य करवाना आवश्यक नहीं; वैयक्तिक योग्यतानुसार प्रत्येक को समय समय पर काम।

कक्षा में सभी बालकों की बुद्धि समान नहीं होती। प्रायः यह देखा जाता है कि किसी सामान्य कक्षा में ४० से १२० बुद्धि लब्धि के बालक मिलते हैं। अर्थात् मन्द और तीव्र दोनों प्रकार की बुद्धि वाले छात्र पाये जाते हैं। परन्तु कक्षा-शिक्षण इस प्रकार दिया जाता है, मानो सभी बालक समान योग्यता के हैं। बालकों की विभिन्न मानसिक योग्यता, स्वास्थ्य, रुचि तथा सामाजिक वातावरण पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता। कुछ शिक्षक मन्द बुद्धि बालक के अनुसार चलने का प्रयत्न करते हैं और कुछ तीव्र बुद्धि के अनुसार। परिणाम दोनों का वांछित नहीं होता। इस ऊटपटाँग विधि के अनुसरण से या तो तीव्र बुद्धि बालक उपयुक्त मानसिक भोजन न मिलने के कारण ऊब जाते हैं या मन्द बुद्धि बालक की समझ में कुछ नहीं आता। स्पष्ट है

कि शिक्षा में हमें वयक्तिक भेद के अनुसार चलना होगा। हमें व्यक्ति की विशिष्ट आवश्यकता पर ध्यान देना ही होगा। हमारा यह तात्पर्य नहीं कि प्रत्येक के लिये अलग पाठ्य-वस्तु और अलग अलग स्कूल होने चाहिये; वरन् एक समय सभी बालकों को एक ही प्रकार का कार्य कराना आवश्यक नहीं। किसी में पढ़ने की योग्यता अधिक होती है और किसी में कम। कोई अंकगणित में तीव्र है तो कोई मन्द। अतः प्रत्येक को उसकी योग्यतानुसार कार्य देने का नियम होना चाहिये। इसका तात्पर्य कक्षा-शिक्षण को हटा देने से नहीं। 'डाल्टन प्लान' तथा 'एक्टीविटी प्रोग्राम' के समर्थक भी कक्षा-शिक्षण की आवश्यकता अनुभव करते हैं। शिक्षक को बालक की योग्यता का पूरा अनुमान होना चाहिये और उसी के अनुसार समय समय पर उसे अलग कार्य देना चाहिये। हम मानते हैं कि हमारे देश की शिक्षा-व्यवस्था में ऐसा करना सरल नहीं। पैंतीस-चालीस की बड़ी कक्षा में शिक्षक के लिये यह सम्भव नहीं हो सकता। दूसरे, पाठ्य-वस्तु में किसी प्रकार के परिवर्त्तन करने का किसी शिक्षक को अधिकार भी नहीं रहता। अतः वैयक्तिक भेदों के सुव्यवस्थापन के प्रयत्न में हमें कक्षा केवल पन्द्रह या बीस की ही रखनी होगी और शिक्षक को आवश्यकतानुसार पाठ्य-वस्तु में परिवर्त्तन करने की स्वतन्त्रता भी देनी होगी। इस प्रकार प्रत्येक बालक की आवश्यकता पर ध्यान दिया जा सकेगा। मन्द बालक स्पर्धावश आगे बढ़ने की चेष्टा करेगा और तीव्र को अपने व्यक्तित्व के लिये अधिक अवसर मिलेगा।

कक्षा-शिक्षण वैयक्तिक भेद दूर करने का साधन नहीं, वर्गीकरण, आदर्श वर्गीकरण असम्भव, सीखने की योग्यतानुसार पाठ्य-वस्तु और शिक्षण विधि का आयोजन।

स्पष्ट है कि शिक्षा की दृष्टि से वैयक्तिक भेदों का अध्ययन करना बड़ा आवश्यक है। किसी दो छात्र को एक ही प्रकार की सहायता आवयश्यक नहीं। जैसा ऊपर संकेत किया गया है, कक्षा-शिक्षण के लाभ बहुत हैं, पर वैयक्तिक भेद को दूर करने का वह साधन नहीं हो सकता। मन्द बालक को सामान्य कोटि में ले आने के लिये हमें उस पर कुछ विशेष विधि से ध्यान देना ही होगा; अथवा बालकों का वर्गीकरण हमें उनकी मानसिक योग्यतानुसार करना होगा। जहाँ तक सम्भव हो समान बुद्धि-लब्धि के बालक एक ही कक्षा में रखे जाँय, पर आठ या दस लब्धि का अन्तर मान्य हो सकता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि इस प्रकार का वर्गीकरण सदा सन्तोषजनक फल नहीं दे सकता। वर्गीकरण में हमें केवल मानसिक योग्यता पर ही ध्यान नहीं देना है, वरन् शारीरिक अवस्था, उम्र, संवेगात्मक प्रवृत्ति तथा सामाजिक वातावरण पर भी ध्यान देना होगा। इतनी बातों को देखते हुए जान पड़ता है कि वर्गीकरण सम्भव ही नहीं। वास्तव में आदर्श वर्गीकरण तो असम्भव है, पर हमारी चेष्टा आदर्श की ही ओर होनी चाहिये।

योग्यतानुसार वर्गीकरण से ही शिक्षा से अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सकता है। सीखने की योग्यतानुसार पाठ्य-वस्तु और शिक्षण-विधि का आयोजन करना चाहिये। कुछ विषयों को तीव्र बालक स्वयं सीख सकता है और उसे इसके लिये प्रोत्साहन भी देना चाहिये। तभी उसकी विशेष योग्यता का विकास सम्भव है। सामान्य पाठ्य-वस्तु के अतिरिक्त तीव्र बालकों को अलग से भी कार्य देना चाहिये जिससे साधारण कक्षा का शिक्षण उनके लिये रूखा न जान पड़े। मन्द बालक को शिक्षक की सहायता की आवश्यकता हो सकती है।

वैयक्तिक शिक्षण (इन्डीवीडुवल इन्स्ट्रक्शन) की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अमेरिका में वैयक्तिक शिक्षण का उद्देश्य डाल्टन प्लान, प्रॉजेक्ट मेथड, विनेका, प्लान, कन्ट्रैक्ट प्लान और एक्टीविटी प्रोग्राम आदि द्वारा पूर्ण करने की चेष्टा की गई है। डाल्टन प्लान और प्रॉजेक्ट मेथड का सातवें अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है। विनेका प्लान में शिक्षक की ओर से सहायता बहुत कम दी जाती है। बालक को एक निर्दिष्ट उद्देश्य तक पहुँचने के लिये कुछ अभ्यास करने पड़ते हैं, पुनः कुछ निदानात्मक प्रश्नों (डॉयगॉनॉस्टिक टेस्ट्स) द्वारा यह देखा जाता है कि बालक अपने उद्देश्य तक कितना पहुँचा है। कॉन्ट्रैक्ट प्लान में डाल्टन और विनेका प्लान का समन्वय है। इसमें डाल्टन प्लान के सदृश् पढ़ने के लिये विषय निर्धारित कर दिये जाते हैं और निदानात्मक प्रश्नों द्वारा उन्नति की मात्रा देखी जाती है। 'एक्टीविटी प्रोग्राम' में वैयक्तिक शिक्षण को सबसे अधिक सुविधा दी गई है। इस प्रणाली के अनुसार पाठ्य-वस्तु के निर्धारण में बालकों की रुचि और आवश्यकता पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इस प्रणाली में बालक जनतन्त्र के सिद्धान्तों का अनुकरण करते हैं जिससे उनके भावी जीवन में सहायता मिल सके।

वैयक्तिक शिक्षण की उपयोगिता, डाल्टन प्लान, प्रॉजेक्ट मेथड, विनेका प्लान, कन्ट्रैक्ट प्लान, एक्टीविटी प्रोग्राम।

शारीरिक सम्बन्धी वैयक्तिक पर भी ध्यान देना आवश्यक है। इसके लिये यदाकदा बालकों का निरीक्षण करते रहना चाहिये। उनकी डाक्टरी परीक्षा नियमानुसार होनी चाहिये। यदि किसी बालक की आँख व कान निर्बल है तो उसे आगे बैठाना उचित है। गरीब बालकों के जल-पान के लिये कुछ प्रबन्ध करना आवश्यक है। जिनमें शक्ति बहुत कम है उन्हें स्कूल का काम थोड़ी ही देर के लिये देना चाहिये। कुछ बालकों को स्वच्छता तथा विनय से रहना प्रायः नहीं आता। यह उनके अवांछित घरेलू वातावरण का परिणाम होता है। इसे शिक्षा द्वारा दूर किया जा सकता है। स्कूल में

शारीरिक वैयक्तिक भेद पर ही ध्यान, नेतृत्व देने से कुछ सामाजिक गुणों का स्वतः विकास।

मॉनीटर व कप्तान आदि के गुणों से उसे अवगत कराया जाय तो बहुत से सामाजिक गुणों को वह स्वतः सीख जायगा।

वैयक्तिक भेद के अनुसार शिक्षा में अवसर, सामाजिक भावना भी जीवित करना।

आजकल जनतन्त्र का राज्य है। अतः स्कूल को सभी प्रकार के बालकों की समुचित शिक्षा के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व स्वीकार करना पड़ेगा। हर एक बालक से यह आशा की जाती है कि वह अच्छा नागरिक हो। इसके लिये यह आवश्यक है कि स्कूल प्रत्येक बालक की रुचि और योग्यता का पता लगा कर तदनुसार शिक्षा की व्यवस्था करे, क्योंकि प्रत्येक बालक की शारीरिक, मानसिक, नैतिक व सामाजिक उन्नति अपने वैयक्तिक भेद के अनुसार होती है। जब तक वैयक्तिक भेद के अनुसार उसको उन्नति करने का पूरा अवसर नहीं दिया जायगा वह समाज की यथोचित सेवा नहीं कर सकेगा। वैयक्तिक भेद की शिक्षा में व्यवस्था करना असम्भव नहीं। कक्षा-शिक्षण व्यवस्था में भी चतुर शिक्षक इस पर ध्यान दे सकता है। जहाँ तक पाठ्य-वस्तु का प्रश्न है बालकों को, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सीखने के लिये उनकी योग्यतानुसार अवसर देना चाहिये, परन्तु उनकी सामाजिक भावना जीवित रखने के लिये उन्हें सामूहिक खेल या कार्यों में भाग लेने के लिये भी उत्साहित करना चाहिये।

मानसिक क्षेत्र में वैयक्तिक भेद का कारण सामाजिक वातावरण, सामाजिक आवश्यकता और स्वभावानुसार शिक्षा में लिङ्ग-भेद पर ध्यान, दस वर्ष तक लड़कों और लड़कियों की एक साथ ही शिक्षा।

हम ऊपर देख चुके हैं कि बालक की सामाजिक अथवा आर्थिक दशा उसमें वैयक्तिक भेद लाने का कारण हो सकती है। पर शिक्षा की व्यवस्था इन दशाओं के दृष्टिकोण से नहीं की जाती। बालक को शिक्षा देते समय हमें उसे एक व्यक्ति समझना है। यह मन से एकदम निकाल देना चाहिये कि वह किसी कोटि के कुटुम्ब से आ रहा है। इसी प्रकार लिङ्ग भेद के अनुसार भी शिक्षा की व्यवस्था नहीं की जा सकती। क्योंकि यह देखा गया है कि मानसिक क्षेत्र में वैयक्तिक भेद का कारण विशेषकर सामाजिक वातावरण ही होता है, न कि लिङ्ग। सामाजिक वातावरण का प्रभाव बालक के जन्म से ही आ जाता है और अन्त में वैयक्तिक भेद की चरम सीमा में पहुँच जाता है। विभिन्न सामाजिक आवश्यकताओं और स्वभाव के आधार पर शिक्षा में लिङ्ग-भेद पर ध्यान दिया जा सकता है। कम से कम प्रथम दस वर्ष की उम्र तक तो लड़कों और लड़कियों की शिक्षा साथ ही साथ चलाई ही जा सकती है।

"बालक की प्रत्येक सम्भावना के विकास का एक विशिष्ट काल होता है। यह विशिष्ट काल वैयक्तिक भेद के अनुसार प्रत्येक में भिन्न भिन्न होता है। यदि उचित समय पर इस सम्भावना को विकसित करने का प्रयत्न न किया गया तो उसके नष्ट हो जाने का डर रहता है *।" इस सिद्धान्त के अनुसार मानसिक विकास 'शून्य' में नहीं किया जा सकता। विकास में वातावरण केवल बाधा अथवा सहायता ही नहीं पहुँचाता, वरन् वह विकास का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है। यदि ऐसा न होता तो शिक्षा का उद्देश्य केवल, कुछ आदतों का उत्पन्न कर देना तथा कुछ ज्ञान दे देना होता; पर आज तो शिक्षा का तात्पर्य व्यक्तित्व के विकास से समझा जाता है। व्यक्तित्व का विकास वैयक्तिक भेद के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करने से ही सम्भव हो सकता है। यह तभी हो सकता है जबकि बालक के जन्म से ही उसकी शिक्षा पर उचित ध्यान रखा जाय। तीसरे अध्याय में हम देख चुके हैं विकास की विभिन्न अवस्थाओं की विशेषतायें क्या होती हैं। हमें उन्हीं विशेषताओं के आधार पर शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। शिशु, बालक, किशोर तथा माता-पिता सभी की विभिन्न अवस्थाओं पर ध्यान देना शिक्षा-संस्थाओं का परम कर्तव्य है। हमारे देश में अभी तक शिशु तथा माता-पिता की शिक्षा की ओर शिक्षा के कर्णधारों का ध्यान बहुत कम गया है। पर सन्तोष की बात है कि अब इस ओर कुछ चर्चा प्रारम्भ हो गई है।

सम्भावना के विकास का एक विशिष्ट काल, उचित समय पर इसे विकसित करने का प्रयत्न, वातावरण विकास का महत्त्वपूर्ण अंग, वैयक्तिक भेद के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था।

सहायक पुस्तकें

१—स्किनर (सम्पादक)—एडूकेशनल साइकॉलॉजी (१९४७), अध्याय १५।
२—फ्रीमैन, एफ० एस०—इण्डीविडुवल डिफ़रेन्सेज़, १९३४।
३—क्लिन बर्ग, ओ०—रेस डिफ़रेन्सेज़।
४—डॉज, रेमॉण्ड—कण्डीशन्स ऑव् ह्यूमन वैरियेबिलिटी।
५—इनग्रैम, सी० पी०—एडूकेशन ऑव् द स्लो लर्निङ्ग चाइल्ड।
६—ऐनास्टासी ऐण्ड फ़ॉली—डिफ़रेनशियल साइकॉलॉजी।
७—ल्योना ई० टीलर—द साइकॉलॉजी ऑव् ह्यूमन डिफ़रेन्सेज़।

* स्किनर (सम्पादक), एडूकेशनल साइकॉलॉजी (संशोधित संस्करण १९४५); लेखक—फ्रैंक एस० फ्रीमैन, अध्याय १५।

का पूर्ण विकास नहीं हो सका है। हमारे विद्यालयों का प्रधान उद्देश्य व्यक्तित्व का निर्माण ही होना चाहिये; परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति का उत्तरदायित्व शिक्षक और अभिभावक दोनों पर समान रूप से है; क्योंकि एक दूसरे की सहायता बिना विद्यालय अपना कार्य-सम्पादन सफलता से नहीं कर सकता। साहित्य, गणित, भूगोल, इतिहास तथा संगीत आदि विषयों के पढ़ाने का एक मात्र उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास ही है। सुसंगठित विद्यालयों की चेष्टा रहती है कि व्यक्ति जीवन के सभी अंगों में कुशलता प्राप्त कर आदर्श नागरिक हो सके।

व्यक्तित्व की परिभाषा

व्यक्तित्व बुद्धि, चरित्र तथा व्यवहार आदि का योग नहीं; व्यक्तित्व में आत्मा की छाप, व्यक्तित्व समझने की वस्तु, व्यक्तित्व व्यक्ति के विभिन्न अनुभवों का निचोड़, स्कूल का उत्तर-दायित्व महत्वपूर्ण, बालक के दृष्टिकोण को विस्तृत करना।

आदर्श नागरिकता व्यक्तित्व के विकास बिना सम्भव नहीं। व्यक्तित्व को हम किसी व्यक्ति के चरित्र से पृथक नहीं कर सकते। जिस प्रकार चित्र विभिन्न रंगों का मेल नहीं है, कविता विभिन्न शब्दों का योग नहीं है, उसी प्रकार व्यक्तित्व व्यक्ति की बुद्धि चरित्र तथा व्यवहार आदि का योग नहीं है, अपितु कुछ और ही है। व्यक्तित्व में व्यक्ति की आत्मा की छाप रहती है। वस्तुतः व्यक्तित्व की परिभाषा नहीं दी जा सकती। यह तो केवल समझने की वस्तु है। व्यक्तित्व में कविता वा चित्रकला की भाँति वास्तविकता रहती है। वह व्यक्ति के विभिन्न अनुभवों का निचोड़ है। वह बहुत से गत कारणों का फल है। इसमें व्यक्ति की मूलप्रवृत्तियाँ, संवेग, संवेदनाओं, प्रत्यक्षीकरण, कल्पना, स्मृति, बुद्धि तथा विवेक आदि सभी का सार निहित हो जाता है। यदि व्यक्तित्व का अर्थ इतना व्यापक होता है तो स्कूल का उत्तरदायित्व इस सम्बन्ध में बड़ा महत्वपूर्ण है। यदि बालक के संवेगों पर उचित ध्यान नहीं दिया गया तो उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव नहीं। इसके पूर्ण विकास के लिये बालक को विभिन्न विषयों में शिक्षा देनी होगी। बालक में हरबार्ट के अनुसार बहुरुचि उत्पन्न करनी होगी। इसीसे उसका दृष्टिकोण विस्तृत हो सकता है। इस विस्तृतता से ही व्यक्तित्व में उदारता का समावेश हो सकता है। इसी से उसका मस्तिष्क विभिन्न क्षेत्रों की ओर अग्रसर हो सकता है।

व्यक्तित्व के प्रकार

व्यक्तित्व के प्रकार के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न मत हैं। स्वभावानुसार विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया गया है। व्यक्तियों का

विभिन्न मत, व्यक्ति अधिकांशतः सामान्य कक्षा के, विश्लेषणात्मक, संश्लेषणात्मक, उग्र, दमनशील, विभिन्न वर्गीकरण, यूंग का वर्गीकरण।

वर्गीकरण करना बड़ा कठिन है, क्योंकि अधिकांशतः वे सामान्य कक्षा के ही होते हैं। तथापि कुछ प्रकारों का वर्णन यहाँ दिया जा सकता है। एक वर्गीकरण विश्लेषणात्मक (एनलिटिक) और संश्लेषणात्मक (सिनथेटिक) प्रकृति वालों का किया जा सकता है। इसके समर्थक न्यूमैन और स्टर्न कहे जाते हैं। विश्लेषणात्मक प्रकृति वाले व्यक्ति किसी बात के सूक्ष्मतम अध्ययम में बड़ी रुचि रखते हैं, संश्लेषणात्मक व्यक्ति समीक्षा करना प्रायः पसन्द नहीं करते। वे किसी विषय के अंगों को जोड़ना चाहते हैं। जो बहुत शीघ्र ही अत्यधिक क्रोध, हर्ष, संग्रहवृत्ति, काम-वृत्ति तथा आत्म-गौरव की प्रवृत्ति से प्रभावित हो जाते हैं उन्हें उग्र (एग्रेसिव) प्रकृति का कहा जा सकता है। इसके विपरीत दमनशील (इन्हीबीटिव) प्रकार है। ऐसे व्यक्ति अपनी भावनाओं का अवदमन बड़ी सरलता से कर सकते हैं। इस प्रकार व्यक्तियों के बहुत से वर्गीकरण किये जा सकते हैं, उदाहरणार्थ चिन्ताशील व प्रसन्न चित्त, दीर्घसूत्री और गतिपूर्ण, स्थिर और अस्थिर इत्यादि। परन्तु मनोविश्लेषणवादी यूङ्ग महाशय का वर्गीकरण विशेष उल्लेखनीय है। यूङ्ग के अनुसार व्यक्तियों प्रायः दो का वर्गीकरण किया जा सकता है—अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी (इन्ट्रोवर्ट ऐण्ड एक्सट्रोवर्ट)। यूङ्ग के इस सिद्धान्त की ओर दूसरे अध्याय में भी प्रसंगवश संकेत किया जा चुका है।

अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी—

अन्तर्मुखी अपनी ही ओर केन्द्रित, निर्जनता प्रिय, कर्तव्य परायण, व्यवहार कुशल नहीं, कार्य के प्रारम्भ करने में उसे बड़ा डर, अन्तर्मुखी में बहिर्मुखी से क्षमता अधिक, अन्तर्मुखी को संसार को प्रसन्न करने की चिन्ता नहीं, बहिर्मुखी की गति ऐसी नहीं।

अन्तर्मुखी का ध्यान विशेषकर अपने ही ओर केन्द्रित रहता है। बाह्य जगत् की वस्तुओं से उसका अनुराग कम रहता है। अपने मन को वह विषयों की ओर नहीं जाने देता। निर्जनता उसे बड़ी प्रिय लगती है। दूसरों के सामने आने में उसे बड़ी झिझक लगती है। वह बड़ा कर्तव्य-परायण होता है, इसलिये अपने समय का उसे बड़ा ध्यान रहता है। हँसी-मज़ाक तथा व्यर्थ की गप्प से उसका मन बड़ा घबड़ाता है। अन्तर्मुखी व्यवहारकुशल नहीं होता। संसारिक बातों में वह बड़ी सरलता से ठगा जा सकता है। किसी कार्य के प्रारम्भ करने में उसे बड़ा डर लगता है। अन्तर्मुखी में बहिर्मुखी की अपेक्षा क्षमता अधिक होती है, क्योंकि वह एक ही कार्य में अपने को बहुत देर तक लगा सकता है। अतः किसी एक विषय में विशेषज्ञ होना उसके लिये बड़ा सरल हो जाता

है। अन्तर्मुखी को संसार को प्रसन्न रखने की चिन्ता नहीं। वह अपना कार्य करता जाता है, चाहे लोग उससे प्रसन्न रहें या अप्रसन्न। इसके विपरीत बहिर्मुखी कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहता जिससे दूसरे अप्रसन्न हों। दूसरों को प्रसन्न करने के लिये किसी नीच कार्य को करना भी उसके लिये कठिन नहीं।

बहिर्मुखी का स्वभाव संसारिक बातों में अनुरक्त रहने का है। उसे इधर उधर जाकर गला फाड़ फाड़ कर बात करना बड़ा अच्छा लगता है। कर्तव्य की अवहेलना करना उसके लिये साधारण बात होती है। वह अकेला नहीं रहना चाहता। हर कार्य में उसे एक साथी की आवश्यकता होती है। बहिर्मुखी अपने विचारों का प्रकाशन बड़ी सरलता से कर सकता है। उसमें आत्म-विश्वास अन्तर्मुखी की अपेक्षा अधिक होता है। वह अवसरवादी होता है। वह विज्ञापन के सहारे अपने विचारों के अनुसार दूसरों में परिवर्त्तन लाना चाहता है।

बहिर्मुखी संसारिक बातों में अनुरक्त, कर्तव्य की अवहेलना करना साधारण बात, बहिर्मुखी अपने विचारों का प्रकाशन सरलता से, आत्म-विश्वास अधिक, अवसरवादी।

बहिर्मुखी कार्य में अधिक विश्वास करता है। अन्तर्मुखी विचारक होता है। सिकन्दर, नैपोलियन और हिटलर को बहिर्मुखी कहा जा सकता है। कॉण्ट न्यूटन, तथा टैगोर आदि को हम अन्तर्मुखी कह सकते हैं। दार्शनिक, वैज्ञानिक, चित्रकार तथा कवि आदि प्रायः अन्तर्मुखी ही होते हैं। सेनापति, शासक तथा राजनीतिज्ञ आदि बहिर्मुखी की कोटि में रखे जा सकते हैं। विचारक लोग प्राय उत्तरदायित्व से डरते हैं। उन्हें अविवाहित जीवन अधिक पसन्द आता है। काण्ट एक महिला के प्रस्ताव पर वर्ष भर सोचता रहा कि उसे विवाह करना चाहिये वा नहीं। अन्त में ऊब कर उस महिला ने किसी दूसरे व्यक्ति से विवाह कर लिया। न्यूटन बहुत दिन तक यह निश्चय न कर सका कि अपनी प्रधान कृति "प्रिन्सीपिया" का प्रकाशन कराये या नहीं।

बहिर्मुखी का कार्य में विश्वास, अन्तर्मुखी विचारक, अन्तर्मुखी का उत्तरदायित्व से डरना।

वास्तव में व्यक्तियों का इस प्रकार दो वर्गीकरण करना ठीक नहीं। बहुधा प्रत्येक व्यक्ति में दोनों प्रकार के गुण पाये जाते हैं। भाषण देते हुए एक मनोवैज्ञानिक ने यह कहा:—"तुम अन्तर्मुखी या बहिर्मुखी हो इसकी पहिचान के लिये यह उपाय है—मेरी बात को सुन कर यदि तुम यह सोचते हो कि तुम किस प्रकृति के हो तो तुम अन्तर्मुखी हो; पर

प्रत्येक व्यक्ति में दोनों प्रकार के गुण, मध्यमुखी, विचार प्रधान, भाव-प्रधान,

तर्क-बुद्धि-प्रधान और दिव्य-दृष्टि-प्रधान, सबमें सभी प्रकार की शक्तियाँ।

यदि तुम यह सोचते हो कि तुम्हारा पड़ोसी किस प्रकृति का है तो तुम बहिर्मुखी हो।"* मनुष्यों को केवल इन्हीं दो श्रेणियों में रखना अन्याय सा दीख पड़ता है। कदाचित् यूङ्ग को इस कठिनाई का अनुमान था। इसलिये उसने "मध्यमुखी"† (एम्बीवर्ट) प्रकार का भी उल्लेख किया है। 'मध्यमुखी' अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी के बीच में रहता है। उसकी रुचि न अपने ही पर रहती और न वाह्य वस्तु पर ही। यूङ्ग ने अपने सिद्धान्त की और आगे भी व्याख्या की है। इससे उसका सिद्धान्त बड़ा विस्तृत हो जाता है। उसने अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी के प्रत्येक प्रकार में विचार-प्रधान, भाव-प्रधान, तर्क-बुद्धि प्रधान और दिव्यदृष्टि प्रधान चार और भेद किया है। इस प्रकार यूङ्ग के अनुसार आठ प्रकार के व्यक्ति हो सकते हैं। आरम्भ में सबमें सभी प्रकार की शक्तियाँ पाई जाती हैं। जो भाव-प्रधान है उसमें विचार का सर्वथा अभाव नहीं रहता। बात यह है कि एक गुण के बढ़ने से उसके विरोधी गुण का अवदमन हो जाता है।

बहिर्मुखी के प्रकार—

विचार-प्रधान बहिर्मुखी संसारिक होता है। आध्यात्मिक विषयों में उसकी रुचि नहीं। वह बड़ा अच्छा प्रबन्धक अथवा शासक हो सकता है। उसकी कार्यकुशलता के सामने अन्तर्मुखी टिक नहीं सकता। बहिर्मुखी का अचेतन मन स्वार्थी होता है, पर चेतन मन में स्वार्थ से वह घृणा करता है। पर अचेतन मन अपना प्रभाव सदा जमाये रहता है। अतः विचार-प्रधान बहिर्मुखी का सुख में लिप्त रहना आश्चर्यजनक नहीं। इसके विपरीत अन्तर्मुखी का चेतन मन स्वार्थी दिखलाई पड़ता है। किसी कार्य के करने के पहले वह सोच लिया करता है कि इससे उसे क्या लाभ है। पर उसका अचेतन मन सदा दूसरों की सहायता करने के लिये तैयार रहता है। पाठकों का यह अनुभव होगा कि कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो बातचीत करने में तो बड़े निस्वार्थ दिखलाई पड़ते हैं, पर जहाँ काम की बात आई कि वे तीन-पाँच करने लगते हैं। बात यह है कि वे अपनी बात से सबको प्रसन्न करना चाहते हैं, क्योंकि उनकी व्यवहार-

विचार-प्रधान बहिर्मुखी संसारिक, कार्य कुशलता, अचेतन मन स्वार्थी; सुख में लिप्त रहना, अन्तर्मुखी का अचेतन मन दूसरों की सहायता करने के लिये तैयार, अन्तर्मुखी में कर्तव्यपरायणता और अधिक सद्वृद्धि।

---

* मॉर्गन ऐण्ड गिलीलैण्ड—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकोलॉजी, अध्याय १६ पृष्ट ३१०।

† दूसरा अध्याय, पृष्ट ६४ पढ़िये।

कुशलता उनको यही करने को कहती है। इस प्रवृत्ति का अनुमान किसी संस्था के अध्यक्ष में सरलता से लगाया जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि में सफल कहे जाने वाले अध्यक्ष प्रायः विचार-प्रधान बहिर्मुखी होते हैं। अन्तर्मुखी का चेतन मन सदा स्वार्थी रहता है, पर अचेतन मन शुद्ध। चेतन मन के स्वार्थवश अन्तर्मुखी में कर्तव्यपरायणता आ जाती है। इस कर्तव्य परायणता का कुछ लोग गलत अर्थ लगाते हैं। व्यवहारकुशल बहिर्मुखी उसे स्वार्थी का विशेषण दे डालता है, पर यह अनुचित है, क्योंकि उसका अचेतन मन सदा उसे पवित्रता की ओर लिये रहता है। और उसके कार्य में बहिर्मुखी से अधिक सद्बुद्धि, परोपकार की भावना और निस्वार्थता रहती है।

विचार-प्रधान बहिर्मुखी में तर्क-प्रधान और दिव्यदृष्टि प्रधान (इनट्यूटिव) दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। तर्क-प्रधान व्यक्ति बिना तर्क किये कोई कार्य नहीं करता। वकील तथा डाक्टर आदि प्रायः इसी वर्ग के व्यक्ति होते हैं। धारा-सभा में विधान बनाने वाले भी इसी कोटि के होते हैं। भौतिक वैज्ञानिक में भी तर्क की प्रधानता पाई जाती है।

तर्क-प्रधान और दिव्य-दृष्टि-प्रधान व्यक्ति।

दिव्यदृष्टि से कार्य करने वाले तर्क वितर्क नहीं करते, क्योंकि किसी विशिष्ट अवसर पर कुछ तर्क चलता ही नहीं। ऐसे व्यक्ति अपने कार्य अथवा नीति का कारण नहीं बतला सकते। वे कहते हैं कि हमारी दिव्यदृष्टि अथवा हमारी अन्तरात्मा यही कहती है। महात्मा गांधी और हिटलर अपनी नीति के निर्धारण में दिव्यदृष्टि का कभी कभी सहारा लिया करते थे। दार्शनिकों का कहना है कि दिव्यदृष्टि भी उच्च कोटि का तर्क ही है। आन्तरिक तर्क के बाद ही दिव्यदृष्टि का आभास होता है।

जो व्यक्ति भाव-प्रधान बहिर्मुखी होता है वह किसी बात का निर्णय अपने भावों के अनुसार करता है। यह प्रकार विशेषकर स्त्रियों में पाया जाता है। स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक भावुक होती हैं। अतः दया, क्रोध व करुणा उनमें अधिक पाई जाती है। पुरुषों के कार्य प्रायः विचारों द्वारा नियन्त्रित होते हैं और स्त्रियों के भाव द्वारा। भाव दिखा कर स्त्रियों के हृदय को सरलता से जीता जा सकता है। यदि स्त्रियाँ भावुक न होतीं तो कदाचित् बालकों का लालन-पालन इतनी योग्यता से वे न कर पातीं। अतएव प्रकृति ने ऐसी ही व्यवस्था की है।

भाव-प्रधान बहिर्मुखी स्त्रियों में अधिक।

भाव-प्रधान बहिर्मुखी व्यक्ति पुरुषों में भी पाये जाते हैं। आजकल के नवयुवक जो नये नये कवि अथवा लेखक कहे जाते हैं प्रायः ऐसे ही व्यक्ति होते हैं। भावुकतावश दूसरों की करुण कहानी सुनते सुनते वे रो पड़ेंगे, पर जहाँ सहायता की बात आयेगी

भाव-प्रधान बहिर्मुखी का

अचेतन मन स्वार्थी, अतः दूसरों के दुख पर पिघलने पर भी अपने स्वार्थ में ही लीन।

वहाँ वे मुकर जायेंगे। भावुक व्यक्ति भावावेश में बड़ी बड़ी प्रतिज्ञायें कर जाता है, पर अवसर पर दाहिने-बायें झाँकने लगता है। भाव-प्रधान बहिर्मुखी स्त्री वा पुरुष का अचेतन मन बड़ा ही स्वार्थी होता है। पर चेतन मन स्वार्थहीन होता है। अतएव किसी का दुख देख कर उसका हृदय तुरन्त पिघल जाता है, पर बाद में अचेतन मन उस पर नियन्त्रण कर उसे अपने स्वार्थ-सिद्धि में लीन कर देता है।

अन्तर्मुखी के प्रकार—

अन्तर्मुखी विचार-प्रधान, तर्क-बुद्धि और दिव्य-दृष्टि वाले विचार-प्रधान अन्तर्मुखी।

अन्तर्मुखी विचार-प्रधान व्यक्ति सदा अध्ययन और चिन्तन में लीन रहता है। उसे आध्यात्मिक विषयों से प्रायः बड़ी रुचि रहती है। ऐसे ही व्यक्ति गूढ़ दार्शनिक और विचारक होते हैं। कार्यान्वित करने के लिये ये दूसरों को बड़े बड़े सिद्धान्त देने में सफल होते हैं। जीव, ब्रह्म तथा प्रकृति आदि का रूप-निरूपण करना इन्हीं लोगों का काम है। अन्तर्मुखी विचार-प्रधान व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं—एक तर्कबुद्धि वाले और दूसरे दिव्यदृष्टि वाले। तर्कबुद्धि वाले दार्शनिक होते हैं। ये इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषय का ज्ञान करके युक्तियों के ढूंढ़ने में लिप्त रहते हैं। ऐसे दार्शनिक सत्य की खोज करने वाले होते हैं, पर सत्य के ज्ञाता अथवा द्रष्टा नहीं। इसके विपरीत विचार-प्रधान व दिव्यदृष्टि वाले अन्तर्मुखी सत्य के ज्ञाता और द्रष्टा होते हैं। ऐसे ही लोग ऋषि अथवा पैगम्बर कहे जाते हैं। अन्तर्मुखी दिव्यदृष्टि वाला व्यक्ति सदा आत्मोद्धार में लीन रहता है। पर वह अपना आत्मोद्धार जगत के कल्याण के लिये करना चाहता है। पहले स्वयं प्रकाश को देखकर उसे दूसरों को देना चाहता है। भगवान् बुद्ध तथा अन्य धर्म के प्रवर्तक इसी कोटि के व्यक्ति थे।

अन्तर्मुखी भाव-प्रधान, दुःखी और निराशावादी, अव्यवस्थित चित्त के, कवि का स्वभाव।

अब हम अन्तर्मुखी भाव प्रधान वाले व्यक्तियों पर आते हैं। ऐसे व्यक्ति दुःखी दिखलाई पड़ते हैं। संसार के दुःख से वे दुःखी दिखलाई पड़ते हैं; पर उस के निवारण के लिये वे कोई प्रयत्न नहीं करते। ऐसे व्यक्तियों की वाणी में निराशावाद झलकता है। प्रायः कवि लोग इसी कोटि के होते हैं। वे संसार की पूरी गाथा रो जाते हैं। कवि सम्मेलनों में कविता पाठ करने बैठेंगे तो जान पड़ेगा पूरे संसार के दुःख का ठेका इन्हीं लोगों ने ले रखा है। भाव-मुद्रा से ऐसा प्रतीत होगा, उनका हृदय फटा जा रहा है। ऐसे लोग अपने जीवन

१४

अन्तर्द्वन्द (मेण्टल कॉनफ़्लिक्ट)

इच्छाओं के अवदमित होने के कारण अचेतन मन का निर्माण, मन के दो भाग, प्रसुप्त मन शक्ति का केन्द्र, वासना का उद्गार यहीं से, जीवन-आदर्श प्रतिहारी के नियन्त्रण से।

हम कह चुके हैं कि व्यक्ति के व्यवहार कभी कभी ऐसे होते हैं जिनका कारण वह नहीं समझ पाता। ये व्यवहार उसकी भावना-ग्रन्थियाँ द्वारा प्रचारित होते हैं। व्यक्ति का विकास सदा एक रस नहीं चलता। कभी वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति में सफल होता है और कभी असफल। कलुषित वातावरणवश उसकी कुछ मूलप्रवृत्तियों का अवदमन होता ही है। मूलप्रवृत्तियों के अवदमन तथा इच्छाओं के प्रतिरुद्ध होने के कारण मन के अज्ञात भाग का निर्माण होता है। मन के इसी अज्ञात भाग को फ्रॉयड महोदय ने अचेतन मन (अनकॉन्शस) की संज्ञा दी है। अचेतन मन की विशेषता स्पष्ट करने का श्रेय फ्रॉयड, यूङ्ग, एडलर, जोंस तथा फ़रेंजी आदि को है। मनोविश्लेषणवाद का विषय अचेतन मन ही है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मन के दो भाग हैं—चेतन (कॉन्शस) और अचेतन। चेतन मन बाहरी मन है और अचेतन मन आन्तरिक। अचेतन मन के दो भाग किये गये हैं—प्रसुप्त और प्रतिहारी। फ्रॉयड के अनुसार प्रसुप्त मन शक्ति का केद्र है। वासना का उद्गार यहीं से होता है। यदि वासना पर नियन्त्रण रहा तो कार्य अच्छा होगा, अन्यथा बुरा। इसके अवदमन से व्यक्तित्व का ह्रास होता है, और शोधन से विकास। व्यक्ति की नैतिकता की रक्षा प्रतिहारी द्वारा होती है। 'जीवन-आदर्श' प्रतिहारी के ही नियन्त्रण में बनता है।

चेतन व अचेतन मन के संघर्ष से अन्तर्द्वन्द, अन्तर्द्वन्द प्रत्येक में, भेद केवल 'मात्रा'

"अचेतन" चेतन मन से ही बनता है। वातावरण से संघर्षस्वरूप जो कुछ विचार हमारे चेतन मन में उठते हैं उनकी प्रतिक्रिया अचेतन मन में होती है। एक बार की आई हुई प्रतिक्रिया अचेतन मन पर अपना स्थायी प्रभाव डालती है। ये प्रभाव अचेतन मन में जमते जाते हैं। यदि रुई के गट्टर के सदृश् इनकी तह सुव्यवस्थित हुई तो व्यक्ति की मानसिक

का 'प्रकार' का नहीं।

स्थिति सुसंगठित होगी और वह सामान्य व्यक्ति कहा जायगा। यदि अचेतन मन में प्रवेश करने वाले विचार दूसरों से मेल नहीं खाते तो वहाँ एक संघर्ष उठता है। यदि यह संघर्ष शान्त हो गया तो व्यक्ति का मानसिक गठन ठीक होगा, अन्यथा नहीं। हमारा यह अनुभव है कि कभी कभी किसी घटना या बात के संघर्ष में आने से मन एकदम विक्षुब्ध हो उठता है। यह विक्षुब्धता अचेतन और चेतन मन का संघर्ष है। इस समय चेतन मन में आया हुआ विचार व्यक्ति के नैतिक आदर्श के स्वामी प्रतिहारी की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। अतः झगड़ा प्रारम्भ होता है। जब चेतन और अचेतन मन में किसी प्रकार का समझौता हो जाता है तो विक्षुब्धता मिट जाती है। जैसे दो भाई आपस में झगड़ा कर किसी समझौते पर पहुँच कर शान्त हो जाते हैं, पर अवसर आने पर उनका कलह पुनः प्रारम्भ हो जाता है; उसी प्रकार चेतन और अचेतन का झगड़ा पुनः प्रारम्भ हो सकता है। यह झगड़ा जितना ही कम होता है, उतना ही व्यक्तित्व-विकास आदर्शरूप होता है। चेतन और अचेतन मन का झगड़ा ही अन्तर्द्वन्द है। संसार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जिसका मानसिक गठन आदर्शरूप हो। कुछ न कुछ दोष तो प्रत्येक व्यक्ति में मिलते हैं। अतः अन्तर्द्वन्द तो प्रत्येक व्यक्ति में होता है, अन्तर केवल 'मात्रा' का होता है, 'प्रकार' का नहीं। जैसे कुछ न कुछ दोष तो हर समय प्रत्येक के शरीर में होता है, पर डाक्टर केवल रोगी की ही दवा करता है, उसी प्रकार मनोविश्लेषक प्रायः उसी का विश्लेषण करता है जिसका अन्तर्द्वन्द उसकी दैनिक क्रिया में बाधक होता है।

फ्रॉयड महोदय ने मन की तुलना समुद्र में तैरते हुए एक बर्फ के टुकड़े (आइस बर्ग) से की है। जैसे बर्फ का केवल आठवाँ भाग ही दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि और भाग पानी में रहता है; उसी प्रकार हमारे मन का केवल आठवाँ ही भाग का चेतन मन प्रतिनिधित्व करता है। अन्य भाग चेतन मन में छिपा रहता है। जैसे समुद्र में तूफान आने से बर्फ के टुकड़े का भीतरी भाग बाहर उलट सकता है, उसी प्रकार व्यक्ति में अन्तर्द्वन्द आने से अचेतन मन का भाग वाह्य व्यवहार में प्रदर्शित हो जाता है। दूसरे स्थल पर फ्रायड ने मन की तुलना नाट्यशाला से की है। जिस प्रकार रंगमञ्च पर खेल अपने आप नहीं होते, वरन् उनका कारण होता है और जिस प्रकार सामने आने वाले पात्र सब पात्रों अथवा पूरे खेल के केवल कुछ अंश होते हैं; उसी प्रकार हमारे व्यवहार का कारण अचेतन मन में छिपा रहता है और व्यवहार में व्यक्त भावनायें हमारी समस्त भावनाओं के अंश मात्र हैं। जैसे नाटक में परदे के सामने होने वाली घटनायें परदे के भीतर से सञ्चालित होती हैं वैसे ही हमारे व्यवहार अचेतन मन से सञ्चालित होते हैं।

मन का अधिकांश भाग अचेतन मन में, मन एक नाट्यशाला।

अचेतन मन के होने के प्रमाण

स्वप्न—

जो जितना ही कम जानता है वह उतना ही अधिक जानने का दावा करता है। कुछ लोगों की धारणा है कि वे अपने मन को पूर्णतः समझते हैं। इतना ही नहीं, वरन् वे यहाँ तक कह जाते हैं कि वे दूसरों के भी मन को समझते हैं। परन्तु यह धारणा गलत है। अपने को ही समझना महा कठिन है तो दूसरे की बात क्या कहना! "अपने को समझना कठिन है—" इसका प्रमाण यह है कि हम स्वयं कभी कभी अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य कर जाते हैं, पर समझ नहीं पाते कि ऐसा क्यों किया। अपने मन के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से ही अपने व्यवहार का कुछ कारण समझा जा सकता है। चेतन मन से सञ्चालित क्रियाओं का हमें ज्ञान रहता है, पर अचेतन मन का नहीं। अचेतन मन की क्रियायें सुप्तावस्था में स्वप्न के रूप में होती हैं। कभी कभी हम ऐसा स्वप्न देखते हैं जिसका कारण समझना सर्वथा असम्भव होता है स्वप्न में हम ऐसे भ्रष्टाचार करते हैं जिसकी जागृतावस्था में हम कल्पना भी नहीं कर सकते। स्वप्न में हम क्या क्या पाप नहीं करते? स्वप्न के पाप से बड़े बड़े सन्त और महात्मा भी नहीं बचते। स्वप्न के होने से हमें यह पता चलता है कि कोई ऐसी आन्तरिक शक्ति है जिस पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं। फ्रॉयड के अनुसार यही आन्तरिक शक्ति अचेतन मन है।

अपने को समझना कठिन, कभी कभी अपनी क्रियाओं का कारण न समझना, अचेतन मन की क्रियायें स्वप्न रूप में।

कल्पनायें—

हमारा चेतन मन हर समय क्रियाशील रहता है। हम हर समय कुछ न कुछ सोचा ही करते हैं। एक विचार के हटने पर दूसरा तुरन्त आ जाता है। हम अभी कलकत्ते की बात सोच रहे हैं, पर थोड़ी ही देर बाद लन्दन पहुँच जाते हैं। हम अपनी कल्पना से कभी सुखी होते हैं और कभी दुखी। मानसिक रोगी ऐसी ही कल्पनाओं से तंग आ जाता है। वह ऐसी उटपटाँग बातें सोचता है जिसका कुछ आधार ही नहीं होता। उदाहरणार्थः किसी को यह भय हो जाता है कि रात को उनका कोई न कोई बध करने अवश्य आयेगा। इस चिन्तावश उसे नींद ही नहीं आती। किसी को अकारण भय हो जाता है कि कोई व्यक्ति अथवा पुलिस उसके पीछे अवश्य है। अतः वह हर समय घर में ही घुसा रहता है। व्यक्ति की ऐसी कल्पनायें उसके नियन्त्रण से सर्वथा बाहर होती हैं। जैसे वह अपने स्वप्नों पर कोई

चेतन मन हर समय क्रियाशील, कभी कभी कल्पनायें अचेतन मन द्वारा नियन्त्रित।

नियन्त्रण नहीं कर सकता उसी प्रकार ऐसी कल्पनाओं पर भी उसका कुछ वश नहीं, क्योंकि ये कल्पनायें भी अचेतन मन द्वारा ही नियन्त्रित होती हैं।

भूलें—

हम भूलते क्यों हैं? जिस कार्य के करने की रुचि नहीं होती, उसे चेतन मन अपने स्मृति-पटल से हटा देता है। पर इस प्रकार हटा देने से उससे व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती। यही कारण है कि व्यक्ति कभी कुछ का कुछ कह जाता है। असाधारण भूलें व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द के ही कारण होती हैं। चेतन और अचेतन मन में सामञ्जस्य नहीं रहता। अतः अवसर पाने पर अचेतन मन चेतन को दबा बैठता है।

असाधारण भूलें अन्तर्द्वन्द ही के कारण।

प्रसुप्त मन—

ऊपर हम यह कह चुके हैं कि अचेतन मन के प्रसुप्त और प्रतिहारी दो भाग हैं। अब यहाँ हम उनकी कुछ विलक्षणताओं पर दृष्टिपात करेंगे। व्यक्तित्व के अनुरूप विकास के लिये यह आवश्यक है कि प्रमुख भाग को सदा प्रकाशन का मार्ग मिलता रहे; क्योंकि यह शक्ति का केन्द्र होता है। यदि शक्ति का सदुपयोग न हुआ तो दुरुपयोग होने का भय रहता है। प्रकाशन के लिये स्वाभाविक मार्ग न मिलने से प्रसुप्त मन विकृत मार्ग खोजता है, जिससे व्यक्ति के जीवन में बड़ी अड़चनें आ जाती हैं।

प्रसुप्त मन को प्रकाशन का मार्ग मिलना आवश्यक।

प्रतिहारी मन—

हम संकेत कर चुके हैं कि प्रतिहारी मन व्यक्ति का 'नैतिक आदर्श' होता है। यह मन उचित व अनुचित का विचार कर व्यक्ति के कार्यों को सञ्चालित करता है। प्रतिहारी मन चेतना के परे रहता है और वहीं से पहरेदार का कार्य करता है। जैसे पहरेदार दुख देने वाले प्राणी को घर में नहीं घुसने देता उसी प्रकार "प्रतिहारी" मन के फाटक पर पड़ा रहता है। यदि किसी स्मृति से व्यक्ति को दुख होने की आशंका रहती है तो उसे वह चेतना-सतह पर नहीं आने देता। प्रतिहारी मन का विकास शिक्षा का फल है। शिक्षा के अनुसार ही इसकी बनावट होती है। यदि व्यक्ति को ठीक

नैतिक आदर्श, चेतना से परे, प्रतिहारी के कारण दुःखदायक बात का चेतन मन पर न आना, प्रतिहारी मन का विकास शिक्षा का फल, प्रतिहारी के आन्तरिक मन के प्रकाशन में बाधा डालने से अन्तर्द्वन्द का

श्रीगणेश।

शिक्षा न दी गई तो उसका प्रतिहारी मन अथवा नैतिक आदर्श वांछनीय न होगा, और उसे जीवन में अनेक उलझनें उठानी पड़ेंगी। कभी कभी प्रतिहारी आन्तरिक मन के प्रकाशन में बड़ी रुकावट डालता है। इस रुकावट से आन्तरिक मन की शक्ति और बढ़ जाती है। अन्तर्द्वन्द्व का श्रीगणेश यहीं से होता है। अन्तर्द्वन्द्व से मनुष्य की शक्ति का दुरुपयोग होने लगता है और उसका कोई भी व्यवहार ठीक ढंग पर नहीं चलता। उसके व्यवहार में एक विक्षिप्तता छा जाती है। वह मानसिक रोगी हो जाता है। दबी हुई भावनाओं को अचेतन मन की शक्ति मिल जाती है। वे बड़े वेग से चेतन पटल पर आकर व्यक्ति को पूर्णतः अपने अधिकार में कर लेती हैं। फलतः मनुष्य के विचारों की क्रमबद्धता नष्ट हो जाती है।

हमारी शिक्षा का प्रत्यक्ष प्रभाव चेतन मन पर पड़ता है। अतः उसमें चतुराई आ जाती है। पर अचेतन मन चतुराई से बहुत परे रहता है। उसे जो सुझा दिया जाता है उसमें उसका विश्वास हो जाता है।

अचेतन मन चतुराई से परे, उसका भोलापन, बालक का चेतन और अचेतन दोनों सच्चा, पर प्रौढ़ का केवल अचेतन सच्चा, अपने सचाई के कारण अचेतन मन का अपना प्रकाशन चाहना, अचेतन मन की इच्छा भाव-मुद्रा अथवा भूलों द्वारा व्यक्त।

यदि अचेतन मन का यह भोलापन न हो तो मानसिक चिकित्सा का कार्य सम्भव न होता। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि मनुष्य का अचेतन मन सच्चा होता है। बालक और प्रौढ़ व्यक्ति में भेद यह है कि बालक का चेतन और अचेतन दोनों मन सच्चा होता है और प्रौढ़ का केवल अचेतन। कारण यह है कि कलुषित वातावरण का प्रभाव बच्चे पर कम पड़ा रहता है। वह कुछ कपट नहीं रखता। जैसा सुनता या अनुभव करता है वैसी ही वह कह देता है। अचेतन मन सच्चा होता है इसका ज्वलन्त प्रमाण इस बात में है कि कोई अनैतिक कार्य करने पर व्यक्ति को कुछ न कुछ पाश्चाताप अवश्य होता है। चाहे यह पाश्चाताप थोड़े ही देर के लिये क्यों न हो, परन्तु होता अवश्य है। इस पाश्चाताप की सीमा से व्यक्ति की नैतिकता का अनुमान लगाया जा सकता है। पाठकों का अनुभव होगा कि जो व्यक्ति अपने बाह्य व्यवहार में जितना ही शिष्टता का अभिनय करता है वह उतना ही अधिक कपटी और चालाक होता है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि सभी शिष्टी लोग कपटी होते हैं। व्यक्ति सबके साथ सहानुभूति नहीं दिखला सकता, वह सबकी सहायता नहीं करना चाहता। इस प्रकार अपने शिष्ट व्यवहार द्वारा वह दूसरों को धोखा देना चाहता है। उसके भीतरी मन में कुछ और बात रहती है। अचेतन मन सचाई के कारण उसका प्रकाशन कर देना चाहता है। पर चेतन को यह मान्य नहीं; अतः वह झूठ बोलता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें खिलाने-पिलाने की किंचित भी इच्छा

नहीं रहती; पर बार बार कहते हैं 'थोड़ा खा लीजिये'। ऐसे लोग अपने व्यावहारिक जीवन में भले ही सफल हो जाँय, पर उनके मन में अन्तर्द्वन्द व्याप्त रहता है। इन्हें आन्तरिक शान्ति कभी नहीं मिल सकती। इसके विपरीत कुछ लोग बड़े स्पष्टवादी होते हैं। ऐसे व्यक्ति बहुत अधिक सच्चे होते हैं। इसके अचेतन और चेतन मन की सत्यता में बहुत भेद नहीं। अचेतन मन अपनी सत्यता के साथ बाहर आना चाहता है, पर चेतन मन प्रतिबन्ध लगा कर उसे आने से रोकता है। अचेतन मन तो सच्चा है। अतः किसी न किसी प्रकार वह अपने भाव को व्यक्त ही कर देता है। व्यक्ति की मुख-मुद्रा देखकर उसकी मानसिक स्थिति का पता लगाया जा सकता है। अचेतन मन अपना भाव मुख-मुद्रा तथा भूलों द्वारा व्यक्त कर देता है। जिस कार्य को व्यक्ति केवल शिष्टता-वश करना चाहता है उसमें अनेक भूलें हो सकती हैं। स्त्री प्रेम से भोजन नहीं खिलाना चाहेगी तो घी अथवा शाक देना भूल जायगी। कहीं जाने की इच्छा न होगी तो उसका समय ही हम भूल जायेंगे। इस प्रकार अचेतन मन अपनी सत्यता को प्रगट कर देता है।

अचेतन मन प्रेम का भूखा, अचेतन मन बालक के समान

अचेतन मन प्रेम का भूखा होता है। जहाँ अचेतन मन को प्रेम नहीं मिलता वहाँ वह नहीं रहना चाहता। हमारा चेतन मन कहीं लाभवश रहना चाहता है, पर यदि वहाँ प्रेम की कमी होगी तो अचेतन मन वहाँ से हटने के लिये कोई न कोई मार्ग अवश्य ढूढ़ने की चेष्टा करेगा। इस चेष्टा में वह सफल न हुआ तो उसको कोई रोग पकड़ लेता है, जिससे उसे वह वातावरण छोड़ना ही पड़ता है। इस रोग से मुक्ति प्रेम का वातावरण मिलने से ही होगी। इस प्रकार अचेतन मन प्रेम ढूढ़ा करता है। जैसे अचेतन मन भोलेपन और सत्यता में बालक के समान है, वैसे ही प्रेम में भी वह बालक के समान है। बालक भी प्रेम का भूखा होता है। जहाँ उसे प्रेम नहीं मिलता वहाँ वह नहीं रहना चाहता। आशा क्यों दूसरों के घर रहना अधिक पसन्द करती है? क्योंकि अपने घर में उसे अपनी इच्छानुकूल प्यार नहीं मिलता। माँ उसकी बीमार रहती है और हर समय उसे झिड़का करती है। पिता अपने को इतना व्यस्त रखता है कि उसकी प्रेम-भूख मिटाने में वह असमर्थ सिद्ध होता है।

अचेतन मन की शक्ति

अपरिमित, इससे चरित्र

अचेतन मन को मनोवैज्ञानिकों ने बड़ा शक्तिशाली माना है। कोई कार्य कितना ही कठिन क्यों न हो, पर यदि व्यक्ति के अचेतन मन में वह बैठ गया तो उसे वह अवश्य कर डालता है। आन्तरिक शरीर की सारी क्रिया अचेतन मन द्वारा नियन्त्रित

और बुद्धि में परिवर्त्तन सम्भव, लेखक की प्रतिभा का श्रोत अचेतन मन, अचेतन की शक्ति को चेतन मन के अपना समझने से गर्व की उत्पत्ति।

होती है। अचेतन मन की कल्पना से व्यक्ति रोग ग्रस्त और मुक्त हो सकता है। आत्म-निर्देश का फल अचेतन मन की शक्ति पर निर्भर है। मनोविश्लेषकों के परीक्षण इसके अकाट्य प्रमाण हैं। यदि कोई व्यक्ति प्रतिदिन यह आत्म-निर्देश लेता रहे कि उसकी बुद्धि बढ़ रही है तो अवश्य ही उसकी बुद्धि प्रखर हो जायगी। अचेतन मन की शक्ति से चरित्र में भी परिवर्तन लाया जा सकता है। इससे अनेक बुरी आदतों से मुक्त होना सम्भव हो सकता है। लेखक या कवि की प्रतिभा का श्रोत अचेतन मन होता है। बुद्धि से लिखी हुई बात का प्रभाव उतना स्थायी नहीं होता जितना कि अचेतन मन से निकली हुई बात। अचेतन मन की शक्ति को जब चेतन मन अपनी समझने लगता है तो उसका अहंकार बढ़ जाता है और व्यक्ति अधोगति के गर्त में गिर जाता है। पराक्रमी योद्धा की शक्ति का उद्‌गम अचेतन मन है। जब वह अचेतन मन की शक्ति को चेतन अथवा अपनी शक्ति समझने लगता है तो उसका विनाश निकट आ जाता है। उसे गर्व हो जाता है और भारी भूलें कर वह अपने नाश का साधन इकट्ठा करता है।

अचेतन मन की सजगता

सुप्तावस्था में भी अचेतन मन सजग।

जागृतावस्था में व्यक्ति का चेतन मन जागता रहता है। सुप्तावस्था में चेतन मन सोता है और अचेतन मन जागता है। उस समय उसे चेतन मन के कार्य में सहायता नहीं देनी होती। अतः उसका कार्य व्यक्ति की सुप्तावस्था में बहुत बढ़ जाता है। सोने के पहले यदि हम एक निश्चित समय पर उठने के लिये आत्म-निर्देश कर सो जाते हैं तो उस समय हम अवश्य उठ जाते हैं। सुप्तावस्था में अचेतन मन की चेतनता का यह अकाट्य प्रमाण है। इसी प्रकार जागृतावस्था में यदि हम कहीं जाने का निश्चय कुछ पहले ही करते हैं तो समय आने पर हमें जाने का ध्यान आ जाता है। यह अचेतन मन की ही सजगता है।

अचेतन मन की शक्ति से अपरचित होने से अन्तर्द्वन्द्व।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अचेतन मन में अपरमित शक्ति है। यदि व्यक्ति इस शक्ति का अनुमान लगा ले तो वह क्या नहीं कर सकता? किन्तु इस शक्ति से अपरिचित होने से उसमें अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होता है और वह क्लेश का भागी होता है। अब हम नीचे देखेंगे कि अन्तर्द्वन्द्व से व्यक्ति के व्यवहार में किस प्रकार के परिवर्त्तन आते हैं?

अन्तर्द्वन्द

अन्तर्द्वन्द बड़ा ही कष्टदायक होता है। इससे व्यक्ति की शक्ति का ह्रास हो जाता है। यदि यह द्वन्द न हो तो बची हुई मानसिक शक्ति का उपयोग अन्य कार्यों में किया जा सकता है। यदि विकास की गति बिना विघ्न के चलती तो अचेतन मन सुसंगठित हो जाता। स्थायीभावों के उत्पन्न होते समय कुछ ऐसे प्रतिरोधी भाव व्यक्ति में आते हैं जिनका उनसे समझौता होना कठिन हो जाता है। इन प्रतिरोधी भावों को भावना-ग्रन्थियों की संज्ञा दी जा सकती है। व्यक्ति इन प्रतिरोधी भावना-ग्रन्थियों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसे अपने में उनकी उपस्थिति का भान ही नहीं होती। वस्तुतः यदि भान हो जाय तो वे दूर हो जाँय। हम संकेत कर चुके हैं कि मनोविश्लेषक का कार्य केवल इन भावना-ग्रन्थियों से रोगी को परिचित करा देना होता है। यह परिचय ही उनके रोग के लिये रामबाण सिद्ध होता है। व्यक्ति चाहे भावना-ग्रन्थियों के अस्तित्व को माने या न माने, पर वे अपना कार्य किया ही करती हैं। वे व्यक्ति के आदर्शों में विघ्न उपस्थित करती हैं। व्यक्ति की पूरी मनोवृत्ति पर उनका प्रभाव पड़ता है। हमारे सभी असाधारण व्यवहार का कारण अन्तर्द्वन्द ही होता है।

शक्ति का ह्रास, प्रतिरोधी भावों के कारण अचेतन मन सुसंगठित नहीं, असाधारण व्यवहार का कारण अन्तर्द्वन्द ही।

अन्तर्द्वन्द का पहला समझौता—

दुःख से बचने का प्रयास करना प्रत्येक प्राणी का जन्मजात स्वभाव होता है। व्यक्ति परस्पर विरोधी भावनाओं के बीच समझौता करने की पूरी चेष्टा करता है। यह समझौता सन्तोषजनक तब होता है जब विभिन्न परस्पर विरोधी स्थायीभाव और भावना-ग्रन्थियाँ मिलकर एक सुसंगठित रूप बनाती हैं। जब तक व्यक्ति अन्तर्द्वन्द के निदान को नहीं समझ पाता तब तक उसका निराकरण नहीं हो पाता। मनोविश्लेषक विभिन्न विधियों द्वारा अचेतन मन के रूप को व्यक्ति के सामने रखता है। व्यक्तित्व का विकास जितना ही सुसंगठित होगा उतना ही पक्का उसकी विरोधी भावना-ग्रन्थियों और नैतिक आदर्शों में समझौता होता है। यदि यह समझौता हो गया तो व्यक्ति के व्यवहार में किसी प्रकार की असामान्यता न दिखलाई पड़ेगी।

स्थायीभाव और भावना-ग्रन्थियों का सुसंगठन।

कई अप्रधान व्यक्तित्व—दूसरा समझौता—

कभी कभी कुछ भावना-ग्रन्थियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि व्यक्ति के आदर्शों से उनका समझौता नहीं होता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति में अन्तर्द्वन्द का आ

प्रधान और अप्रधान व्यक्तित्व में कोई सम्बन्ध नहीं।

जाना साधारण सी बात हो जाती है। इस अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप व्यक्तित्व के कई ऐसे छोटे छोटे भाग हो जाते हैं जो नैतिक आदर्श व प्रधान व्यक्तित्व से भिन्न होते हैं। समय समय पर ये भाग प्रबल होकर व्यक्ति के व्यवहार पर पूरा नियन्त्रण रखते हैं। इन दो प्रकार के व्यक्तित्व में कोई सम्बन्ध नहीं होता। एक दूसरे के कार्य से एकदम अनभिज्ञ रहता है। बहुत से बड़े लेखकों का कथन है कि उनके उपन्यासों व नाटकों के कथानक की सारी सामग्री उनके अप्रधान व्यक्तित्व इकट्ठा करते हैं। उन्हें एक सूत्र में बाँधने का काम प्रधान व्यक्तित्व करता है।

भावना-ग्रन्थियों का अवदमन—तीसरा समझौता—

एक तीसरे प्रकार का भी समझौता होता है। कभी कभी भावना-ग्रन्थियाँ इतनी प्रबल नहीं होती कि वे दूसरे व्यक्तित्व का निर्माण कर सकें। ऐसी स्थिति में आत्म-गौरव का स्थायीभाव उनका अवदमन कर देता है। फलतः वे व्यवहार पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालने में असमर्थ हो जाती हैं। इस प्रकार अवदमन से अन्तर्द्वन्द्व का अस्थायी निराकरण हो जाता है।

सांकेतिक चेष्टायें (ऑटोमैटा)—

दमन से भावना-ग्रन्थियों का नाश नहीं, सांकेतिक चेष्टाओं द्वारा इनका प्रकाशन, सांकेतिक चेष्टायें अवदमित की हुई इच्छाओं के द्योतक।

पर यह ध्यान देने की बात है कि अवदमन से भावना-ग्रन्थियों का नाश नहीं होता। वे मन पर प्रभाव डाला करती हैं। इस प्रकार मस्तिष्क की एकता नष्ट हो जाती है। उन्हें नियन्त्रण में रखने के लिये कुछ न कुछ मानसिक शक्ति का अपव्यय होता ही है। ये अपने प्रकाशन के लिये कोई न कोई रास्ता ढूढ़ते हैं। बहुत सम्भव है कि यह रास्ता प्रधान व्यक्तित्व के व्यवहार में किसी प्रकार की प्रत्यक्ष बाधा न उपस्थित करे। इस विधि से अतृप्त वासनायें कुछ सांकेतिक चेष्टाओं द्वारा प्रकट होती हैं। चारपाई अथवा कुर्सी पर बैठे बैठे पैर हिलाना, नाक सिकोड़ना आँखें मटका कर बातें करना, दाँतों से नाखून काटना, ताली का गुच्छा हिलाना, स्त्रियों का अपनी वेणी को हाथ में लेकर खेलना; ताली पीट कर बातें करना, अकारण हँसते हुये बातें करना, बटन के साथ खेलना, आदि शारीरिक चेष्टायें अवदमित की हुई कुछ ऐसी इच्छाओं की द्योतक होती हैं जो इन सांकेतिक रूपों में तृप्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं। कितने ही लोग हाथ मलते दिखलाई पड़ते हैं, लेखक के गाँव का एक बनिया दिन में इतनी बार हाथ धोता है कि ग्राहक घबड़ा से जाते हैं, कितने ही लोग बात करते समय सिर खुजलाते हैं, बोलते समय किसी 'ठेके का प्रयोग' आदि दबी हुई भावनाओं के ही फल हैं।

जैसे लेडी मैकबेथ* स्वप्नावस्था में सांकेतिक चेष्टायें किया करती थी। उसी प्रकार कुछ व्यक्ति जागृतावस्था में ही सांकेतिक चेष्टायें किया करते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि यदि ये सांकेतिक चेष्टायें व्यक्ति की बन्द कर दी जाँय तो व्यक्ति अपने कार्य करने में असमर्थ हो जायगा। एक वकील न्यायालय में बहस करते समय चाकू से सदा पेन्सिल बनाया करता था। यह वकील बहुत ही प्रसिद्ध और अपने कार्य में दक्ष था। मुकदमों में हारना वह जानता ही न था। एक बार उसके प्रतिद्वन्दी वकील ने चुपके से चाकू को हटा दिया। फलतः बहस करते समय वह पेन्सिल न बना सका और बहस करते में पूर्णतः असफल सिद्ध हुआ। कुछ लोगों में हर समय थूकने की आदत होती हैं। मनोविश्लेषण से पता चलता है कि ऐसे व्यक्ति बहुधा भ्रष्टाचरण के होते हैं। उनका अचेतन मन उनकी घृणित क्रिया पर कोसा करता है। इस कोसने की सांकेतिक चेष्टा थूकने में आ गई अर्थात् अचेतन मन, जो कि सच्चा होता है, चेतन के घृणित कार्य पर थूका करता है। कुछ लोग भोजन करते समय 'चप-चप' मुँह बजाते हैं, अथवा किसी वस्तु को पाते समय 'सर-सर' की ध्वनि उत्पन्न करते हैं। मनोविश्लेषण से पता चलता है कि ऐसे व्यक्ति बड़े ही कामुक वृत्ति के होते हैं। या तो उनकी काम-वासना का किसी कारणवश अवदमन हो गया है जिससे रसास्वादन के समय वे धैर्य खो बैठते हैं और रसास्वादन की शीघ्रतावश अनजान में उनका मुँह 'चप-चप' या 'सर-सर' बज जाता है, अथवा अब भी उनकी काम-वासना प्रचण्ड रूप में तृप्ति के लिये लालायित है और इसकी सांकेतिक चेष्टा भोजन के रसास्वादन की आतुरता में व्यक्त होती है। भोजन करते समय 'चप-चप' या 'सर-सर' ध्वनि करने वाले व्यक्तियों के मनोविश्लेषण से यह अच्छी प्रकार सिद्ध किया जा चुका है।

विस्मृति—

कुछ लोगों में भूल जाने की बड़ी विचित्र आदत होती है। उनसे किसी बात के

* लेडी मैकबेथ शेक्सपीयर के मैकबेथ नामक नाटक की एक नायिका है। इसने पति को राजसिंहासन दिलाने के लिये घर में आये हुए अतिथि राजा डन्कन का अपने पति मैकबेथ द्वारा बध करा डाला। इस घृणित कार्य के कारण लेडी मैकबेथ का अचेतन मन क्षुब्ध हो उठा। चेतन मन उसे सदा सन्तोष देने की चेष्टा किया करता था। पर पाप का भय उसके अचेतन मन में सदा बना रहता था। अपनी अर्धचेतनावस्था में उसे अपने हाथ पर सदैव रक्त के छींटे दिखलाई पड़ते थे। उसका अचेतन मन पाप को सदैव स्मरण करता था। पर चेतन मन उसे सदैव दबाना चाहता था। इस अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप वह अपनी दासी को बुलाकर बार बार हाथ धुलाने को कहती थी। उसे अपने हाथ रक्त में सने हुये दिखलाई पड़ते थे। अतः उन्हें दूसरों से छिपाने के लिये बार बार धुलाने को कहा करती थी। इस प्रकार उसके पाप द्वारा प्रभावित मनोवृत्ति का प्रकाशन हाथ धुलाने की साँकेतिक चेष्टा से होने लगा।

लिये कहा जाय तो उसे भूलना उनके लिये बड़ा सरल होता है। जो व्यक्ति सभी बातें भूल जाते हैं उनके विषय में कहा जा सकता है कि उनके मस्तिष्क का कोई पुरजा ढीला है। पर कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सभी की बातें नहीं भूलते। किसी स्त्री, घनिष्ठ मित्र अथवा प्रेमी अध्यापक द्वारा दिये हुए कार्य को वे कदाचित् ही भूलेंगे, पर यदि किसी दूसरे मित्र ने कुछ करने के लिये कहा तो उसे वे भूल जाते हैं। इस प्रकार के भूलने का कारण किसी मानसिक पुरजे की ढिलाई नहीं हो सकती। इस विक्षिप्तता का कारण उनकी कुछ भावना-ग्रन्थियाँ ही होती हैं। कदाचित् संसार का उन्हें ऐसा कटु अनुभव रहता है कि साधारण व्यक्ति से उनका अचेतन मन प्रेम नहीं रखता, यद्यपि चेतन मन हर समय प्रेम दर्शाता रहता है। अतः यदि ऐसा व्यक्ति किसी का दिया हुआ कार्य भूल जाता है तो दूसरे को उस पर असन्तुष्ट न होना चाहिये, उसे यह न समझना चाहिये कि वह व्यक्ति उससे प्रेम नहीं करता। वास्तव में उसका अचेतन मन तो केवल कुछ इने गिने व्यक्तियों से अथवा किसी से भी प्रेम नहीं करता। फलतः अवसर पाने पर विस्मृति के रूप में वह अपना रूप दर्शा देता है। ऐसा देखा गया है कि प्रेम के अभाव में व्यक्ति कभी कभी पूर्व परिचित मित्र के चेहरे को भी पहचानने में असमर्थ होता है। एक महिला अपने पूर्व परिचित एक पुरुष के चेहरे को पहचान न सकी, क्योंकि उस व्यक्ति ने उसे अपना प्रेम देना अस्वीकार कर दिया था। उधार लिया हुआ रुपया अथवा पुस्तक वापिस करना हम बहुधा भूल जाया करते हैं। लाख चेष्टा करने पर भी लेखक पुस्तकालय की कुछ पुस्तकें निश्चित समय पर वापस करना भूल गया। इस भूल जाने का कारण यह था कि पुस्तकों से अभी कार्य करना शेष था और उन्हें वापिस करने की उसकी इच्छा न थी।

भावना-ग्रन्थियों के कारण, अथवा अचेतन मन की इच्छा से।

स्वप्न—

स्वप्न के कारण पर दूसरे अध्याय में हम कुछ संकेत कर चुके हैं। स्वप्न हमारी अवदमित इच्छाओं तथा विभिन्न भावना-ग्रन्थियों का दर्पण होता है। दबी हुई वासनायें जागृतावस्था में नैतिक बन्धनों के कारण प्रकाशन नहीं पाती। अतः ये वासनायें "परिवर्तित, संक्षिप्त, प्रतिभावित अथवा संमिश्रित" रूप में स्वप्नावस्था में प्रकट होती हैं। ऐसे स्वप्नों का विश्लेषण करना बड़ा ही कठिन होता है; क्योंकि व्यक्त लक्षण अव्यक्त वासनाओं से कभी कभी एकदम भिन्न से दिखलाई पड़ते हैं, पर मनोविश्लेषकों ने परीक्षणों के आधार पर एक अनुक्रमणिका बना ली है, जिसकी सहायता से व्यक्त लक्षणों का अर्थ समझा जा सकता है। सुप्तावस्था में प्रतिहारी थोड़ा

स्वप्न भावना-ग्रन्थियों का दर्पण, अतृप्त वासनाओं के कारण प्रतिहारी के सो जाने से घृणित स्वप्न, उसकी जागृतावस्था में वासनाओं का प्रकाशन लक्षणों द्वारा।

आलसी हो जाता है। अतः अचेतन मन को पूरी स्वतन्त्रता हो जाती है। फलतः हम कभी कभी ऐसे घृणित स्वप्न देखते हैं जिनकी हम अपने चेतन मन में कभी कल्पना भी नहीं कर सकते। परन्तु स्वप्नों का भूल जाना हमारा स्वभाव होता है। अतः ऐसे स्वप्नों से हमें विशेष परेशानी नहीं होती। कुछ स्वप्नों के समय प्रतिहारी थोड़ा जागता रहता है इसलिये उसका नियन्त्रण शून्यवत् नहीं होता। ऐसी स्थिति में स्वप्नों में वासनायें अपना रूप लक्षणों (सिम्बलस) द्वारा प्रगट करती हैं। उदाहरणार्थः स्वप्न में राजा को देखने का तात्पर्य पिता से होता है, जहाज का विपरीत लिङ्ग से तथा छड़ी अथवा साँप का तात्पर्य कामेन्द्रियों से होता है।

भय का स्वप्न, प्रतिहारी का व्यक्ति को जगा देना, भय के स्वप्न में आत्म-अपमान का भाव।

भय का स्वप्न बाल्यावस्था तथा कैशोर में बहुत होता है। बालक भय से चीख उठता है और जग कर बैठ जाता है, पर वह यह नहीं समझ पाता कि उसके भय का कारण क्या है। ऐसे स्वप्नों में कुछ भावना-ग्रन्थियाँ अपना प्रकाशन चाहती हैं, पर प्रधान व्यक्तित्व अर्थात् उसका प्रतिनिधि प्रतिहारी उसे स्वीकृति नहीं देता और ठीक अवसर पर व्यक्ति को जगा देता है। प्रौढ़ व्यक्ति भी ऐसे स्वप्न देखते हैं। स्वप्न में कभी व्यक्ति गिरते हुए दिखलाई पड़ता है। वह किसी ऐसी नाव या जहाज पर चढ़ा हुआ है जो यकायक किसी चट्टान से टकरा जाती है और व्यक्ति डूबने का अनुभव करता है। मनोविश्लेषण से देखा गया है कि ऐसे स्वप्न से आत्म-अपमान का भाव व्यक्त होता है, अर्थात् यदि अवदमित इच्छाओं की पूर्ति हो जाय तो व्यक्ति आत्म-सम्मान खो बैठेगा।

निद्रावस्था में चलना—

अन्तर्द्वन्द की चरम सीमा, प्रधान व्यक्तित्व का सो जाना।

निद्रावस्था में चलना भी एक प्रकार का स्वप्न ही है। यह स्वप्न गतिपूर्ण होता है। व्यक्ति अपने बिस्तर से उठ कर दूर कहीं निकल जाता है और अपनी इच्छाओं की किसी प्रकार पूर्ति कर लौट आता है। ऐसे स्वप्न को अंग्रेजी में 'समनमबलिज़म्' कहते हैं। यह व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द की चरम सीमा है। इस समय प्रधान व्यक्तित्व हट जाता है और भावना-ग्रन्थियाँ स्वच्छन्दता से अपना कार्य सम्पादन करती हैं। सुप्तावस्था में चलने वाले व्यक्ति को अपनी विभिन्न क्रियाओं का कुछ भी स्मरण नहीं रहता। यदि बीच में उसे जगा दिया जाय तो वह नहीं समझ पाता कि अमुक स्थान पर वह क्यों और कैसे आया। सोते में चलते हुए व्यक्ति को जगाना बड़ा घातक सिद्ध हो सकता है, जगाने से उसका अन्तर्द्वन्द और बढ़ सकता है या वह पागल हो सकता है अथवा मानसिक धक्के के कारण उसकी मृत्यु भी हो सकती है।

गलतियाँ और भूलें—

फ्रॉयड ऐसे मतावलम्बियों की धारणा है कि व्यक्ति की गलतियाँ और भूलें सकारण हुआ करती हैं। वे अनायास नहीं होतीं। हम कुछ का कुछ लिख या कह जाते हैं। 'सत्य' शब्द के प्रयोग करने के स्थान पर झूठ निकल आता है, 'लकड़ी' के स्थान पर 'लड़की' कह दिया जाता है, पत्रों में गलत नाम या शब्द लिख दिया जाता है। इन सबका उद्गम स्थान अचेतन मन होता है। मनोविश्लेषक विश्लेषण करने के बाद निर्णय कर सकते हैं कि इनका कारण क्या है।

सकारण, अचेतन मन उद्गम स्थान।

मनोविश्लेषकों का कहना है कि जो व्यक्ति किसी कार्य के लिये अप्रत्याशित उमंग दिखलाता है वह ऐसा आत्म-हीनता की भावना-ग्रन्थि के कारण करता है। वह अपने को अयोग्य समझता है, क्योंकि दूसरों ने उसे ऐसी ही धारणा दे दी है। अतः आत्म-हीनता को छिपाने के लिये वह अत्यधिक उमंग दिखलाता है। अधिक लज्जाशीलता काम-सम्बन्धी वासनाओं के अवदमन की प्रतिक्रिया हो सकती है। अत्यधिक कपड़ों की स्वच्छता तथा उस पर विशेष ध्यान छिपी हुई पाप-भावना का द्योतक हो सकता है। कुछ लोग दूसरों के साधरण से साधरण दोष को नहीं सहन कर सकते और क्रोधाग्नि में तपने लगते हैं। ऐसे लोगों की मनोवृत्ति वैसे ही दोषों के करने की हो सकती है, पर अचेतन मन उन्हें रोके रहता है। अचेतन मन अपने इस कार्य की उपयोगिता का प्रमाण पाना चाहता है। अतः वैसे दोषों के लिये व्यक्ति दूसरों को डाँटता है, और उन्हें करने का कारण जानना चाहता है।

अप्रत्याशित उमंग आत्म-हीनता की भावना-ग्रन्थि का द्योतक, अधिक लज्जाशीलता वासनाओं के अवदमन की प्रतिक्रिया, किसी मनोवृत्ति की अतिशयोक्ति भावना-ग्रन्थि के कारण ही।

बालक में अन्तर्द्वन्द्व और शिक्षक व अभिभावक के कर्तव्य

अभिभावकों और शिक्षकों की बालकों के प्रति अमनोवैज्ञानिकता का गत पृष्ठों में हम कई स्थानों पर उल्लेख कर चुके हैं। डाँट-डपट कर बालकों की आदत छुड़ाना एकदम असम्भव है। अपनी आज्ञा का उलंघन करते देख उसे हम दण्ड दिया करते हैं। इस दण्ड से बालक हठी हो जाता है या एकदम दब्बू व डरपोक हो जाता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बालक के जीवन को सुधारने के लिये उसके अचेतन मन के स्वरूप का अध्ययन करना चाहिये। ऐसे अध्ययन करने वालों का कहना है कि बालक की

डाँट-डपट कर आदतों को छुड़ाना असम्भव, बालक के सुधार के लिये उसके अचेतन मन के स्वरूप का अध्ययन आवश्यक, बालकों के अन्तर्द्वन्द्व

के निर्माता अभिभावक और शिक्षक, कुछ उदाहरण।

उद्दण्डता तथा अवज्ञा का कारण उसकी एक आन्तरिक बीमारी होती है जिसका उपचार डाँट-डपट कभी नहीं हो सकता। यह आन्तरिक बीमारी उसका अन्तर्द्वन्द है। बालक के अन्तर्द्वन्द के कई कारण हो सकते हैं, पर इतना निश्चय है कि इन कारणों का अभिभावकों और शिक्षकों से घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसके निर्माता वे ही होते हैं। जिस घर में कई बालक हो जाते हैं उनमें दो एक में तो अन्तर्द्वन्द जम ही जाता है। एकलौते लड़के के बाद दूसरा उत्पन्न होने पर जेष्ठ बालक में अन्तर्द्वन्द का आ जाना स्वाभाविक होता है; क्योंकि माता-पिता का प्रेम उस पर से हट कर नवजात शिशु पर चला जाता है। डम्बिल अपने 'फ़ण्डामेण्टल्स ऑव् साइकॉलॉजी' में एक ऐसी अंग्रेज बालिका का उल्लेख करते हैं। बालिका किसी फ्रेन्च शब्द का बहुवचन याद करने में असमर्थ थी। उसके शिक्षक सभी विधियों का प्रयोग कर थक गये, पर कुछ हुआ नहीं। अन्त में उन्हें एक मनोविश्लेषक की सहायता लेनी पड़ी। अध्ययन से जान पड़ा कि बालिका पहले अपने घर में अकेली थी। उसके दूसरे भाई अथवा बहिन न थे। फलतः माता-पिता का सारा प्रेम उसी की ओर केन्द्रित था। उसके भाई के जन्म के कुछ दिन बाद माता-पिता का सारा प्रेम उस पर से हट कर नवजात शिशु की ओर केन्द्रित हो गया। बालिका तब से उदासीन रहने लगी और उसका अचेतन मन सदा सम्बन्धियों का अनिष्ट ही सोचता रहा। उसे अपने परिवार में किसी दूसरे व्यक्ति की उपस्थिति प्रिय न थी। वह अकेली ही रहना चाहती थी। उसे एक बचन ही अच्छा लगता था, बहुबचन नहीं। फलतः फ्रेन्च शब्द के बहुबचन याद करने में वह असमर्थ हो रही थी। फ़िलर महाशय का कहना है कि एक चतुर बालक पदार्थ-विज्ञान और हस्त-कला में बड़ा अच्छा था, पर भाषा और गणित में वह बहुत ही पीछे था। मनोविश्लेषण से पता चला कि पदार्थ-विज्ञान और हस्त-कला के पढ़ने के लिये उसकी माँ कहा करती थी और भाषा व गणित के लिये पिता। वह माँ से बड़ा प्रेम करता था और पिता से घृणा, क्योंकि पिता का व्यवहार उसके प्रति अच्छा न था। फलतः पिता द्वारा बतलाये हुए विषय उसे प्रिय न थे। इन उदाहरणों से सारांश निकलता है कि बालकों की भावनाओं का अवदमन करना उचित नहीं। अवदमन से उनके व्यक्तित्व का ह्रास होता है और उनकी मानसिक-शक्ति घट जाती है। यदि प्रेम का व्यवहार किया जाय तो उनके मन में कोई उलझन न पड़ेगी और उनका विकास ठीक होगा।

अभिभावकों और शिक्षकों को बालक की भावनाओं का आदर करना चाहिये। उनकी चेष्टाओं और इच्छाओं के अवदमन का तात्पर्य उनके व्यक्तित्व को कुण्ठित करना होगा। मूर्ख दिखलाई पड़ने वाला बालक वास्तव में मूर्ख नहीं होता। उसके साथ प्यार नहीं किया गया है, उसकी भावनाओं का आदर नहीं

बालकों की भावनाओं का आदर करना, बुरी आदतें

१६

शिक्षा का स्थानान्तरीकरण

(ट्रान्सफ़र आव् ट्रेनिंग)

उन्नीसवीं शताब्दी में शक्ति मनोविज्ञान के अनुसार शिक्षा-क्रम; प्लेतो, बेकन लॉक, स्पेन्सर और हक्सले; विज्ञान का भी स्थानान्तरीकरण; शिक्षा में स्थानान्तरीकरण का तात्पर्य।

शक्ति-मनोविज्ञान के अनुसार बीसवीं शताब्दी के पूर्व शिक्षा विशेषज्ञों का विश्वास था कि 'मस्तिष्क' स्मृति, तर्क, विश्लेषण, निर्णय, इच्छा, तथा कल्पना आदि शक्तियों का योग है। इस विश्वास के आधार पर लोगों की यह धारणा थी कि जैसे शरीर के विभिन्न अंग उचित व्यायाम द्वारा पुष्ट किये जा सकते हैं उसी प्रकार ये मानसिक शक्तियाँ भी बढ़ाई जा सकती हैं। इस धारणा के कारण लोग ऐसे ही विषयों को पढ़ाना चाहते थे जिससे इन शक्तियों का विकास हो, क्योंकि जीवन में विशेषकर इन्हीं शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। इस विश्वास का जन्म हम प्लेतो से ही देखते हैं। प्लैतो कहता है "यदि मन्द-बुद्धि को भी ज्यामिति पढ़ाया जाय तो वह कुछ तीव्र अवश्य हो जायगा। तुम्हारे शहर के सभी नागरिकों को ज्यामिति विद्या पढ़नी चाहिये। इसका प्रभाव कम नहीं होता। हम अच्छी प्रकार जानते हैं कि जो व्यक्ति ज्यामिति पढ़ेगा वह दूसरों की अपेक्षा सब विषयों के समझने में अधिक प्रवीण होगा"।† सोलहवीं शताब्दी में भी प्लैतो के सिद्धान्त का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। बेकन 'ऑव् स्टडीज़' में कहता है "जैसे शरीर के रोग उपयुक्त व्यायाम से दूर किये जा सकते हैं उसी प्रकार बुद्धि (विट) भी उपयुक्त अध्ययन से बढ़ाई जा सकती है। अतः यदि किसी व्यक्ति की बुद्धि चञ्चल है तो उसे गणित पढ़ना चाहिये··········यदि उसकी बुद्धि भिन्नता को पहचानने में असफल हो तो उन्हें शिक्षकों का अध्ययन करना चाहिये, क्योंकि वे सूक्ष्मतम विश्लेषण करने में प्रवीण होते हैं।" अट्ठारहवीं शताब्दी में यद्यपि लॉक शक्ति-मनोविज्ञान का आलोचक था, तथापि शिक्षा में 'नियमित विनय' (फ़ॉर्मल डिस्सीप्लिन) ले आने का बहुत कुछ उत्तरदायित्व उसी के ऊपर है। वह बालकों को

† प्लैतो, रिपब्लिक बुक ७।

गणित गणितज्ञ बनाने के लिये नहीं पढ़ाना चाहता, अपितु विवेकशील बनाने के लिये.........जिससे आवश्यकता पड़ने पर अपने इस विवेक शक्ति को वे दूसरे विषयों के सीखने में भी स्थानान्तरित (ट्रान्सफ़र) कर सकें।" उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में स्पेन्सर और हक्स्ले के प्रचार से स्कूलों में विभिन्न विज्ञान को स्थान दिया गया, परन्तु उसमें उपयोगितावाद (यूटीलिटेरियनिज़्म) का सिद्धान्त निहित था। ग्रीक अथवा लैटिन आदि भाषाओं के सदृश् विज्ञान को भी स्थानान्तरीकरण योग्य माना गया। यह समझा गया कि विज्ञान के अध्ययन से प्राप्त योग्यता का व्यक्ति अन्य विषयों के अध्ययन तथा जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में लाभ उठा सकेगा। अतः उपर्युक्त आधार पर स्कूल की पाठ्य-वस्तु निर्धारित की गई। "गणित तर्क-शक्ति के लिये, साहित्य कल्पना के लिये, भाषा स्मृति और लकड़ी का काम सहनशीलता सीखने के लिये रखा गया। जिस प्रकार आरी को लकड़ी में ठीक प्रकार से लगा देने से वह लकड़ी को काट देती है उसी प्रकार स्मृति-शक्ति की ठीक से वृद्धि हो जाने पर वह कहीं भी उपयोगी हो सकती है।"* यह सिद्धान्त कि एक विषय के अध्ययन से प्राप्त संस्कार उसी विषय तक सीमित नहीं रहते, वरन् अन्य विषयों तथा परिस्थितियों में भी उपयोगी सिद्ध होते हैं शिक्षा का 'स्थानान्तरीकरण' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

स्थानान्तरीकरण के विरुद्ध निर्णय

विज्ञान के विभिन्न अंगों का अध्ययन आवश्यक, मस्तिष्क विभिन्न शक्तियों का योग नहीं, कुछ परीक्षणों से समस्या का स्पष्टीकरण।

बीसवीं शताब्दी में उपर्युक्त सिद्धान्त की तीन कारणों से आलोचना की गई। पहले प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया था कि तत्सम्बन्धी विषयों की अवहेलना असम्भव हो गई। यह आवश्यक समझा गया कि व्यक्ति को विभिन्न विषयों का ज्ञान होना आवश्यक है। केवल तर्क, कल्पना तथा स्मृति आदि के तीव्र करने से ही कोई जीवन संग्राम में सफलता का अधिकारी नहीं हो सकता। दूसरे, यह सिद्ध कर दिया गया कि मस्तिष्क विभिन्न शक्तियों का योग नहीं है। इस प्रकार शक्ति-मनोविज्ञान (फ़ैकल्टी साइकॉलॉजी) जिस पर सारी शिक्षा अवलम्बित की गई थी भ्रमात्मक सिद्ध कर दी गई। तीसरे, विषयों के स्थानान्तरीकरण की योग्यता की परीक्षा के लिये विभिन्न परीक्षण किये गये। कुछ शिक्षकों का ऐसा मत था कि सीखे हुए संस्कार दूसरी परिस्थितियों अथवा विषयों में अवश्य स्थानान्तरित होते हैं। इसे सिद्ध करने के लिये विलियम जेम्स ने सन् १८९० में स्मृति पर कई परीक्षण किये। १८९० से १९२८ तक अमेरिका में कुल ८६ परीक्षण किये गये। इससे यह सिद्ध हुआ कि ४६.५ प्रतिशत

* हालिङ्गवर्थ—एडूकेशनल साइकॉलॉजी—पृष्ठ ४०६।

संस्कार बहुत अच्छी प्रकार स्थानान्तरित होते हैं। ३·२३ प्रतिशत अच्छी प्रकार होते हैं। ८०.८ प्रतिशत बहुत ही कम होते हैं। ५·०५ प्रतिशत एकदम नहीं होते, और ५·०७ प्रतिशत संस्कारों का निर्णय नहीं किया जा सका। इन परीक्षणों के आधार पर कुछ लोगों का विश्वास हो गया कि लैटिन और ग्रीक पढ़ने वाले अच्छे शासक हो सकते हैं क्योंकि इन भाषाओं के पढ़ने से गुण दोष के पहचानने, और नियमों को कार्यान्वित करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अन्य शिक्षकों ने इस धारणा का खण्डन किया। उनका कहना था कि शासक की सफलता लैटिन आदि भाषाओं के पढ़ने पर अवलम्बित नहीं, वरन् व्यक्ति की प्राकृतिक शक्तियों पर अवलम्बित होती है।

स्थानान्तरीकरण पर कुछ परीक्षण

स्मृति—

स्लेट* नामक एक अंग्रेज मनोवैज्ञानिक ने स्मृति पर कुछ परीक्षण किया। उसने कुछ व्यक्तियों को कविता तथा गद्यांश याद करने के लिये दिया। फिर उन्हीं को तारीख तथा निरर्थक शब्दों को याद करने के लिये दिया। स्लेट इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अभ्यास से स्मृति में कोई उन्नति नहीं होती और सामान्य (जनरल) रूप से कोई स्मृति क्रिया (मेमरी फ़ंक्शन) नहीं होती, (२) स्मृति-क्रियायें एक दूसरे से बहुत असम्बन्धित हो सकती हैं।

अभ्यास से स्मृति की उन्नति नहीं।

तर्क-शक्ति और आदर्श—

एल० डब्लू० वेब ने किसी स्कूल के विद्यार्थियों को दो वर्ग में बाँट कर एक को दस सप्ताह तक अंकगणित के प्रश्नों के आधार पर तर्क करने की शिक्षा दी। दूसरा वर्ग स्कूल के साधारण विषयों को पढ़ता रहा। बाद में दोनों वर्ग का समान प्रश्नों द्वारा तर्क-परीक्षण किया गया। वेब महोदय ने देखा कि जिस वर्ग ने दस सप्ताह तक तर्क में अभ्यास किया था उसने ३३ प्रतिशत दूसरे वर्ग से अच्छा किया। इस प्रकार वेब ने यह सिद्ध किया कि तर्क-शक्ति के सम्बन्ध में संस्कार स्थानान्तरित किये जा सकते हैं। वेब महोदय ने देखा कि जो बालक एक विषय में सफाई से काम करना सीख लेते हैं वे प्रायः अन्य विषयों में भी सफाई पर ध्यान देते हैं। इस पर उन्होंने कुछ परीक्षण भी किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'आदर्श' स्थानान्तरित किये जा सकते हैं।

स्थानान्तरित करना सम्भव।

---

* स्लेट डब्लू० जी० "मेमरी ऐण्ड फार्मल ट्रेनिङ्ग" बृटिश जर्नल ऑव् साइकॉलॉजी, भाग ४, नं० ३ व ४, पृ० ३८६-४५७।

स्कूल के विषय—

क्लिफ़ोर्ड उडी * ने कुछ परीक्षणों के आधार पर यह देखा कि फ्रेञ्च पढ़ने से अंग्रेजी के केवल पढ़ने में कुछ सरलता हो जाती है, पर वाक्यों की बनावट तथा शब्दचयन में कुछ भी सहायता नहीं मिलती। सन् १९२२—२३ में थॉर्नडाइक ने ८००० विद्यार्थियों पर एक परीक्षण किया। उसने वर्ष के प्रारम्भ में कुछ प्रश्नों में उनकी परीक्षा ली। फिर वर्ष के अन्त में उन्हीं प्रश्नों पर उनकी फिर परीक्षा की गई। दूसरी परीक्षा में विद्यार्थियों ने पहले से अच्छा किया।

कुछ का स्थानान्तरित होना।

ऊपर के उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि कुछ संस्कार स्थानान्तरित अवश्य होते हैं। पर इनके आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना कि सभी संस्कार स्थानान्तरित होते हैं भ्रमात्मक होगा। इन परीक्षणों के अतिरिक्त अन्य प्रयोगों द्वारा यह देखा गया है कि कुछ संस्कार स्थानान्तरित नहीं होते। उडरो हरबर्ट † ने रटने की विधि पर एक परीक्षण किया। उसने एक स्कूल के विद्यार्थियों को तीन टोलियों में बाँट कर प्रत्येक को भिन्न भिन्न शिक्षा दी। एक को रटने में कुछ भी शिक्षा न दी गई। दूसरी को कविता और निरर्थक शब्दों को रटने के लिये दिया गया। तीसरे का ४३ प्रतिशत समय रटने की विधि पर व्याख्या सुनने में लगाया गया और शेष समय कविता और निरर्थक शब्दों के रटने में दिया गया। वर्ष के अन्त में तीनों टोलियों की 'स्मृति' में परीक्षा की गई। दूसरी टोली ने पहली से कुछ विशेष अच्छा न किया, पर तीसरी ने दूसरी तथा पहली दोनों से बहुत अच्छा किया, क्योंकि उसे रटने की विधि भी सिखलाई गई थी। इस परीक्षण से यह सिद्ध हुआ कि विषय समान हो तो पढ़ने की विधि में शिक्षा देने से संस्कार स्थानान्तरित हो सकते हैं। ए० ए० हैम्बेलन ने प्रयोग करके देखा कि विद्यार्थियों का अंग्रेजी शब्द-ज्ञान उन लैटिन के शब्दों के पढ़ने से बढ़ जाता है जिनसे उनकी उत्पत्ति होती है। कुछ अध्ययन यह देखने के लिये भी किये गये कि किसी वस्तु का ज्ञान दूसरी परिस्थितियों में कितनी सहायता पहुँचा सकता है। आर० डब्लू० ब्रूस ¶ ने यह जानने का प्रयत्न

समान विषय में विधि की शिक्षा का स्थानान्तरित होना; उडरो हरबर्ट, हैम्बेलन और ब्रूस के परीक्षण।

* इनफ़्लुयेन्स ऑव् द टीचिङ्ग ऑव् फ़र्स्ट यीयर फ्रेञ्च ऑव् द एक्वीज़ीशन ऑव् इङ्गलिश वाकेबुलरी—" स्टडीज़ इन द माडर्न लैंगवेजेज़ टीचिङ्ग-न्यूयार्क-मैकमिलन पृष्ठ १४६–१७९।

† द इफ़ेक्ट ऑव् टाइम ऑव् ट्रेनिङ्ग अपॉन ट्रान्सफ़रेन्स, जर्नल ऑव् एडूकेशनल साइकॉलॉजी। भाग १८, नम्बर ३ (१९२७) पृ० १५९–१७२।

¶ "कन्डीशन्स ऑव् ट्रान्सफर ऑव् ट्रेनिङ्ग"–जर्नल ऑव् एक्सपेरिमेण्ट साइकॉलॉजी, भाग १६, न० ३ (१९३३) पृ० ३४३–६७।

किया कि एक प्रकार के शब्द के रट लेने पर वैसे ही या उससे भिन्न दूसरे शब्दों में संस्कार कहाँ तक स्थानान्तरित होते हैं। रटे हुए शब्द दो बार दोहराने के बाद नये शब्द याद किये गये तो थोड़ा ही याद हुआ, छः बार दोहरा कर नये शब्द याद करने की चेष्टा की गई तो अधिक याद हुआ, और बारह बार रटे हुए शब्द दोहरा कर नये शब्द को याद करने के प्रयत्न पर सारा याद हो गया। इस प्रयोग से यह सिद्ध हुआ कि यदि पहले की याद की हुई बात मस्तिष्क में ठीक से बैठ जाती है तो उसी प्रकार की बात बाद में याद करने में बड़ी सरलता होती है।

प्राप्त 'ज्ञान' और 'जीवन में कार्यान्वित करने की योग्यता' में कहाँ तक सम्बन्ध है ? ई० बी० मूर ने एक स्कूल की विभिन्न कक्षाओं पर यह जानने के लिये परीक्षण किया। प्रत्येक कक्षा के विद्यार्थी को को भिन्न भिन्न शिक्षा मिली थी। 'मूर महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे' कि (१) ज्ञान का कार्यान्वित करने की योग्यता से कोई सम्बन्ध नहीं तथा, (२) रुचि और परम्परा और विश्वास के अनुसार कार्यान्वित करने की योग्यता कम हो सकती है। मूर के परीक्षण से यह सिद्ध हुआ कि बालकों को केवल ज्ञान ही नहीं देना है, वरन् यह भी सिखलाना है कि वे उसका अपने दैनिक जीवन के क्रम में कहाँ तक उपयोग कर सकते हैं।

'ज्ञान' का 'कार्यान्वित करने की योग्यता' से सम्बन्ध नहीं; रुचि, परम्परा और विश्वास के अनुसार उस योग्यता का कम होना; ज्ञान की 'व्यावहारिकता' सिखलाना।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि अर्जित संस्कार थोड़े या अधिक अवश्य स्थानान्तरित होते हैं। कुछ परीक्षणों से यह भी सिद्ध किया गया है कि सीखने की विधि, वस्तु और सीखने वाले की रुचि पर ध्यान दिया जाय तो संस्कार प्रत्याशित मात्रा में स्थानान्तरित हो सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि भूगोल पढ़ने के बाद यदि शिक्षक बालकों को यह बतलाने की चेष्टा करे कि अपने भौगोलिक ज्ञान को दैनिक जीवन में कैसे उपयोग किया जा सकता है तो अर्जित संस्कार अवश्य स्थानान्तरित होंगे। इसी प्रकार अन्य विषयों में भी बालकों को सिखलाया जाय तो शिक्षा का सांस्कृतिक महत्व बहुत ही बढ़ जायगा। किसी मनोवैज्ञानिक ने ठीक ही कहा कि "किसी वस्तु को उसी प्रकार पढ़ो जैसे उसे तुम अपने जीवन में उपयोग करना चाहते हो अथवा बच्चे वही सीखना चाहते हैं जो करना चाहते हैं।"

अर्जित संस्कार कुछ स्थानान्तरित, रुचि और विधि पर ध्यान से देने स्थानान्तर प्रत्याशित मात्रा में।

संस्कार कैसे स्थानान्तरित होते हैं ?

शिक्षक को यह जानना आवश्यक है कि संस्कार कैसे स्थानान्तरित हो सकते

हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने अपने परीक्षणों द्वारा यह बतलाने की चेष्टा की है। थॉर्नडाइक ने अपने 'समान अंशों के सिद्धान्त' द्वारा यह बतलाया है कि किसी विषय को दूसरे से लिये सांस्कृतिक महत्त्व उन दोनों विषयों की परस्पर समानता पर निर्भर करता है। थॉर्नडाइक के कहने का तात्पर्य यह है कि कोई विद्यार्थी दो विषयों में समान रूप से प्रथम श्रेणी इसलिये पाता है क्योंकि दोनों विषयों में बहुत से 'समान अंश' (कॉमन एलमेण्ट्स) हैं। यदि दो विषयों में समान अंशों का अभाव रहा तो एक के अध्ययन से दूसरे में कुछ भी लाभ न पहुँचेगा। उदाहरणार्थः यदि कोई विद्यार्थी व्याकरण के नियमों को बहुत अच्छी प्रकार रट लेता है तो यह आवश्यक नहीं कि वह ऐतिहासिक घटनाओं को भी ठीक ठीक स्मरण कर सकेगा, क्योंकि व्याकरण और इतिहास के अध्ययन में समान मानसिक शक्तियों की आवश्यकता बहुत कम है। यदि कोई व्यापारिक होना चाहता है तो उसे इतिहास से उतना लाभ नहीं होगा जितना कि अर्थशास्त्र से। इसी प्रकार राजनीतिज्ञ के लिये राजनीति और तथा इतिहास का पढ़ना अधिक उपयोगी होगा, न कि भौतिक अथवा रसायन शास्त्र का। थॉर्नडाइक के सिद्धान्त के आधार पर बहुत से मनोवैज्ञानिकों ने 'स्थानान्तरीकरण' के कारण को समझाने का प्रयत्न किया है।

स्थानान्तरीकरण विषयों की परस्पर समानता पर निर्भर।

जड का 'सामान्य का सिद्धान्त' (थियरी ऑव् जनरलाइजे़शन)—

जड ने अपने 'सामान्य सिद्धान्त' (थियरी ऑव् जनरलाइज़ेशन) के आधार पर स्थानान्तरीकरण की व्याख्या की है। जड का कहना है कि व्यक्ति अपने अनुभव को जिस सीमा तक सुसंगठित कर उससे 'सामान्य सिद्धान्तों' को निकालता है उस अनुपात में इसके अनुभव का अन्य परिस्थितियों पर सांस्कृतिक प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थः कोई विद्यार्थी रसायन प्रयोगशाला (केमिकल लेबोरेटरी) में कोई प्रयोग कर रहा है। प्रयोग के सफल हो जाने पर फल में निहित सिद्धान्तों को समझना आवश्यक है। जब तक इन सिद्धान्तों को वह ठीक से न समझ लेगा तब तक उसके ज्ञान का सांस्कृतिक महत्त्व न होगा। सिद्धान्त को समझ लेने पर सामान्य स्थिति में उसके संस्कार अवश्य ही स्थानान्तरित होंगे।

सामान्य सिद्धान्तों के मस्तिष्क में सुसंगठन पर स्थानान्तर निर्भर।

स्पीयरमैन का "सामान्य और विशिष्ट अंश का सिद्धान्त" ('जी' ऐण्ड 'एस' फैक्टर थियरी)—

प्रत्येक विषय के अध्ययन में कुछ 'सामान्य' और 'विशिष्ट' योग्यता की आवश्यकता होती है। अतः स्पीयरमैन की धारणा है कि प्रत्येक विषय के

सामान्य योग्यता अधिक स्थानान्तरित।

अध्ययन में कुछ सामान्य योग्यता की वृद्धि होती है और यह सामान्य योग्यता व्यक्ति की हर परिस्थिति में सहायक होती है। सामान्य योग्यता के साथ विषय के अध्ययन में एक विशिष्ट योग्यता की भी वृद्धि होती है। इस विशिष्ट योग्यता का सांस्कृतिक महत्त्व बहुत ही कम है। अतः स्पीयरमैन के अनुसार सामान्य योग्यता (जी फ़ैक्टर ऑर जनरल ऐबिलिटी) का ही सांस्कृतिक प्रभाव पड़ता है। गणित, विज्ञान, इतिहास तथा प्राचीन साहित्य आदि विषयों को 'सामान्य योग्यता' की अधिक आवश्यकता होती है, पर संगीत, चित्रकारी आदि विषय 'विशिष्ट योग्यता' से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। अतः गणित व विज्ञान आदि की शिक्षा का सांस्कृतिक महत्त्व अवश्य ही अधिक होगा।

समान विषयों में ही स्थानान्तर।

एल० डब्लू० वेब महोदय का कहना है कि उपर्युक्त सिद्धान्त 'स्थानान्तरीकरण' के कारण को नहीं स्पष्ट करते। वे केवल इतना ही बतलाते हैं कि कहाँ और किस प्रकार संस्कार स्थानान्तरित होते हैं। "यह समझना कठिन है कि अंकगणित का अनुभव जहाँ अंकों का सम्बन्ध नहीं वहाँ कैसे प्रभाव डालेगा। लैटिन का अनुभव भाषा के सम्बन्ध में ही सांस्कृतिक महत्त्व रख सकता है, न कि यान्त्रिक क्रियाओं में।" *

अभी तक स्थानान्तर का ठीक ठीक स्पष्टीकरण नहीं, अध्ययन की मनोवैज्ञानिक विधि से जीवनोपयोगी योग्यता सम्भव, किसी भी विषय के अध्ययन से क्रमबद्ध तर्क-शक्ति प्राप्त, अधिक से अधिक विषयों का अध्ययन, आदर्श और रुचि का निर्णय करना आवश्यक, किन किन विषयों की

वास्तव में अभी तक कोई ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया जा सका है जिससे विभिन्न विषयों के स्थानान्तरीकरण की ठीक ठीक व्याख्या होती हो, तथापि जो कुछ अब तक जाना जा चुका है वह शिक्षक के लिये बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अन्वेषणों के निष्कर्ष की सहायता से शिक्षक अध्ययन की बहुत सी समस्याओं को हल कर सकता है, तथा वह अपने अध्ययन-विधि में आवश्यक सुधार ला सकता है। उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि यदि विभिन्न विषयों को मनोवैज्ञानिक विधि से पढ़ाया जाय तो बालकों में जीवनोपयोगी योग्यता आ सकती है। किसी भी अध्ययन की सहायता से बालक में क्रमबद्ध तर्क करने की शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। थॉमसन का कहना है कि पाठ्य-वस्तु में अधिक से अधिक विषयों का रहना लाभप्रद है।

*एल० डब्लू० वेब—"ट्रान्सफ़र ऑव् ट्रेनिङ्ग", एडूकेशनल साइकॉलॉजी, (१९४५) (स्किनर द्वारा सम्पादित), अध्याय १२।

शिक्षा ?

विषय जितने अधिक रहेंगे विद्यार्थी में उतनी ही अधिक जीवनोपयोगी योग्यता भी आयेगी। प्रत्येक स्कूल को यह निश्चय कर लेना चाहिये कि वह बालक को किस प्रकार का संस्कार देना चाहता है। यह निर्णय कर लेना आवश्यक है कि किस प्रकार के अनुभव अधिक उपयोगी होंगे। यह जान लेना चाहिये कि कौन से आदर्श, रुचि और उत्साह सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। इन सबको समझ लेने के बाद यह निश्चय कर लेना चाहिये कि निर्धारित उद्देश्य-प्राप्ति के लिये किन किन विषयों और कौशल में शिक्षा आवश्यक होगी। इस सम्बन्ध में पेड्रो टी० ओराटा* का कथन बड़ा उपयुक्त जँचता है। "यदि हम स्थानान्तर (ट्रान्सफ़र) चाहते हैं तो यह निश्चय करना आवश्यक है कि हम अपना कौन सा आदर्श, वृत्ति, विश्वास और आदत स्थानान्तरित करना चाहते हैं और इस 'स्थानान्तर' के लिये हम कौन सी अध्यापन-विधि तथा शासन-सम्बन्धी नियमों का अनुसरण करने जा रहे हैं। सर्वप्रथम शिक्षक को जानना चाहिये कि वह किस बात को दूसरे क्षेत्रों में स्थानान्तरित करना चाहता है, तब उसे अनुभव अथवा परीक्षा के आधार पर यह जानना चाहिये कि वह किस विधि का अनुसरण करे, इसके बाद उसे कार्यान्वित करके दिखलाना चाहिये।" ऊपर स्थान स्थान पर शिक्षक के कर्त्तव्य पर संकेत किया जा चुका है।

शिक्षक को थॉर्नडाइक के इस कथन पर ध्यान रखना चाहिये कि "किसी विषय को इस धारणा से पढ़ाना कि इससे अन्य विषयों की अपेक्षा अधिक मानसिक विकास होगा गलत है।" वास्तव में मानसिक विकास तो किसी भी विषय से हो सकता है। यदि ठीक प्रकार पढ़ाया जाय तो कोई विषय किसी से छोटा नहीं है। कोई किसी विषय के पढ़ने से विचारशील नहीं होता, वरन् उसे ठीक प्रकार से पढ़ने से विचारशील होता है। जो कुछ पढ़ा जाय उस पर मनन करना आवश्यक है, उसके सिद्धान्तों को जीवन की परिस्थितियों में लगाना आवश्यक है। यदि व्यक्ति यह न कर सका तो उसकी शिक्षा का कुछ भी सांस्कृतिक महत्त्व नहीं। यदि हम कला पढ़ते हैं तो हमारा सारा जीवन ही सौन्दर्यमय होना चाहिये। यदि हम विज्ञान के विद्यार्थी हैं तो उसके सांस्कृतिक महत्त्व का तात्पर्य यह हुआ कि हमारा सारा दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो, हमारी रहन-सहन तथा बात-चीत आदि में वैज्ञानिकता का पुट हो।

मानसिक विकास किसी भी विषय से सम्भव, ठीक प्रकार से पढ़ना आवश्यक, व्यावहारिकता पर ध्यान आवश्यक।

सहायक पुस्तकें

१—सोरेनसन—सॉइकॉलॉजी इन एडूकेशन, अध्याय १७।

*"ट्रान्सफ़र ऑफ़ ट्रेनिङ्ग ऐण्ड एडूकेशनल स्यूडो साइन्स" द मैथमैटिकल टीचर, भाग २८, नम्बर ५ (१९३५), पृष्ठ २७८, २८१।

रोकना भूलने का सबसे अच्छा उपाय।

निकाल देना चाहता है जिससे कि वह सुखपूर्वक सो सके । पर जितना ही वह चेष्टा करता है उतना ही वह असफल होता है। आते हुये विचारों को भुलाने का एक मात्र उपाय यह है कि उन्हें आने ले रोका ही न जाय। कुछ देर बाद इन विचारों की शक्ति अपने आप क्षीण हो जायगी और वे साथ छोड़ देंगे।

सहायक पुस्तकें

१—उडवर्थ—साइकॉलॉजी, अध्याय १४।
२—डम्विल—फ़ण्डामेण्टल्स ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय १०।
३—उडवर्न—ह्य मन नेचर ऐण्ड एडूकेशन, अध्याय ९।
४—मायर्स—टेक्स्ट बुक ऑव् ऐक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी, भाग १, अध्याय १२, १३।
५—थॉमसन—इन्स्टिक्ट, इन्टेलीजेन्स ऐण्ड कैरेक्टर, अध्याय १४।
६—गेट्स—साइकॉलॉजी फ़ॉर स्टूडेण्ट्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय १२, १५।
७—स्पीयरमैन—द ऐबीलिटीज़ ऑव् मैन, अध्याय १६।
८—मैग्डूगल—ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय १०।
९—वैलेनटाइन—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु ऐक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी।
१०—ड्रेवर—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन, अध्याय ३।
११—बॉल्टन—ऐव्री डे साइकॉलॉजी फ़ॉर टीचर्स, अध्याय, १८।
१२—बर्गसन—मैटर ऐण्ड मेमरी।
१३—जेम्स—प्रिन्सीपुल्स ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय १६।
१४—नन, टी० पी०—एडूकेशनः इट्स डेटा ऐण्ड फ़र्स्ट प्रिन्सीपुल्स, अध्याय ५५।
१५—डेविड केनेडी फ्रेसर—द साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन, अध्याय ६।
१६—सोरेनसन—साइकॉलॉजी इन एडूकेशन, अध्याय १३।
१७—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—माडर्न साइकॉलॉजी ऐण्ड एडूकेशन, अध्याय १४।
१८—पीयर—रिमेम्बरिङ्ग ऐण्ड फ़ॉरगेटिङ्ग।
१९—एफ० वाट—एकॉनॉमी ऐण्ड ट्रेनिङ्ग ऑव् मेमरी।
२०—रस्क—एक्सपेरीमेण्टल एडूकेशन।
२१—मॉर्गन ऐण्ड गिलीलैण्ड—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी, अध्याय १०।
२२—सरयू प्रसाद चौबे—सामान्य मनोविज्ञान, अध्याय २०।

———

१८

अवधान, रुचि और थकान

(अटेन्शन, इन्टेरेस्ट ऐण्ड फ़टीग)

१—स्वरूप

पुराने मनोवैज्ञानिकों के अनुसार अवधान (या ध्यान) एक मानसिक शक्ति है, पर अब यह विचार पूर्णतः भ्रमात्मक सिद्ध कर दिया गया है। अवधान मानसिक शक्ति नहीं, वरन् मानसिक क्रिया है। कोई कार्य करने के लिये हमें अवधान की आवश्यकता होती है। अवधान ही देने से हमें विभिन्न वस्तुओं का ज्ञान होता है। अतः किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिये अवधान की आवश्यकता होती है। जब तक हम जागते रहते हैं तब तक किसी न किसी वस्तु पर हमारा अवधान अवश्य रहता है। सुप्तावस्था में ही हम इस क्रिया से वंचित रहते हैं। चेतना (कॉन्शसनेस) को किसी वस्तु विशेष पर केन्द्रित करने को अवधान कहते हैं। हमारी चेतना की वस्तु कई हो सकती हैं। हम वातावरण की विभिन्न वस्तुओं को एक साथ ही देखते हैं। बाग में हम गुलाब, चमेली व बेला सभी प्रकार के फूल देखते हैं। पर यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि एक समय हम एक ही फूल देखते हैं। जिस ओर हमारी चेतना केन्द्रित होती है उस पर हमारा अवधान पड़ता है। बाग में अनुभव करना कि विभिन्न प्रकार के फूल हम एक साथ ही देखते हैं भ्रमात्मक है। वस्तुतः हमारा ध्यान एक ही फूल पर पड़ता है, यह हो सकता है कि हमारा ध्यान एक क्षण के अन्दर कई फूलों पर चला जाय और हम कई फूल एक साथ ही देखने का अनुभव करें। पर एक समय तो हम एक ही फूल देखते हैं। परन्तु हमारा ध्यान इतने शीघ्र कैसे एक वस्तु से हट कर दूसरे पर चला जाता है, जिससे हम एक ही क्षण में आठ-दस वस्तुयें देख लेते हैं? इस प्रश्न का उत्तर हमें मनोवैज्ञानिक लॉयड मॉर्गन के विश्लेषण

अवधान मानसिक क्रिया, ज्ञान प्राप्त करने के लिये अवधान की आवश्यकता, चेतना को किसी वस्तु पर केन्द्रित करना, एक समय एक ही वस्तु पर ध्यान, केन्द्रीय और तटीय चेतना, अवधान के विषय का बदला करना।

से मिलता है। किसी वस्तु पर हमारा अवधान चेतना के केन्द्रित होने से होता है। लॉयड मॉर्गन चेतना के दो भाग करते हैं:—केन्द्रीय (सेन्ट्रल) और तटीय (मार्जिनल)। जिस समय हमारा अवधान गुलाब पर रहता है तब हमारी चेतना गुलाब पर केन्द्रित रहती है, पर चमेली व बेला इत्यादि फूल हमारे तटीय चेतना के अंग रहते हैं। इसीलिये हम अपना अवधान उस पर भी तुरन्त ही डाल सकते हैं। हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि हमारे केन्द्रीय और तटीय चेतना को विभाजित करने की कोई निश्चित रेखा नहीं है। जो विषय अभी केन्द्रीय अर्थात् स्पष्ट चेतना में है वही तटीय अथवा अस्पष्ट चेतना में चला जा सकता है। इसीलिये तो एक क्षण में बारी बारी से हम गुलाब, चमेली व बेला इत्यादि सभी फूल देख लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि अवधान का विषय बहुधा बदला करता है और अवधान का विषय वही है जिस पर हमारी चेतना केन्द्रित हो।

अवधान में प्रयोजनता, अवधान और रुचि से घनिष्ठ सम्बन्ध।

अवधान की क्रिया से हम किसी वस्तु को स्पष्टतया समझने में समर्थ होते हैं, क्योंकि हमारी चेतना उस पर केन्द्रित हो जाती है। टिचनर का कहना है कि अवधान की समस्या किसी विषय के स्पष्ट रूप से समझने से है। डम्विल * कहते हैं कि अवधान का तात्पर्य "एक वस्तु को छोड़ कर दूसरे पर चेतना को केन्द्रित करने से है।" अतः अवधान में प्रयोजनता का आभास निहित रहता है। मैग्डूगल भी कहता है 'अवधान किसी वस्तु के ज्ञान प्राप्ति के लिये मन की प्रयोजनात्मक प्रवृत्ति है। जितनी ही दृढ़ता के साथ हम किसी वस्तु को देखना, सुनना या समझना चाहते हैं उतना ही अधिक हम उस वस्तु पर अवधान देते हैं।"† हम किसी वस्तु को क्यों देखना, सुनना या समझना चाहते हैं? स्पष्ट है कि हम अपनी स्वाभाविक अथवा अर्जित इच्छाओं से वशीभूत होकर किसी वस्तु विशेष पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। हमारी इच्छायें मूलप्रवृत्तियों, आदतों अथवा स्थायीभावों से निकलती हैं। आदतें और स्थायीभाव रुचि के ही कारण बनते हैं। कहना न होगा कि अवधान और रुचि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम उस वस्तु पर अपनी चेतना केन्द्रित करते हैं जिसमें हमारी रुचि होती है। Special Characteristics of Attention

२-अवधान के विशिष्ट गुण (स्पेशल कैरेक्टरिस्टिक्स ऑव् अटेन्शन)

अवधान के वास्तविक स्वरूप के समझने के लिये उसके कुछ विशिष्ट गुणों को समझना आवश्यक है। ये गुण इस प्रकार हैं:—

* डम्विल—द फण्डामेण्टल्स ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय १५, पृष्ठ ३१५।

† ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय ९, पृष्ठ २७१–१७८।

Presence of effort

(१) उद्योगशीलता (प्रेजेन्स ऑव् एफर्ट)—

ध्यान में उद्योगशीलता का भाव निहित रहता है । जब हम किसी ओर ध्यान देते हैं तो शरीर और मन दोनों से परिश्रम करना होता है । ध्यान पूर्वक किसी पुस्तक के पढ़ने से हमारा मेरुदण्ड बहुधा पहले से कुछ सीधा हो जाता है । मानसिक शारीरिक परिश्रम का संकेत चेहरे की भाव-भंगियों से व्यक्त हो जाता है । किसी विषय की ओर ध्यान लगाने में हमें कभी कभी जान बूझकर प्रयत्न करना पड़ता है । जानबूझ कर प्रयत्न करने में अधिक मानसिक शक्ति व्यय होती है । जिधर हमारा ध्यान स्वतः चला जाता है उसमें शक्ति इतनी कम व्यय होती है कि हमें कुछ पता ही नहीं चलता । ध्यान पर शारीरिक चेष्टाओं का बड़ा प्रभाव पड़ता है । इसी लिये कक्षा में बालकों की मुद्रा पर विशेष ध्यान देने के लिये कहा जाता है। यदि बालक टेढ़े मेढ़े अथवा इधर उधर झुक कर बैठा है तो निश्चय है कि उसका ध्यान पूर्णरूपेण पाठ की ओर नहा है । अतः शिक्षक को बार बार सीधे बैठने के लिये कहना पड़ता है । वस्तुतः विद्यार्थियों का सीधे न बैठना शिक्षक की असफलता का ही द्योतक है। यदि अध्ययन रुचिकर होता तो विद्यार्थी दत्तचित्त होकर सुनता । किसी वस्तु पर ध्यान देने के समय व्यक्ति में क्रियात्मक मुद्रा आ जाती है। अतः ध्यान देने के लिये हमें क्रियात्मक मुद्रा में ही बैठना चाहिये। खाट पर लेट कर पढ़ने-लिखने में हम अपने ध्यान को पूर्णतः एकाग्र नहीं कर सकते । जो ध्यान को एकाग्र कर अपने अध्यापन-कार्य को अधिक रोचक बनाना चाहते हैं वे शिक्षक बैठने की सुविधा रहते हुये भी स्वभावतः खड़े होकर ही पढ़ाते हैं।

जान बूझकर प्रयत्न करने में अधिक मानसिक शक्ति, ध्यान पर शारीरिक चेष्टा का प्रभाव, ध्यान देने में क्रियात्मक मुद्रा ।

(२) प्रयोजनता (परपज़िव्नेस)—

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि ध्यान में प्रयोजनता निहित रहती है । किसी प्रयोजनवश ही हम किसी ओर ध्यान केन्द्रित करते हैं । किसी वस्तु की ओर ध्यान देने में हमारे उद्देश्य की जितनी ही अधिक पूर्ति की आशा दिखलाई देती है, उतनी ही प्रबलता से हम उसकी ओर आकर्षित होते हैं। बालकों में लक्ष्य अथवा उद्देश्य का अभाव रहता है । उनके कार्य बहुधा मूल-प्रवृत्यात्मक होते हैं। स्थायीभाव अथवा आदर्शों का विकास उनमें कम रहता है। अतः उनमें ध्यान देने की भी शक्ति प्रौढ़ों के अपेक्षा कम होती है । जो व्यक्ति जितना ही सच्चरित्र होता है, जो सदैव अपने सामने

प्रयोजनता की प्रबलता से ध्यान का केन्द्रित होना, प्रयोजनता के अभाव में बालकों में ध्यान देने की शक्ति कम, ध्यान की अस्थिरता चरित्रविहीनता का लक्षण ।

कोई न कोई लक्ष्य रखता है उसमें निश्चय दूसरों की अपेक्षा चित्त को एकाग्र करने की अधिक शक्ति होती है। ध्यान की अस्थिरता तो चरित्रविहीनता का लक्षण माना जाता है। जिनके जीवन में कोई उद्देश्य अथवा लक्ष्य नहीं होता वे अपने ध्यान को किसी विषय पर सरलता से केन्द्रित नहीं कर सकते। ऐसे व्यक्ति अस्थिर और अव्यवस्थित चित्त के होते हैं।

ध्यान की एकाग्रता के लिये योग्यतानुसार कार्य।

जिस बालक में ध्यान की एकाग्रता का अभाव हो उसे उसकी योग्यतानुसार कोई ऐसा कार्य देना चाहिये जिसे वह सरलता से कर सके। इस प्रकार ध्यान केन्द्रित करने की उसकी आदत पड़ जायगी। यदि शिक्षक अथवा अभिभावक उसे किसी जीवन लक्ष्य की ओर उत्साहित कर सके तो उसके चित्त की अस्थिरता दूर हो जायगी और वह सचरित्र हो जायगा।

(३) विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति (एनलिटिक ऐटीच्यूड)—

ध्यान में विभिन्न अंगों का सूक्ष्मतम अध्ययन।

अवधान में व्यक्ति की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति होती है। वह वस्तु के विभिन्न अंगों का सूक्ष्मतम अध्ययन करना चाहता है। किसी कविता के अध्ययन में वह शब्दावलियों की विशेषता, अलंकार, रस आदि पर पहले विचार करता है। पूर्णतः ध्यान न देने वाला व्यक्ति कठिन शब्दों का अर्थ जानने की चेष्टा कर कविता का साधारण अर्थ जानने का प्रयत्न करता है। ये दोनों क्रियायें विश्लेषणात्मक हुई, पर दोनों में मात्रा का भेद है। पहला व्यक्ति कविता में अपना पूरा ध्यान केन्द्रित कर देता है।

(४) संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति (सिनथेटिक ऐटीच्यूड)—

संश्लेषण बिना विश्लेषण व्यर्थ।

विश्लेषणात्मक क्रिया के बाद अवधान में संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति आती है। जब तक संश्लेषण नहीं किया जाता तब तक विश्लेषण का उद्देश्य ही पूरा नहीं होता। अतः ये दोनों क्रियायें प्रायः हमारे मन में साथ ही साथ चलती हैं। कविता के विभिन्न अंगों के विश्लेषण के साथ हम उसका एक सुसंगठित ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। किसी भी विषय का ज्ञान अवधान में निहित विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक क्रिया से होता है। अतः अवधान रूपी क्रिया के विश्लेषण और संश्लेषण दो पहलू हैं।

(५) अस्थिरता (शिफ़टिङ्ग नेचर)—

अस्थिरता अवधान का एक विशिष्ट गुण है। किसी एक विषय पर ध्यान

एकाग्र करना कठिन हुआ करता है। एकाग्रता की शक्ति वैयक्तिक तथा विषय की भिन्नता पर निर्भर करती है। कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक देर तक किसी विषय पर ध्यान एकाग्र कर सकते हैं। बालक चञ्चल स्वभाव के होते हैं। अतः उनमें अवधान की शक्ति कम होती है। विषय की गुरुता पर भी अवधान की मात्रा निर्भर करती है। सरल विषय पर ध्यान लगाना बड़ा कठिन है। यदि एक बिन्दु पर ध्यान लगाना हो तो बड़ा कठिन जान पड़ता है। मन इधर उधर दौड़ता है। ऐसा करना एक साधना की बात होती है। इसी प्रकार की साधना के बल पर जादू दिखलाने वाले अथवा दिव्य दृष्टि वाले अपने प्रयत्न में सफल होते हैं। यदि विषय में कुछ विशेष समझने की बात न हुई तो उसमें ध्यान लगाना कठिन होगा। कक्षा का तीव्र विद्यार्थी जब पाठ याद कर लेता है तो उसका मन नहीं लगता और मन्द बालकों के अध्यापक से प्रश्न पूछने पर मन ही मन खीझता है।

अस्थिरता विशिष्ट गुण, वैयक्तिक भिन्नता पर निर्भर, विषय की गुरुता, सरल विषय पर ध्यान अधिक देर तक नहीं।

चाहे विषय सरल हो या कठिन, पर उसे समझने में अवधान की चञ्चलता रुकती नहीं। किसी विषय के समझने के लिये हमें उसके विभिन्न अंगों पर ध्यान देना होता है। हम विश्लेषण के सहारे विषय को विभिन्न अंगों में बाँट लेते हैं और बारी बारी से प्रत्येक पर ध्यान देने का प्रयत्न करते हैं। अतः यदि कोई चार घण्टे एक विषय पर कार्य करता रहा तो इसका तात्पर्य यह न होगा कि वह चार घण्टे एक ही बात पर ध्यान लगाये रहा। बात यह है कि एक अंग पर ध्यान देने के बाद उसका ध्यान सदा दूसरे पर जाता रहा। इस प्रकार उसका ध्यान क्रिया के काल में अस्थिर ही रहा है। बालक कठिन विषय पर ध्यान नहीं लगा सकता। अतः थोड़ी देर कार्य करने के बाद उसका ध्यान चञ्चल दिखलाई पड़ता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वास्तव में उसका ध्यान उतना ही चंचल है जितना कि किसी प्रौढ़ का। इस बात का प्रमाण किसी प्रौढ़ को उसकी योग्यता के परे किसी विषय के अध्ययन के लिये देने से मिल सकता है। कठिन विषय के आने पर किसी भी प्रौढ़ का ध्यान चंचल दिखलाई पड़ सकता है।

अवधान की चञ्चलता रुकती नहीं, कठिन विषय के मिलने पर सबकी चञ्चलता समान।

मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध किया जा चुका है कि कम से कम तीन सेकण्ड और अधिक से अधिक पचीस सेकण्ड तक ही किसी विषय पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। विषय का तात्पर्य यहाँ विषय के एक विशिष्ट अंग से है। पचीस सेकण्ड तक किसी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करना बड़े प्रतिभाशाली

साधारणतः पाँच-छः सेकण्ड के बाद ध्यान

विचलित ।

का काम होता है। साधारणतः पाँच-छः सेकण्ड के बाद ध्यान विचलित हो जाता है।

३—अवधान के प्रेरक (इनसेन्टिव्ज़ फ़ॉर अटेन्शन)

किसी वस्तु की ओर हमारा ध्यान दो कारणों से आकृष्ट होता है : अन्तरंग और बहिरंग। इन दोनों को विभाजित करने के लिए कोई निश्चित रेखा नहीं है। वस्तुतः बहिरंग की उत्पत्ति अन्तरंग ही से होती है, पर समझने की सुविधा की दृष्टि से हम दोनों पर पृथक पृथक विचार करेंगे।

अन्तरंग प्रेरक : रुचि

विंघम का कहना है कि 'रुचि वह प्रवृत्ति है जिससे हम किसी अनुभव में दत्तचित्त होकर उसे जारी रखना चाहते हैं।' विंघम की उक्ति से हमें अवधान और रुचि का सम्बन्ध बहुत स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। मैग्डूगल भी कहता है "रुचि छिपा हुआ अवधान है और अवधान रुचि का क्रियात्मक रूप है। अवधान और रुचि के लिये मस्तिष्क को किसी वस्तु के प्रति इस प्रकार संगठित होना आवश्यक है कि वह वस्तु के विषय में सोच सके। यह सोचना ऐसा हो कि वस्तु के प्रति ऐसी इच्छा उत्पन्न हो जाय कि उसके लिये कुछ न कुछ क्रिया चलती रहे।" * रुचि की क्रियात्मक प्रवृत्ति का समर्थन ड्रेवर महोदय इस प्रकार करते हैं "रुचि किसी प्रवृत्ति का क्रियात्मक रूप है।" इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रुचि अवधान का अन्तरंग कारण है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रुचि ऐसा संवेदन है जिससे कोई प्रयोजन सिद्ध होता है। रुचि होने से कार्य बड़ी सरलता से किया जा सकता है। कठिन कार्य भी सरल लगता है। किसी कार्य में हमारा ध्यान रुचि के कारण ही लगता है।

रुचि छिपा हुआ अवधान, रुचि क्रियात्मक प्रवृत्ति, रुचि से प्रयोजन सिद्ध ।

रुचि के भेद

जन्मजात रुचि—

किटसन कहता है कि "रुचि कोई ऐसी रहस्यमयी प्राकृतिक शक्ति नहीं समझनी चाहिये जो कि जन्म के साथ सदा के लिये निश्चित हो जाती है। रुचियाँ व्यक्ति की ऐसी वृत्तियाँ हैं जिनसे उसकी आदतों का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। किसी वस्तु में रुचि रखने का तात्पर्य उस वस्तु से अपना आत्मसात करना है।" ड्यूई भी कहता है कि "क्रिया द्वारा

रुचि प्राकृतिक शक्ति नहीं, आदतों से घनिष्ठ सम्बन्ध, किसी वस्तु से अपने को

* ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय ९, पृ० २७७।

आत्मसात कर देना रुचि, मूलप्रवृत्तिजन्य रुचियाँ जन्मजात।

अपने को किसी वस्तु से आत्मसात कर देने का प्रयत्न सच्ची रुचि है।" इन उद्धरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि रुचि के दो भेद होते हैं :—जन्मजात और अर्जित। मूलप्रवृत्तिजन्य रुचियों को जन्मजात कहते हैं। हमारे खाने-पीने की रुचि अथवा बालकों की दौड़ने, भागने, लड़ने व चिल्लाने की रुचि जन्मजात है। रुचियाँ इन्द्रियजन्य ज्ञान से सम्बन्ध रखती हैं। मूलप्रवृत्तियों और सामान्य प्रवृत्तियों की क्रियाशीलता से हमें कुछ विशिष्ट वस्तुएं रुचिकर लगती हैं। माँ की रुचि अपने पुत्र में है। बिल्ली की रुचि चूहे में होने से वह बिल के पास चुपके से छिप जाती है। कुत्ते की रुचि खरगोश में होने के कारण वह उसके पीछे झाड़ी झाड़ी दौड़ता है। सर्प की मेढ़कों में होती है। इसीलिये कभी उन्हें निगलने के लिये वह कूएं अथवा पानी के गड्ढों में चला जाता है।

अर्जित रुचि—

आन्तरिक भावनाओं से उत्पन्न जन्मजात रुचि से ही अर्जित की उत्पत्ति, अर्जित रुचि के कारण किसी विशिष्ट वस्तु की ओर ध्यान आकर्षित।

किसी वस्तु सम्बन्धी आन्तरिक भावनाओं से जो रुचियाँ उत्पन्न होती हैं वे अर्जित कहलाती हैं, अर्थात् भाव-संवेदन से उत्पन्न रुचियाँ अर्जित कही जा सकती हैं। जन्मजात रुचि से ही अर्जित रुचि उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थः डाक्टर की रोगी में रुचि अर्जित है। इस अर्जित रुचि का आधार उसकी आत्म-गौरव सम्बन्धी जन्मजात रुचि हो सकती है अथवा अपनी किसी स्वाभाविक रुचि के पूर्ण करने लिये वह रोगी में रुचि रख सकता है। व्यक्ति अपने अर्जित रुचि के कारण किसी विशिष्ट वस्तु की ओर आकर्षित होता है। गाड़ीवान अपनी अर्जित रुचि के कारण ही तुरन्त समझ लेता है कि गाड़ी की कौन पहिया बिगड़ गयी है। अर्जित रुचि के ही कारण घड़ीसाज समझ जाता है कि घड़ी का कौन सा भाग बिगड़ गया है।

रुचि और ध्यान में घनिष्ठ सम्बन्ध, पाठ का सम्बन्ध विद्यार्थी की रुचि से जोड़ना।

जिस वस्तु में रुचि होती है उस ओर हमारा ध्यान शीघ्र आकर्षित हो जाता है। रुचि न होने से वस्तु की ओर हम अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं। पेट भरे रहने पर भोजन से हमें अरुचि का अनुभव होता है, पर भूख रहने पर उस पर से दृष्टि हटाते बनता नहीं। रुचि रहने पर दो-दो बजे रात तक लोग संगीत का आनन्द लेते हैं, पर रुचि न रहने पर वे शीघ्र ही उठ कर चले जाते हैं। रुचि के न रहने पर विद्यार्थी का ध्यान कक्षा से हट बाहर

जाने लगता है, पर रुचि के रहने पर पढ़ाई में साधारण विघ्न भी उसके लिये असह्य हो जाता है। अतः हरएक पाठ का सम्बन्ध विद्यार्थियों की रुचियों से जोड़ना आवश्यक है। उदाहरणार्थः यदि 'जोड़-बाकी' के प्रश्न बेर, आम अथवा अमरूद आदि पदार्थों की सहायता से, बालकों को समझाया जाय तो वे शीघ्र समझेंगे, क्योंकि बेर, आम और अमरूद आदि वस्तुओं में उनकी कुछ रुचि है। इसी प्रकार यदि 'जलवायु का किसी देश पर प्रभाव' समझाना है तो बालकों के वातावरण से प्रारम्भ करना चाहिये, क्योंकि बालक अपने वातावरण से अधिक रुचि रखता है। यदि हम प्रत्येक पाठ को बालक की स्वाभाविक अथवा नैसर्गिक रुचि का अंग बना सकें तो शिक्षा की सारी समस्या बड़ी सरलता से हल हो जाय।

रुचि का विकास

रुचि का विकास कुछ बातों पर निर्भर होता है। पहले, व्यक्ति सबसे अधिक रुचि 'अपने' में रखता है। अतः यदि किसी अरुचिकर विषय का सम्बन्ध बालक के 'अपनेपन' से स्थापित कर दिया जाय तो उस विषय में उसकी रुचि उत्पन्न हो जायगी। मान लीजिये, विज्ञान पढ़ने में बालक की रुचि नहीं है, तो उसमें उसकी रुचि उत्पन्न करने के लिये उसकी सम्भावनाओं की ओर संकेत करते हुए भावी जीवन में विज्ञान की उपयोगिता पर उसके सामने प्रकाश डालना चाहिये। बालक अपने भावी जीवन से रुचि रखता है। अतः विज्ञान से उसकी रुचि हो जाना कठिन नहीं।

'अपनेपन' से सम्बन्ध जोड़ना।

पूर्ववर्ती ज्ञान से सम्बन्ध—

जिज्ञासा * प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए हम कह चुके हैं कि बालक किसी नई वस्तु में रुचि नहीं रखता। उसकी रुचि पुरानी वस्तु में दिखलाई पड़ने वाली नवीनता से होती है। एकदम नये विषय में उसकी रुचि कभी नहीं हो सकती। अतः नये विषय को उसके पूर्ववर्ती ज्ञान से सम्बन्धित करना आवश्यक है। "ज्ञात से अज्ञात की ओर" के शिक्षा-सिद्धान्त का प्रतिपादन इसी आधार पर किया गया है।

बालक की रुचि पुरानी वस्तु की नवीनता में।

अवधान के बहिरंग प्रेरक

(१) उद्दीपक की तीव्रता (इन्टेन्सिटी ऑव स्टिमुलस)—

हमारा ध्यान केवल रुचि से ही आवर्धित नहीं होता। रुचि न होने पर

* देखो पृष्ठ १६५–१६९

भी हमारा ध्यान किसी वस्तु की ओर आकर्षित हो जाता है। टीन के छत पर लंगूर के कूदने की तीव्र ध्वनि से लेखक का ध्यान लिखने से हटकर एकदम उसी ओर आकर्षित हो गया। मेले अथवा सड़क के शोरगुल से किसी का ध्यान आकर्षित नहीं होता, पर ऊँची ध्वनि से विज्ञापन करने वाला सबका ध्यान आकर्षित कर लेता है। दर्पण में अपनी ही सूरत को भ्रम से चोर समझ लेने के कारण श्यामा 'चोर-चोर' चिल्ला उठी। उसकी ध्वनि से मुहल्ले में सोने वाले सभी जाग उठे। हर समय रोने वाली आया किसी को आकर्षित नहीं करती, पर जब कुत्ते को देख वह चिल्ला उठती है तो सभी कान खड़े करके पूछते हैं 'क्या हुआ, क्या हुआ?' इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्दीपक की तीव्रता से रुचि न रहने पर भी हमारा ध्यान तुरन्त आकर्षित हो जाता है।

उद्दीपक की तीव्रता से रुचि न रहने पर भी ध्यान आकर्षित।

(२) उद्दीपक का परिवर्त्तन (चेञ्ज ऑव् स्टिमुलस)—

स्टाउट महोदय का कथन है कि उद्दीपक का परिवर्त्तन व्यक्ति का ध्यान उद्दीपक की तीव्रता की अपेक्षा अधिक आकर्षित कर सकता है। हर समय ध्वनि करने वाली आँटे की कल हमारा ध्यान उतना आकर्षित नहीं करती जितना कि उसका यकायक बन्द हो जाना। अर्थात् उद्दीपक की अधिकता से उसका आकर्षक गुण नष्ट हो जाता है। घड़ी की टिक टिक बन्द हो जाती है तो हमारा ध्यान उसके बन्द हो जाने पर तुरन्त चला जाता है। कुशल वक्ता वा शिक्षक ध्यान आकर्षित करने के लिये भावानुसार धीमे स्वर से भी बोलता है। यदि भावावेश में उच्च स्वर से बोलता हुआ वक्ता बीच में धीमे से कोई भाव व्यक्त करता है तो उसके उद्गार श्रोताओं के हृदय में घर कर लेते हैं। कदाचित् पाठकों का ऐसा अनुभव होगा। इस प्रकार उद्दीपक में होने वाला परिवर्त्तन भी बड़ी कुशलता से ध्यान आकर्षित कर लेता है।

उद्दीपक के परिवर्त्तन से ध्यान-आकर्षण।

(३) नवीनता (न्यूनेस)—

वस्तु की नवीनता भी ध्यान आकर्षित करने में सफल होती है। मूँछें रखने वाला व्यक्ति जब मूँछ मुड़ा कर आता है तो उसे देखने पर सबसे पहले हमारा ध्यान उसकी मूँछ पर ही जाता है! बेचारा रामनुग्रह किसी का भी ध्यान आकर्षित नहीं कर पाता, पर जब स्वच्छता से नये कपड़े पहन कर आता है तो सभी लोग उसकी ओर देखने लगते हैं। नित्य धोती व कुर्ते में स्कूल जाने वाला बालक

विषय या विधि की नवीनता ध्यान आकर्षित करने के लिये आवश्यक।

लिये कहा गया। इस प्रयोग में देखा गया कि परिणाम पहले से कहीं अच्छा था। इस बार वह प्रत्येक कार्य में हर दृष्टि से अधिक सफल रहा। इस प्रयोग से यह सिद्ध हुआ कि एक समय हम एक ही विषय पर ध्यान दे सकते हैं। पाठक ऐसा प्रयोग स्वयं करके देख सकते हैं।

६—अवधान का विस्तार (स्पॉन ऑव् अटेन्शन)

कुछ लोग प्रश्न कर सकते हैं कि यदि हम एक समय एक ही वस्तु पर ध्यान दे सकते हैं तो मेज पर रखी हुई पाँच-छः पुस्तकों को हम एक ही समय कैसे देख लेते हैं अथवा मैदान में तीन-चार बालकों को खेलते हुए एक साथ ही कैसे देख लेते हैं? बात यह है कि व्यक्ति सुविधानुसार पाँच-छः वस्तुओं की एक ही इकाई बना कर उन्हें एक ही बार देख सकता है। कितनी वस्तुओं की एक इकाई बनाई जा सकती है यह वैयक्तिक भिन्नता अर्थात् आयु और मनोविकास पर निर्भर रहता है। परीक्षण द्वारा यह देखा गया है कि कुछ क्षणों के भीतर एक प्रौढ़ व्यक्ति केवल चार या पाँच वस्तुयें देख सकता है।* यह तो दृष्टि सम्बन्धी ध्यान हुआ। श्रवण सम्बन्धी ध्यान पर परीक्षण करने से ज्ञात हुआ कि एक प्रौढ़ व्यक्ति शीघ्रता में लगातार दी हुई आठ ध्वनियों को समझ सकता है। बॉनेट ने विभिन्न प्रकार की वस्तुओं से कई परीक्षण किया और उसने देखा कि व्यक्ति के अवधान का विस्तार विभिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध में समान ही था। इन परीक्षणों से यह सिद्ध नहीं होता कि एक समय कई वस्तुओं पर ध्यान लगाया जा सकता है। बात यह है कि व्यक्ति सुविधानुसार पाँच-छः वस्तुओं की एक ही इकाई बना कर उन्हें एक ही समय देख सकता है। जैसे श्यामपट्ट पर बने हुए कई चित्र को हम एक साथ ही देख सकते हैं, अथवा किसी चतुर्भुज की चार भुजाओं की एक ही इकाई बना कर एक ही समय उन्हें देखने में हम समर्थ होते हैं उसी प्रकार पाँच-छः वस्तुओं की एक इकाई मस्तिष्क अपनी सुविधानुसार बना लेता है। इस प्रकार एक ही सूत्र में बंधी हुई कई वस्तुओं पर एक साथ ही ध्यान लगाया जा सकता है। आयु या अनुभव के बढ़ने से अवधान के विस्तार में अन्तर नहीं आता, वरन् ध्यान में आने वाली वस्तुओं के प्रकार में आ सकता है। उदाहरणार्थः यदि एक बालक बहुत साधारण पाँच वस्तुओं पर ध्यान लगा सकता है तो प्रौढ़ होने पर वह रंग व रूप में कुछ कठिन पाँच वस्तुओं को अपने ध्यान विस्तार में ला सकता है।

कुछ वस्तुओं को एक इकाई में देखना व्यक्ति के लिये सम्भव, यह आयु और मनोविकास पर निर्भर, चार-पाँच वस्तुयें देखना, आठ ध्वनियाँ सुनना, आयु या अनुभव बढ़ने से अवधान के विस्तार में अन्तर नहीं।

* मायर—टेक्स्ट बुक ऑव् ऐक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी, पृष्ठ ३२२।

१०—अवधान में विघ्न (डिसट्रैक्शन ऑव् अटेन्शन)

कभी कभी ऐसा होता है कि व्यक्ति अपने इच्छित विषय पर ध्यान नहीं लगा पाता। पढ़ रहा है तो घर में बच्चा ऊधम मचाने लगा अथवा घर में कोई बीमार पड़ गया जिसमें उसे अपना बहुत समय देना पड़ा। ऐसी स्थिति में यदि वह कच्ची लगन अथवा निर्बल कल्पना-शक्ति का हुआ तो मन मार कर बैठ जायगा, अन्यथा वह और प्रबलता से ध्यान लगाने की चेष्टा करेगा। कदाचित् कुछ पाठकों का अनुभव होगा कि विघ्न की उपस्थिति में लगन वाले व्यक्ति में अधिक तल्लीनता आ जाती है। वह अपने आयोजित कार्यक्रम को पूरा करने के लिये विकल हो जाता है। उसका मस्तिष्क अधिक तीव्रता से काम करने लगता है। पाये हुए समय का अधिक से अधिक उपयोग करने की उसे सदैव चिन्ता बनी रहती है। इस चिन्ता के कारण विघ्न के रहते हुए भी व्यक्ति अपने ध्यान को अच्छी प्रकार विषय पर केन्द्रित कर पाता है। एक प्रकार से उसकी पहले से अधिक उन्नति होती है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रबल संकल्प-शक्ति वाले व्यक्ति के लिये बाधा आशीर्वाद के रूप में आती है; पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि बाधा का आह्वान करते रहना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो अपने कार्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं आने देना चाहिये। पर यदि परिस्थितियोंवश ऐसी स्थिति आ ही जाय तो घबड़ाना मानवोचित न होगा। विघ्नों की उपस्थिति में व्यक्ति को अपनी प्रेरणा शक्ति को जागृत कर कार्य में डट जाना चाहिये। कार्य में बाधा आने से व्यक्ति घबड़ाये नहीं इसकी कुछ शिक्षा बाल्यावस्था में दी जा सकती है। शिक्षकों को चाहिये कि समय समय पर विद्यार्थियों के सामने ऐसी कठिन समस्यायें रखा करें कि जिनके हल में उन्हें बाधा का सामना करना पड़े। बाधा के रहते हुए संकल्प-शक्ति द्वारा सफलतापूर्वक कार्य सम्पादन के लिये बालकों को उत्साहित करना शिक्षक का धर्म है।

विघ्न के आने पर लगनशील व्यक्ति में अधिक तल्लीनता, इसकी शिक्षा बचपन में सम्भव, बालकों के सामने कठिन समस्यायें उपस्थित करना।

७—अवधान और शिक्षा

अवधान और शिक्षा में सम्बन्ध दिखलाने का तात्पर्य यह होगा कि ऊपर कही हुई बातों का यहाँ सारांश दिया जाय, क्योंकि स्थान स्थान पर हम शिक्षकों के कर्त्तव्य की ओर ऊपर संकेत करते आये हैं; तथापि पाठकों की सुविधा के लिये यहाँ कुछ कह देना समीचीन दिखलाई पड़ता है। शिक्षा की सफलता अवधान पर निर्भर होती है। अतः सबसे पहले हम यही समझने की चेष्टा करेंगे कि अवधान कैसे जगाया जा सकता है।

(अ) अवधान कैसे लगाया जा सकता है ?

कहना न होगा कि व्यक्ति के जीवन में प्रबल अवधान-शक्ति की बड़ी आवश्यकता है। बिना इस शक्ति के वह कोई कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर सकता। इस शक्ति का अभाव व्यक्तित्व के ह्रास का द्योतक है। अवधान की जो कुछ हमने अब तक व्याख्या की है उसके आधार पर ध्यान को लगाने के लिये हम कुछ नियमों का उल्लेख कर सकते हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) विषय को बदलते रहना चाहिये—

हम देख चुके हैं कि 'अवधान' का स्वभाव चञ्चल होता है। बहुत देर तक एक ही विषय पर ध्यान लगाना प्रायः असम्भव सा है। हमारा यह अनुभव है कि एक ही विषय पढ़ते पढ़ते मन शीघ्र ऊब जाता है, पर विषय के परिवर्त्तन करने से ध्यान पुनः लग जाता है। अतः व्यक्ति को सदा कई प्रकार के कार्य में रुचि रखना चाहिये, जिससे एक में मन ऊबने से वह दूसरे में ध्यान लगा सके। यदि बालकों को दस से चार तक एक ही विषय पढ़ाया जाय तो वे कुछ भी सीख न सकेंगे, क्योंकि उनका ध्यान किसी विषय पर इतनी देर तक केन्द्रित नहीं हो सकता। अतः स्कूल का समय-विभाजन मनोवैज्ञानिक जान पड़ता है।

विषय परिवर्त्तन के लिये कई प्रकार की रुचि रखना आवश्यक, स्कूल का समय-विभाजन मनोवैज्ञानिक।

(२) अवधान केन्द्रित करने का अभ्यास करना चाहिये—

ऐच्छिक निष्प्रयत्नात्मक अवधान में हम देख चुके हैं कि आदत पड़ जाने पर कठिन से कठिन कार्य में भी ध्यान लगाना बड़ा सरल हो जाता है। हम देखते हैं कि प्रारम्भिक दिनों में बालक किसी विषय में ध्यान लगाने में असमर्थ दिखलाई पड़ता है, पर अभ्यस्त हो जाने पर उसकी कठिनाई बहुत कम हो जाती है।

(३) क्रिया के समावेश से अवधान लगाया जा सकता है—

यदि हमारा ध्यान किसी पुस्तक के पढ़ने में नहीं लगता तो उसमें से कुछ उद्धरण लिखने से ध्यान लग जाता है। यदि भाषा पढ़ने में बालक का मन नहीं लगता तो प्रश्नोत्तर अथवा सम्वाद की सहायता से उसका ध्यान उसमें लग जाता है, क्योंकि इसमें कुछ गतिशीलता आ जाती है। ध्यान स्वयं क्रियात्मक प्रवृत्ति का होता है, वह उदासीनता का विरोधी है। अतः कार्य में जितनी ही कार्यशीलता रहेगी उसमें उतना

क्रियाशीलता से ध्यान केन्द्रित।

ही अधिक ध्यान केन्द्रित होगा । इस दृष्टिकोण से प्रॉजेक्ट मेथड, डाल्टन प्लान, ऐक्टिविटी मेथड तथा मॉन्टेसरी प्रणाली आदि शिक्षण विधियाँ बड़ी मनोवैज्ञानिक दिखलाई पड़ती हैं ।

(४) रुचि की उत्पत्ति से विषय पर अवधान केन्द्रित किया जा सकता है—

हम देख चुके हैं कि रुचि और अवधान में घनिष्ठ सम्बन्ध है । जो वस्तु रुचिकर होती है उसमें हमारा ध्यान बिना किसी प्रयत्न के लग जाता है । बालक की किसी विषय में रुचि उत्पन्न करने के लिये उसके जीवन में उस विषय का महत्त्व समझा देना चाहिये । इस पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है ।

(५) ध्यान न लगने पर ध्यान लगाने का हठ न करना चाहिए—

हठात् ध्यान लगाने का फल उलटा होता है । यदि किसी विषय में ध्यान लगाने की हमारी इच्छा नहीं होती तो मनोवैज्ञानिक यही होगा कि उस समय उसमें ध्यान न लगाया जाय । प्रायः यह प्रत्येक का अनुभव होगा कि जिस विषय की हम चिन्ता नहीं करना चाहते वही बार बार आकर मन को आक्रान्त करता रहता है । अतः हठ से किसी विषय को मन से हटा कर दूसरे विषय का चिन्तन करने का प्रयत्न करना प्रायः व्यर्थ सिद्ध होता है । अतः हमें किसी विषय को ध्यान से हटाने की चिन्ता ही छोड़ देनी चाहिये । उसके प्रति उदासीनता दिखलानी चाहिये, अन्यथा हम जितना ही उसे हटाने की चेष्टा करेंगे वह उतना ही मन को पकड़े रहेगा । अच्छा यह होगा कि हम अपना ध्यान दूसरी ओर केन्द्रित कर दें ।

(६) बाधा डालने वाली वस्तु के अध्ययन से वांछित वस्तु पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है:—

ध्यान लगाने में जिस विचार द्वारा बाधा उपस्थित होती है उसी विचार के बारे में ही सोचने लगना इच्छित वस्तु में ध्यान लगाने का बड़ा अच्छा उपाय है । यदि हम विघ्न के आने के मनोवैज्ञानिक कारण समझने का प्रयत्न करें तो हमारा ध्यान स्वतः वांछित विषय की ओर लग जायगा । यदि पढ़ाई की ओर ध्यान न देकर विद्यार्थी बाहर की वस्तुओं पर ध्यान केन्द्रित करता है तो शिक्षक का बाह्य वस्तुओं के महत्त्व पर थोड़ा प्रकाश डालना बड़ा मनोवैज्ञानिक है । इसमें बालक का ध्यान बाहर से हट कर पढ़ाई की ओर चला आयगा ।

(ब) अवधान और शिक्षक

शिक्षक को अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये बालकों की रुचि

का अध्ययन करना आवश्यक है, क्योंकि रुचि पर ही बालकों का अवधान निर्भर होता है। यदि विद्यार्थी का मन किसी पाठ में नहीं लग रहा है तो स्पष्ट है कि शिक्षक ने पाठ से बालकों की रुचि जोड़ने में कुछ भूल की है। शिक्षक को सहानुभूतिपूर्वक यह जानने की चेष्टा करनी चाहिये कि बालक की रुचि क्या है। बालकों की रुचियाँ प्रायः नैसर्गिक हुआ करती हैं। अतः उनके अवधान का रूप अनैच्छिक हुआ करता है। उनमें संकल्प की कमी होती है। बालक क्रियाशीलता पसन्द करते हैं। अतः अपने पाठ में शिक्षक को प्रयोगों, चित्रों तथा प्रश्नोत्तर द्वारा अधिक से अधिक क्रियाशीलता लाने की चेष्टा करनी चाहिये। तीव्र स्वर से चिल्लाने अथवा मेज पर हाथ पटकने से जो बालकों का ध्यान आकर्षित होता है वह क्षणिक होता है। उसका प्रभाव बहुत देर तक नहीं रहता। अतः शिक्षक को अधिक मनोवैज्ञानिक विधि का सहारा लेना चाहिये। प्रसंगानुसार कभी कभी जोर से बोलना, फिर स्वर धीमा कर देना या एकदम चुप हो जाना अधिक सहायक सिद्ध हो सकता है।

बालक की रुचि का ज्ञान आवश्यक, बालक की रुचि नैसर्गिक, अतः उसके अवधान का रूप अनैच्छिक; अध्यापन में क्रियाशीलता लाना आवश्यक।

व्यक्तित्व के विकास के लिये ऐच्छिक अवधान आवश्यक है। यह अर्जित रुचियों पर निर्भर रहता है। नैसर्गिक रुचियाँ तो बालक के पास रहती ही हैं। शिक्षक का प्रधान दायित्व अर्जित रुचियों में है। अर्जित रुचि बालक की नैसर्गिक रुचि के आधार पर उत्पन्न की जा सकती है। वास्तव में अर्जित रुचि उत्पन्न कर ऐच्छिक अवधान का विकास करना ही शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य होना चाहिये, क्योंकि व्यक्तित्व का विकास इसी विधि से अधिक सम्भव है। ऐच्छिक अवधान का विकास स्थायीभाव के विकास से होता है। जिस वस्तु के लिये व्यक्ति में स्थायीभाव रहता है उसमें वह सबसे अधिक ध्यान देता है। स्थायीभाव का विकास आयु और अनुभव पर निर्भर रहता है, पर इसकी नींव बचपन से ही डालने का प्रयत्न करना चाहिये। अतः ऐच्छिक अवधान के विकास के लिये शिक्षक को उचित वातावरण उपस्थित कर बालकों में वांछित स्थायीभाव उत्पन्न करने की चेष्टा करनी चाहिए।

व्यक्तित्व के विकास के लिए ऐच्छिक अवधान आवश्यक, अर्जित रुचि उत्पन्न कर ऐच्छिक अवधान का विकास करना शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य, ऐच्छिक अवधान स्थायीभाव पर निर्भर।

८—थकान (फ़टीग)

ध्यान न लगने का कारण सदा रुचि का अभाव ही नहीं होता, वरन् कभी

कभी थकान के कारण भी बालक का ध्यान पाठ में नहीं लगता। थकान दो प्रकार की होती है: शारीरिक और मानसिक। पाठ कितना ही मनोरंजक क्यों न हो, पर थकान आ जाने से बालक का ध्यान उस पर से हट जाता है। शिक्षक को यह जानना आवश्यक है कि बालक का ध्यान किस प्रकार की थकान के कारण विभाजित हो रहा है। वैज्ञानिकों का कहना है कि थकान कुछ रसायनिक परिवर्तनों के कारण होती है। शारीरिक थकावट मांस पेशियों के थकने से उत्पन्न होती है। कार्य करने से मांस-पेशियाँ घिसती हैं और उनके घिसने से 'कार्बनिक एसिड' उत्पन्न होती है। यह एसिड रक्त में मिल कर एक ऐसा हलका विष उत्पन्न करती है जिससे शरीर शिथिल पड़ जाता है और व्यक्ति थक सा जाता है। रक्त से 'कार्बनिक एसिड' निकालने का कार्य फेफड़ा करता है। फलतः थकान में फेफड़े की गति बढ़ जाती है और व्यक्ति जल्दी जल्दी साँस लेते हुए दिखलाई पड़ता है। मानसिक थकान भी रसायनिक परिवर्तन से होती है। इससे भी एक प्रकार का ऐसा विष उत्पन्न होता है जो मस्तिष्क के पूरे भाग से मिल कर व्यक्ति को थका देता है। थकान को नापने के कई प्रयत्न किये गये हैं। स्पर्श अनुभव से तथा कलाई की थपकी देने की शक्ति को नाप कर शारीरिक थकान को नापने की चेष्टा की गई है। इस नापने के परिणाम से यह जानने की चेष्टा की गई है कि शारीरिक और मानसिक थकावट में क्या सम्बन्ध है। अभी तक दोनों के सम्बन्ध को नहीं निर्धारित किया जा सका है। पर इतना मान लिया गया है कि शारीरिक थकान का प्रभाव मानसिक थकान पर पड़ता ही है, क्योंकि शारीरिक थकान के बाद ही मानसिक थकावट आती है। पर किसी विशिष्ट कार्य में शरीर अथवा मस्तिष्क की थकान एक दूसरे के बराबर नहीं हो सकती।

> थकान के कारण भी ध्यान का न लगना, शारीरिक और मानसिक, थकान रसायनिक परिवर्तन के कारण, शारीरिक थकान का प्रभाव- मानसिक थकान पर, दोनों थकान किसी कार्य में बराबर नहीं।

मानसिक थकान को भी नापने की चेष्टा की गई है। स्कूल के प्रारम्भ और समाप्ति दोनों बार विद्यार्थियों को श्रुत लेख लिखा कर दोनों बार की भूलों में तुलना की गई तो ज्ञात हुआ कि थकान के बाद त्रुटियाँ अधिक होती हैं। एक-एक घण्टे के बाद भी श्रुतलेख लिखा कर थकान का अनुमान लगाया गया। यह देखा गया कि प्रति घण्टे क्रमशः ४०, ७०, १२०, और १६० त्रुटियाँ हुईं। इस परीक्षण से यह सिद्ध हुआ कि ज्यों-ज्यों थकान बढ़ती है वैसे ही मस्तिष्क भी शिथिल होता जाता है।

> थकान से मस्तिष्क भी शिथिल।

६—थकान और शिक्षा

थकान को दूर करने का सबसे अच्छा उपाय तो निद्रा और विश्राम है।

पौष्टिक भोजन से भी थकान दूर होती है। अतः स्कूल समय के बीच में, कुछ चना, दूध केला आदि विद्यार्थियों को देना बड़ा ही लाभप्रद है। पाश्चात्य देशों के स्कूलों में बालकों के जलपान का कुछ न कुछ प्रबन्ध अवश्य रहता है। हमारे देश में भी स्कूल बालकों के लिये इस प्रकार का कुछ प्रबन्ध आवश्यक है। स्कूलों की प्रबन्ध-समितियाँ इस पर ध्यान दें तो कुछ भी कठिन नहीं। कार्य-परिवर्त्तन से भी थकान दूर होती है। अतः स्कूलों में बीच बीच में खेलने के लिये अवकाश देने अथवा विभिन्न विषयों के पढ़ाये जाने की विधि मनोवैज्ञानिक और आवश्यक है। थॉर्नडाइक के अनुसार रुचि और थकान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनका कहना है कि रुचि के रहने पर व्यक्ति लगभग बारह घण्टे तक काम कर सकता है। हक्सले के अनुसार तो रुचि के रहने पर व्यक्ति सोलह घण्टे तक काम कर सकता है। जिस प्रकार आदत और अवधान में सम्बन्ध है उसी प्रकार थकान भी आदत से सम्बन्धित है। किसी कार्य की आदत पड़ जाने से थकावट जल्दी नहीं आती। बड़ी कक्षा के विद्यार्थियों को अधिक देर तक स्कूल में पढ़ने की आदत है। अतः वे छोटे विद्यार्थियों की अपेक्षा देर में थकते हैं। शिक्षक को यह जानना चाहिये कि बालक का ध्यान थकान के कारण विभाजित हो रहा है, अथवा अरुचि के कारण। थकान की पहचान कठिन नहीं। थक जाने पर बालक मेरुदण्ड सीधा करके नहीं बैठ सकता। वह जम्हाई या अँगड़ाई लिया करता है। बालकों में इस प्रकार का चिन्ह देख कर शिक्षक को थकान को दूर करने के लिये समुचित प्रबन्ध करना चाहिये। थकान को दूर करने के सम्बन्ध में शिक्षक का क्षेत्र कक्षा में बहुत ही सीमित होता है। विद्यार्थियों के थक जाने पर उसे क्लिष्ट विषय को छोड़ कर किसी बहुत ही सरल वा मनोरंजक विषय को लेना चाहिये, यदि बालकों के बहुत थक जाने पर यह भी सम्भव न हो तो प्रधानाध्यापक की अनुमति से उन्हें बाहर मैदान में थोड़ी देर तक टहलने के लिये छोड़ देना चाहिये। कभी कभी विषय के बहुत मनोरंजक होने पर बालकों को अपनी थकान का अनुभव ही नहीं होता और वे कार्य करते ही चले जाते हैं। शिक्षक अथवा अभिभावक को ऐसी स्थिति भी रोकनी चाहिये नहीं तो फल हानिकर हो सकता है।

निद्रा, विश्राम, पौष्टिक भोजन, स्कूलों में जलपान का प्रबन्ध, कार्य परिवर्त्तन से थकान दूर, पढ़ाई के बीच बीच में अवकाश, रुचि और थकान, आदत और थकान, ध्यान न लगने का कारण, अरुचि या थकान को पहचानना आवश्यक, थकने पर सरल या मनोरंजक विषय।

परीक्षणों के आधार पर यह निश्चित किया गया है कि विभिन्न विषयों की कठिनाई अलग अलग होती है। वेगनर महाशय ने प्रयोग के आधार पर विभिन्न

विभिन्न विषयों की कठिनाई अलग अलग, सभी विषयों में समान थकान नहीं, क्लिष्ट विषयों को पहले पढ़ाना।

विषयों की थकान का माप किया है। उनके अनुसार यदि गणित की कठिनाई १०० इकाई मानी जाय तो शारीरिक व्यायाम की ६०, इतिहास व भूगोल की ८१, प्रकृति निरीक्षण की ८०, ड्राइङ्ग और धर्म की ७० होगी। केमिसिक महाशय थकान के अनुसार विषयों का क्रम इस प्रकार रखते हैं—शारीरिक व्यायाम, गणित, आधुनिक भाषायें, धर्म, मातृभाषा, भूगोल, इतिहास, संगीत व ड्राइङ्ग। कहने का तात्पर्य यह कि सभी विषयों में समान शारीरिक व मानसिक परिश्रम की अपेक्षा नहीं होती। अतः स्कूल समयसारिणी (टाइम टेबुल) में कठिनाई की मात्रा के अनुसार विषयों को स्थान देना चाहिये, अन्यथा विद्यार्थी शीघ्र थक जायेंगे। गणित के बाद संस्कृत का पढ़ाना ठीक न होगा, क्योंकि दोनों प्रायः समान रूप से बालक में थकान लाते हैं। पहले व दूसरे घण्टे में बालक कुछ अधिक स्वस्थ रहते हैं। अतः क्लिष्ट विषयों को जितना ही पहले पढ़ाया जाय उतना ही अच्छा है।

Very true

सहायक पुस्तकें

१—डम्विल—द फण्डामेण्टल्स ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय १५, १६।

२—गॉल्ट ऐण्ड हॉवर्ड—ऐन आउटलाइन ऑव् जनरल साइकॉलॉजी, अध्याय ५।

३—मैग्डूगल—ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय ९।

४—बैगले—एडूकेटिव् प्रॉसेस, अध्याय ६।

५—मायर्स—टेक्स्ट-बुक ऑव् एक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी, अध्याय २५।

६—सोरेनसन—साइकॉलॉजी इन एडूकेशन, अध्याय १४, १५।

७—नॉल वी० एच०—ए स्टडी ऑव् फटीग इन थ्री आवर कॉलेज एबिलिटी टेस्ट्स—जर्नल ऑव् अपलाइड साइकॉलॉजी, १६ पृष्ठ १७५–१८३।

८—जार्ज, डब्लू० हार्टमैन—इन्टेरेस्ट्स, ऐटीट्यूड्स ऐण्ड आइडियल्स, स्किनर द्वारा सम्पादित एडूकेशनल साइकॉलॉजी (१९४७) अध्याय ४।

९—हॉलिङ्गवर्थ ऐण्ड पोफेन बर्गर—अपलाइड साइकॉलॉजी, अध्याय १०।

१०—मार्गन ऐण्ड गिलीलैण्ड—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलाजी, अध्याय ७।

११—कॉलिन्स ऐण्ड ड्रेवर—ऐक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी, अध्याय ७।

१२—डैविड केनेडी—फ्रेसर—द साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन, सेक्शन २, अध्याय २।

१३—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मॉडर्न साइकॉलॉजी ऐण्ड एडूकेशन।

१४—स्पीयरमैन—नेचर ऑव् इन्टेलीजेन्स, अध्याय १३, ऐण्ड द प्रिन्सीपुल्स ऑव् कॉगनीशन, अध्याय ११।

१५—स्टाउट—एनलिटिक साइकॉलॉजी, भाग १, अध्याय ६।

है जिसे कविता और संगीत से विशेष प्रेम होता है। ऐसे बालकों को चुन कर निकाल लेना शिक्षक का धर्म है। उनका पता लगा कर उन पर ध्यान देना आवश्यक है। उन्हें कभी कभी स्वयं कविता लिखने, चित्र बनाने और गाना गाने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। रसात्मक कल्पना के विकास करने में यह प्रयत्न रहे कि बालक का जीवन एकांगी न हो जाय। सभ्यता का विकास केवल रसात्मक कल्पना से ही सम्भव नहीं। यदि समाज में सभी कवि, संगीतज्ञ और चित्रकार हो जाँय तो मनुष्य की दशा क्या होगी इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः बालक के जीवन में व्यावहारिकता का पुट ले आना आवश्यक है। इसके लिये उसमें कार्य-साधक कल्पना का विकास आवश्यक है। इस प्रकार की कल्पना की वृद्धि के लिये बड़े बड़े इन्जीनियर, डाक्टर तथा वैज्ञानिकों आदि के जीवन-चरित्र तथा उनके महत्त्वपूर्ण कार्य से अवगत होना बालकों के लिये बड़ा आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उपयुक्त स्थानों पर ले जाकर बालकों को कार्य-साधक कल्पना सम्बन्धी सफलताओं का स्वयं अध्ययन करने के लिये उत्साहित करना चाहिये। इस प्रकार बालक सूक्ष्म की ओर अग्रसर होगा और उसमें विचार-शक्ति का विकास होगा। जगत की वास्तविक वस्तुओं का उसका ज्ञान भी धीरे धीरे बढ़ेगा। कल्पना के विकास के लिये हमें बालकों को 'विशिष्ट' से 'सामान्य' की ओर ले जाना चाहिये।

सहायक पुस्तकें

१—मैग्डूगल—ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय १०।

२—मॉन्तेसरी—द ऐडवान्स्ड मान्तेसरी मेथड।

३— ग्रिफ़िट्स आर०,—इमैजीनेशन इन अर्ली चाइल्ड हूड।

४—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मार्डन साइकॉलॉजी ऐण्ड एडूकेशन, अध्याय १५।

५—सागेन ऐण्ड गिलीलैंण्ड—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलाजी, अध्याय १४।

६—ड्रमण्ड—सम कन्ट्रीब्यूशन्स टु चाइल्ड साइकॉलोजी, अध्याय ६, ७।

७—डेविड केनेडी फ्रे सर—द साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन, अध्याय ४।

८—ड्रेवर—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द साइकॉलाजी ऑव् एडूकेशन, अध्याय १०।

९—डम्विल—फ़ण्डामेण्टलस ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय ६।

१०—नॉर्सवर्दी ऐण्ड ह्विटले—साइकॉलॉजी ऑव् चाइल्डहूड, अध्याय ९।

११—सरयू प्रसाद चौबे—सामान्य मनोविज्ञान, अध्याय १९।

१२—सरयू प्रसाद चौबे—बाल मनोविज्ञान, अध्याय ७।

———

२०

निर्विकल्पक, सविकल्पक और पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान

(सेनसेशन, परसेप्शन ऐण्ड अपरसेप्शन)

ज्ञानवाही नाड़ियाँ हमारे ज्ञान के कारण, ज्ञानवाही तन्तुओं के कार्य में बटवारा।

हमारे शरीर में चारों ओर तन्तुजाल फैला हुआ है। शरीर का कोई भी ऐसा अंग नहीं जो इससे अछूता हो। इस तन्तुजाल में ज्ञानवाही और गतिवाही दो प्रकार की नाड़ियाँ होती हैं। यहाँ हमारा सम्बन्ध ज्ञानवाही नाड़ियों (सेन्सरी नर्वज़) से ही है। ज्ञानवाही नाड़ियाँ हमारे सभी ज्ञान के कारण होती हैं। इसमें क्षति पहुँचने से हमें ज्ञान नहीं होता। ये ज्ञानवाही तन्तु सुषुम्ना (स्पाइनल कोर्ड) से होते हुए मस्तिष्क तक पहुँचते हैं। इसी से हमें ज्ञान होता है। हमारे ज्ञानवाही तन्तुओं के काम में बँटवारा कर दिया गया है। प्रत्येक के लिये एक विशिष्ट स्थल निर्धारित कर दिया गया है। सब अपने अपने स्थल से काम करते हैं। स्थल बदल देने से सब उसी प्रकार अयोग्य और असमर्थ सिद्ध होते हैं जैसे संगीत से एकदम अनभिज्ञ व्यक्ति को कोई गाना गाने के लिये कहा जाय। सूँघने का काम नाक करती है। अतः घ्राण सम्बन्धी ज्ञान के लिये हमें नाक की ही सहायता लेनी होगी। किसी फूल की गन्ध देखने या छूने से नहीं प्रतीत होगी। रस-ज्ञान के लिये हमें जिह्वा की ही सहायता लेनी पड़ेगी। कान के बन्द कर देने से ध्वनि-ज्ञान हमें न हो सकेगा।

१—निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान पहली सीढ़ी, शुद्ध इन्द्रिय-जात ज्ञान, सविकल्पक

हमारी विभिन्न इन्द्रियों से जो हमें ज्ञान होता है उसकी पहली सीढ़ी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान की है। इस ज्ञान का किसी पिछले अनुभव से कोई सम्बन्ध नहीं। यह ज्ञान शुद्ध इन्द्रियजात कहलाता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। हमारे कान में किसी प्रकार की ध्वनि आ रही है। यदि हम यह समझने में असमर्थ हो रहे हैं कि यह

प्रत्यक्ष ज्ञान।

ध्वनि किधर से आ रही है तो हम यह भी नहीं समझ पाते कि यह ध्वनि किसी पशु, पक्षी या जन्तु की है। हमें केवल एक ध्वनि का ही अनुमान होता है। हम इस ध्वनि को किसी गत अनुभव से तुलना करने में भी असमर्थ हो रहे हैं। ध्वनि का इस प्रकार का ज्ञान 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' कहा जाता है। यदि हम अपनी इन्द्रियों से प्राप्त किसी ज्ञान की अपने मत, अनुभव या स्मृति से तुलना करने में समर्थ होते हैं, जब हम यह समझ लेते हैं कि सुनी हुई ध्वनि मोर पक्षी, कोयल अथवा मैना की है, जब हमें उसकी कर्कशता, अथवा माधुर्य का कुछ बोध हो जाता है तो हम 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान', की सीमा को पार कर 'सविकल्पक ज्ञान' (परसेप्शन) अथवा प्रत्यक्षीकरण में आते हैं। यह ज्ञान की दूसरी सीढ़ी है। आगे इस पर हम विचार करेंगे।

'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' पशुओं की ज्ञानेन्द्रियाँ मनुष्यों को भाँति विकसित नहीं, ज्ञानेन्द्रियों की तीव्रता वैयक्तिक भेद पर निर्भर, अभ्यास से कुछ परिवर्त्तन सम्भव।

हमारे सभी ज्ञान के मूल में 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' छिपा रहता है। बिना इस ज्ञान के किसी विशिष्ट क्षेत्र में हमें किसी भी प्रकार की अनुभूति नहीं हो सकती। क्या बहरे को संगीत-ज्ञान हो सकता है? अन्धे व्यक्ति को विभिन्न दृष्टि सम्बन्धी ज्ञान होना असम्भव है। पशुओं की ज्ञानेन्द्रियाँ मनुष्यों की भाँति विकसित नहीं होती। अतः सभ्यता की दौड़ में वे मनुष्यों से बहुत पीछे रह गये हैं। पर किसी पशु की एक विशिष्ट ज्ञानेन्द्रिय अपने क्षेत्र में मनुष्यों से अधिक विकसित हो सकती है। उदाहरणार्थ, कुत्ते की घ्राणेन्द्रिय और गिद्ध की दृष्टि-इन्द्रिय मनुष्य से तीव्रतर होती है। पशु अपनी बहुत सी ज्ञानेन्द्रियों में मनुष्य से बहुत पीछे हैं। मनुष्यों में भी ज्ञानेन्द्रियों की तीव्रता वैयक्तिक भिन्नता पर निर्भर होती है। किसी की श्रवण-ज्ञानेन्द्रिय दूसरे से तीव्र होती है तो किसी की घ्राण को। संगीतज्ञ की श्रवणेन्द्रिय सामान्यतः दूसरे से तीव्र होती है। इत्र बेचने वाले की घ्राणेन्द्रिय दूसरों से तीव्र हो सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अभ्यास से ज्ञानेन्द्रिय की तीव्रता और कुशलता में कुछ परिवर्त्तन किया जा सकता है। ज्ञानेन्द्रियाँ जन्मजात होती हैं। अतः इनमें परिवर्तन की एक सीमा रहती है। अभ्यास से अन्धे को ज्योति नहीं दी जा सकती। अभ्यास से बहरा अपनी कर्णपटुता नहीं बढ़ा सकता।

२—'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' के प्रकार

विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' का निम्नलिखित वर्गीकरण किया गया है :—

(१) दृष्टि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान (विज़ुवल सेनसेशन)
(२) ध्वनि ,, (ऑडिटरी सेनसेशन)
(३) घ्राण ,, (ऑलफ़ैक्टरी सेनसेशन)
(४) रस ,, (गैसट्युटरी सेनसेशन)
(५) स्पर्श ,, (टेक्टाइल सेनसेशन)

इन्हीं पाँच ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर मनोवैज्ञानिकों ने 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' पर ऐसे परीक्षण किये जिनसे नई नई बातों का पता लगा। प्रयोगों के आधार पर स्पर्श-ज्ञान के कई प्रकार माने गये हैं जैसे—

(१) भार (प्रेशर)
(२) पीड़ा (पेन)
(३) उष्णता (हीट)
(४) शीत (कोल्ड)
(५) गति (कोनेटिव्)
(६) सन्तुलन (बैलेन्स)
(७) शरीर की आन्तरिक क्रिया (ऑरगैनिक)

देशानुभव की शक्ति, एक समय कभी कभी बहुत से 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान'।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य की एक छठी शक्ति का भी उल्लेख किया है। यह देशानुभव (किनइस्थीटिक सेनसेशन) की शक्ति है। व्यक्ति अंधेरे में कोई वस्तु उठाने के लिये हाथ बढ़ाता है तो उसका हाथ प्रायः वस्तु की दूरी तक ही पहुँचता है। ऐसा उसकी 'देशानुभव की शक्ति' से ही होता है। मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि उपर्युक्त शक्तियों के कारण मनुष्य को विभिन्न प्रकार के 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' उत्पन्न होते हैं। कभी कभी वे दूसरे कार्यों के साथ मिल जाते हैं और उन्हें पहचानना कठिन हो जाता है।

३—'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' के भाग

अनुभव का सरलतम भाग; गुणात्मक, तीव्रता, काल और विस्तार—चार भाग; प्रत्येक का होना आवश्यक नहीं; प्रत्येक के

'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' हमारे अनुभव का सरलतम भाग है। अतः इसका सूक्ष्मतम विश्लेषण करना बड़ा कठिन है। पर मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि एक 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' में गुण (क्वालिटी) तीव्रता, (इन्टेन्सिटी), काल (ड्यूरेशन) और विस्तार (एक्सटेन्टी) भाग पाये जा सकते हैं। प्रथम तीन भाग तो प्रत्येक में पाया जाता है, पर अन्तिम अर्थात् 'विस्तार' किसी में नहीं भी हो सकता। वस्तुतः इन भागों का किसी 'निर्विकल्पक

सम्बन्ध में भिन्नता भी। प्रत्यक्ष' भाग से अलग करना बड़ा ही कठिन है। उदाहरणार्थः दृष्टि 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' में नीला, पीला, हरा इत्यादि गुण सम्बन्धी हमारा अनुभव हो सकता है। यदि इस गुण को हम निकाल दें तो 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' होगा ही नहीं। तीव्रता की भिन्नता उसके गहरे अथवा हलके पीलेपन में देखी जा सकती है। काल का तात्पर्य यह है कि पीला या हरा रंग कितनी देर तक दृष्टिगोचर रहा या ध्वनि के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि यह एक मिनट या पाँच मिनट तक सुनाई पड़ी। समय की मात्रा प्रत्येक 'निर्विकल्पक ज्ञान' के लिये अलग अलग होती है। विस्तार का भाग किसी किसी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान में नहीं भी हो सकता। सम्भव है कि 'दृष्टि-निर्विकल्पक ज्ञान' में विस्तार न हो। ध्वनि का दूर तक सुनाई देना 'विस्तार' कहा जायगा। संगीत की ध्वनि हम कुछ ही गज के विस्तार में सुन सकते हैं, पर बिजली के भोंपू की ध्वनि मीलों तक सुनाई पड़ती है।

४—वेबर--फ़ेचनर का नियम

'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' किसी बाह्य उद्दीपक से होता है। इस उद्दीपक की प्रबलता पर 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' की तीव्रता निर्भर होती है। वेबर महोदय ने कई प्रयोगों द्वारा इस प्रबलता और तीव्रता के सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न किया है। फ़ेचनर ने भी कई परीक्षण कर वेबर के निष्कर्षों का और भी स्पष्टीकरण किया। वेबर-फ़ेचनर की धारणा है कि ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव करने की एक अधिकतम (मैक्सीमम लिमिट) और न्यूनतम (मिनिमम लिमिट) सीमा होती है। इन दोनों सीमाओं के भीतर ही किसी उद्दीपक का व्यक्ति अनुभव कर सकता है। प्रायः हमारा यह नित्य का अनुभव है कि कुछ छोटे कीड़े के शरीर पर बैठ जाने पर हम उनके भार को एकदम अनुभव नहीं करते। जब तक उस पर दृष्टि न जायगी तब तक हम जान ही नहीं सकते कि वे हमारे शरीर पर हैं। अर्थात् ये कीड़े व्यक्ति की न्यूनतम सीमा के नीचे हैं। प्रत्येक व्यक्ति के अधिकतम और न्यूनतम सीमा में उसी प्रकार भेद रहेगा जैसे प्रत्येक के 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' में भेद रहता है। जिनकी स्पर्शेन्द्रियाँ बहुत ही तीव्र होती हैं उन्हें साधारण से उद्दीपक का भी अनुभव हो जाता है। तथापि उनकी अनुभूति की भी एक सीमा होती है। अधिकतम और न्यूनतम सीमा का तात्पर्य इस उदाहरण से स्पष्ट हो सकता है: किसी एक व्यक्ति के हाथ पर बेला फूल की एक बहुत छोटी पंखड़ी रखी गई। बहुत सम्भव है कि वह अपने शरीर पर उस

उद्दीपक की प्रबलता पर निर्विकल्पक ज्ञान की तीव्रता, ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव करने की अधिकतम और न्यूनतम सीमा, प्रत्येक व्यक्ति की सीमा में भेद, उद्दीपक के अनुपात के अनुसार परिवर्त्तन होने से निर्विकल्पक ज्ञान के भेद का ज्ञान, यह अनुपात विभिन्न उद्दीपक के साथ पृथक पृथक।

पंखड़ी की उपस्थिति का अनुभव न कर सके । यही बात अधिकतम सीमा के भी विषय में कही जा सकती है। मान लीजिये, किसी व्यक्ति को भार सहने की अधिकतम शक्ति डेढ़ मन की है, तो डेढ़ मन के ऊपर चाहे जितना भार उसके ऊपर रख दिया जाय उसका वह कुछ भी अनुभव न कर सकेगा। इसी बात को वेबर एक नियम द्वारा स्पष्ट करते हैं। उनका कहना है कि "उद्दीपक के अनुपात के अनुसार ही वृद्धि या कमी होने से 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' के भेद का ज्ञान हो सकता है।"* उदाहरणार्थ: किसी व्यक्ति पर एक सेर तौल का एक लोहे का टुकड़ा रख दिया गया। यदि इस लोहे के टुकड़े पर आधा छटांक और रखा जायगा तो सम्भव है कि उसका वह कुछ भी अनुभव न कर सके, पर यदि एक छटाँक रख दिया जायगा तो तौल का भेद वह तुरन्त जान जायगा । इसी प्रकार जिस कमरे में सौ दीपक जल रहे हों उसमें दो और जोड़ या घटा देने से प्रकाश में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होगा। पर यदि कमरे में चार ही दीपक जलते हों और दो उसमें और जला दिये जाँय या घटा दिये जाँय तो अन्तर शीघ्र समझ में आ जायगा । इन उदाहरणों से यह ज्ञात पड़ता है कि उद्दीपकों के अन्तर का ज्ञान जानने के लिये उनमें किसी अनुपात के अनुसार ही परिवर्तन करना होगा। यह अनुपात विभिन्न प्रकार की उद्दीपक के साथ पृथक् होगा । परीक्षण के आधार पर यह निश्चय किया गया है कि "ध्वनि के भेद को जानने के लिये मूल उद्दीपक का एक तिहाई, उठाये हुए तौल का तीसवाँ भाग तथा उँगलियों के दबाने में बीसवाँ घटाना या बढ़ाना होगा।" †

५—इन्द्रिय शिक्षा (सेन्स ट्रेनिङ्ग)

गत अध्याय में ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के महत्त्व की ओर हम संकेत कर चुके हैं। हमारी सभी अनुभूतियों का आधार ज्ञानेन्द्रियाँ ही हैं। बालक का अनुभव बहुत सीमित होता है क्योंकि उसकी ज्ञानेन्द्रियों का विकास धीरे धीरे होता है। बालक को सबसे पहले स्पर्श-ज्ञान होता है। हाथ व पैर फैला कर वह इधर उधर छूना चाहता है। उसे गोद में लीजिये तो वह बार बार आप का मुँह, नाक व कान पकड़ने की चेष्टा करेगा। सबसे पहले स्पर्श द्वारा वह अपनी माँ को पहचानने में समर्थ होता है। स्पर्शेन्द्रिय ज्ञान के बाद दृष्टि-ज्ञान की बारी आती है। तीन चार महीने का

सबसे पहले स्पर्श ज्ञान, दृष्टि ज्ञान, ज्ञानेन्द्रियों का विकास एक क्रम से, शिक्षा में इसकी अवहेलना हानिकर।

* देन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, पृष्ठ २००।
† मायर्स—टेक्स्ट बुक ऑव् एक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी, भाग १, पृष्ठ २४५।

बालक प्रकाश से आकर्षित होता है। घर में जलते हुए दीपक की ओर एकटक से वह देखते रहता है। माताएँ और दाइयाँ जानती होंगी कि दीपक बुझा देने पर आठ-दस महीने का बालक कभी कभी रोने लगता है और जला देने पर फिर चुप हो जाता है। फिर वह वस्तुओं को देखने लगता है। लाल और हरा खिलौना सामने रखने पर वह लाल की ओर अधिक आकर्षित होता है। दृष्टि-ज्ञान की दूरी भी धीरे धीरे बढ़ती है और वह दूर तक देखने लगता है, और दूर ही से माँ को आते जाते देख कर पहचान जाता है। इस प्रकार बालकों की ज्ञानेन्द्रियों का विकास एक क्रम से होता है। यदि शिक्षा में इस क्रम की अवहेलना की गई तो फल अच्छा न होगा।

ज्ञानेन्द्रियों का स्वास्थ्य और शिक्षक का कर्तव्य

ज्ञानेनिन्द्रयों को शिक्षा देने के पहले उनके स्वास्थ्य के बारे में निश्चय कर लेना बड़ा आवश्यक है। यदि बालक की दृष्टि दोषयुक्त हुई अथवा वह ऊँचा सुनने वाला हुआ तो शिक्षक का प्रयत्न व्यर्थ जा सकता है। इस विषय में शिक्षक, डाक्टर का काम नहीं कर सकता। उसका कर्तव्य केवल रोग का पता लगा कर उसके आवश्यक उपचार के लिये अभिभावकों को आवश्यक सम्मति दे देना है। कभी शिक्षक की अनभिज्ञतावश कक्षा में बालक के इस दोष पर कुछ ध्यान ही नहीं दिया जाता। दोषयुक्त आँख और कान वाले बालकों को कक्षा में सदा आगे बैठाना चाहिये। पीछे बैठने से श्यामपट पर लिखी हुई बातों को पढ़ने में उन्हें बल देना होता है जिससे उनकी आँखें और निर्बल हो जाती हैं। पीछे बैठने से वे ठीक सुन भी नहीं पाते। फलतः अधिकतम लाभ उठाने में वे असमर्थ होते हैं।

बालक के दोष का पता लगाना आवश्यक।

बालक स्वभावतः बड़ा चञ्चल दिखलाई पड़ता है। कदाचित् प्रकृति ने उसे जान बूझ कर चञ्चल बनाया है जिससे इधर उधर चल-फिर कर विभिन्न पदार्थों का वह ज्ञान कर ले। अभिभावकों को उचित है कि बालकों की चंचलता में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न करें, क्योंकि इससे उनकी ज्ञानेन्द्रियों की स्वाभाविक क्रियाशीलता में अड़चन पड़ती है और उनके मनोविकास के अवरुद्ध हो जाने का डर रहता है। वातावरण के प्रभाव पर हम संकेत कर ही चुके हैं। वातावरण बालकों के लिये ऐसा आकर्षक हो कि वे हर समय कुछ न कुछ करने की चेष्टा किया करें। जो अभिभावक अपने बच्चों के लिये विभिन्न खेलों और खिलौनों का आयोजन कर देते हैं वे ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के लिये सारा उपकरण उपस्थित कर देते हैं। ऐसे लोगों के घर के बच्चों को देखा जाय तो उन्हें सदा कुछ न कुछ करते हुए

बालक स्वभावतः चंचल, इसमें बाधा डालना अमनोवैज्ञानिक, आकर्षक वातावरण, खेल का उचित आयोजन करना आवश्यक।

पाया जायगा। वे गेंद, खिलौने के घोड़े, हाथी, मोटर आदि से बहुधा खेलते हुए पाये जाते हैं। जो अभिभावक इस पर ध्यान नहीं देते उनके बच्चे अपनी माँ को तंग करते, रोते तथा अपने सीमित वातावरण में इधर उधर चलते फिरते पाये जाते हैं। ऐसे बालकों की ज्ञानेन्द्रियों का समुचित विकास सम्भव नहीं।

फ्रोबेल और मॉन्तेसरी ने ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा की आवश्यकता पर विशेष प्रकाश डाला है। इस विषय में मॉन्तेसरी का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

मॉन्तेसरी, फ्रोबेल, मन्द बालकों की शिक्षा का आधार ज्ञानेन्द्रियाँ, मॉन्तेसरी प्रणाली—सबसे पहले रूप व आकार का ज्ञान, व्यावहारिक कार्य में शिक्षा, स्व-शिक्षा सबसे बड़ा सिद्धान्त, मॉन्तेसरी प्रणाली बच्चों का स्वराज्य।

मॉन्तेसरी ने अपने शिक्षा-सिद्धान्तों को सिगमण्ड की खोजों पर आधारित किया है। परीक्षणों के आधार पर सिगमण्ड ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मन्द बुद्धि बालकों की शिक्षा का प्रधान आधार ज्ञानेन्द्रियाँ ही होनी चाहिये, क्योंकि इनके विकास पर ही उनकी कल्पना और बुद्धि की वृद्धि हो सकती है। मॉन्तेसरी का मत है कि छोटे-छोटे अर्थात् लगभग ढाई से सात वर्ष के बालकों को व्यावहारिक जीवनोपयोगी कार्य स्वयं करने के लिये उत्साहित करना चाहिये। वह शिक्षोपकरण (डिडैक्टिक् मैटीरियल) से ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षित करना चाहती है। ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षित करने के लिये मॉन्तेसरी ने जिन साधनों की ओर संकेत किया है वे बड़े ही मनोवैज्ञानिक हैं और छोटे बालकों की शिक्षा के लिये उनका उपयोग बड़ा ही लाभप्रद है। मॉन्तेसरी बच्चों को सबसे पहले रूप व आकार का ज्ञान देना चाहती है। इसके लिये मॉन्तेसरी स्कूल में बच्चों से मेज़, कुर्सी, दरवाज़ा, खिड़की आदि ठीक करवाया जाता है। इसके बाद लगाना—खोलना तथा फ़ीता बाँधना सिखलाया जाता है। लकड़ी के छोटे व बड़े कुन्दों (ब्लाक) की सहायता से उन्हें लम्बाई व चौड़ाई का ज्ञान दिया जाता है। इस प्रकार उनकी दृष्टि-ज्ञानेन्द्रिय शिक्षित की जाती है। रंग का ज्ञान देने के लिये उनके समक्ष कुछ आकर्षक रंगों के चौसठ कार्ड रखे जाते हैं। रंग को पहचान कर वस्तु का नाम बतलाने के लिये उन्हें उत्साहित किया जाता है। कठोर, कोमल, गर्म तथा ठण्डे वस्तु से उनकी स्पर्शेन्द्रिय शिक्षित की जाती है। स्पर्श-ज्ञान के समय आँखें बन्द कर दी जाती हैं। मॉन्तेसरी का विश्वास है कि इन्द्रियों को प्रबल बनाने के लिये उन्हें अलग अलग शिक्षित करना चाहिये। धीमी तथा तीव्र ध्वनि की पहचान बालू, पत्थर के टुकड़े तथा अनाज के दानों को डब्बे में बन्द कर बजाने से कराया जाता है। छोटी छोटी समान आकार की टिकियों की सहायता से तौल-ज्ञान दिया जाता है। उपर्युक्त विवेचन से यह जान पड़ता है कि मॉन्तेसरी स्व-शिक्षा (सेल्फ टीचिंग) को शिक्षा का सबसे बड़ा सिद्धान्त मानती है। वह बच्चे में आत्म-निर्भरता, अध्यवसाय तथा एकाग्र-शक्ति उत्पन्न करना चाहती है। मॉन्तेसरी बच्चों को एक सीमित क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता

दे देती है। "यदि मॉन्तेसरी स्कूल को 'बच्चों का स्वराज्य' कहें तो अत्युक्ति न होगी।" *

मॉन्तेसरी प्रणाली की आलोचना—

मॉन्तेसरी प्रणाली की उपयोगिता तो सिद्ध हो चुकी है और आज प्रत्येक शिक्षित देश में मॉन्तेसरी स्कूलों के खोलने की धुन है। पर उसकी प्रणाली में कुछ दोष दिखलाई पड़ते हैं जिनसे अवगत होना प्रत्येक अभिभावक और शिक्षक के लिये आवश्यक है। यद्यपि इन दोषों का सूक्ष्मतम विश्लेषण करना इस पुस्तक की सीमा के बाहर है, पर उन पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक जान पड़ता है। मॉन्तेसरी ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर आवश्यकता से अधिक महत्व देती है। प्रारम्भ में मॉन्तेसरी ने मन्द बुद्धि के बालकों को पढ़ाना प्रारम्भ किया था और उसके निष्कर्ष प्रायः इन्हीं पर किये गये परीक्षणों के आधार पर बने हैं। ऐसे बालकों की विभिन्न ज्ञानेन्द्रियाँ दूसरी ज्ञानेन्द्रियों के प्रभावों से पृथक करके कुछ सीमा तक शिक्षित की जा सकती हैं, पर सामान्य बालकों के सम्बन्ध में ऐसा करना युक्तिसंगत नहीं दिखलाई पड़ता। साधारणतः हम कोई भी इन्द्रिय-ज्ञान दूसरे इन्द्रिय-ज्ञान से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं पा सकते। स्टर्न महोदय का कथन इस प्रसंग में बड़ा हृदय-ग्राही है। उनका कहना है कि बालकों का वातावरण संकुचित होना ठीक नहीं। बालकों के इन्द्रिय ज्ञान को विभिन्न प्रकार से परिपक्व करने की चेष्टा करनी चाहिये। प्रत्येक स्कूलों को ऐसे वातावरण का आयोजन करना बड़ा आवश्यक है। पर उपर्युक्त दोष के होते हुए भी मॉन्तेसरी प्रणाली का बालक की शिक्षा में बड़ा महत्त्व है। मॉन्तेसरी ने ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के लिये हमें सब से पहले एक निश्चित और सुसंगठित कार्यक्रम दिया। रूसो और फ्रोबेल ने भी इस ओर संकेत किया है। फ्रोबेल के किण्डरगार्टेन की उपयोगिता तो अब भी मानी जाती है। पर मॉन्तेसरी प्रणाली का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। मॉन्तेसरी से प्रेरणा लेना सदा लाभप्रद होगा। यदि अभिभावकगण मॉन्तेसरी प्रणाली के सिद्धान्त के अनुसार छोटे बालकों के खेल का आयोजन करें तो उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ घर पर ही बहुत कुछ शिक्षित हो जाँयगी। यदि मॉन्तेसरी स्कूल पर्याप्त संख्या में हमारे देश में फैल जाँय तो बालकों का और साथ ही साथ राष्ट्र का बड़ा कल्याण

ज्ञानेन्द्रियों को पृथक पृथक शिक्षित करना मनोवैज्ञानिक नहीं, इन्द्रियज्ञान एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं, मॉन्तेसरी ने सब से पहले एक सुसंगठित कार्यक्रम दिया, मॉन्तेसरी प्रणाली के अनुसार घर पर भी खेल का आयोजन, मॉन्तेसरी स्कूलों की हमारे देश में आवश्यकता।

Frobel. Frobale Frobale

* लेखक द्वारा रचित—"पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास," प्रथम संस्करण, पृष्ठ २३६।

होगा। वस्तुतः जिस प्रकार सुसज्जित सेना रखना रक्षा हेतु एक राष्ट्रीय आवश्यकता है उसी प्रकार बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिये मॉन्तेसरी स्कूलों का खोलना एक राष्ट्रीय आवश्यकता है। राष्ट्र का कल्याण भावी नवयुवकों पर ही निर्भर होता है। यह निश्चय है कि यदि बालकों की ज्ञानेन्द्रियाँ प्रारम्भ में ही मनोवैज्ञानिक अवसर पर शिक्षित कर दी जाँय तो स्कूल में पाये जाने वाले मन्द बुद्धि बालकों की संख्या कम हो जाय, क्योंकि ऐसी शिक्षा से कुछ मन्द बुद्धि बालक भी साधारण स्तर पर आने में अवश्य समर्थ होंगे।

६—'सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' (परसेप्शन)

१—स्वरूप

'सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' के स्वरूप की ओर थोड़ा हम संकेत कर चुके हैं। यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर होता है। 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' शुद्ध इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है। इससे हमारे प्राचीन अनुभूतियों से कोई सम्बन्ध नहीं। इससे हमें किसी वस्तु का पूरा ज्ञान नहीं हो पाता। हम वस्तु को देखते हैं, स्पर्श करते हैं, सुनते हैं, सुँघते तथा चखते हैं पर यह निर्णय नहीं कर पाते कि वह वस्तु क्या है। जब हम इस निर्णय की स्थिति पर पहुँच जाते हैं तो हमें 'सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' होता है। उद्दीपक के मिलने पर हमें निर्विकल्पक ज्ञान होता है। यह ज्ञान मस्तिष्क के पूर्व संचित संस्कारों को जगा देता है। इन संस्कारों के बल पर हम निर्विकल्पक ज्ञान की अपने पुराने अनुभवों से तुलना करते हैं। इस तुलना के फलस्वरूप वस्तु का जो निश्चित चित्र हमारे मस्तिष्क पर पड़ता है वह 'सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' है। सविकल्पक ज्ञान में वस्तु को हम ठीक ठीक पहचान लेते हैं कि यह पेन्सिल, फाउन्टेन पेन अथवा साधारण कलम है। उदाहरणार्थः कोई पुकार रहा है। पुकारने की ध्वनि का सुनाई पड़ना निर्विकल्पक ज्ञान है। ध्वनि के सुनने पर हमारा मस्तिष्क यह सोचता है कि यह ध्वनि किसकी है। जब वह यह जानने में समर्थ हो जाता है कि यह ध्वनि अमुक मित्र की है तो उसे उस ध्वनि का सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि अपने अपने मनोविकास की मात्रानुसार लोगों का सविकल्पक ज्ञान एक ही उद्दीपक के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न होगा। उदारणार्थः जब किसी पशु की बोली

निर्विकल्पक ज्ञान इसका आधार, वस्तु को ठीक ठीक पहचानना सविकल्पक ज्ञान, अपने अपने मनोविकास के अनुसार लोगों का सविकल्पक ज्ञान एक ही उद्दीपक के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न, बालकों और प्रौढ़ों के सविकल्पक ज्ञान में भिन्नता, सविकल्पक ज्ञान में विचार और बुद्धि दोनों का समावेश; सविकल्पक ज्ञान, निर्विकल्पक ज्ञान और सार्थकता का मिश्रण; निर्विकल्पक ज्ञान का आधार वाह्य उद्दीपक; सविकल्पक ज्ञान का आधार निर्विकल्पक ज्ञान और पुराने मानसिक संस्कार।

सुन कर कोई व्यक्ति यह समझ लेता है कि यह गाय की है और भैंस की नहीं तो यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति को ध्वनि का सविकल्पक ज्ञान हो गया। पर गाय वाला जब यह पहचान लेता है कि यह बोली केवल एक साधारण गाय की ही नहीं, पर उसकी विशिष्ट गाय की है तब उसके सम्बन्ध में यह कहा जायगा कि उसे ध्वनि का सविकल्पक ज्ञान हो गया। एक दूसरे उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये, एक कमरे में चार व्यक्ति बैठे हुए हैं। बाहर से किसी की ध्वनि सुनाई पड़ी। कमरे के तीन व्यक्ति जब पहचान लेते हैं कि यह ध्वनि किसी स्त्री की है तो यह कहा जा सकता है कि उन्हें ध्वनि का सविकल्पक ज्ञान हुआ। पर चौथा व्यक्ति उस स्त्री से पूर्व परिचित है। अतः उसे बोली पहचान कर यह बतलाना चाहिये कि यह अमुक स्त्री है। जब तक बोली से वह स्त्री को पहचान नहीं लेता तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि उसका सविकल्पक ज्ञान पूर्ण है। उस स्त्री की बोली के सम्बन्ध में एक व्यक्ति का मानसिक संस्कार अधिक घनिष्ठ है। इसलिये वह स्त्री का नाम भी बतला देता है। परन्तु अन्य तीन व्यक्तियों का मानसिक संस्कार कम है, अतः उनका सविकल्पक ज्ञान केवल 'स्त्री-जाति' के सविकल्पक ज्ञान तक ही सीमित है। बालकों और प्रौढ़ों के सविकल्पक ज्ञान में इस प्रकार का मात्रा-भेद होता है। बालकों का अनुभव प्रौढ़ों की अपेक्षा अधिक सीमित रहता है। अतः किसी वस्तु के सम्बन्ध में उनका सविकल्पक ज्ञान निम्नतर कोटि का हो सकता है। नीचे बालकों के सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान पर जब हम विचार करेंगे तो यह भेद अधिक स्पष्ट हो जायगा। उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि सविकल्पक ज्ञान में व्यक्ति अपने पुराने अनुभवों के आधार पर नये अनुभव पर विचार कर उसे पहचानता है; अर्थात् इसमें विचार और बुद्धि दोनों का समावेश होता है जिसका विचार और बुद्धि जहाँ तक विकसित होगी उसी के अनुसार उसका सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान होगा। बिना सविकल्पक ज्ञान में परिणत हुए 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान की' सार्थकता सिद्ध हो ही नहीं सकती, अर्थात् सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान और सार्थकता का मिश्रण है। 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' का आधार बाह्य उद्दीपक होता है और सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का आधार निर्विकल्पक ज्ञान तथा मन के पुराने संस्कार। 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' की प्रक्रिया बड़ी साधारण होती है और सविकल्पक की विकट।

२—'सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' के तीन पक्ष—

मनोवैज्ञानिकों ने 'सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान' के तीन पक्ष का उल्लेख किया है :—

(१) उपास्थक (प्रेज़ेन्टेटिव्)—

सबसे पहले हमारे सामने वस्तु आती है। उसकी उपस्थिति में हम उसके विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। नीबू को देख कर हमें उसके रंग-रूप का बोध होता है। संगीत की ध्वनि जब कानों में आती

वस्तु का सामने उपस्थित है तो हम जानते हैं कि वह कर्कश अथवा मधुर है।

होना।

हमारे सामने एक मोर आता है। उसे देख कर हम उसको पहचानते हैं और हमें उसका ज्ञान होता है। उसके चले जाने पर हम उसको भूल जाते हैं। वस्तु का सामने होना प्रत्यक्षीकरण का उपास्थक पक्ष कहा जाता है। उपास्थक पक्ष से हमें वस्तु का तात्विक बोध होता है।

(२) प्रतिनिध्यात्मक (रीप्रेज़न्टेटिव्)—

यह प्रत्यक्षीकरण का दूसरा पक्ष है। इसमें कल्पना का कुछ अंश दिखलाई पड़ता है। इसका आधार उपास्थक पक्ष है। उपास्थक पक्ष के बाद ही इसका बोध सम्भव है। किसी व्यक्ति की आँखें लाल लाल हो जाती हैं। त्यौरी चढ़ जाती है। साँसों का वेग बढ़ जाता है। ये सब परिवर्त्तन उस व्यक्ति के क्रोध के सूचक होते हैं। इन्हें देख कर हमें केवल लाल आँख, चढ़ी हुई त्यौरी आदि का ही ज्ञान नहीं होता, वरन् हमें व्यक्ति के क्रोध का भी भास होता है। अर्थात् लाल लाल आँखें और चढ़ी हुई त्यौरी व्यक्ति के क्रोध की प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार व्यक्ति का मलिन मुख उसके दुःख का प्रतिनिधि है और हँसता हुआ मुख आनन्द का। नीबू केवल अपने रूप व रंग का ही हमें बोध नहीं कराता, वरन् अपने स्वाद का भी वह प्रतिनिधित्व करता है। उसे देखकर हमें उसके स्वाद का भी बोध हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण का एक प्रतिनिध्यात्मक रूप भी होता है।

इसमें कुछ कल्पना का अंश, आधार उपास्थक पक्ष।

(३) सम्बन्ध-पक्ष (रीलेशनल)—

कभी कभी एक वस्तु के प्रत्यक्षीकरण से हमें उससे सम्बन्धित किसी दूसरी वस्तु का भी ध्यान आ जाता है। उदाहरणार्थः दूसरे के बच्चे को देख कर हमें अपने बच्चे का ध्यान आ जाता है। सड़क पर जाते समय कभी कभी हम अपने मित्रों से कहते हैं कि हमारे कोट का भी ऐसा ही कपड़ा है जैसा इस व्यक्ति के हाथ में दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार दूसरे बच्चे को देख हमें अपने बच्चे का बोध होता है, किसी कपड़े को देख हमें अपने कोट का ध्यान आ जाता है। अपने बच्चे अथवा कोट का प्रत्यक्षीकरण हमें सम्बन्ध-ज्ञान के फल स्वरूप होता है। हमारा वर्तमान अनुभव अतीत के सम्बन्धित अनुभव को जगा देता है। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि इस सम्बन्धित अनुभव में समानता का होना आवश्यक नहीं। जिस बालक को देख हमें अपने बालक का भास होता है वह बालक हमारे बालक से एकदम भिन्न हो सकता है। यह बात नीचे के उदाहरण से अधिक स्पष्ट हो जायगी। हम दवात देखते हैं

सम्बन्ध विशेष से सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का होना।

तो उससे सम्बन्धित हमें कलम का ज्ञान हो जाता है। बच्चे की टोपी देखते हैं तो बच्चे का ज्ञान हो जाता है। कभी कभी हमारे वर्तमान अनुभव सुप्त संस्कारों को जगा देते हैं, जिससे हमारे अनुभव की सीमा कुछ बढ़ जाती हैं। इस प्रकार किसी सम्बन्ध विशेष से जो हमारा प्रत्यक्षीकरण होता है उसे सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का सम्बन्ध-पक्ष कहा जा सकता है।

७—बालक का सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान

नवजात शिशु में सविकल्पक ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसके मस्तिष्क में वातावरण सम्बन्धी संस्कार नहीं पड़ते। आयु के बढ़ने के साथ बालक विभिन्न प्रकार के निर्विकल्पक ज्ञान का अनुभव करने में क्रमशः समर्थ होता है। जैसे जैसे उसकी यह योग्यता बढ़ती है उसी के साथ उसका सविकल्पक ज्ञान भी बढ़ता है। हम कह चुके हैं कि आरम्भ में उसका यह ज्ञान निम्न कोटि का होता है। उसमें अर्थ लगाने की शक्ति बहुत कम होती है। उसे एक रुपया दीजिये तो वह फेंक देगा, वह आप की बहुमूल्य वस्तुओं को पायेगा तो उसे नष्ट-भ्रष्ट करने में लग जायगा, क्योंकि उन वस्तुओं के मूल्य को वह नहीं समझता। वह आकर्षित होकर आग की ओर झपटता है। वह जल जाता है। आग सम्बन्धी उसका सविकल्पक ज्ञान की सीमा यही है कि वह एक ऐसी वस्तु है जो उसे जला देगी। आग से कौन कौन काम किया जा सकता है इसका बोध उसे बाद में अनुभव के साथ होता है। चार-पाँच वर्ष का होने पर वह समझ जाता है कि आग ही से भोजन पकाया जाता है। दस-ग्यारह वर्ष का होने पर उसे बोध हो जाता है कि आग की सहायता से विभिन्न प्रकार के इन्जिन चलाये जा सकते हैं। प्रारम्भ में अनुभव की कमी के कारण बालक अपना ध्यान एकाग्र करने में अधिक समर्थ नहीं हो पाता। सविकल्पक ज्ञान सदा ध्यान की एकाग्रता पर निर्भर होता है। सविकल्पक ज्ञान का प्रायः तीन चौथाई भाग अनुमान में रहता है। यह अनुमान अपने पुराने अनुभव के आधार पर ध्यान की एकाग्रता से किया जाता है। बालक में इन दोनों का प्रौढ़ व्यक्तियों की अपेक्षा अभाव रहता है, अतः उसका सविकल्पक ज्ञान अपूर्ण रहता है।

नवजात शिशु में नहीं, आयु के विकास से सविकल्पक ज्ञान का होना, सविकल्पक ज्ञान ध्यान की एकाग्रता पर निर्भर, अतः बालकों में इसकी कमी।

बालक किसी बात के समझने में बहुधा भूल किया करते हैं। वे कभी कभी कुछ का कुछ समझ जाते हैं। प्रौढ़ व्यक्तियों के समान अधिक वस्तुओं को एक बार देखने से ही समझने में वे समर्थ नहीं होते। वे दूसरों की बातों पर जल्दी विश्वास कर लेते हैं, अतः उनके अनुभवों पर अधिक

बात को समझने में बालकों की भूल, उनके अनुभव

अधिक विश्वसनीय नहीं, उनका सविकल्पक ज्ञान अस्पष्ट, बालकों को विभिन्न वस्तुओं की विशेषता से अवगत करना, निरीक्षण का स्थान ।

विश्वास नहीं किया जाता। तीन साल का बालक गधे को घोड़ा पुकार सकता है और भेड़ को बकरी। अतः बालकों का सविकल्पक ज्ञान अस्पष्ट होता है। वह सभी प्रकार के फूलों को एक ही नाम दे डालता है। वह गुलाब, चमेली तथा बेला, आदि फूलों की विशेषता को नहीं पहचान सकता। अभिभावकों और शिक्षकों को उचित है कि वे बालका को विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ दिखावें और उनकी विशेषता से उन्हें अवगत करें। प्रश्नों के पूछने और उनके प्रश्नों का उत्तर पाने से ही उनका सविकल्पक ज्ञान पक्का होता है। यह सब विभिन्न पदार्थों के निरीक्षण से सम्भव हो सकता है।

बालक का सविकल्पक ज्ञान प्रौढ़ों के सदृश् सम्पूर्ण नहीं होता, क्योंकि उसकी अनुभूतियों में स्थायित्व का अभाव रहता है। उसका ज्ञान खण्ड खण्ड में होता है। किसी चित्र के दिखलाने पर प्रौढ़ों के सदृश् उसका वर्णन वह नहीं कर पाता। वह एक एक करके वस्तुओं को गिनता है। उदाहरणार्थः वह कहता है कि चित्र में एक औरत, बकरी, गाय और ऊँट हैं आदि आदि। कुछ अनुभव के बाद इन वस्तुओं की वह गणना नहीं करेगा, वरन् वह पूरे चित्र का वर्णन करेगा। कुछ और अनुभव के बाद वह चित्र की आलोचना करने में भी सफल हो सकता है।

बालक का ज्ञान खण्ड खण्ड में, अनुभूतियों का स्थायित्व आयु विकास के साथ।

बालकों का देश और काल का ज्ञान अस्पष्ट होता है। आठ-दस महीने का बालक हाथ से चन्द्रमा को पकड़ने का प्रयत्न करता है। दूर पर रखी हुयी वस्तु को पकड़ने की चेष्टा में वह गिर जाता है। कोई वस्तु उसके यहाँ से कितनी दूर है इसका अनुमान कुछ अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद ही वह कर पाता है। दूरी का ज्ञान प्राप्त करने के लिये बालकों को चलने-फिरने की स्वतन्त्रता देना आवश्यक है। बालकों को समय का ज्ञान भी अस्पष्ट होता है। तीन वर्ष का बालक दिन व रात को नहीं समझ पाता। पाँच-छः वर्ष का होने पर वह दिन व रात को समझने लगता है, पर घण्टे और मिनट और पल की कल्पना उसके ज्ञान-शक्ति के बाहर की बात होती है। आठ-दस वर्ष का होने पर वह महीना और वर्ष की कल्पना करने में समर्थ होता है। अनुभव के बढ़ने पर वह शताब्दी की भी कल्पना कर लेता है। देश और काल के ज्ञान के सदृश् बालकों का 'आकार'

बालकों का देश और काल का ज्ञान अस्पष्ट, दूरी के ज्ञान के लिये चलने फिरने की स्वतन्त्रता, आकार और तौल के ज्ञान भी अस्पष्ट।

और 'तौल' के ज्ञान भी प्रौढ़ों की अपेक्षा बड़ा अस्पष्ट होते हैं। इसे भी अनुभव के आधार पर वे धीरे धीरे सीखते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बालकों का सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्रायः अस्पष्ट ही होता है, क्योंकि उनके वर्तमान और अतीत के अनुभव में सम्बन्ध-हीनता रहती है। जब बालकों में अपने वर्तमान अनुभव को पुराने अनुभव से सम्बन्धित करने की क्षमता आ जती है तो उनका सविकल्पक ज्ञान स्पष्ट होने लगता है। यह क्षमता ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा से ही सम्भव हो सकती है। इसके साथ ही साथ जैसा कहा जा चुका है, निरीक्षण पर भी बल देना आवश्यक है। अब हम नीचे निरीक्षण पर ही कुछ प्रकाश डालेंगे।

बालक के अतीत और वर्तमान के अनुभव में सम्बन्धहीनता।

बालक प्रायः देखता है कि कच्चे आम हरे हरे होते हैं, पर वह यह देखने में असमर्थ होता है कि पके आम भी हरे हरे होते हैं अथवा कुछ कच्चे आम भी पीले अथवा लाल दिखलाई पड़ते हैं। बालक अपनी गाय को नित्य देखता है, पर यह नहीं बतला सकता कि उसका कौन सा सींग टूटा है, अथवा उसके किस ओर काला धब्बा है? यह उसकी निरीक्षण-शक्ति की निर्बलता का फल है। वस्तुतः इसमें अभिभावकों और शिक्षकों का उत्तरदायित्व अधिक है। यदि प्रारम्भ ही में बालकों को निरीक्षण करने की कला समझा दी जाय तो वे ऐसी गलती बहुत कम करेंगे। यह ध्यान देने की बात है कि बचपन में बुद्धि का विकास बहुत कुछ निरीक्षण करने की शक्ति पर निर्भर रहता है। निरीक्षण से किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण बड़ा सुसंगठित होता है, पर यह ध्यान देने की बात है कि निरीक्षण का आधार सविकल्पक ज्ञान ही होता है। इसमें स्मृति, कल्पना और तर्क-शक्ति की भी आवश्यकता होती है। निरीक्षण में हमारी क्रियाशीलता अधिक बढ़ जाती है। बालकों का परिमित ज्ञान निरीक्षण के आधार पर बहुत विकसित किया जा सकता है।

बुद्धि का विकास निरीक्षण पर निर्भर; अतः बालकों को निरीक्षण करने के लिये प्रोत्साहन, निरीक्षण का आधार सविकल्पक ज्ञान; स्मृति, कल्पना और तर्क-शक्ति की भी आवश्यकता।

८—निरीक्षण (ऑब्ज़रवेशन)

न्यूमैन के अनुसार निरीक्षण के तीन भेद किये जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं:—

सभिप्राय (परमज़फुल)—

इसमें व्यक्ति निरीक्षण करने के लिये अपने को पहले ही से तैयार किये

रहता है। किन किन प्रश्नों के उत्तर खोजने की चेष्टा की जायगी यह एक प्रकार से पहले से ही निश्चित रहता है। किसी के लेख की त्रुटियाँ निकालने में हमारा निरीक्षण साभिप्राय होता है। किसी स्थान के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त कर कुछ शंकायों के समाधान के लिये जब हम उसे देखने जाते हैं तो हमारा निरीक्षण सभिप्राय होता है।

पहले से ही तैयार

परिस्थित्यात्मक (सरकमस्टैन्शियल)—

हम कभी कभी निरीक्षण वातावरण के परिवर्तन से विविश होकर करते हैं। इसमें हमारा ध्यान अनैच्छिक कोटि का होता है। दरवाजे की खटखटाहट सुनकर उसे समझने के लिये हम विवश हो जाते हैं।

विवश होकर।

प्रयोजनात्मक (परपजिव) निरीक्षण—

इसमें मस्तिष्क पहले से तैयार नहीं रहता। वह प्रत्येक परिस्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण कर सारी बातें समझना चाहता है। वास्तव में निरीक्षण का यह भेद 'प्रकार' का न होकर 'मात्रा' का है। प्रत्येक निरीक्षण में हमारा कुछ न कुछ उद्देश्य तो रहता ही है। यदि ऐसा न हो तो निरीक्षण सविकल्पक ज्ञान की क्रिया के सामान होगा।

प्रत्येक परिस्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण।

निरीक्षण की शिक्षा—

स्पष्ट है कि बालकों के अनुरूप विकास के लिये उन्हें विभिन्न वस्तुओं के निरीक्षण करने के लिये उत्साहित करते रहना चाहिये। इसमें अभिभावकों और शिक्षकों को सहायता देनी होगी। बालक का ज्ञान बहुत परिमित होता है, अतः वह स्वयं किसी वस्तु का निरीक्षण उसके सभी दृष्टिकोण से नहीं कर सकता। अतः उन्हें रास्ता दिखाना आवश्यक है। बालक जिज्ञासु होते हैं। वे बहुधा प्रश्न करने की झड़ी लगा देते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनकी निरीक्षण-शक्ति तीव्र होती है। वास्तव में यदि उनकी निरीक्षण शक्ति बढ़ाई जाय तो वे अधिक जिज्ञासु हो जायेंगे और अपनी जिज्ञासा का समाधान स्वयं करने की चेष्टा करेंगे। किसी वस्तु के निरीक्षण में शिक्षकों को उसके विशिष्ट गुणों की ओर बालकों का ध्यान आकर्षित करना चाहिये। निरीक्षण से प्राप्त

अनुरूप विकास के लिये विभिन्न वस्तुओं के निरीक्षण के लिये प्रोत्साहन, अभिभावकों और शिक्षकों की सहायता, अनुभव को अपनी भाषा में व्यक्त करना।

अनुभव को शब्दों में प्रकट करने के लिये भी बालकों को उत्साहित करना चाहिये। इससे उनकी भाषा-शक्ति का विकास होगा।

हस्तकला तथा मानचित्र आदि में निरीक्षण शक्ति का विकास, डाल्टन प्लान और प्रॉजेक्ट मेथड।

हस्त-कला सम्बन्धी काम तथा मानचित्र आदि के बनाने से बालकों की निरीक्षण-शक्ति का विकास होता है। डाल्टन प्लान तथा प्रॉजेक्ट मेथड में निरीक्षण-शक्ति के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता है। बालक को अपनी उन्नति के लिये स्वयं उत्तरदायी बना दिया जाता है। उसे विभिन्न वस्तुओं का निरीक्षण कर वांछित कार्य स्वयं करना पड़ता है। विशेष कर प्रॉजेक्ट मेथड में 'करने से सीखने' (लर्निङ्ग बाई डूइङ्ग) का सिद्धान्त निरीक्षण-शक्ति के विकास का ही दूसरा रूप है। बालक जितना ही स्वयं 'हाथ का काम' करेगा उसका सविकल्पक ज्ञान उतना ही पुष्ट होगा।

६—पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान (अपरसेप्शन)

पूर्व सञ्चित संस्कारों का योग, वर्तमान अनुभव का सम्बन्ध इन्हीं से, इसी से सविकल्पक ज्ञान सम्बन्ध, हरबार्ट का नियमित पद, शिक्षकों को बालक के पुर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान का ठीक ठीक अनुमान।

सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का विवेचन बिना पुर्वानवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान के उल्लेख के अधूरा रह जायगा। अतः अब इसी पर विचार किया जायगा। पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान हमारे पूर्व संचित संस्कारों का योग है। सविकल्पक ज्ञान के पूर्व हमारे वर्तमान अनुभव का सम्बन्ध इसी पूर्व संचित संस्कारों अथवा पुर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान से होता है। इसका ऊपर हम उल्लेख कर चुके हैं। हमारा सारा नया अनुभव पुर्वानुवर्ती ज्ञान से सम्बन्धित होता है, तब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है। इसी मनोवैज्ञानिक सत्य के आधार पर हरबार्ट ने सबसे पहले अपने नियमित पद (फार्मल स्टेप्स) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। किसी वस्तु का सविकल्पक ज्ञान जब पुर्वानुवर्ती ज्ञान के संयोग से होता है तो यह आवश्यक है कि शिक्षक बालकों के पुर्वानुवर्ती ज्ञान का ठीक ठीक ज्ञान रक्खे। इस ज्ञान के अभाव में वह अपना अध्यापन बालकों के लिये रुचिकर अथवा लाभप्रद नहीं बना सकेगा। जो कुछ बालक सुनता है यदि उसका सम्बन्ध उसके पूर्व संचित संस्कारों से नहीं है तो उस वस्तु का सविकल्पक ज्ञान उसे न हो सकेगा। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षक किसी विषय के बताते समय पाठ्य-वस्तु को बालकों के पुराने अनुभव से सम्बन्धित करे। इससे यह स्पष्ट है कि बालक के ज्ञान-वृद्धि अथवा सविकल्पक ज्ञान के लिये पुर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान का उपयोग आवश्यक है।

सहायक पुस्तकें

१—उडवर्थ—साइकॉलॉजी, अध्याय १० व १७।
२—मार्गन ऐण्ड गिलीलैण्ड—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी, अध्याय ७, ८।
३—डम्विल—द फ़ण्डामेण्टलस ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय ४, ५।
४—नॉर्सवर्दी ऐण्ड ह्विटले—साइकॉलॉजी ऑव् चाइल्ड हूड, अध्याय ८।
५—ओगडेन—साइकॉलॉजी ऐण्ड एडूकेशन, अध्याय ९ व ११।
६—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—माडर्न साइकॉलॉजी ऐण्ड एडूकेशन, अध्याय १२।
७—स्टाउट—ए मैनुअल ऑव् साइकॉलॉजी, बुक २, अध्याय १।
८—गॉल्ट ऐण्ड हॉवर्ड—ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी।
९—डेविड केनेडी-फ्रेसर—द साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन, सेक्शन १, अध्याय १, ३।
१०—मैडम मॉन्तेसरी—द मॉन्तेसरी मेथड, अध्याय १२–१४ (सेन्स ट्रेनिङ्ग)।
११—राबर्ट्स उडवर्थ—एक्सपेरिमेन्टल साइकॉलॉजी, अध्याय १९–२६।
१२—सरयूप्रसाद चौबे—सामान्य मनोविज्ञान, अध्याय १७, १८।

———

२२

बुद्धि और उसकी परीक्षा

(इराटेलीजेन्स ऐराड इट्स टेस्टिङ्ग)

बुद्धि का वास्तविक रूप समझने के लिये बुद्धि-परीक्षा के विकास पर प्रकाश डालना आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि बुद्धि सम्बन्धी परीक्षाओं के आधार पर ही बुद्धि के स्वरूप को निर्धारित करने की चेष्टा की गई है, यद्यपि यह चेष्टा अभी तक चल ही रही है। बुद्धि के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिये मनोवैज्ञानिकों ने आपस में जितना अन्वेषण और वाद-विवाद किया है उससे अधिक कदाचित् ही किसी अन्य विषय के सम्बन्ध में किया हो, परन्तु अब भी इस विषय में बड़ा मतभेद है। पाठकों की सुविधा के लिये यहाँ इतना बतला देना आवश्यक जान पड़ता है कि बुद्धि एक स्वाभाविक शक्ति है। व्यक्ति की अर्जित शक्ति से वह भिन्न होती है। सभी मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि को जन्म-जात माना है, और उसकी परीक्षा के लिये विभिन्न उपायों का उपयोग किया है। इन विभिन्न उपायों पर दृष्टिपात कर बुद्धि के स्वरूप को पहचानने की हम नीचे चेष्टा करेंगे।

बुद्धि को समझने के लिये बुद्धि परीक्षा के इतिहास को समझना आवश्यक, मतभेद, स्वाभाविक नहीं।

क—बुद्धि परीक्षा का इतिहास (हिस्ट्री ऑव् इन्टेलीजेन्स टेस्टिङ्ग)

बुद्धि-परीक्षा किसी न किसी रूप में सभ्यता के आदि काल से ही चली आ रही है। अपने वेद और पौराणिक कथाओं के पढ़ने से पता चलता है कि उस समय भी लोग बुद्धि-परीक्षा में कुछ न कुछ उत्सुकता रखते थे। उपनिषदों में बृहस्पति और इन्द्र, तथा महाभारत में यक्ष और युधिष्ठिर का संवाद हमें बुद्धि-परीक्षा का ही स्मरण दिलाता है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में हम बहुत सी ऐसी पहेलियाँ और समस्यायें पाते हैं

बुद्धि-परीक्षा सभ्यता के आदि काल से, महाभारत, पौराणिक- कहानियाँ, शिक्षित बुद्धिमान और दूसरा मूर्ख, बुद्धि ज्ञान से भिन्न,

बुद्धि का मापना सम्भव।

जिनके हल करने में बुद्धि छक सी जाती है। कदाचित् प्राचीन काल में भारतीय इन्हीं सब उपायों से किसी पद के चुनाव के लिये विशिष्ट जनों की बुद्धि की परीक्षा करते थे। बड़े बूढ़ों से आजकल जो कुछ पेचीदीं पहेलियाँ सुनने को मिलती हैं वे भी अपने प्रकार की बुद्धि-परीक्षा के ही साधन प्रतीत होती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति की योग्यता का अनुमान लगाने की सदा से कुछ न कुछ चेष्टा रही है। वैयक्तिक भिन्नता को सभी स्वीकार करते थे, पर वैयक्तिक भेद के कारण को नहीं समझ पाते थे। जो शिक्षित होती थे उन्हें बुद्धिमान कहा जाता था और दूसरों को मूर्ख। अतः लोग बुद्धि और विद्या में विशेष अन्तर नहीं समझते थे। विद्वान् बुद्धिमान माना जाता था। परन्तु धीरे धीरे लोगों को यह भान हुआ कि बुद्धि 'ज्ञान' से भिन्न होती है, अतः उसकी भिन्नता का पता लगाना आवश्यक है। मनोवैज्ञानिकों ने इस भिन्नता के रूप को पहचानना चाहा। किसी भी नये कार्य में कोई न कोई बाधा अवश्य उपस्थित होती है। लोगों की आलोचनायें चारों ओर से आने लगती हैं। बुद्धि-परीक्षा की लहर जब चली तो कुछ विद्वानों ने कहा कि लोहा, सोना, लकड़ी, पत्थर ऐसे मूर्त पदार्थ अवश्य तौले जा सकते हैं। पर 'विचारों' का तौलना कठिन है, समुद्र की गहराई मापी जा सकती है, पर संवेग अथवा बुद्धि को कैसे मापा जाय? इस विचार के समर्थक अब भी कुछ पाये जाते हैं। इस धारणा के विरुद्ध थॉर्नडाइक का कथन है कि "जो कुछ वस्तु है वह एक मात्रा में रहती है और यदि वह मात्रा में है तो उसकी माप भी की जा सकती है।"

बुद्धि-परीक्षा करने के लिये पहले के प्रयत्न आजकल के सदृश वैज्ञानिक न थे। आकृति-सामुद्रिक (फिज़ियॉग्नामी) तथा मस्तिष्क-विज्ञान (फ्रेनॉलॉजी) पर अठारहवीं शताब्दी तक अधिक विश्वास था।

अठारहवीं शताब्दी तक आकृति-सामुद्रिक और मस्तिष्क विज्ञान पर विश्वास, लवैटर के परीक्षण और निष्कर्ष, गॉल, लॉम्ब्रोसो-अपराध विज्ञान, गॉल्टन, कार्ल पियर्सन।

सन् १७७२ ई० में लवैटर ने आकृति-सामुद्रिक पर एक लेख प्रकाशित किया। कुछ परीक्षणों के आधार पर उसने यह प्रतिपादित किया कि चेहरे की आकृति से बुद्धि का पता लगाया जा सकता है। कई व्यक्तियों के नाक, दाँत, कपोल तथा भौंहे आदि की आकृति तथा उनके चरित्र का लवैटर ने तुलनात्मक अध्ययन किया। उसके आधार पर एक विशिष्ट आकृति के लिये एक विशिष्ट मानसिक गुण का उसने समर्थन किया। यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान ने आकृति-सामुद्रिक को निराधार सिद्ध कर दिया है, पर जन साधारण का उस पर कुछ न कुछ विश्वास अब भी दिखलाई पड़ता है। १८०७ ई० में फ्रान्स के गॉल ने अपने मस्तिष्क-विज्ञान (फ्रेनॉलॉजी) के

सिद्धान्त पर अपने शिष्य स्पर्ज़हीम की सहायता से सिर के आकार के आधार पर बुद्धि के अनुमान की युक्ति निकाली। सिर के विभिन्न वाह्य विकास के आधार पर गॉल ने २६ मानसिक शक्तियों की ओर संकेत किया। गॉल के विचारों का खण्डन करते हुए इटली के प्रसिद्ध अपराध-वैज्ञानिक (क्रिमीनॉलाजिष्ट) लॉमब्रॉस ने १८७६ ई० में अपने कुछ समर्थकों के साथ यह प्रतिपादित किया कि शरीर और विशेषकर सिर की कुछ भद्दी आकृतियाँ मानसिक दोषों और संवेगात्मक निर्बलता की ओर संकेत करती हैं। इटली के प्रायः सभी अपराध-वैज्ञानिकों का यह विश्वास हो गया कि शरीर की कुछ भद्दी आकृति से ही मानसिक दोष उत्पन्न होते हैं। सन् १८८६ ई० में सर फ्रान्सिस गाल्टन ने लॉमब्रॉस के सिद्धान्त का खण्डन किया। उसने कहा कि शारीरिक अवयवों के अध्ययन से बुद्धि की गहराई का अनुमान लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थः गाल्टन के अनुसार मध्यम ऊँगली की लम्बाई से बुद्धि का कुछ पता चलाया जा सकता है। १९०६ ई० में प्रो० कार्ल पियर्सन ने ५००० बालकों पर प्रयोग कर यह सिद्ध किया कि सिर की बनावट, मुखाकृति तथा शारीरिक अवयवों और व्यक्ति की मानसिक योग्यता से कोई सम्बन्ध नहीं। Kw. Kamini Madan

शारीरिक शक्तियों के माप से बुद्धि-परीक्षा का प्रयत्न, ज्ञानेन्द्रियों का पता लगाना, शरीर की विभिन्न शक्तियों से संचालित, डायनमोमीटर, अर्गोग्रफ, आज्ञा पालन के आधार पर बुद्धि-परीक्षा।

बुद्धि के मापने में इस प्रकार सफलता न मिलने पर मनोवैज्ञानिकों ने शारीरिक शक्तियों की माप से बुद्धि को मापने का प्रयत्न किया। उस समय के कुछ वैज्ञानिक श्रवण, स्पर्श तथा दृष्टि सम्बन्धी ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति का पता लगाना चाहते थे। अतः मनोवैज्ञानिकों का भी इधर ही झुकाव हुआ। उस समय उन लोगों का विश्वास था कि व्यक्ति की विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की योग्यता का बुद्धि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी वस्तु को सुन, देख अथवा स्पर्श कर लेने से ही उसके विषय में ज्ञान हो जाना तीव्र बुद्धि का लक्षण समझा जाता था। अतः ज्ञानेन्द्रियों की योग्यता की परीक्षा पर बुद्धि का कुछ अनुमान लगाने की मनोवैज्ञानिकों में प्रवृत्ति आ गई। उदाहरणार्थः यदि दो वस्तुओं की तौल में थोड़े से भी अन्तर को भी कोई व्यक्ति पहचान लेता है, अथवा थोड़े से भेद वाले एक ही प्रकार के रंग को वह पहचान लेता है तो उसकी बुद्धि तीव्र कही जायगी, अन्यथा साधारण। इसी प्रकार व्यक्ति की शारीरिक शक्ति से भी बुद्धि को पहचानने की विधि निकाली गई, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति पर ही पूरा भरोसा नहीं किया गया। लोगों को अनुमान हो चला कि शरीर की विभिन्न गतियाँ बुद्धि से संचालित होती हैं। बुद्धि की प्रखरता पर उनकी तीव्रता निर्भर होती है। इस प्रकार का एक प्रयोग डायनमोमीटर की सहायता से व्यक्ति की मुट्ठी की शक्ति मापने में किया गया।

अर्गोग्रैफ् यन्त्र से मध्यम उँगली की सहनशीलता मापने का उपाय निकाला गया। मुट्ठी तथा मध्यम उँगली की शक्ति के अनुसार व्यक्ति की बुद्धि की तीव्रता का अनुमान किया गया। आज्ञा पाने तथा उसके पालन के मध्यान्तर के आधार पर भी बुद्धि की माप का उपाय सोचा गया, क्योंकि प्रखर बुद्धि वाला व्यक्ति आज्ञाओं का पालन शीघ्र कर लेता है। इस प्रकार बहुत से प्रयोग करने के साधन निकाले गये। सबका विस्तृत विवरण देना इस पुस्तक की परिधि के बाहर है।

उपर्युक्त धारणा भ्रमात्मक, प्रखर बुद्धि वाले ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति से निर्बल, उपर्युक्त साधन बुद्धि-परीक्षा में असफल।

बुद्धि की उपर्युक्त कल्पना शीघ्र ही भ्रमात्मक सिद्ध कर दी गई। प्रयोगों के आधार पर देखा गया कि बहुत से व्यक्ति जो प्रखर बुद्धि वाले कहे जाते थे ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति में निर्बल थे। वस्तुओं में आपस के थोड़े से भेद को वे नहीं पहचान सके। आज्ञा-पालन में भी उन्होंने कोई विशेष सतर्कता न दिखलाई। इसके विपरीत मूर्ख कहे जाने वाले व्यक्तियों ने उनसे अधिक शक्ति और सतर्कता दिखलाई। अतः यह सिद्ध कर दिया गया कि ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति तथा शारीरिक शक्ति आदि के मापने से बुद्धि की तीव्रता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

(१) बिने का कार्य—

नई विधि का निर्माण, विभिन्न अवस्था के लिये पृथक प्रश्नावली।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही इस क्षेत्र में नया कार्य प्रारम्भ हो गया। इस विषय में फ्रान्स के मनोवैज्ञानिक डा० अलफ्रेड बिने का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बालकों की शिक्षा की उचित व्यवस्था के लिये पेरिस म्युनिसपैलिटी ने बिने महोदय से बालकों की बुद्धि के मापने के साधन ढूढ़ने की प्रार्थना की। शिक्षा की उचित व्यवस्था के लिये बिने बालकों की मानसिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करके यह जानना चाहता था कि एक वर्ष अथवा कुछ महीनों की अवधि के भीतर बाल-मन में कितना परिवर्तन होता है। सन् १८८० ई० से ही बिने इस समस्या पर कार्य कर रहा था। वह कुछ ऐसी परीक्षा-विधि की खोज में था जिससे बुद्धि के सभी आवश्यक अंगों की परीक्षा हो जाय। कुछ दिनों तक वह उस समय की प्रचलित प्रयोगशाला में ही अन्वेषण करता रहा, पर उसे सफलता न मिली। अतः उसने केवल कलम, कागज और स्याही की सहायता लेने का निश्चय किया। अन्त में १९०४ ई० में उसने अपने सहयोगी थ्योडोर साइमन की सहायता से विभिन्न उम्र के बालकों की बुद्धि-परीक्षा के लिये पृथक पृथक प्रश्नावली चुनी। प्रत्येक प्रश्नावली में पाँच या छः प्रश्न रहते थे। बिने ने ३ वर्ष से लेकर १५ वर्ष के बालकों तक की परीक्षा

के लिये प्रश्नावलियाँ तैयार कीं। पर उसने ११ और १३ वर्ष वालों को छोड़ दिया। प्रत्येक प्रश्नावली में प्रश्नों को इस क्रम से चुना गया कि चार वर्ष वाला बालक जिन प्रश्नों को करता था उसे तीन वर्ष वाला नहीं कर पाता था। इसी प्रकार आठ वर्ष वाला नव वर्ष वाले के प्रश्न नहीं कर सकता था। जो बालक अपनी अवस्था वाली प्रश्नावली को हल कर लेता था वह साधारण तथा जो नहीं कर पाता था वह मन्द-बुद्धि, तथा जो अपनी अवस्था से ऊपर वाली अवस्था के प्रश्न कर लेता था उसे असाधारण बालक कहा जाता था। इन प्रश्नों के कुछ नमूने आगे दिये जायेंगे।

(२) बिने ने अपनी प्रश्नावली कैसे तैयार की ?

बालक का आयु-वृद्धि के साथ ज्ञान भी सीखना, ज्ञान बुद्धि का एक चिन्ह, पर प्रश्नों में स्कूल से प्राप्त ज्ञान का समावेश नहीं, ऐसा ज्ञान जिसे कोई भी बालक सीख सकता था, एक प्रश्नावली को तैयार करने में १००० बालकों की परीक्षा, बुद्धि के प्रत्येक क्षेत्र से प्रश्न, प्रश्नावली करने के अनुसार मानसिक आयु का निर्धारण, बिने की मन्द-बुद्धि बालक की कल्पना।

बिने का मत था कि बालक अपनी आयु-वृद्धि के साथ कुछ ज्ञान भी सीखता जाता है। अतः ५ वर्ष के बालक से ६ वर्ष वाले का ज्ञान अधिक है। बिने ने ज्ञान को बुद्धि का एक चिन्ह माना। उसका कहना था कि यदि किसी अवस्था वाला बालक किसी विशिष्ट विषय पर कुछ प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता तो वह अवश्य ही मन्द बुद्धि है। ज्ञान को बुद्धि का एक चिन्ह मानते हुये भी बिने ने अपने प्रश्नों में स्कूल से प्राप्त ज्ञान का समावेश नहीं किया। प्रश्नों में ऐसे ही ज्ञान को लिया गया जिसे साधारण परिस्थिति में कोई भी बालक स्वतः सीख सकता है। एक अवस्था के लिए ५ या ६ प्रश्न तैयार करने के पहले उसी अवस्था के एक हजार बालकों की उनमें परीक्षा ली जाती थी। इस एक हजार में उच्च, मध्यम और निम्न सभी कोटि के बालक रखे गये। जिन प्रश्नों का उत्तर ६० प्रतिशत बालकों से ठीक ठीक मिल जाता था उसे रखा जाता था और शेष को या तो निकाल दिया जाता था या फिर से संशोधित किया जाता था। बुद्धि के प्रत्येक क्षेत्र से कुछ न कुछ प्रश्न पूछा जाता था। यदि पाँच वर्ष वाला बालक अपनी अवस्था वाले प्रश्नों का उत्तर ठीक ठीक दे देता था तो उसकी मानसिक आयु (मेण्टल एज) पाँच वर्ष मान ली जाती थी। यदि वह तीन वर्ष की अवस्था वाली प्रश्नावली को ही हल करता था तो उसकी मानसिक आयु तीन वर्ष मानी जाती थी। और यदि छः वर्ष वाली प्रश्नावली हल कर लेता था तो वास्तविक आयु पाँच साल की रहते हुए भी उसकी मानसिक आयु छः निश्चय की जाती थी। इसके आधार पर बालक क्रमशः साधारण व मन्द-बुद्धि के सभी प्रश्न कर लेने के बाद ऊपर अवस्था की प्रश्नावली के प्रत्येक प्रश्न के करने पर बिने

$\frac{१}{५}$ वर्ष मानसिक आयु जोड़ देता था। मान लीजिये, कोई सात वर्ष का बालक आठ वर्ष के सभी प्रश्नों को हल कर लेता है और इसके अतिरिक्त नव वर्ष के दो प्रश्न तथा दस वर्ष का एक प्रश्न भी हल कर लेता है तो उसकी मानसिक आयु इस प्रकार होगी :—$८ + \frac{२}{५} + \frac{१}{५}$ वर्ष $= ८\frac{३}{५}$ वर्ष। बिने का मत था कि नव वर्ष के अन्दर के बालक की यदि मानसिक आयु वास्तविक आयु (क्रॉनॉलॉजिकल एज) से दो वर्ष कम हो, तथा नव वर्ष से ऊपर वाले की मानसिक आयु वास्तविक आयु से तीन वर्ष से कम हो तो उसे मन्द-बुद्धि समझना चाहिये।

(३) बिने-साइमन की विधि की विशेषता :

बिने का कार्य महत्त्वपूर्ण घटना; उच्च मानसिक प्रक्रियाओं की परीक्षा; ज्ञान, पृथक्करण की शक्ति, परिस्थिति के अनुसार विचार करने की योग्यता, ध्यान की शक्ति आदि की परीक्षा; शक्ति मनोविज्ञान में विश्वास नहीं; बुद्धि की तीन विशेषतायें:-प्रयोजनता, व्यवस्थित करने की योग्यता और आत्म-आलोचना की शक्ति।

बिने का कार्य मनोविज्ञान-इतिहास की बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है। बिने ने सबसे पहले बुद्धि के मापने का एक मनोवैज्ञानिक ढंग ढूढ़ निकाला। उसने ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति तथा स्मृति आदि की परीक्षा करने का विचार नहीं किया, वरन् उच्च मानसिक प्रक्रियाओं की परीक्षा करनी चाही। व्यक्ति के ज्ञान (कम्प्रेहेनशन), पृथक्करण की शक्ति (ऐब्स्ट्रैक्शन), परिस्थिति के अनुसार विचार करने की योग्यता, ध्यान एकाग्र करने की शक्ति आदि की परीक्षा लेकर उसकी बुद्धि का बिने अनुमान लगाना चाहता था। बिने का शक्ति-मनोविज्ञान (फ़ैकैल्टी साइकॉलॉजी) में विश्वास न था। मस्तिष्क की विभिन्न शक्तियाँ आपस में गुथी रहती है। अतः उनका पृथक्करण सम्भव नहीं, बिने बुद्धि में तीन विशेषतायें देखता है—प्रयोजनता (परपज़फुलनेस), नयी परिस्थिति में अपने को व्यवस्थित करने की योग्यता (कैपेसिटी टु मेक अडैप्टेशन) और आत्म-आलोचन करने की शक्ति (पॉवर ऑव् सेल्फ-क्रिटिसिज़्म।

(४) बिने-साइमन की विधि की आलोचना :

वस्तुओं से अधिक शब्द पर ध्यान, भाषा ज्ञान ही एक सामान्य मानसिक योग्यता, अतः भाषा-ज्ञान

मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टि से बिने-साइमन की विधि की आलोचना की गई है। बिने ने अपनी प्रश्नावलियों में वस्तुओं से अधिक शब्दों पर ध्यान दिया है। जिस बालक का भाषा-ज्ञान अच्छा होगा वह बिने की परीक्षा में अच्छा प्रमाणित हो सकता है, पर अधिक व्यावहारिक बालक को असुविधा होगी। बिने के समर्थकों का कहना है कि भाषा-ज्ञान ही एक ऐसी शक्ति है जिसे

की परीक्षा से बुद्धि-परीक्षा, उम्र के आधार पर प्रश्नों का वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक नहीं ?

एक सामान्य मानसिक योग्यता कहा जा सकता है, क्योंकि कोई चाहे जिस काम में रुचि रखता हो उसे कुछ न कुछ भाषा-ज्ञान अवश्य रहेगा। प्रत्येक को अपने अपने क्षेत्र में पर्याप्त भाषा-ज्ञान रहता है। वस्तुतः प्रत्येक विषय भाषा का एक सुव्यवस्थित पुञ्ज है। भाषा एक ऐसा उपयोगी साधन है कि प्रत्येक क्रियाशील व्यक्ति इसका अपनी आवश्यकतानुसार प्रयोग करता है। अतः बिने के कुछ समर्थकों का कहना है कि बालक के शब्द-चयन की परीक्षा से उसकी बुद्धि-विषयक बहुत सी बातें ज्ञात हो जाती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि उम्र के आधार पर प्रश्नों का वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक नहीं, क्योंकि बुद्धि का विकास अविरल गति से नहीं चलता। एक दो वर्ष के भीतर वह कभी धीमा रहता है है और कभी तीव्र।

बिने की विधि ऐसी है कि प्रत्येक बालक को अकेले ही परीक्षा लेनी पड़ती है। अतः इसमें समय अधिक लग जाता है। प्रत्येक को लगभग ४५ मिनट देने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त परीक्षण-विधि कुछ ऐसी है कि साधारण बालक आत्म-विश्वास खो बैठता है और अपनी योग्यतानुसार प्रश्नों का उत्तर देने में हिचकता है। पर किसी भी वैयक्तिक परीक्षा में यह दोष तो रहेगा ही। यदि कोई बालक अपनी अवस्था वाले प्रश्नों का पूर्णतः उत्तर नहीं दे पाता, पर बाद की अवस्था के कुछ प्रश्नों का सुन्दर उत्तर देता है, तब भी बिने महोदय उसकी 'मानसिक आयु वास्तविक से कम ही मानेंगे। उदाहरणार्थ: कोई आठ वर्ष का बालक अपनी अवस्था के तीन प्रश्नों का उत्तर दे सकता है, पर नव वर्ष के कुछ प्रश्नों का सुन्दर उत्तर देता है—तब भी उसकी मानसिक आयु आठ वर्ष की न मानी जायगी। कुछ लोगों का कहना है कि बिने के सभी प्रश्न बुद्धि का माप नहीं करते, वरन् इनमें कुछ संकेत-योग्यता (सज्जेस्सीबिलिटी) का माप करते हैं। बिने का यह मत कि "नव वर्ष तक के सभी बालकों को वास्तविक आयु से दो वर्ष कम मानसिक आयु वाले बालक मन्द-बुद्धि हैं ठीक नहीं जान पड़ता। उदाहरणार्थः बिने के अनुसार पाँच वर्ष का बालक जिसकी मानसिक आयु तीन वर्ष है उतना ही मन्द-बुद्धि है जितना कि नव वर्ष का बालक जिसकी आयु सात वर्ष की है। दोनों ही दो वर्ष नीचे हैं, पर पहला पाँच वर्ष में दो वर्ष पिछड़ा है और दूसरा नव वर्ष में। अतः अनुपात की दृष्टि से पहला अधिक पिछड़ा है, अर्थात् दूसरा पहले से कहीं आगे है।

समय अधिक, बालक का आत्म-विश्वास खोना, सभी प्रश्न से बुद्धि माप नहीं, मन्द-बुद्धि के विषय में बिने की धारणा भ्रमात्मक।

अपनी विधि के प्रचार के बाद बिने बहुत दिन तक जीवित न रह सका, अन्यथा वह निश्चय ही उपयु क्त बहुत से दोषों को दूर करने का प्रयत्न करता।

उसके मरने के बाद दूसरे लोगों ने उसका अनुकरण किया और दूसरी विधि निकाली जिसमें ऊपर के बहुत से दोषों को दूर कर दिया गया।

(५) बुद्धि की सामूहिक परीक्षा (ग्रूप टेस्ट्स ऑव इन्टेलीजेन्स)

बुद्धि की सामूहिक परीक्षा की आवश्यकता, अमेरिका में परीक्षण, टरमैन, क्रिया-प्रश्न, अलफ़ा-बीटा टेस्ट्स।

बिने की विधि मौखिक और वैयक्तिक थी। अतः उसके प्रयोग में बहुत समय लगता था, यद्यपि यह मानी हुई बात थी कि उससे बालक की व्यक्तिगत योग्यता का अनुमान अवश्य लग जाता था। शिक्षा के प्रचार से लोगों ने एक ऐसी विधि की इच्छा प्रगट कि जिससे थोड़े ही समय में बहुत से बालकों की बुद्धि-परीक्षा हो जाय। ओटिस, थार्नडाइक, पाइल, लॉबसीन और पीन्टर ने इस उद्देश्य की पूर्ति की ओर कुछ काम किया। प्रथम महायुद्ध (१९१४—१९१८) में संयुक्त राज्य अमेरिका ने जब (१९१७—१९१८) प्रवेश किया तो इस कार्य को बड़ी प्रेरणा मिली। सरकार ने एक ऐसी बुद्धि-परीक्षा-विधि की माँग की जिससे युद्ध के लिये योग्य सैनिकों तथा अफ़सरों का चुनाव किया जा सके। इस कार्य के लिये सरकार ने मनोवैज्ञानिकों की एक समिति बनाई। इस समिति ने ओटिस और टरमैन के सामूहिक बुद्धि-परीक्षा विधि के सम्बन्ध में किए गये कार्य को स्वीकार किया। टरमैन के बनाये हुए प्रश्नों से लगभग साढ़े छः लाख सैनिकों और ४१ हजार अफ़सरों की बुद्धि-परीक्षा की गई। सैनिकों तथा अफ़सरों की सिद्ध योग्यता और बुद्धि-परीक्षा के फल में परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध (कोरीलेशन) पाया गया। बैलर्ड कहता है कि "इस योजना से मूर्खों को निकालना, बैल और गधे को एक ही साथ न जोतना और योग्य व्यक्ति को योग्य पद पर रखना सम्भव हो सका।" किसी व्यक्ति के साथ अन्याय न हो, इसीलिये बिने-विधि से कुछ लोगों की वैयक्तिक परीक्षा की गई। जो लोग अशिक्षित थे अथवा अंग्रेजी नहीं पढ़ सकते थे उनके लिये क्रिया-प्रश्न (परफ़ार्मेन्स टेस्ट्स) बनाये गये। इसमें किसी प्रश्न के उत्तर देने के स्थल पर कुछ साधारण बुद्धि विषयक कार्य करने पड़ते थे। इस प्रकार अमेरिकन सेना-परीक्षा के दो प्रकार के प्रश्न थे—अलफा टेस्ट्स और बीटा टेस्ट्स, अर्थात् प्रथम और द्वितीय श्रेणी के प्रश्न। अलफ़ा (प्रथम श्रेणी) अंग्रेजी जानने वालों के लिये था और बीटा (द्वितीय श्रेणी) अशिक्षित अथवा अंग्रेजी न जानने वालों के लिये। इन परीक्षा-विधियों की विशेषता यह थी कि सैकड़ों व्यक्तियों की एक ही साथ परीक्षा ली जा सकती थी। लगभग साढ़े तेइस मिनट में २१२ प्रश्नों का उत्तर अति संक्षिप्त रूप में देना पड़ता था। इस प्रकार परीक्षार्थी में अनुमान करने की प्रवृत्ति कुछ आ जाती थी। कभी-कभी एक प्रश्न के तीन-चार उत्तर संकेत कर दिये जाते थे और व्यक्ति को ठीक उत्तर चुनना पड़ता था। इस प्रकार एक प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता था। बिने के प्रश्नों में ऐसी बात न थी। उनमें एक प्रश्न के कभी कभी एक

से अधिक उत्तर दिये जा सकते थे। दूसरों से उत्तरों को पूछ कर कोई रट न ले, इसलिये दो या तीन प्रकार के प्रश्न-पत्र प्रयोग में लाये जाते थे।

अमेरिकन-सेना की परीक्षा विधि से उत्साहित होकर बहुत से मनोवैज्ञानिकों ने वैयक्तिक रूप से इस पर कार्य करना आरम्भ किया। इनमें टरमैन और यर्क्स का 'नेशनल इन्टेलीजेन्स टेस्ट्स', पी० बी० बैलर्ड का 'कोलम्बियन मेण्टल टेस्ट्स', जी० थामसन का 'नार्दम्बरलैण्ड मेण्टल टेस्ट्स', कैटेल का 'ग्रूप टेस्ट्स', मायर्स का 'मेण्टल टेस्ट्स' तथा हैगर्टी का 'इण्टेलीजेन्स एक्ज़ामिनेशन' विशेष उल्लेखनीय हैं।

अन्य प्रयत्न।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हैकि बुद्धि-परीक्षा के लिये वैयक्तिक (इनडिविजुअल) और सामूहिक (ग्रूप) दो प्रकार की विधियों का निर्माण किया गया। यद्यपि ऊपर प्रसंगवश यथास्थान इन दोनों प्रकार पर हम प्रकाश डालते आये हैं, पर इन पर थोड़ा अलग अलग विचार कर लेना अधिक सुविधाजनक होगा। इन विषयों पर कार्य कर अपनी साधना से मनोवैज्ञानिकों ने बहुत लिख डाला है। इनके सविस्तार वर्णन के लिये इन्हीं के लिये एक पुस्तक की आवश्यकता होगी। अतः हमारा क्षेत्र बहुत ही सीमित है और हम नीचे मनोवैज्ञानिकों के कार्य का अपनी आवश्यकतानुसार केवल संक्षिप्त सारांश ही दे सकेंगे।

ख—बुद्धि की वैयक्तिक परीक्षा
(इन्डीविडुअल टेस्ट्स ऑव् इन्टेलिजेन्स).

वैयक्तिक परीक्षा से एक समय एक ही व्यक्ति की बुद्धि की परीक्षा की जा सकती है। इसके प्रश्न के उत्तर मौखिक, क्रिया-प्रधान (परफ़ॉरमेन्स) अथवा मौखिक और क्रिया-प्रधान दोनों प्रकार के उत्तर होते हैं। क्रिया-प्रधान समस्याओं में कुछ मूर्त वस्तुओं के साथ कार्य करने होते हैं और मौखिक में विचार-प्रधान उत्तर देने होते हैं। इसका संचालन एक विशेषज्ञ ही कर सकता है। व्यक्ति के विषय में उसके बड़ों की जो सम्मति होती है उस पर भी उसके बुद्धि-माप में कुछ सहायता ली जाती है। वैयक्तिक परीक्षा में एक प्रकार से प्रयोगशाला का कार्य हो जाता है। इसके फल पर व्यक्ति की योग्यता के सम्बन्ध में अधिक विश्वास किया जा सकता है। इस विधि में सरल से कठिन प्रश्नों की ओर आया जाता है। प्रत्येक उम्र के लिये

एक समय एक ही व्यक्ति की परीक्षा, मौखिक, क्रिया-प्रधान, एक विशेषज्ञ ही द्वारा, बड़ों की सम्मति से तुलना करना, प्रयोगशाला के सदृश, सरल से कठिन प्रश्नों की ओर, प्रत्येक उम्र के लिये पाँच-छः प्रश्न।

पाँच या छः प्रश्न रखे जाते हैं। इन प्रश्नों के आधार पर व्यक्ति की बुद्धि मापने का वैसे ही प्रयत्न किया जाता है जैसे उसकी ऊँचाई का। अपनी अपनी योग्यतानुसार सब लोग थोड़े या अधिक प्रश्न करते हैं। सफलतानुसार उनकी बुद्धि का अनुमान लगाया जाता है। बिने विधि के बहुत से संशोधन निकाले गये हैं। इनमें अमेरिकन बालकों के लिये टरमैन का और अंग्रेजी बालकों के लिये बर्ट का प्रयास प्रशंसनीय है। हम नीचे व्यक्तिगत परीक्षा के कुछ नमूने दे रहे हैं। सभी उम्र के लिये निश्चित किये हुए प्रश्नों का देना आवश्यक सा है। अतः पाठकों को साधारण अनुमान देने के लिये केवल थोड़े ही दिये जा रहे हैं।

१—बिने के बुद्धि परीक्षा के प्रश्न (बिनेस टेस्ट्स)

अपने १९११ के संशोधन में बिने ने जिस प्रकार की प्रश्नवली की रचना की थी उसका कुछ उदाहरण नीचे दिया दिया जा रहा है :—

तीन वर्ष की अवस्था के लिये—

१—तुम्हारे कुल को किस नाम (सरनेम) से पुकारते हैं ?
२—तुम्हारी नाक, आँख और मुँह कहाँ हैं ?
३—दो संख्याओं का दोहराना।
४—छः शब्द के एक वाक्य को दोहराना।
५—चित्र में जो देखते हो उसे कहो।

चार वर्ष की अवस्था के लिये—

१—तुम लड़की हो कि लड़का ?
२—कुञ्जी, चाकू और सिक्का दिखलाकर—ये क्या हैं ?
३—तीन संख्याओं को दोहराना।
४—कागज में खींची हुई चार रेखाओं की तुलना करना।

पाँच वर्ष की अवस्था के लिये—

१—चार सिक्कों को गिनना।
२—एक समकोण चतुर्भुज की नकल करते हुये उसे खींचना।
३—दो समान लगने वाले सन्दूकों की तुलना करना।
४—दस पद के वाक्य को दोहराना।
५—एक चतुर्भुज दफ्ती के दो बराबर टुकड़ों को मिलाना।

छः वर्ष की अवस्था के लिये—

१—तेरह सिक्कों को गिनना।

Hari Nath Pathak

२—एक हीरे की सूरत को कागज पर बनाना।
३—कागज पर खिंचे हुए दो सुन्दर और भद्दे चित्रों का पहचानना।
४—घोड़े और गाड़ी की परिभाषा बतलाना।
५—सुबह और दोपहर का भेद बतलाना।

सात वर्ष की अवस्था के लिये—

१—छः सिक्कों (जिसमें तीन दूने मूल्य के हैं) के मूल्य को बतलाना।
२—क्रमशः दिखलाये हुए चार रंगों का नाम बतलाना।
३—दाहिना हाथ और बाँया कान दिखलाना।
४—तीन आज्ञाओं का सतर्कता से पालन करना।
५—एक साधारण चित्र का वर्णन करना।

टरमैन के संशोधन में ९० प्रश्न, प्रत्येक वर्ष के लिये छः प्रश्न।

बिने की विधि की आलोचना ऊपर बुद्धि-परीक्षा के इतिहास के सम्बन्ध में की जा चुकी है। अमेरिकन मनोवैज्ञानिक टरमैन ने बिने की विधि के दोषों को निकालकर अमेरिकन बालकों के लिये उपयुक्त उनका संशोधित रूप प्रकाशित किया। टरमैन का संशोधन "द स्टैन्फ़ोर्ड रिवीज़न" के नाम से प्रसिद्ध है। टरमैन के संशोधन में कुल नव्वे प्रश्न (टेस्ट्स) हैं। बिने ने प्रत्येक उम्र के लिये पाँच ही पाँच प्रश्न रक्खे थे। टरमैन ने प्रायः प्रत्येक के लिये छः प्रश्न कर दिये जिससे एक प्रश्न का मूल्य दो महीने के बराबर हो। बारह वर्ष की अवस्था के लिये टरमैन ने आठ प्रश्न, और चौदह वर्ष के बाद के व्यक्तियों के लिये छः प्रश्न रक्खे। टरमैन के संशोधन में उसकी मौलिकता की छाप दिखलायी पड़ती है। उनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं:—

२—टरमैन द्वारा संशोधित बिने-साइमन-बुद्धि-परीक्षा के प्रश्न (स्टेनफ़ोर्ड रिवीजन ऑव् बिने-साइमन स्केल)

तीन वर्ष की अवस्था के लिये—

१—तुम्हारी नाक कहाँ है, तुम्हारी आँखें कहाँ हैं, आदि।
२—बालक को चाकू, कलम अथवा कुन्जी दिखलाओ और पूछो—'यह क्या है ?'
३—चित्र में तुम क्या देखते हो ? आदि।
४—तुम लड़की हो कि लड़का ?
५—तुम्हारा नाम क्या है ?

६—जो मैं कहता हूँ उसे दोहराओ :

(अ) मेरे पास एक कुत्ता है।

(ब) वह बिल्ली के पीछे दौड़ता है।

४ वर्ष की अवस्था के लिये—

१—विभिन्न लम्बाई की तीन रेखायें खींच कर पूछो "इसमें सबसे लम्बी कौन है ?"

२—वृत्त, समकोण चतुर्भुज और त्रिभुज दिखलाओ। दो को एक साथ दिखला कर पूछो कि वे भिन्न अथवा समान हैं।

३—चार पैसे मेज पर रख कर उन्हें गिनने के लिये कहो।

४—एक इञ्च का एक समकोण चतुर्भुज खींच दो और बालक को उसकी तीन नकल बनाने को कहो।

५—तुम थके या भूखे हो तो क्या करोगे ?

६—४, ७, ३, ६ गिन कर अपने पीछे उससे दोहराने के लिये कहो।

पाँच वर्ष की अवस्था के लिये—

१—एक ही आकार की दो सन्दूकों में विभिन्न वस्तुएँ भर कर पूछो दोनों सन्दूकों में कौन भारी है।

२—लाल, हरा, नीला और पीला रंग दिखलाकर पूछो—'इसका क्या रंग है ?'

३—इन दोनों में अधिक सुन्दर कौन है ? (तीन-चार चित्र दिखला कर)

४—कुर्सी क्या है ? घोड़ा क्या है ? (परिभाषा बतलाना)।

५—"धैर्य का खेल" (एक आयत जो दो त्रिभुजों से दिखलाया गया हो, बनाने के लिये कहना)।

६—तीन आज्ञाओं का पालन करना, इसे मेज पर रख दो, दरवाजा बन्द कर दो, मेरे पास वे सन्दूकें लाओ।

छः वर्ष की अवस्था के लिये—

१—अपना दाहिना हाथ दिखलाओ। अपना बायाँ कान दिखलाओ। अपनी दाहिनी आँख दिखलाओ।

२—इस चेहरे को देखो (चित्र दिखलाकर)। इसमें क्या छोड़ दिया गया है ?

३—तेरह सिक्कों को मेज पर रख कर बालक को जोर जोर से गिनने को कहो।

४—क्या करना चाहिये जब कि—

(क) तुम्हारे स्कूल जाते समय पानी बरस रहा है ?

(ख) तुम्हारे घर में आग लग गई है ?

(ग) कहीं जाते समय गाड़ी छूट गई ?

५—चार-पाँच प्रकार के सिक्के रख कर पूछो—ये क्या हैं ?

६—जो कुछ मैं कहता हूँ उसे सुन कर ठीक ठीक दोहराओ :—

(क) यह समय बड़ा सुहावना है। पिंजड़े में मैंने एक चूहा देखा।

(ख) उसकी छुट्टी बड़े आनन्द से बीती। वह रोज मछली मारने जाता था।

(ग) मैं बाहर घूमने जाऊँगा। कृपया मेरी टोपी दीजिये।

सात वर्ष की अवस्था के लिये—

१—हाथ में कितनी उँगलियाँ हैं ? दूसरे में कितनी हैं ? दोनों में मिला कर कितनी हैं ?

२—यह चित्र किसके बारे में है ?

३—जो कुछ मैं कहता हूँ उसे दुहराओ। ३, १, ७, ५, ६; ४, २, ८, ३, ५; ६, ८, १, ७, ६।

४—यह गाँठ जैसी है वैसी ही इस रस्सी में बनाओ।

५—एक मक्खी और तितली में क्या भेद है ?

६—पत्थर और अण्डे में क्या अन्तर है ? लकड़ी और शीशे में क्या अन्तर है ?

७—ऐसा ही चित्र बनाओ (एक बहुभुज क्षेत्र की नक़ल करना—जैसे हीरा)

३—बर्ट का संशोधन—'द लण्डन रिवीज़न'

बर्ट द्वारा संशोधित बिने के प्रश्न 'लण्डन रिवीजन, के नाम से प्रसिद्ध हैं। बिने के समय में ही बर्ट ने भी ऑक्सफोर्ड में स्कूल बालकों की बुद्धि-परीक्षा पर प्रयोग आरम्भ किया। पहले उसने अध्यापकों से बुद्धि के अनुसार बालकों का वर्गीकरण करने के लिये कहा, तब उसने उनको बारह प्रश्न उनके उम्र के अनुसार करने को दिये। बर्ट ने देखा कि उसके परीक्षा-फल और अध्यापकों के अनुमान में घनिष्ठ परस्पर-सम्बन्ध है। जिन प्रश्नों के फल और अध्यापकों के अनुमान में जितना ही घनिष्ठ सम्बन्ध देखता था उन्हें वह उतना ही ठीक समझता था। बिने के प्रश्नों का लन्दन के स्कूल-बालकों पर उसने परीक्षण किया और उनमें संशोधन और सुधार की आवश्यकता का अनुभव किया। उसने यह देखा कि बिने के प्रश्न बड़ी उम्र वाले बालकों की अपेक्षा छोटों के लिये अधिक लाभदायक हैं। बर्ट ने यह निष्कर्ष निकाला कि बुद्धि-परीक्षा के वे प्रश्न जो विचार और तर्क की परीक्षा करते हैं सबसे अच्छे हैं। बर्ट ने कहा कि "यदि बुद्धि प्रकृतिदत्त है, और वह

बर्ट के परीक्षा-फल और अध्यापकों के अनुमान में परस्पर-सम्बन्ध, बर्ट के अनुसार बिने के प्रश्न छोटे बालकों के लिये अधिक लाभदायक, विचार और तर्क की परीक्षा करने वाले प्रश्न सबसे अच्छे, ६५ प्रश्न।

ऊँची मानसिक प्रक्रियाओं में प्रकाशित होने वाली एक सामान्य मानसिक योग्यता है तो बुद्धि-परीक्षा में आने वाले प्रश्नों में तर्क और विचार-शक्ति का समावेश होना आवश्यक है।" इस सिद्धान्त के अनुसार बर्ट ने ऊँची उम्र के प्रश्न में तर्क-शक्ति के प्रयोग का समावेश किया। संशोधन में तीन वर्ष से सोलह वर्ष तक के लिये ६५ प्रश्न हैं। हर एक उम्र के लिये भिन्न-भिन्न संख्या के प्रश्न हैं। बर्ट के संशोधन के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं:—

सात वर्ष के लिये—

क, ख से अधिक चतुर है।
ख, ग से अधिक चतुर है।

बताओ कौन सबसे अधिक चतुर है क, ख अथवा ग ?

आठ वर्ष के लिये—

१—कहीं जाते समय गाड़ी छूट गई तो क्या करोगे ?
२—किसी दूसरे की वस्तु को तुमने तोड़ दिया तो क्या करोगे ?

"न मैं सामुद्रिक यात्रा करना चाहता हूँ और न समुद्र के किनारे रहना। छुट्टियों में मुझे या तो लन्दन जाना चाहिये, या पेरिस या कैले; बताओ मेरा कहाँ जाना ठीक होगा ?"

नव वर्ष के लिये—

किसी व्यक्ति की परीक्षा वचन से नहीं वरन् कार्य से लेनी चाहिये, क्यों ?

"तीन लड़के एक ही पंक्ति में बैठे हैं। हेनरी जार्ज के बायें हाथ की ओर है और विलियम हेनरी के बायें हाथ की ओर, बताओ बीच में कौन लड़का है ?"

पन्द्रह वर्ष के लिये—

१—'आनन्द और सुख', (२) 'दीनता और कष्ट' में क्या अन्तर है ?

४—क्रिया-परीक्षा (परफॉर्मेन्स टेस्ट्स)

क्रिया-परीक्षा की ओर ऊपर हम संकेत कर चुके हैं। बुद्धि-परीक्षा के प्रश्न शिक्षित बालकों के लिये तो ठीक सिद्ध हुए, पर अशिक्षित गूँगे, बहरे और अन्धों के लिये वे व्यर्थ ठहरे। अतः इनकी बुद्धि-परीक्षा के लिये क्रिया-प्रधान का आविष्कार किया गया। इनमें प्रश्नों के उत्तर देने के बदले कुछ समस्यापूर्ण व्यावहारिक कार्य करने पड़ते हैं। ये प्रश्न कुछ बातों में व्यक्तिगत परीक्षा से अधिक

अशिक्षितों के लिये, बुद्धि, धैर्य, विश्वास तथा अन्तर्दृष्टि का संकेत।

लाभप्रद सिद्ध हुये। इनसे व्यक्ति के बुद्धि, धैर्य, विश्वास तथा अन्तर्दृष्टि का अच्छा संकेत मिलता है। इनके प्रयोग से बालक की मनोदशा का भलीभाँति पता लगाया जा सकता है। क्रिया-परीक्षा में परीक्षार्थी से लकड़ी या दफ्ती के टुकड़ों से कुछ नमूने बनाने के लिये कहा जाता है। कुछ लकड़ी या दफ्ती के ऐसे टुकड़े होते हैं जिन्हें निश्चित समय के अन्दर उनके स्थान पर लगाना पड़ता है। उदाहरणार्थः एक लकड़ी का तख़्ता होता है जिसे 'फ़ॉर्म बोर्ड' कहते हैं। उसमें छः छेद बने होते हैं। इन छेदों में चौदह टुकड़े लगाने होते हैं—किसी में तीकोना, किसी में चौकोर आदि। सेनूग्विन फ़ार्म बोर्ड में दस छेद होते हैं। इनमें समकोण चतुर्भुज, समानान्तर चतुर्भुज, अर्द्ध वृत्ति तथा वृत्ति आदि बैठाये जा सकते हैं।

भूल-भुलैया परीक्षा

भूल-भुलैया परीक्षा (मेज़ टेस्टस्) विधि से भी बुद्धि की नाप की जाती है। भूल-भुलैया का एक रेखा-चित्र बालक को दे दिया जाता है। उसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक बिना रुकावट के पहुँचना पड़ता है।

पार्श्व दृश्य-परीक्षा (प्रोफ़ाइल टेस्ट)—

इसमें एक मनुष्य की मूर्ति से आँख, कान अथवा नाक निकाल ली जाती है और उन्हें एक निश्चित समय के भीतर बैठाना होता है। ३८ छोटी छोटी टुकड़ियों में से दस को चुनकर दस मिनट में किसी चित्र के दस छिद्रों में चित्र को पूर्ण बनाने के लिये भरना होता है।

इन सब परीक्षाओं में व्यक्ति जितना ठीक करता है उसी के अनुसार उसकी बुद्धि का अनुमान लगाया जाता है।

५—शिक्षक का कार्य

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रश्नों का बनाना ऐसे मनोवैज्ञानिकों तथा विशेषज्ञों का काम है जो कि प्रत्येक अवस्था के बालकों की मनोदशा से भली भाँति परिचित हैं। शिक्षकों के क्षेत्र के बाहर की यह बात है। अतः उनके बनाने की विधि की चर्चा करना यहाँ अनावश्यक सा है। किन्तु बालकों पर प्रश्नों का यह प्रयोग कुछ चतुर शिक्षक आवश्यक बातों पर ध्यान रखते हुए कर सकते हैं। इस कार्य में शिक्षकों को अवश्य ही हाथ बटाना चाहिये। उनकी सहायता के बिना यह कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि बहुत से विशेषज्ञों का मिलना अत्यन्त कठिन है। अतः शिक्षकों को यह जानना आवश्यक है कि तैयार प्रश्नों के

प्रश्नों का बनाना विशेषज्ञों का काम, शिक्षकों की सहायता आवश्यक, प्रश्नों का अच्छी प्रकार अध्ययन करना, 'बालकों को' आवश्यक बातें समझाना, परीक्षा के स्थान और समय पर ध्यान, बालक में आत्मविश्वास उत्पन्न करना,

बालक के लिये सहानुभूति, बालक का अनुमान न करना कि उसे अंक दिये जा रहे हैं।

के आधार पर बालकों की बुद्धि-परीक्षा कैसे लेनी चाहिये। शिक्षक को प्रश्नों का अच्छी प्रकार अध्ययन कर लेना चाहिये। उनमें जो आदेश दिये हों उन्हें समझ लेना बड़ा आवश्यक है, अन्यथा साधारण सी भी गलती से सारा काम बिगड़ सकता है। जो बातें बालकों को समझानी हों उन्हें अक्षरशः ठीक ठीक समझाना चाहिये। परीक्षा का समय और स्थान ऐसा हो कि बालक थकान को अनुभव न करे। कमरे की खिड़कियाँ खुली हों जिससे स्वच्छ वायु आती रहे। प्रकाश की कमी न हो। परीक्षा का समय स्कूल का पूर्वकाल अच्छा है। यदि दोपहर के पहले ही परीक्षा समाप्त हो जाय तो अच्छा होगा, क्योंकि उस समय लड़के थके नहीं रहते। परीक्षा में किसी प्रकार की बाधा घातक होगी। बाहर से विघ्न डालने वाली ध्वनि न आने पावे। यह सब बातें ठीक कर लेने के बाद बालक में उत्साह और आत्म-विश्वास, आत्म-सम्मान, जिज्ञासा और आनन्द का भाव भरना आवश्यक है। यदि उसमें किसी प्रकार का डर आ गया तो आते हुये उत्तर को भी वह ठीक न बतला सकेगा। मित्र के सदृश् बालक से बात कर उसका डर निकाल देना चाहिये। उसकी गलतियों पर हँसना ठीक नहीं। परीक्षक की मुद्रा ऐसी हो कि उससे हर समय बालक के लिये सहानुभूति टपके। परीक्षक का व्यवहार ऐसा हो कि बालक तनिक भी यह अनुमान न कर सके कि वह गलती कर रहा है। यदि बालक थक जाय तो परीक्षा को दूसरे दिन के लिये स्थगित कर देना चाहिये। बालक के उत्तर को इस प्रकार अंकित करना चाहिये कि वह यह अनुमान न कर सके कि उसे अंक दिये जा रहे हैं। अतः किसी दूसरे प्रश्न के करते समय अंक देना ठीक होगा। अच्छा होगा यदि बालकों के उत्तर तथा उनके विषय में अंकित की हुई पूरी बातों का अध्ययन पुनः कोई विशेषज्ञ भी कर ले।

बहुत कठिन या सरल प्रश्न पूछना ठीक नहीं, सरल से कठिन प्रश्नों की ओर जाना, कई विधि से परीक्षा करना उचित।

यदि प्रश्न उम्र के अनुसार नहीं है तो बालकों के उत्तर की परीक्षा करना कठिन नहीं, क्योंकि ऐसी दशा में प्रत्येक उत्तर के लिये कुछ न कुछ अंक देने का नियम रहता है। पर उम्र के अनुसार प्रश्न होने पर कुछ कठिनाई आ जाती है। ध्यान यह रखना चाहिये कि बहुत सरल या कठिन प्रश्नों से बालक तंग न आ जाय। उदाहरणार्थः बालक यदि ग्यारह वर्ष का है तो उससे छः वर्ष वाले प्रश्नों को पूछना ठीक नहीं, क्योंकि ये उसके लिये बहुत सरल हो सकते हैं। बारह वर्ष वाले प्रश्न भी नहीं पूछने चाहिये, क्योंकि वे कठिन हो सकते हैं। अच्छा यह होगा कि यह मान लिया जाय कि ग्यारह वर्ष के लड़के की मानसिक आयु दस तो होगी ही। अतः उसे पहले दस वर्ष वाले प्रश्न पूछने चाहिये। इनमें असफल होने पर नीचे के

वर्ष के प्रश्नों में उसकी योग्यता देखनी चाहिये । यदि दस वर्ष वाले प्रश्नों को वह लगभग हल कर लेता है तो आवश्यक होने पर ग्यारह, बारह और तेरह आदि वर्ष के प्रश्नों में भी उसकी परीक्षा ली जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सरल प्रश्नों से कठिन प्रश्नों की ओर जाना मनोवैज्ञानिक है। किसी बालक की बुद्धि के विषय में एक निश्चय पर पहुँचने के लिये एक ही विधि से उसकी परीक्षा करना ठीक नहीं। व्यक्तिगत, क्रिया तथा सामूहिक आदि सभी विधियों से उसे टटोल लेना चाहिये। इससे वाह्य परिस्थितियों से आये हुए विघ्नों के कुपरिणाम का भय जाता रहेगा।

६—मानसिक आयु—बुद्धि-लब्धि (आई० क्यू०)

परीक्षा के फलस्वरूप वर्ष और महीने का कुल जोड़ जितना आता है उतनी ही बालक की मानसिक आयु समझी जाती है। विभिन्न संशोधनों के कारण बिने की बुद्धिमाप-विधि में कई परिवर्त्तन कर दिये गये हैं। टरमैन ने मानसिक आयु के बदले बुद्धि-लब्धि (इन्टेलीजेन्स कोशेन्ट) कि विधि निकाली। बुद्धि-लब्धि निकालने के लिये मानसिक आयु को वास्तविक आयु से भाग दे देते हैं। लब्धि एक आती है तो बालक साधारण बुद्धि का, एक से कम आयी तो मन्द-बुद्धि और एक से अधिक आई तो प्रखर बुद्धि का समझा जाता है। पूर्णांक प्राप्त करने के लिये लब्धि में प्रायः १०० का गुणा कर दिया जाता है। इस प्रकार जो गुणनफल आता है उसको बुद्धि-लब्धि कहते हैं :—

मानसिक आयु को वास्तविक आयु से भाग देना।

$$\text{अर्थात्, बुद्धि-लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times १००$$

निम्नलिखित उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये, कोई आठ वर्ष का बालक किसी परीक्षा में ७० अङ्क पाता है। ७० अङ्क आठ वर्ष के लिये औसत है। अतः बालक की मानसिक आयु आठ वर्ष की मानी गई। ऊपर के नियम के अनुसार उसकी बुद्धि-लब्धि १०० होगी। यदि उसकी वास्तविक आयु दस वर्ष की हुई और आठ ही वर्ष के लड़के के बराबर अङ्क पाता है तो उसकी बुद्धि-लब्धि $\frac{८}{१०} \times \frac{१००}{१} = ८०$ होगी, अर्थात् वह मन्द-बुद्धि हुआ। यदि पाँच ही वर्ष का बालक आठ वर्ष वाले के बराबर नम्बर पाता है तो उसकी बुद्धि लब्धि $= \frac{८}{५} \times \frac{१००}{१} = १६०$ होगी, अर्थात् यह बालक प्रखर बुद्धि का हुआ। टरमैन ने मनुष्य की बुद्धि को बुद्धि-लब्धि के अनुसार निम्नलिखित कोटि में रक्खा है।

प्रकार का नाम	बुद्धि-लब्धि
अति प्रतिभाशाली (सुप्रीम जीनियस)	२००
प्रतिभाशाली (जीनियस)	१४० या ऊपर
अत्युत्कृष्ट (वेरी सुपीरियर)	१२०-१४०
उत्कृष्ट (सुपीरियर)	११० से १२०
सामान्य (ऐवरेज)	९० से ११०
मन्द (डल)	८० से ९०
निर्बल-बुद्धि (मेण्टल डिफ़ीसियेन्सी)	७० से ८०
हीन-बुद्धि (फ़ीबुल माइण्डेड)	७० से नीचे
मूर्ख (मोरोन्स)	५० से ७०
निरा मूढ़ (इम्बेसाइल)	२० से ५०
जड़ (इडीयट)	२० से नीचे

ग—बुद्धि की सामूहिक परीक्षा (ग्रूप टेस्ट ऑव् इन्टेलीजेन्स)

बुद्धि-परीक्षा स्कूल में भी सम्भव, विधि जटिल नहीं, समय कम, फल के आधार पर वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक, परीक्षार्थी डरता नहीं, प्रश्नों के उत्तर में केवल बुद्धि की परीक्षा।

बुद्धि-परीक्षा के इतिहास के सम्बन्ध में हम सामूहिक परीक्षा पर कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। उन्हें यहाँ दोहराना ठीक न होगा, पर उनकी विशेषता पर फिर विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है। सामूहिक परीक्षा के आविष्कार से बुद्धि-परीक्षा का कार्य प्रयोग-शाला ही में नहीं, वरन् स्कूल में भी सम्भव हो सका है। इसके द्वारा विभिन्न उम्र के सैकड़ों बालकों की परीक्षा एक ही समय उनके अध्यापक द्वारा ली जा सकती है। इसकी विधि जटिल नहीं है और इसके उत्तर स्पष्ट हैं। उनके दो उत्तर नहीं होते। उनका उत्तर लिख कर देना होता है। इनमें ४० से ९० मिनट का समय लगता है। इनसे मन्द, साधारण और प्रखर बुद्धि के बालकों का पता लगाया जा सकता है। इनके फल के आधार पर बालकों का वर्गीकरण मानसिक दृष्टिकोण से बड़ा मनोवैज्ञानिक होता है। वाह्य रूप में सामूहिक परीक्षा साधारण प्रचलित परीक्षा के सदृश् जान पड़ती है। पर इसकी विधि दूसरी होती है। इसकी विधि ऐसी है कि परीक्षार्थी डरता नहीं और उत्साहपूर्वक प्रश्नों का उत्तर लिखता है। प्रश्नों के उत्तर में केवल बुद्धि की ही परीक्षा होती है—भाषा अथवा गणित आदि की शक्ति की नहीं।

बालकों को बताना कि

सामूहिक बुद्धि-परीक्षा के लिये भी कुछ साधारण तैयारियाँ करनी होती हैं। बालकों को हवादार स्थान या कमरे में बैठाया जाता है। उनको दूर दूर बैठाया जाता है, जिससे एक दूसरे की नकल न कर सके। इस सम्बन्ध में और सब बातें वैयक्तिक परीक्षा

उनकी परीक्षा होगी, साधारण नियमों को सतर्कता से समझना।

के ही सदृश् हैं। पर इसमें बालकों को पहले ही बतला दिया जाता है कि उनकी परीक्षा ली जा रही है और उन्हें अङ्क दिये जायेंगे। इस प्रकार उन्हें बहुत सावधान कर दिया जाता है जिससे वे सोच समझ कर उत्तर लिखें और अनुमान न लगावें। एक निश्चित समय निर्धारित कर दिया जाता है। अतः कहने पर परीक्षा प्रारम्भ और बन्द कर दी जाती है। परीक्षा प्रारम्भ हो जाने पर कुछ पूछना मना कर दिया जाता है। मानसिक आलस्य को दूर करने के लिये कभी कभी वास्तविक परीक्षा के पूर्व एक बहुत साधारण अथवा झूठी परीक्षा (बफ़र टेस्ट) ली जाती है, जिसका महत्त्व आलस्य भगाने के अतिरिक्त दूसरा नहीं होता। इसके बाद छपी हुई पुस्तिका उत्तर लिखने के लिये कागज़ के साथ बाँट दी जाती है, पर उस पर कुछ लिखने या पढ़ने के लिये मना कर दिया जाता है। फिर अध्यापक या परीक्षक कुछ साधारण नियमों को श्यामपट्ट की सहायता से समझा कर उत्तर लिखने का आदेश देता है। बालकों को छोटे से छोटा उत्तर पुस्तिका अथवा अलग कागज़ पर लिखना होता है। कभी कभी आवश्यक पुस्तिका पर ही प्रश्न छाप दिये जाते हैं, जिससे परीक्षक को विशेष असुविधा न उठानी पड़े।

उत्तर सोचना अथवा दिये हुए में से संकेत करना, प्रश्नों का सम्बन्ध दैनिक जीवन से।

बालकों को दो प्रकार का उत्तर देना पड़ता है। कभी उन्हें उत्तर सोचना पड़ता है, तो कभी पाँच-छः दिये हुए संकेतों में से ठीक उत्तर को चुनना पड़ता है (प्रश्नों के बनाते समय यह ध्यान देना होता है कि उनका ठीक उत्तर केवल एक ही हो सके)। सांकेतिक उत्तरों में से ठीक उत्तर को रेखांकित करना होता है। कुछ प्रश्नों का उत्तर केवल 'हाँ' या 'नहीं' होता है। इसमें बालक अनुमान लगा सकता है, पर ऐसा करने में उसे विशेष लाभ नहीं होता, क्योंकि अनुमान में वह गलती भी कर सकता है। वैयक्तिक परीक्षा के सदृश् सामूहिक परीक्षा में भी प्रश्नों का सम्बन्ध बालकों के दैनिक जीवन तथा अनुभव से रहता है। इसमें प्रायः सभी लिखित प्रकार के होते हैं। कुछ थोड़े ही क्रिया-प्रश्न (परफ़ामेन्स टेस्ट्स) होते हैं। लिखित प्रश्नों में भाषा का प्रयोग तो आवश्यक ही है। क्योंकि भाषा सभी प्रकार के प्रकाशन का साधन है। हम मन में सोचते हुए भी भाषा का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार व्यक्ति की बौद्धिक योग्यता उसके भाषा की योग्यता से पहचानी जा सकती है। सामूहिक परीक्षा में यह देखा जाता है बालक साधारण से साधारण समस्या को अपनी दैनिक परिस्थितिओं में कितनी सरलता से हल कर सकता है। सामूहिक परीक्षा के प्रश्नों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं:—

(१) शब्द-चयन की परीक्षा—

इसमें यह देखा जाता है किसी वर्ग में आने वाले कितने शब्द बालक को

स्मरण हैं। कुछ साधारण शब्दों का अर्थ भी बड़ी टेढ़ी और रुचिकर विधि से उससे पूछा जाता है। पर्याय और विपरीत शब्दों को भी पूछा जाता है।

(अ) मीठा का अर्थ वही है जो.........का होता है।

(ब) ठीक शब्दों को रेखाङ्कित करो—

१—उपकार का अर्थ वही है जो बुराई, पुण्य, पाप और भलाई, का होता है।

२—निर्माण करने का वही अर्थ है जो बिगाड़ने, बनाने, मारने और उठाने का होता है।

३—'पापी' और 'कड़ुवा' के विपरीत शब्दों को नीचे लिखे शब्दों में से चुनोः—

अच्छा, मोटा, मीठा, पुण्यात्मा, छोटा, बुरा।

(२) वर्गीकरण—

नीचे लिखे हुए शब्दों में जो वर्ग के न हों उन्हें काट दोः—

कागज, पेन्सिल, कलम, दावात, स्याही, टोपी। (यहाँ टोपी का वर्ग दूसरा है, लिखने के कार्य में वह नहीं लाई जाती)।

(३) भाग या पूर्ण—

कुछ शब्द दे दिये जाते हैं। उनमें यह बतलाना होता है कि कौन सा एक दी हुई वस्तु का भाग है। इसमें सम्बन्ध समझने की शक्ति की परीक्षा ली जाती है जैसे—

उपयुक्त शब्द को रेखाङ्कित करो—

सुतली, दावात, घड़ी, चाकू, चारपाई का भाग है।

(४) अपूर्ण वाक्यों को पूरा करो—

(अ) पूर्णिमा का चाँद......उगता है और......डूबता है।

(ब) कोष्ट में आये हुए एक उपयुक्त शब्द को छोड़ सभी काट दोः—

मुझे गर्मी में बहुत तेज (ठण्ड, सर्दी, अन्धेरा, गर्मी, अच्छा) और जाड़े में बरसात, गर्मी, ठण्ड, लगती है।

(५) समानता—

इसमें सम्बन्ध का पता लगाना होता है जैसेः—

(अ) हरे रंग और घास में वही सम्बन्ध है जो नीले और.....में है।

(ब) मछली का तैरना और चिड़िया का......बच्चे के लिए आश्चर्य-जनक होता है।

(६) तर्क—

इसमें अपने तर्क-बल पर बालकों को ठीक उत्तर देना पड़ता है,—
लड़के स्कूल भेज दिये गये क्योंकि।

(अ) माँ काम नहीं करना चाहती।
(ब) शिक्षा अनिवार्य है।

(७) आदेश का पालन करना—

(अ) वर्णमाला के अन्तिम तीन अक्षरों को लिख कर बीच वाले को काट दो।
(ब) यदि भेड़िया चिड़िया है तो ३ और ६ का गुणनफल दो, यदि नहीं तो इस वाक्य के अन्तिम शब्द का प्रथम अक्षर लिख दो।

(८) अंकगणित के प्रश्न—

रिक्त स्थानों को भरोः—

(अ) १५, १४, १३, १२, ..., ...।
(ब) १६, ३२, ६४, १२८, ..., ...।
(स) ६ , १३, १७, २१, ..., ...।

(९) चित्र सम्बन्धी प्रश्न—

किसी चित्र के छोड़े हुए भाग को बतलाना पड़ता है, अथवा गलत स्थान पर रखे हुए भाग को बतलाना पड़ता है, जैसे 'बन्दर के सर पर सींग'।

चित्र सम्बन्धी प्रश्न कम शिक्षित बालकों के लिये अधिक उपयोगी होते हैं।

सामूहिक परीक्षा के उत्तरों की जाँच करना बड़ा सरल है। प्रत्येक प्रश्न के अङ्क पहले से ही निश्चित रहते हैं। अतः अङ्क देने में कोई कठिनाई नहीं होती।

प्रत्येक प्रश्न के अंक पहले से ही निश्चित, प्रत्येक बालक के प्राप्ताङ्क की तुलना सामान्य अंक से, सामान्य अंक निकालने की विधि, बुद्धि-लब्धि निकालना।

प्रत्येक बालक के अंकों के जोड़ की तुलना पहले से ही निश्चित एक 'सामान्य अङ्क' (नॉर्म) से की जाती है। सामूहिक परीक्षा के प्रश्नों के 'सामान्य अङ्क' (नॉर्म) निश्चित करने के लिये उन्हें कम से कम १००० बिना चुने हुए बालकों को करने के लिये दिया जाता है। योग्यतानुसार जो मध्य श्रेणी का बालक होता है उसी के पाये हुये अङ्क को 'सामान्य अङ्क' मान लिया जाता है। मान लीजिये किसी सामूहिक परीक्षा के बारह वर्ष के लिये "सामान्य अङ्क" ५५ है। यदि इस परीक्षा में कोई लड़का ५५ अङ्क

पायेगा तो उसे साधारण कहा जायगा। ९५ से कम या ४१ पाने से मन्द-बुद्धि और ९५ से अधिक पाने वाला प्रखर-बुद्धि का कहा जांयगा। प्रत्येक अवस्था के लिये पहले से ही 'सामान्य अङ्क' चुने रहते हैं। मान लीजिये कोई १२ वर्ष का लड़का ४५ अङ्क पाता है और ४५ अङ्क ६ वर्ष के लिये 'सामान्य अंक' है, तो इस १२ वर्ष के लड़के की मानसिक आयु ६ वर्ष होगी। इस प्रकार उसकी बुद्धि-लब्धि $\frac{९}{१२}\times१००=७५$ हुई।

घ—वैयक्तिक और सामूहिक बुद्धि-परीक्षा की तुलना

यद्यपि ऊपर हम वैयक्तिक और सामूहिक परीक्षा के गुण और दोष पर प्रसंगानुसार प्रकाश डालते आये हैं, पर उन्हें तुलनात्मक दृष्टि से एक स्थान पर क्रमबद्ध कर देना अधिक सुविधाजनक दिखलाई पड़ता है।

१—वैयक्तिक परीक्षा विशेषकर किसी विशेषज्ञ ही द्वारा अधिक सन्तोषप्रद फल दे सकती है। पर सामूहिक परीक्षा में ऐसी बात नहीं। इसमें विधि के साधारण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी कोई चतुर अध्यापक ठीक फल पर पहुँच सकता है, क्योंकि इसमें लगभग सारी बातें पहले से ही निर्धारित रहती हैं।

२—वैयक्तिक परीक्षा में समय की सीमा नहीं, अतः इसमें बहुत समय लग जाता है, पर बालक की शक्ति की परीक्षा ठीक से हो जाती है। सामूहिक परीक्षा में समय की सीमा निर्धारित कर देने से बहुत से बालकों की एक साथ ही थोड़े समय में परीक्षा ली जा सकती है, पर इसके फल पर अधिक निर्भर नहीं रहा जा सकता। इसीलिये सन्देहात्मक स्थानों पर वैयक्तिक परीक्षा का अवलम्बन लिया जाता है। वैयक्तिक परीक्षा की तुलना में हम कह सकते हैं कि सामूहिक परीक्षा से शक्ति (पावर) की नहीं, वरन् 'वेग' (स्पीड) का माप किया जाता है।

३—वैयक्तिक परीक्षा द्वारा छोटे बालकों की परीक्षा सरलता से ली जाती है, क्योंकि वे एक समूह में बैठ कर न तो ठीक प्रकार आदेश का पालन ही कर सकते हैं और न प्रश्नों का उत्तर ही ठीक ठीक भाषा में लिख सकते हैं। अतः वैयक्तिक परीक्षा की उपयोगिता की अवहेलना नहीं की जा सकती।

४—वैयक्तिक परीक्षा के प्रश्नों को निर्धारित करने में अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। विशेषकर क्रिया-परीक्षा (परफ़ार्मेन्स टेस्ट्स) के आवश्यक उपकरणों के आयोजन में अधिक व्यय लगता है। सामूहिक परीक्षा में इससे कम व्यय होता है।

५—वैयक्तिक परीक्षा में बालकों को तैयार करने में अधिक सतर्कता की आवश्यकता होती है। इसलिये परीक्षा लेने के पहले उनमें आत्म-विश्वास, जिज्ञासा और रुचि उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है। परीक्षक कितना

भी छिपा कर बालक को अंक क्यों न दे, पर उसे पता चल ही जाता है कि उसे अंक दिये जा रहे हैं और उसकी परीक्षा ली जा रही है। सामूहिक परीक्षा में बालक को पहले ही बता दिया जाता है कि उसकी परीक्षा ली जा रही है। अतः वह इसमें अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव करता है।

६—प्रायः यह देखा गया है कि जो धीरे धीरे सोच कर काम करने वाले होते हैं वे सामूहिक परीक्षा के सीमित समय के कारण अच्छा नहीं कर पाते। इसके अतिरिक्त सामूहिक परीक्षा में परीक्षक बालकों के सम्पर्क में नहीं आता। अतः वह नहीं जान पाता कि बालकों ने यथाशक्ति परिश्रम किया है या नहीं। सामूहिक परीक्षा में बाह्य विघ्नों की तथा एक दूसरे की नकल करने की अधिक सम्भावना रहती है। वैयक्तिक परीक्षा इन सब दोषों से कुछ मुक्त रहती है।

७—यद्यपि वैयक्तिक परीक्षा में भी कुछ पहले से ही निर्धारित बातों को परीक्षक को मानना पड़ता है, परन्तु आवश्यकतानुसार वह प्रत्येक बालक की ओर कुछ विशेष ध्यान दे सकता है। मन्द-बुद्धि बालक के प्रति वह विशेष सहानुभूति दिखला सकता है, और जिस बालक को अपने ऊपर गलत विश्वास है उसे वह कुछ निरुत्साह भी कर सकता है। वैयक्तिक परीक्षा में बालक के सम्पर्क में आने से परीक्षक उसकी विभिन्न मानसिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन कर सकता है। मानसिक आयु के जानने से इसका पता नहीं चल सकता। स्पष्ट है कि बालक के विषय में कुछ निश्चित करने के लिये केवल सामूहिक परीक्षा के फल पर ही निर्भर रहना बुद्धिमानी से खाली होगा।

सामूहिक परीक्षा में बालकों को पहले ही कुछ आवश्यक बातें बतला दी जाती हैं। सभी बालक समान बुद्धि के नहीं होते। अतः वे कुछ फिर से सुनने की आवश्यकता का अनुभव कर सकते हैं। सामूहिक परीक्षा में समूह की बुद्धि का जितने ठीक प्रकार से पता चल सकता है उतना व्यक्ति की बुद्धि का नहीं।

८—यद्यपि वैयक्तिक परीक्षा में भी प्रश्नों के उत्तर पहले ही से निर्धारित रहते हैं पर उसमें परीक्षक की मानसिक अवस्था का प्रभाव सामूहिक परीक्षा की तुलना में अधिक पड़ता है।

ङ—बुद्धि का स्वरूप (नेचर ऑव् इन्टेलीजेन्स)

बुद्धि की व्याख्या करना सरल नहीं। इस विषय में मनोवैज्ञानिकों में बड़ा मतभेद है। सन् १८८३ ई० में गॉल्टन ने 'पहचानने और चुनने की शक्ति' को बुद्धि माना। १८९७ ई० में 'एबिन्घॉस ने भागों को सम्पूर्ण बनाने की योग्यता' को बुद्धि की शक्ति का परिणाम स्वीकार किया। स्टाउट के अनुसार 'अवधान की शक्ति बुद्धि है'। स्टर्न के अनुसार

मतभेद, स्वरूप निश्चित करना महा कठिन।

'नई परिस्थितियों में किसी व्यक्ति की अपने को सुव्यवस्थित कर लेने की एक सामान्य शक्ति 'बुद्धि' है। टरमैन के अनुसार अमूर्त (ऐब्स्ट्रैक्ट) वस्तुओं के विषय में सोचने की शक्ति बुद्धि है। स्पीयरमैन व्यक्ति की सामान्य योग्यता (जनरल ऐबिलिटी) को बुद्धि मानता है। थॉर्नडाइक बुद्धि का तात्पर्य बहुत व्यापक रूप में लेता है। उसके अनुसार 'व्यक्ति में वस्तुस्थिति के अनुसार अपेक्षित प्रतिक्रिया की योग्यता बुद्धि है।' कुछ लोगों के अनुसार बुद्धि में कई प्रकार की शक्तियों का समावेश रहता है। इसमें व्यक्ति की मानसिक प्रवृत्तियों का पूरा निचोड़ निहित है। दूसरों के अनुसार बुद्धि में व्यक्ति की मूलप्रवृत्तियों और अर्जित गुणों की छाया स्पष्ट रहती है। इस मतभेद के सामने बुद्धि का स्वरूप निश्चित करना महा कठिन है। तथापि हम कुछ प्रयत्न अवश्य करेंगे। बुद्धि कोई ऐसा पारिभाषिक शब्द नहीं जिसका आविष्कार मनोवैज्ञानिकों ने किया हो। एक व्यक्ति बुद्धि में दूसरे से भिन्न होता है। वस्तुतः इस भिन्नता की पहचान के लिये ही मनोवैज्ञानिकों ने इसे अपने क्षेत्र में लिया है।

बैलेर्ड का कहना है कि बुद्धि की विभिन्न परिभाषाओं को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है :—

"(१) बुद्धि एक ऐसी सामान्य योग्यता है जो सभी मानसिक प्रक्रियाओं में सहायता करती है।

(२) बुद्धि दो या तीन विभिन्न योग्यताओं का समूह है।

(३) बुद्धि सभी विशिष्ट योग्यताओं का निचोड़ है।"

मनोवैज्ञानिकों का मत।

'बुद्धि एक सामान्य योग्यता है—इसका समर्थन ऊपर दी हुई स्टर्न और स्पीयरमैन की परिभाषा से हो रहा है। बर्ट भी बुद्धि को एक प्रकृतिदत्त सर्वव्याप्त मानसिक योग्यता मानता है। उडरो के अनुसार भी 'बुद्धि योग्यता प्राप्त करने की शक्ति है।' दूसरे सिद्धान्त का समर्थन बिने द्वारा दी हुई बुद्धि की परिभाषा से होता है। ऊपर हम थोड़ा संकेत कर चुके हैं कि बिने के अनुसार बुद्धि * एक निश्चित दिशा की ओर जाने की प्रवृत्ति; २—सुव्यवस्थित कर निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने की योग्यता; तथा ३— आत्म-आलोचना करने की शक्ति है। तीसरे सिद्धान्त का समर्थन हम थॉर्नडाइक के मत में पाते हैं। थॉमसन भी बुद्धि को वंशपरम्परागत प्राप्त विभिन्न गुणों का निचोड़ मानता है। इस मत-भिन्नता में भी हमारा विचार है कि बुद्धि के निम्नलिखित रूप को मनोवैज्ञानिकों का बहुमत स्वीकार करता है :—

१—बुद्धि एक मानसिक सामान्य योग्यता है। इसकी क्रिया का विभिन्न रूप है।

* ग्रूप टैस्ट्स ऑव् इन्टेलीजेन्स, पृ० १३५।

२—ऊँची मानसिक प्रक्रियाओं में निम्न प्रक्रियाओं की अपेक्षा यह अधिक क्रियाशील रहती है।

३—नवीन परिस्थिति के आने पर बुद्धि का बल अच्छी प्रकार दिखलाई पड़ता है।

४—बुद्धि का कार्य संस्कार को केवल ग्रहण करना ही नहीं है, वरन् अनुभव के विभिन्न अंशों की परीक्षा कर उन्हें आवश्तकतानुसार सुव्यवस्थित भी करना है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिकों ने प्रायः बुद्धि को एक प्रकृतिदत्त शक्ति माना है। उनका कहना है कि बुद्धि अर्जित शक्तियों से सर्वथा भिन्न है। प्रकृतिदत्त और अर्जित शक्तियों का परस्पर भेद समझना कठिन है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि प्रत्येक मानसिक योग्यता में जन्मजात और अर्जित दोनों प्रकार की शक्तियाँ निहित रहती हैं। तुलनात्मक दृष्टि से एक ही शक्ति जन्मजात और अर्जित दोनों कही जा सकती हैं। उदाहरणार्थः 'देखने' और 'बोलने' की शक्ति को तुलनात्मक दृष्टि से हम क्रमशः प्रकृतिदत्त और अर्जित दोनों कह सकते हैं। पर 'बोलने' और 'पढ़ने' की शक्ति में तुलना की जाय तो 'बोलना प्रकृतिदत्त और 'पढ़ना' अर्जित शक्ति ज्ञान पड़ती है। यह सोचना भ्रमात्मक है कि प्रकृतिदत्त शक्तियों को एक सीमा के भीतर ही शिक्षित किया जा सकता है, पर अर्जित शक्तियों के शिक्षित होने की कोई सीमा नहीं। दोनों की उन्नति की एक सीमा होती है। व्यक्ति अपनी एक सीमित योग्यतानुसार ही कुछ सीख सकता है। एक सीमा पर पहुँच जाने से उसकी उन्नति रुक जाती है। अपनी निश्चित सीमा पर पहुँच जाने पर आगे उन्नति नहीं होती, फिर बाद में अभ्यास करते रहने से केवल अवनति रुकी रहती है।

बुद्धि अर्जित शक्तियों से भिन्न, अर्जित और प्रकृतिदत्त शक्ति का भेद समझना कठिन, दोनों की उन्नति की एक सीमा।

(१) बुद्धि और ज्ञान (इन्टेलीजेन्स ऐन्ड नॉलेज)—

कुछ लोगों का कहना है कि बुद्धि और ज्ञान में घनिष्ट सम्बन्ध है, ज्ञान की वृद्धि के साथ बुद्धि भी बढ़ती जाती है। जैसे जैसे बालक की आयु बढ़ती है वैसे ही उसका ज्ञान और बुद्धि बढ़ती है। इसी लिये बुद्धि-परीक्षा में पन्द्रह वर्ष वाले प्रश्न दस वर्ष वालों से कठिन होते हैं। बुद्धि-परीक्षा में ज्ञान ही की तो परीक्षा ली जाती है। अतः बुद्धि और ज्ञान को हम अलग नहीं कर सकते, दोनों में बड़ी घनिष्टता है। पर प्रश्न यहाँ यह है कि 'बुद्धि-परीक्षा में किस प्रकार के ज्ञान की परीक्षा ली जाती है? क्या ऐसे ज्ञान की परीक्षा ली जाती है जो शक्तिके रूप में व्यक्ति में वर्त्तमान है अथवा मस्तिष्क पर भारस्वरूप लदा हुआ है? जिस बालक ने बारह ही वर्ष की उम्र में सारी 'लघु

बुद्धि-परीक्षा में किस प्रकार के ज्ञान की परीक्षा?

सिद्धान्त कौमुदी' रट डाली है, उसे हम बड़ी प्रखर-बुद्धि का विशेषण देते हैं और दूसरे को मन्द-बुद्धि पुकारते हैं। साधारण परीक्षा में भी ज्ञान ही की परीक्षा की जाती है, तो बुद्धि-परीक्षा और इसमें भेद क्या हुआ? यह हम मानते हैं कि बुद्धि की परीक्षा हवा में नहीं की जा सकती। उसकी परीक्षा ज्ञान रूपी साधन से ही की जा सकती है। पर ऊपर दिये हुये बुद्धि-परीक्षा के प्रश्नों के अध्ययन से जान पड़ेगा कि बुद्धि-परीक्षा में ऐसे ही ज्ञान की परीक्षा की जाती है जिसे व्यक्ति अपनी सामान्य परिस्थितियों में बिना किसी अतिरिक्त परिश्रम के स्वतः पा जाता है। उसके लिये स्कूली-शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। अतः 'बुद्ध-परीक्षा' 'बिना परिश्रम के स्वतः प्राप्त' ज्ञान की परीक्षा करती है और स्कूल की परीक्षायें परिश्रम द्वारा अर्जित विद्या की परीक्षा करती हैं। यह सत्य कि बारह वर्ष के भीतर लघु-सिद्धान्त कौमुदी का कण्ठस्थ कर लेना प्रखर-बुद्धि का द्योतक है, परन्तु इस ज्ञान का सदुपयोग करना अधिक प्रखर-बुद्धि का द्योतक होगा। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने कहा है कि अर्जित ज्ञान को नई परिस्थितियों में उपयोग करने की योग्यता बुद्धि है। बुद्धि से ऐडम्स का तात्पर्य यह है:—"संसारिक जीवन में उपयोग में लाने योग्य हमारा 'ज्ञान' अथवा 'विचार' ही बुद्धि है।" बैलर्ड भी कहता है कि "बुद्धि वह मानसिक योग्यता है जो कि ज्ञान, रुचि और आदत रूपी साधनों द्वारा मापी जा सकती है।" मैग्डूगल महोदय भी बुद्धि को ज्ञानात्मक शक्ति नहीं मानते। उनके अनुसार बुद्धि एक क्रियात्मक मानसिक शक्ति है।

(२) थॉर्नडाइक का मत—

बुद्धि कई प्रकार की शक्तियों का पुन्ज, एक शक्ति का प्रयोग एक ही स्थल पर सम्भव।

थॉर्नडाइक महोदय के अनुसार बुद्धि कई प्रकार की शक्तियों का एक समूह मात्र है। इन विभिन्न शक्तियों में किसी प्रकार की समानता अपेक्षित नहीं। जैसे सन्दूक में कई प्रकार के गर्मी व जाड़ा के कपड़े भर कर रख दिये जाते हैं, और हम जाड़ा के कपड़े गर्मी में नहीं पहन सकते, उसी प्रकार मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ भरी हैं। जैसे सन्दूक में रखे हुये कपड़ों में समानता केवल इतनी है कि व्यक्ति उसे आवश्यकतानुसार पहन सकता है उसी प्रकार इन शक्तियों में भी समानता यह है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार उनका उपयोग कर सकता है। थॉर्नडाइक का मत है कि एक शक्ति का प्रयोग एक ही स्थल पर किया जा सकता है। दूसरे स्थल से उसका कुछ विशेष सम्बन्ध नहीं। यदि कोई व्यक्ति विज्ञान में ७० प्रतिशत अङ्क पाता है तो उसकी विज्ञान की योग्यता गणित के अध्ययन में कुछ भी सहायता न करेगी और वह गणित में शून्य तक पा सकता है। ऐसा कभी कभी देखा भी जाता है। पर इससे थॉर्नडाइक के मत की

सत्यता नहीं प्रमाणित होती। ऐसे विरले ही व्यक्ति होते हैं जो एक विषय में तो उत्कृष्ट कोटि के हों और दूसरे में उनकी योग्यता कुछ भी काम न करे।

(२) स्पीयरमैन का मत—

थॉर्नडाइक से अधिक हृदयग्राही हमें स्पीयरमैन का मत लगता है। स्पीयरमैन का सिद्धान्त 'टू फैक्टर थियरी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी व्याख्या हम 'शिक्षा का स्थानान्तरीकरण' के अध्याय में कर चुके हैं। उसी को हम फिर दूसरे शब्दों में दोहरा सकते हैं। स्पीयरमैन के अनुसार बुद्धि दो प्रकार की शक्ति का योग है। पहली प्रकार की शक्ति को वह 'जी' (जनरल ऐबिलिटी) अर्थात् सामान्य योग्यता' पुकारता है। व्यक्ति की सामान्य योग्यता उसके प्रत्येक कार्य में सहायक होती है। दूसरे प्रकार की शक्ति को वह 'एस' (स्पेशल ऐबिलिटी) अर्थात् 'विशिष्ट योग्यता' पुकारता है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ विशेष कार्य करने की योग्यता होती है। अपनी अपनी विशेष रुचि के अनुसार व्यक्ति गणित, संगीत, कविता अथवा राजनीति इत्यादि में विशिष्ट योग्यता रखता है। स्पीयरमैन का कहना है कि विशिष्ट योग्यता दूसरे कार्यों में सहायक नहीं होती। प्रत्येक कार्य में दो प्रकार की योग्यता काम करती है—सामान्य और विशिष्ट ('जी' ऐण्ड 'एस')। स्पीयरमैन के अनुसार यह समान्य और विशिष्ट योग्यता ही बुद्धि के आवश्यक अंग हैं। इसी प्रकार की बुद्धि से प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य करता है।

बुद्धि सामान्य और विशिष्ट योग्यता का योग, विशिष्ट योग्यता दूसरे कार्यों में सहायक नहीं।

नब्बे प्रतिशत ताल [illegible]

कुल सीमा की नब्बे प्रतिशत बढ़ जाती है? बर्ट ने अपने ३४ प्रश्नों से विभिन्न स्कूलों के २००० विद्यार्थियों की बुद्धि परीक्षा की। इन विद्यार्थियों की उम्र ग्यारह और अठारह वर्ष के अन्दर थी। बर्ट ने देखा कि ट्रेनिङ्ग कालेज के प्रौढ़ व्यक्ति स्कूल विद्यार्थियों से परीक्षा में अच्छा नहीं कर सके। उसने देखा कि सन्ध्या-स्कूल के नवयुवकों ने और बुरा किया। परीक्षणों के आधार पर मनोवैज्ञानिकों ने निष्कर्ष निकाला है कि प्रथम कुछ वर्षों में बुद्धि के विकास की गति तीव्र होती है। पर बारह वर्ष के बाद इसके विकास की गति धीमी पड़ जाती है और सोलह वर्ष के बाद इसमें कोई उन्नति नहीं होती। मनोवैज्ञानिक ओटिस का कहना है अठारह वर्ष तक उम्र का विकास होता रहता है।

कुछ लोग आपत्ति कर सकते हैं कि जिन प्रश्नों के द्वारा सोलह वर्ष के बालकों की बुद्धि-परीक्षा की गई उन्हीं के आधार पर प्रौढ़ों की बुद्धि-परीक्षा करना ठीक नहीं, क्योंकि प्रौढ़ों की रुचियों में बहुत भेद आ सकता है। जो बातें छोटे बच्चों को रुचिकर होती हैं वे बड़ों को रुचिकर नहीं होतीं। जो अंकगणित का प्रश्न

मस्तिष्क का अनावश्यक बातों का भूल जाना, प्रौढ़

है।" यह परिभाषा विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के मत का निचोड़ कहा जा सकता है। इसमें स्पीयरमैन और मैग्डूगल की छाप स्पष्ट है।

च—बुद्धि की सीमा

बुद्धि-परीक्षा से क्या ज्ञात होता है?

व्यक्ति के बुद्धि की उन्नति कब तक होती रहती है? इस प्रश्न के उत्तर में भी मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। पर जो कुछ उन्होंने निर्णय किया है वह भी सन्देहात्मक प्रतीत होता है। बुद्धि-परीक्षा के परिणामों से यह ज्ञात होता है कि बालक की बुद्धि उसकी आयु के साथ बढ़ती रहती है, और बुद्धि और वास्तविक आयु में सदा समान अनुपात बना रहता है; अर्थात् बुद्धि-लब्धि (आई० क्यू०) सदा समान रहता है। बुद्धि-परीक्षा से बुद्धि के बारे में यह भी ज्ञात होता है कि १—बुद्धि अर्जित शक्तियों से परे है और २—किशोरावस्था के मध्यकाल में इसकी उन्नति रुक जाती है।

बुद्धि-परीक्षा के प्रश्न और स्कूली शिक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं, बुद्धि-लब्धि सदा समान, घटना तथा रोग

बुद्धि-परीक्षा के प्रश्न ऐसे बने रहते हैं कि पाई हुई स्कूली शिक्षा से उनका विशेष-सम्बन्ध नहीं रहता। परीक्षण के आधार पर यह देखा भी गया है कि स्कूली शिक्षा से बुद्धि-लब्धि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कुछ बालकों की बुद्धि की परीक्षा स्कूल में जाने से पहले कर बुद्धि-लब्धि निकाल ली गयी। एक वर्ष बाद उनकी फिर परीक्षा ली गई तो देखा गया कि उनकी [illegible]

—थार्नडाइक महोदय के अनुसार बुद्धि कई प्रकार की शक्तियों का एक समूह मात्र है। इन विभिन्न शक्तियों में किसी प्रकार की समानता अपेक्षित नहीं। जैसे सन्दूक में कई प्रकार के गर्मी व जाड़ा के कपड़े भर कर रख दिये जाते हैं, और हम जाड़ा के कपड़े गर्मी में नहीं पहन सकते, उसी प्रकार मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ भरी हैं। जैसे सन्दूक में रखे हुये कपड़ों में समानता केवल इतनी है कि व्यक्ति उसे आवश्यकतानुसार पहन सकता है उसी प्रकार इन शक्तियों में भी समानता यह है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार उनका उपयोग कर सकता है। थॉर्नडाइक का मत है कि एक शक्ति का प्रयोग एक ही स्थल पर किया जा सकता है। दूसरे स्थल से उसका कुछ विशेष सम्बन्ध नहीं। यदि कोई व्यक्ति विज्ञान में ७० प्रतिशत अङ्क पाता है तो उसकी विज्ञान की योग्यता गणित के अध्ययन में कुछ भी सहायता न करेगी और वह गणित में शून्य तक पा सकता है। ऐसा कभी कभी देखा भी जाता है। पर इससे थॉर्नडाइक के मत की

बुद्धि कई प्रकार की शक्तियों का पुञ्ज, एक शक्ति का प्रयोग एक ही स्थल पर सम्भव।

व्यक्ति की विभिन्न सोई हुई शक्तियाँ जाग उठती हैं। अतः स्कूल को बालक के सामने उसकी योग्यतानुसार विभिन्न परिस्थितियाँ रखनी चाहिये, जिससे उसकी सोई हुई शक्तियाँ जाग उठें और वह अपनी प्रकृतिदत्त बुद्धि का सदुपयोग कर सके।

बिने-१५, टरमैन-१६, बर्ट १४, डडरो-मस्तिष्क की तौल वृद्धि और बुद्धि-विकास में कोई सम्बन्ध नहीं, प्रथम कुछ वर्षों में बुद्धि-विकास की गति तीव्र, १२ वर्ष के बाद गति धीमी; १६ वर्ष के बाद एकदम बन्द, ओटिस के अनुसार १८ वर्ष तक।

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि कुछ मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि बुद्धि का विकास थोड़े दिन के बाद रुक जाता है। यदि किसी प्रौढ़ व्यक्ति से कहा जाय कि आज वह उतना ही बुद्धिमान् है जितना वह पन्द्रह या सोलह वर्ष की अवस्था में था तो कदाचित् वह सहमत न होगा। वह नहीं मान सकता कि उसकी शिक्षा का उसकी बुद्धि पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। बिने ने अपने परीक्षणों के आधार पर देखा कि बुद्धि का विकास पन्द्रह वर्ष तक चलता है। टरमैन के अनुसार बुद्धि सोलह वर्ष के बाद नहीं बढ़ती। बर्ट का मत है कि बुद्धि की उन्नति चौदह ही वर्ष तक होती है। कुछ लोगों का कहना है कि मस्तिष्क पन्द्रह वर्ष की अवस्था पर अपनी अधिकतम तौल पा जाता है, इसलिये आश्चर्य नहीं यदि पन्द्रह वर्ष पर बुद्धि का विकास रुक जाये। डडरो का कथन है कि मस्तिष्क की तौल-वृद्धि और बुद्धि-विकास में कोई समानता नहीं। मस्तिष्क तो पाँच ही वर्ष की अवस्था में अपना नब्बे प्रतिशत तौल पा जाता है, तो क्या व्यक्ति की बुद्धि भी पाँच वर्ष में अपनी कुल सीमा की नब्बे प्रतिशत बढ़ जाती है? बर्ट ने अपने ३४ प्रश्नों से विभिन्न स्कूलों के २००० विद्यार्थियों की बुद्धि परीक्षा की। इन विद्यार्थियों की उम्र ग्यारह और अठारह वर्ष के अन्दर थी। बर्ट ने देखा कि ट्रेनिङ्ग कालेज के प्रौढ़ व्यक्ति स्कूल विद्यार्थियों से परीक्षा में अच्छा नहीं कर सके। उसने देखा कि सन्ध्या-स्कूल के नवयुवकों ने और बुरा किया। परीक्षणों के आधार पर मनोवैज्ञानिकों ने निष्कर्ष निकाला है कि प्रथम कुछ वर्षों में बुद्धि के विकास की गति तीव्र होती है। पर बारह वर्ष के बाद इसके विकास की गति धीमी पड़ जाती है और सोलह वर्ष के बाद इसमें कोई उन्नति नहीं होती। मनोवैज्ञानिक ओटिस का कहना है अठारह वर्ष तक उम्र का विकास होता रहता है।

मस्तिष्क का अनावश्यक बातों का भूल जाना, प्रौढ़

कुछ लोग आपत्ति कर सकते हैं कि जिन प्रश्नों के द्वारा सोलह वर्ष के बालकों की बुद्धि-परीक्षा की गई उन्हीं के आधार पर प्रौढ़ों की बुद्धि-परीक्षा करना ठीक नहीं, क्योंकि प्रौढ़ों की रुचियों में बहुत भेद आ सकता है। जो बातें छोटे बच्चों को रुचिकर होती हैं वे बड़ों को रुचिकर नहीं होतीं। जो अंकगणित का प्रश्न

की बुद्धि-परीक्षा के लिये एक दम नई प्रश्नावलियों का बनाना आवश्यक, पर बड़ा ही दुष्कर।

हम सातवीं कक्षा में कर लेते थे उसे हम एम० ए० पास करने के बाद उतनी चतुरता से नहीं कर पाते, यदि हाई स्कूल परीक्षा के बाद हमारे अध्ययन का विषय गणित न रहा हो। इसी प्रकार विज्ञान अथवा भूगोल सम्बन्धी जो बातें हमें स्कूल-काल में स्मरण रहती हैं वे प्रौढ़ावस्था में भूल जाती हैं। तो क्या इसका तात्पर्य यह हुआ कि हम बचपन की अपेक्षा मूर्ख हो गये हैं? नहीं, इसका अर्थ यह नहीं हो सकता। मस्तिष्क का यह नियम है कि जो बातें व्यक्ति के लिये आवश्यक नहीं होती उसे वह निकाल देता है। यही कारण है कि अतीत में सीखी हुई बहुत सी बातें भविष्य में चल कर व्यक्ति भूल जाता है। रुचि-परिवर्तन स अतीत की आवश्यक बातें भविष्य में अनावश्यक हो जाती हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि कोई प्रौढ़ व्यक्ति किसी बुद्धि-परीक्षा में किसी छोटे बालक से बुरा करता है तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह पहले से मूर्ख हो गया है। वास्तव में प्रौढ़ व्यक्ति की बुद्धि-परीक्षा के लिये नये बुद्धि-परीक्षा के प्रश्नों को बनाना आवश्यक है, पर यह कार्य बड़ा ही कठिन है। बुद्धि-परीक्षा के प्रश्नों को तैयार करने के लिये मन्द, सामान्य और प्रखर सभी कोटि के बालकों पर परीक्षण कर औसत निकालना आवश्यक होता है। प्रायः इस प्रकार के बालक हमें स्कूलों में मिल जाते हैं। पर प्रौढ़ों का इतनी संख्या में इस प्रकार समान वातावरण में रहते हुए पाया जाना कठिन है। स्कूल-शिक्षा के बाद व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न जीवन-व्यापार में लग जाता है। दूसरे, प्रौढ़ व्यक्ति अपनी बुद्धि-परीक्षा करवाना भी पसन्द नहीं करेगा, क्योंकि इसके फल से उसे आत्म-सम्मान की हानि का भय रहता है। इन सब कठिनाइयों के कारण प्रौढ़ों की बुद्धि-परीक्षा के लिये प्रश्नों का बनाना बड़ा ही दुष्कर कार्य है।

छ—मनोवैज्ञानिकों की भूल

व्यक्ति के जीवन में या तो मानसिक आयु का बढ़ना अथवा बुद्धि-लब्धि समान नहीं।

मनोवैज्ञानिकों का मत है कि बुद्धि का विकास एक निश्चित अवस्था तक पहुँचने के बाद रुक जाता है। उनका यह भी कहना है कि व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि अर्थात् मानसिक और वास्तविक आयु का अनुपात सदा समान रहता है। इन दोनों मतों में से एक अवश्य ही गलत होगा। व्यक्ति की वास्तविक आयु सदा बढ़ती रहती है। यदि बुद्धि-लब्धि समान रहती है तो उसकी मानसिक आयु भी सदा बढ़नी चाहिये। मान लीजिये, दस वर्ष की अवस्था में किसी बालक की बुद्धि-लब्धि ११० है; अर्थात् उसकी मानसिक आयु ग्यारह वर्ष है। यदि वास्तविक उम्र के साथ उसकी मानसिक उम्र नहीं बढ़ती तो २० वर्ष की आयु में उसकी बुद्धि-लब्धि $\frac{११}{२०} \times १०० = ५५$ हो जायगी; अर्थात् वह

निरा मूर्ख (मोरोन्स) हो जायगा। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि या तो व्यक्ति की मानसिक आयु वास्तविक आयु के साथ बढ़ती चलती है, अर्थात् बुद्धि का विकास रुकता नहीं अथवा यह मान लिया जाय कि बुद्धि-लब्धि सदा समान नहीं रहती, अर्थात् यदि किसी व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि १२० है तो उसके उम्र के साथ यह घटती जायगी। आशा है इस समस्या का स्पष्टीकरण शीघ्र किया जायगा। पर कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि केवल सुविधा व काम चलाने के दृष्टिकोण से ही मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि के बढ़ने के काल की एक निश्चित सीमा मान ली है।

ज—वंशानुक्रम और वातावरण का बुद्धि पर प्रभाव

बुद्धि के विकास के रुकने की अवस्था विभिन्न जातियों की सभ्यतानुसार भिन्न भिन्न पायी गयी है, अर्थात् इसके विकास पर वंशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है। एस० डी० प्रिटिन्स ने परीक्षण के आधार पर देखा कि आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों के बच्चों के बुद्धि का विकास गौरवर्ण वाले बच्चों की अपेक्षा पहले ही रुक जाता है। प्रो० जे० एन ग्रीन का कहना है कि वातावरण का प्रभाव बुद्धि-विकास पर पड़ता ही है। वातावरण यदि संकुचित हुआ तो बुद्धि भी संकुचित हुए बिना न रहेगी। वंशानुक्रम और वातावरण का बुद्धि से क्या सम्बन्ध है यही हम नीचे देखेंगे।

१—बुद्धि और वंशानुक्रम

वंशानुक्रम और वातावरण का बुद्धि-विकास में भाग समझने के लिये जोड़वों का अध्ययन किया गया है। जोड़वों का पालन-पोषण अलग अलग करने से उनके स्वभाव में वातावरण का विभिन्न प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। वंशानुक्रम का प्रभाव जिस प्रकार व्यक्ति के रूप, रंग व शरीर पर दिखलाई पड़ता है उसी प्रकार उसका प्रभाव बुद्धि पर भी होता है। यदि बुद्धि सम्बन्धी कुछ दोष अथवा गुण वंशानुक्रम में आ जाते हैं तो उसका प्रभाव भावी वंशजों में स्पष्ट पड़ता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति वंशानुक्रम के प्रभाव स्वरूप कुछ गुणों अथवा अवगुणों को लेकर जन्म लेता है। अनुकूल अथवा प्रतिकूल वातावरण उसमें सीमित परिवर्त्तन ही ला सकता है और लाता है। वंशानुक्रम का प्रभाव देखने के लिये रक्त सम्बन्धित विभिन्न व्यक्तियों का अध्ययन कर संयुक्त राज्य अमेरिका

वंशानुक्रम का प्रभाव निश्चय, वातावरण का केवल सीमित परिवर्तन ही लाना, जोड़वों की बुद्धि में परस्पर सम्बन्ध, टरमैन और गाल्टन का अध्ययन, रक्त का निकटतम सम्बन्ध और बुद्धि की समानता।

के विद्वानों ने कुछ निर्णय किया है। उन्हें बुद्धि-परीक्षा में जोड़ुवों में दूसरों से अधिक समानता दिखलाई पड़ी। उनके बुद्धि-माप के फल में ·९ का परस्पर-* सम्बन्ध (कॉरीलेशन) दिखलाई पड़ा, भाई और बहिनों में ·२५ का सम्बन्ध रहा। टरमैन का अन्वेषण इस सम्बन्ध में अधिक मनोरंजक है। उसने 'हॉल ऑव् फ़ेम' के बासठ सदस्यों का अध्ययन किया। इनमें से २२ ½ प्रतिशत ६४३ प्रखर बुद्धि के बालकों से सम्बन्धित थे। गाल्टन ने वंशानुक्रम से बुद्धि का सम्बन्ध समझने के लिये ९७७ विद्वानों का अध्ययन किया। इन विद्वानों के ५३५ बड़े प्रसिद्ध सम्बन्धी निकले। गाल्टन ने ९७७ साधारण व्यक्तियों का अध्ययन किया। उसने देखा कि इनके सम्बन्धी केवल चार ही ऐसे थे जो प्रखर बुद्धि के कहे जा सकते थे। उपर्युक्त अन्वेषणों के आधार पर यह कहा जा कसता है कि वंशानुक्रम का बुद्धि की प्रखरता अथवा मन्दता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम यह भी सारांश निकाल सकते हैं कि रक्त का जितना ही निकट सम्बन्ध होता है उतना ही बुद्धि में भी समानता अपेक्षित होती है।

२—बुद्धि और वातावरण

स्वास्थ्य का बुद्धि पर प्रभाव, वातावरण का प्रभाव स्पष्ट।

बुद्धि पर वातावरण का किस प्रकार का प्रभाव पड़ता है यह स्पष्टतया अभी नहीं कहा जा सका है। चूहों और सूअरों इत्यादि जानवरों के पालन में कुछ परीक्षणों के आधार पर मनोवैज्ञानिकों की यह धारणा है कि किसी पदार्थ विशेष के प्रयोग से स्वास्थ्य पर अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कदाचित् प्रत्येक का ऐसा कुछ अनुभव हो सकता है। स्वास्थ्य का बुद्धि की वृद्धि पर प्रभाव पड़ता ही है। स्कूल कुछ दिन जाने के बाद ही बालक की बुद्धि में कुछ परिवर्तन होने लगता है। यदि वातावरण अनुकूल हुआ तो बुद्धि का विकास उत्तरोत्तर होता जायगा, यदि प्रतिकूल हुआ तो इसके विपरीत फल होगा। यही कारण है कि यदि शिक्षित कुल में पैदा हुए बालकों को उचित वातावरण में नहीं रखा जाता तो उनकी बुद्धि की वृद्धि रुक जाती है। यह भी देखा गया है कि अशिक्षित कुल के बालकों को उचित वातावरण में पालने से उनकी बुद्धि का विकास अधिक किया जा सकता है। बुद्धि-माप सम्बन्धी परीक्षणों से यह बात स्पष्ट है। एस० डी० स्कग ने नीग्रो बालकों पर परीक्षण कर देखा कि उनकी पढ़ने की योग्यता और बुद्धि-लब्धि में समानता थी, अर्थात् पढ़ने की योग्यता के बढ़ने के साथ बुद्धि का भी विकास होता गया। थॉर्नडाइक का भी मत है कि स्कूल में रहने वाले विद्यार्थियों की बुद्धि का

* एक पूर्णाङ्क का परस्पर-सम्बन्ध होने पर पूरी समानता आ जाती है।

विकास होता चलता है। शिक्षा के फलस्वरूप बुद्धि में शीघ्र विकास होने ही के कारण किसी बालक की दूसरी बार बुद्धि-परीक्षा ली जाने पर फल दूसरा मिलता है। ब्राउन ने दो और पाँच वर्ष के अन्तर पर कुछ बालकों की बुद्धि-परीक्षा दूसरी और तीसरी बार की। दूसरी बार और पहली बार के फल में ·८६ का परस्पर-सम्बन्ध था, और तीसरी और पहली बार में ·६१ का परस्पर-सम्बन्ध था।

झ—बुद्धि का वितरण (डिस्ट्रीब्यूशन ऑव् इन्टेलीजेन्स)

बालक प्रायः माध्यमिक योग्यता के, मन्द-बुद्धि और प्रखर बुद्धि की संख्या कम।

बुद्धि-परीक्षा से यह देखा गया है कि बालक प्रायः माध्यमिक योग्यता के होते हैं, अर्थात् उनमें मन्द-बुद्धि और प्रखर बुद्धि की संख्या कम होती है, बहुमत समान योग्यता वालों की ही होती है। मन्द-बुद्धि बालक और उससे ऊपर वाले में बहुत थोड़ा ही अन्तर होता है। इसी प्रकार, प्रखर-बुद्धि और उससे नीचे वाले में बहुत कम अन्तर रहता है। टरमैन ने पाँच से चौदह वर्ष के ९०५ बालकों की बुद्धि का माप किया। उनकी परीक्षा का फल इस प्रकार है:—

प्रखर बुद्धि		मन्द-बुद्धि	
बालकों का प्रतिशत	बुद्धि-लब्धि	बुद्धि-लब्धि	बालकों का प्रतिशत
३३.९	९६–१०५	१९६–१०५	३३.९
२२.१	१०६–११५	८६–९५	२०.१
९.०	११६–१२५	७६–८५	८.६
२.३	१२६–१३५	६६–७५	२.३
०.५५५	१३५–१४५	५५–६५	०.३३

टरमैन के निकाले हुए फल से स्पष्ट है कि प्रखर-बुद्धि और मन्द-बुद्धि की संख्या सबसे कम होती है। ऊपर हम देखते हैं १३६—१४५ और ५५-६५ बुद्धि-लब्धि वाले बालकों का प्रतिशत क्रमशः ०.५५५ और ०.३३ है। सामान्य योग्यता वालों का प्रतिशत सबसे अधिक अर्थात् ३३.९ है। इसी प्रकार ऊपर कही हुई अन्य बातें भी स्पष्ट हैं।

ञ—बुद्धि और लिङ्ग भेद (इन्टेलीजेन्स ऐण्ड सेक्स डिफरेन्सेज्)

बारहवें अध्याय में वैयक्तिक भिन्नता के सम्बन्ध में इस पर थोड़ा प्रकाश डाला जा चुका है। पर प्रसंगवश उन बातों को दोहरा देना सुविधाजनक होगा। प्रायः लोगों की यह धारणा होती है कि स्त्रियों की बुद्धि पुरुषों से कम होती है। कदाचित् लोगों की यह धारणा स्त्रियों में विभिन्न विषयों के ज्ञान के अभाव से आ गई है। पर परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध कर दिया गया है कि यदि स्त्रियों को भी पुरुषों के सदृश् सभी सुविधायें दी जायें तो वे किसी भी ज्ञान में पीछे नहीं रहेंगी। उनका कौटुम्बिक कार्य कुछ ऐसा होता है कि उन्हें पढ़ने-लिखने की कम सुविधा होती है। अतः ज्ञान अथवा अनुभव की कमी को बुद्धि की कमी समझना अमनोवैज्ञानिक होगा। यह ध्यान देने की बात है कि बुद्धि की भिन्नता जितनी पुरुषों में मिलती है उतनी स्त्रियों में नहीं मिलती। उत्कृष्ट बुद्धि व हीन बुद्धि के व्यक्ति जितना पुरुषों में मिलते हैं उतना स्त्रियों में नहीं। पागलखानों में पुरुषों के आधिक्य का कदाचित् यह भी कारण हो सकता है।

पुरुषों के सदृश् सभी सुविधायें मिलने पर स्त्रियाँ किसी ज्ञान में पीछे नहीं, ज्ञान तथा अनुभव का भेद बुद्धि-भेद नहीं, बुद्धि की भिन्नता पुरुषों में अधिक।

ट—मन्द-बुद्धि (डल)

अमेरिकन मनोवैज्ञानिकों ने मन्द-बुद्धि बालकों की कई श्रेणियों का उल्लेख किया है। (इसका संकेत हम टरमैन के वर्गीकरण में कर चुके हैं) उनके अनुसार जड़ (इडियट) व्यक्ति की मानसिक आयु सदा दो वर्ष की होती है। मूढ़ (इम्बेसाइल) जड़ से कुछ अच्छा होता है, पर उसकी मानसिक आयु सदा सात ही वर्ष रहती है। निरा मूर्ख (मोरोन्स) मूढ़ से अच्छा होता है। उसकी मानसिक आयु सदा बारह वर्ष रहती है। पिंटर के अनुसार इंगलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका में समस्त निवासियों का एक प्रतिशत मन्द-बुद्धि होता है। अभी यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि बालकों में कितने प्रतिशत मन्द-बुद्धि होते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि प्रति हजार दो बालक मन्द-बुद्धि होते हैं। कुछ अन्य लोगों का कहना है कि प्रति हजार २० बालक मन्द-बुद्धि होते हैं। प्रत्येक स्कूल के मन्द-बुद्धि बालकों को अलग करके उनकी शिक्षा की अलग व्यवस्था करनी चाहिये। इस समस्या पर अन्तिम अध्याय में कुछ प्रकाश डाला जायगा।

जड़ की मानसिक आयु दो वर्ष, मूढ़ की सात वर्ष, मूर्ख की बारह वर्ष, मन्द-बुद्धि बालकों का प्रतिशत निश्चित नहीं, उनकी शिक्षा की व्यवस्था।

ठ—क्या शिक्षक और विद्यार्थी को बुद्धि-लब्धि से अवगत करना चाहिये ?

प्रत्येक शिक्षक को विद्यार्थी के बुद्धि-लब्धि को बतला देना ठीक न होगा, क्योंकि इससे उसके प्रयत्न में ढिलाई आ सकती है। विद्यार्थी की प्रत्येक असफलता का कारण शिक्षक उसकी मन्द-बुद्धि ही समझेगा और इस प्रकार अपनी पाठन-विधि के सुधार की ओर वह ध्यान न देगा। इसका फल बालकों पर अच्छा नहीं पड़ सकता। वे हतोत्साह होकर मन्द हो जा सकते हैं। इसके विपरीत प्रखर-बुद्धि बालक को वह इतना उत्साह दे सकता है कि वह दम्भी हो जाय। वह अपने को इतना बड़ा समझ लेगा कि यथाशक्ति प्रयत्न करना छोड़ देगा। इन सब भय से बुद्धि-लब्धि को बतला देना युक्ति-संगत नहीं दिखलाई पड़ता। केवल ऐसे ही शिक्षक को बुद्धि-लब्धि का बतलाना ठीक होगा जो इसका सदुपयोग कर सकें और आवश्यकतानुसार बालक की शिक्षा में उपकरणों को घटा या बढ़ा सकें।

शिक्षक के प्रयत्न में ढिलाई की आशंका, बालक के दम्भी अथवा हताश होने का डर, बुद्धि-लब्धि को सबको बतलाना युक्ति-संगत नहीं।

क्या बालकों को उनकी बुद्धि-लब्धि बतलाना ठीक है? इस प्रश्न का उत्तर वैयक्तिक भिन्नता पर निर्भर करेगा। यदि बालक मन्द-बुद्धि है तो कदाचित् बुद्धि-लब्धि का वह तात्पर्य ही न समझेगा। सामान्य योग्यता वाले बालक को बुद्धि-लब्धि बतला देना हानिकर न होगा, पर इसमें भी परीक्षक को परिस्थिति के अनुसार निर्णय करना चाहिये। यदि बुद्धि-लब्धि बतलाने से बालक के उत्साहित होने की आशा है तो उसे बतला देना ठीक होगा, क्योंकि प्रत्येक को अपनी सीमा से अवगत होना आवश्यक है। प्रखर-बुद्धि बालक के स्वभाव को समझ कर उसे बुद्धि-लब्धि बतलाने का निश्चय करना चाहिये। यदि उसमें बहकने की प्रवृत्ति हो तो बुद्धि-लब्धि का बतलाना ठीक न होगा।

बालक के उत्साहित होने की आशा से बुद्धि-लब्धि बतलाना ठीक।

ड—बुद्धि-परीक्षा के उपयोग

बुद्धि-परीक्षा से शिक्षा सम्बन्धी बहुत सी बातों का पता चला है। बुद्धि-लब्धि से बालक का प्रकार जान लिया जाता है। यदि बालक मन्द हुआ तो उसे अलग कर आवश्यक शिक्षा की उचित व्यवस्था की जा सकती है। यदि प्रखर हुआ तो उसपर विशेष ध्यान दिया जा सकता है जिससे वह सभ्यता

बालक का ज्ञान सम्भव, बालकों का मनोवैज्ञानिक

वर्गीकरण सम्भव, इससे शिक्षा अधिक उपयोगी।

के विकास में अपना योग दे सके। बुद्धि-परीक्षा से पहले बालकों का वर्गीकरण करना बड़ा ही कठिन था। फलतः कुछ विशेष बालकों पर आवश्यक ध्यान देना सम्भव न था। प्रायः यह देखा जाता है कि प्रारम्भ में बालक मन्द-बुद्धि नहीं दिखलाई पड़ता और छोटी कक्षा में अपने सहपाठियों के साथ सरलता से पढ़ लेता है, पर उसकी कठिनता उम्र के बढ़ने पर दिखलाई पड़ती है। इसका क्या कारण है? यह मानसिक आयु और बुद्धि-लब्धि के भेद को समझने से स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिये पाँच वर्ष के दो बालक एक की कक्षा में पढ़ रहे हैं। एक की मानसिक आयु पाँच वर्ष है अथवा एक सामान्य बुद्धि है, और दूसरे की मानसिक आयु चार वर्ष है, अर्थात् दूसरा कुछ मन्द-बुद्धि है। अर्थात् दोनों की बुद्धि-लब्धि क्रमशः १०० और ८० है। पाँच और छः वर्ष में विशेष अन्तर नहीं, अतः छोटी कक्षा में मन्द-बुद्धि बालक विशेष कठिनाई का सामना नहीं करता। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में पहले बालक की मानसिक आयु पन्द्रह होगी और दूसरे की बारह होगी। इस प्रकार अब दोनों का भेद तीन वर्ष का हो जायगा। भेद तीन वर्ष का हो जाने से ऊँची कक्षा में उसे कठिनाई होती है। अर्थात् जो बालक को छोटी अवस्था में दूसरों के साथ पढ़ाया जा सकता था उसी को बड़ी कक्षा में अन्य बालकों के साथ पढ़ाना मनोवैज्ञानिक सिद्ध नहीं हुआ। बुद्धि-परीक्षा आन्दोलन के आने के पूर्व इस बात को समझना सरल न था, अतः मन्द-बुद्धि बालक को भी ऊँची कक्षाओं में चढ़ा दिया जाता था। इस प्रकार बुद्धि परीक्षा की सहायता से बालकों का मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण सम्भव हो सका है। वर्गीकरण ठीक न होने से शिक्षक अपने परिश्रम का उचित फल नहीं पाता। प्रखर-बुद्धि के बालक के लिये शिक्षा अरुचिकर हो जाती है, क्योंकि शिक्षक को कक्षा के मन्द-बुद्धि बालकों पर भी ध्यान देना होता है। यदि शिक्षक का अध्ययन प्रखर बुद्धि के बालकों के योग्य हुआ तो मन्द-बुद्धि बालक आलस्य में झपकी लगा सकता है।

बालक को उचित राय देना सम्भव।

बुद्धि-परीक्षा के फलस्वरूप बालकों की एक मनोवैज्ञानिक श्रेणी सामने आ गई है। अब यह समझना सरल हो गया है किसी बालक को कैसी शिक्षा की आवश्यकता है। ८० अथवा ६० बुद्धि-लब्धि वाले बालक से अब यह कहा जा सकता है कि उसे कालेज-शिक्षा में अपना समय देना ठीक नहीं। किसी व्यावसायिक कार्य में लगने के लिये उसे राय दी जा सकती है। इस प्रकार उचित राय देकर समय का अपव्यय बचाया जा सकता है।

यह सत्य है कि बुद्धि-परीक्षा प्रचलित साधारण परीक्षा का स्थान नहीं पूरा कर सकती। बुद्धि-परीक्षा भविष्य की ओर संकेत करती है और साधारण

बुद्धि-परीक्षा से भविष्य की ओर संकेत, प्रवेश के लिये बुद्धि-परीक्षा का फल सहायक, अमनोवैज्ञानिक वर्गीकरण से बुद्धि-विकास में रुकावट।

परीक्षा अतीत के अनुभव की ओर। एक कक्षा से दूसरी कक्षा में चढ़ने के लिये हमें साधारण परीक्षा की ही सहायता लेनी होगी। पर स्कूल में नये प्रवेश के लिये बुद्धि-परीक्षा का फल हमारी अधिक सहायता कर सकता है। इस प्रकार बुद्धि-परीक्षा फाटक पर बैठे एक चौकीदार का काम कर सकती है। इसकी सहायता से बालकों को अयोग्य स्थान पर भेजना रोका जा सकता है। टरमैन का अनुमान है कि यदि प्रारम्भ में ही ठीक चुनाव किया जाय तो शिक्षा की असफलता को दस प्रतिशत घटाया जा सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के फलस्वरूप हमारे देश में अनिवार्य शिक्षा का प्रचार प्रारम्भ हो गया है। ऐसी अवस्था में बालकों का उचित वर्गीकरण बड़ा आवश्यक है। अतः बुद्धि-परीक्षा की आवश्यकता हमारे देश के लिये अब पहले से बहुत अधिक बढ़ गई है। ठीक वर्गीकरण के न होने से प्रखर-बुद्धि के बालकों की अधिक हानि होती है। क्योंकि उन्हें सामान्य बुद्धि वाले बालकों के लिये ही बनाये हुये पाठ्य-क्रम के अनुसार चलना पड़ता है। इस हानि को रोकने के लिये कभी कभी उन्हें ऊँची कक्षाओं में शीघ्र चढ़ा दिया जाता है। इसका भी परिणाम अच्छा नहीं होता। ऊँची कक्षाओं में इन बालकों का संग प्रायः बड़ी उम्र के बालकों के साथ हो जाता है। शारीरिक दृष्टि से निर्बल होने से ऊँची कक्षाओं में बड़े लड़के उनके साथ सहानुभूति का व्यवहार नहीं करते, जिससे उन्हें संवेगात्मक धक्का लगता है और उनके बुद्धि-विकास में रुकावट पड़ जाती है।

छात्रवृत्ति देने के निर्णय में बुद्धि-परीक्षा की सहायता, शिक्षकों की सफलता माप सम्भव, बालक की प्रवृत्ति का अनुमान लगाना सरल, व्यावसायिक चुनाव में सहायता।

छात्रवृत्ति के देने के निर्णय में भी बुद्धि-परीक्षा की सहायता ली जा सकती है। बुद्धि-परीक्षा से शिक्षक के कार्य की सफलता भी आँकी जा सकती है। जब बुद्धि-लब्धि और किसी विषय में बालक की उन्नति का सम्बन्ध नहीं दिखलाई पड़ता तो आवश्यक उपचार की ओर दृष्टि दौड़ाई जा सकती है। बुद्धि-परीक्षा से बालक की प्रवृत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। इससे यह ज्ञात हो सकता है कि बालक को किन किन विषयों का अध्ययन करना चाहिये। व्यावसायिक चुनाव (वॉकेशनल सेलेक्शन) में बुद्धि-परीक्षा की सहायता लाभप्रद सिद्ध हुई है।

ढ—भारतवर्ष में बुद्धि-परीक्षा

(१) कठिनाइयाँ

अपने देश में बुद्धि-परीक्षा की आवश्यकता की ओर हम ऊपर संकेत कर

चुके हैं। पर इस कार्य में अनेक कठिनाइयाँ दिखलाई पड़ती हैं। बालकों की बुद्धि-परीक्षा माता-पिता व अभिभावकों की सहानुभूति बिना नहीं सफल हो सकती। हमारे यहाँ की साधारण जनता अभी इतनी शिक्षित नहीं कि इसकी आवश्यकता का अनुभव कर मनोवैज्ञानिकों के कार्य में उचित सहायता प्रदान करे। बुद्धि-परीक्षा के लिये बालकों की ठीक उम्र का जानना बड़ा ही आवश्यक है। हमारे देश में ठीक उम्र का पता लगाना एक बड़ी समस्या है। स्कूलों के रजिस्टर में बालकों की जो उम्र होती है वह प्रायः गलत होती है, क्योंकि प्रवेश के समय अभिभावक गण या तो न जानने के कारण बालकों की उम्र गलत लिखा देते हैं या भविष्य में नौकरी पाने की सुविधा के लिये ऐसा करते हैं। यदि माता-पिता के घर जाकर बालकों की ठीक उम्र जानने का प्रयत्न किया जाय तो इसमें भी विशेष सफलता नहीं मिलेगी, क्योंकि हमारे देश की अधिकांश जनता अशिक्षित है और बालकों की ठीक उम्र याद करने में उसकी कोई रुचि नहीं, इसके अतिरिक्त पूछने वाले के आशय पर भी उसका सन्देह हो सकता है।

अभिभावकों की असहानुभूति, बालकों की वास्तविक उम्र का जानना कठिन।

हमारे देश में विभिन्न प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाता है। एक ही प्रान्त में कई भाषायें बोली जाती हैं। हमारे यहाँ विभिन्न प्रकार के वातावरण वाले बालक स्कूल में आते हैं। कोई बहुत धनी है तो कोई बहुत दीन। धार्मिक एकता का भी अभाव है। ऐसी स्थिति में बालकों के अन्तर और वाह्य परिस्थिति में बड़ा भेद पड़ जाता है। अतः सभी बालकों की बुद्धि-परीक्षा के योग्य एक ही प्रश्नावली का बनाना कठिन हो जाता है। किसी प्रदेश के लिये बनाये हुए परीक्षा-प्रश्न विशेषकर उसी प्रदेश के लिये ठीक हो सकते हैं। इस प्रकार हमारे देश में बुद्धि-परीक्षा के लिये कोई सरल और सर्वमान्य विधि का आविष्कार करना बड़ा कठिन है।

कई भाषायें, विभिन्न वातावरण के बालक, धार्मिक एकता का अभाव, बालक की अन्तर और वाह्य परिस्थिति में भारी भेद, सर्वमान्य विधि बनाना अत्यन्त कठिन।

बुद्धि-परीक्षा में बहुत धन की आवश्यकता होती है। हमारे देश की उपर्युक्त प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण किसी भी देश से यहाँ अधिक धन की आवश्यकता होगी। अमेरिका तथा योरप के छोटे छोटे देशों में भी अभी साधारण जनता के लिये बुद्धि-परीक्षा की सुविधा प्राप्त नहीं हो सकी है। यद्यपि वहाँ ऐसी बड़ी बड़ी प्रयोगशालायें खुल गई हैं जहाँ किसी भी बालक की बुद्धि-परीक्षा फीस देने पर की जा सकती है, पर एक

अधिक धन की आवश्यकता।

बालक की बुद्धि-परीक्षा में वहाँ लगभग चालीस रुपये लग जाते हैं। अतः वहाँ भी केवल धनिक लोग ही अपने बालकों की बुद्धि-परीक्षा करवा सकते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे देश में बुद्धि-परीक्षा सबके लिये सुलभ करना एक स्वप्न सा ही जान पड़ता है। पर प्रदेशीय और राष्ट्रीय सरकार का ध्यान अब इधर आकर्षित हुआ है। आशा है इस क्षेत्र में यथेष्ट प्रयत्न प्रारम्भ कर देने में अब देर न लगेगी।

विशेषज्ञों का अभाव।

बुद्धि-परीक्षा प्रारम्भ करने के लिये मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञों तथा उसके सिद्धान्तों में शिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। यहाँ इन दोनों का अभाव है। पर अब देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में शिक्षा-विभाग धीरे धीरे खुल रहे हैं। उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद नगर में 'ब्यूरो ऑव् साइकॉलॉजी' खोल दिया गया है। वहाँ भिन्न भिन्न प्रकार के वैज्ञानिक साधनों द्वारा परीक्षण कार्य करने की चेष्टा की जा रही है। इसी प्रकार अन्य प्रदेशीय सरकारों का भी ध्यान इधर आकृष्ट हुआ है। दिल्ली इसके लिये विशेषतः उल्लेखनीय है। यहाँ केन्द्रीय सरकार ने शिक्षा में इस प्रकार के प्रयोग एक बड़े पैमाने पर प्रारम्भ किये हैं। अतः आशा है इस अभाव की पूर्ति शीघ्र की होगी।

(२) भारतवर्ष में बुद्धि-परीक्षा के कुछ प्रयत्न—

तीन प्रकार के सम्भव प्रयत्न, एकदम नयी प्रश्नावलियों की आवश्यकता, डा० राइस का प्रयत्न, सभी प्रदेशों के लिये उपयोगी नहीं।

इन कठिनाइयों के होते हुए भी हमारे देश में बालकों की बुद्धि-परीक्षा के सम्बन्ध में कुछ प्रयत्न किये गये हैं। इस क्षेत्र में हमारे देश में तीन प्रकार के कार्य किये जा सकते हैं:— १– पाश्चात्य देशों की बुद्धि-परीक्षा प्रश्नावलियों का अनुवाद कर काम में लाया जाय, २– अपनी आवश्यकतानुसार उन्हें संशोधित किया जाय, अथवा ३– एकदम नयी प्रश्नावलियाँ बनाई जाँय। प्रश्नावलियों का अनुवाद हमारे बालकों के लिये ठीक न होगा, क्योंकि हमारे बालकों का सामाजिक वातावरण पाश्चात्य बालकों से एकदम भिन्न है। उनकी रहन-सहन व भाषा के अनुसार बनाये हुए प्रश्न हमारे बालकों की बुद्धि-परीक्षा ठीक प्रकार नहीं कर सकते। अपनी आवश्यकतानुसार उनका संशोधित रूप कुछ उपयोगी सिद्ध हो सकता है। पर सबसे अच्छा तो यह होगा कि एकदम नये प्रश्न बनाये जाँय। अब तक बुद्धि-परीक्षा के लिये पाश्चात्य प्रश्नावलियों के संशोधित रूप का ही उपयोग किया जा सका है। इनका यहाँ कुछ उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। डा० सी० हरबर्ट राइस ने बिने, टरमैन और ओटिस की प्रश्नावलियों के आधार पर पंजाब के बालकों की बुद्धि-परीक्षा का आयोजन किया। इन्होंने अपनी विधि का नाम 'हिन्दुस्तानी बिने

परफॉर्मेन्स पॉइन्ट स्केल, रक्खा। इसमें कुल ३५ प्रश्न हैं, जिनमें नव क्रिया-प्रश्न हैं। उत्कृष्ट कोटि के बालकों की परीक्षा के लिये सात दूसरे प्रश्न भी हैं। प्रत्येक प्रश्न के लिये अलग अलग अङ्क निर्धारित किये गये हैं। उसी के अनुसार अङ्क देकर बुद्धि की माप कर ली जाती है। डा० राइस की विधि से सभी प्रदेश के बालकों की बुद्धि परीक्षा नहीं ली जा सकती। यह पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के ही बालकों के लिये कुछ उपयोगी सिद्ध हो सकती है; पर इन बालकों के लिये भी उसे उपयुक्त बनाने के लिये अभी उसमें प्रयोगों और निरीक्षण की आवश्यकता है।

बिने-साइमन और टरमैन के संशोधन के आधार पर बेलगाँव ट्रेनिङ्ग कालेज के डी० वी० वी० कामत् कनाड़ी तथा मराठी भाषा भाषी बालकों की बुद्धि-परीक्षा के क्षेत्र में कुछ काम किया है। पं० लज्जाशंकर झा का भी नाम इस सम्बन्ध में लिया जा सकता है। इन्होंने संयुक्तप्रान्त, राजपूताना तथा, मध्य प्रान्त के ४० स्कूलों के २११७ विद्यार्थियों पर प्रयोग कर पाश्चात्य प्रश्नावलियों के आधार पर सामूहिक परीक्षा के लिये प्रश्नावलियाँ बनाई हैं। मैसूर विश्व विद्यालय के प्रो० एम० वी० गोपालस्वामी, मध्यप्रान्त में राजपुर जिले के श्री ई० डब्लू मेन्ज़ल आदि के भी नाम इस विषय में लिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त अन्य प्रयत्न भी किए गये हैं, पर साधनों की कमी के कारण उनका अभी यथोचित प्रचार नहीं हो पाया है। 'बुद्धि-परीक्षा' पर किसी एक स्वतन्त्र पुस्तक में ही इन सब प्रयत्नों का उल्लेख किया जा सकता है। अतः प्रस्तुत पुस्तक की परिधि के बाहर की यह बात है। अब तक बुद्धि-परीक्षा के क्षेत्र में जितने प्रयत्न किये गये हैं उनका उपयोग ठीक प्रकार नहीं किया जा सका है। प्रथमतः, वे अभी हमारे बालकों के लिये पूर्णतः उपयुक्त नहीं हैं, दूसरे पर्याप्त सरकारी सहायता के अभाव में प्रयोग करने वाले व्यक्तियों का उत्साह भी कम हो गया है।

कुछ अन्य प्रयत्न।

सहायक पुस्तकें

१—टरमैन ऐण्ड मेरिल—मैज़रिङ्ग इन्टेलीजेण्स।
२—रॉकवेल, जे० जी०—इन्टेलीजेन्स टेस्टिङ्ग एजूकेशनल मेथड, भाग १९, पृष्ठ १९-३१
३—पीन्टर ऑर—इन्टेलीजेन्स टेस्टिङ्ग,
४—विटी, पी०, ए०—(सम्पादक) एजूकेशनल मेथड, भाग १९, पृष्ठ १९-३१।
५—थॉर्नडाइक ऑर० एल०—कॉन्स्टेन्सी ऑव् द आइ० क्यू० साइकॉलाजीकल बुल-टीन, भाग ३७, पृष्ठ १६७-१८६।
६—व्योमन्टन, पी० एल०, इन्टेलीजेन्स, इट्स मैनीफेस्टेशन्स, ऐण्ड मैज़रमेण्टस।
७—फ्रीमैन, एफ० एन०—मेण्टल टेस्ट्स।

८—बैलर्ड—मेण्टल टेस्ट्स, अध्याय १, २।
९—स्पीयरमैन—नेचर ऑव् इन्टेलीजेन्स।
१०—ट्रेड गोल्ड—मेण्टल डिफ़ीसियेन्सी।
११—ब्राउन ऐण्ड थॉमसन—एशेन्शियल्स ऑव् मेण्टल मेज़रमेण्ट।
१२—जॉन डी० स्टॉडार्ड—द मीनिङ्ग ऑव् इन्टेलीजेन्स।
१३—बॉयट, एच० जी०—द साइकॉलॉजी ऑव् इन्टेलीजेन्स ऐण्ड विल।
१४—कैटल—ए गाइड टु मेण्टल टेस्टिङ्ग।
१५—कामत—मेज़रिङ्ग इन्टेलीजेन्स ऑव् इन्डीयन चिल्ड्रेन।
१६—राइस—हिन्दुस्तानी बिने परफ़ॉमेन्स स्केल ऐण्ड टीचर्स मैनुअल।
१७—स्टर्न—साइकॉलॉजीकल मेथड ऑव् टेस्टिङ्ग इन्टेलीजेन्स।
१८—कोल ऐण्ड ब्रूस—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ५।
१९—जे० एम० स्टीफेन्स—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ७।
२०—सरयू प्रसाद चौबे—बाल मनोविज्ञान, अध्याय १०।
२१— „ „ „ सामान्य मनोविज्ञान, अध्याय १३।

1/8/68

२३

ज्ञान, स्वभाव व झुकाव-परीक्षा

(अचीवमेण्ट ऑर स्कॉलैस्टिक टेस्ट)

क—ज्ञान-परीक्षा

१—बुद्धि-परीक्षा और ज्ञान-परीक्षा में भेद—

बुद्धि-परीक्षा में व्यक्ति की प्राकृतिक योग्यता की परीक्षा।

बुद्धि-परीक्षा द्वारा व्यक्ति की केवल प्रकृतिदत्त बुद्धि की ही परीक्षा की जाती है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि विभिन्न परिस्थितियों में अपने को सँभालने की व्यक्ति में कहाँ तक योग्यता है। बुद्धि-परीक्षा का साधन परीक्षार्थी का पूरा वातावरण ही है। वातावरण के सम्पर्क में आने के कारण व्यक्ति ने जो कुछ सीखा है उसकी 'बुद्धि-परीक्षा' में परीक्षा हो जाती है। बुद्धि-परीक्षा में व्यक्ति को अपनी अन्तर्दृष्टि का उपयोग करना पड़ता है और इसके सहारे वह जितना ही शीघ्र प्रश्न का ठीक उत्तर दे देता है उतनी ही उसकी बुद्धि अच्छी समझी जाती है।

ज्ञान-परीक्षा में बुद्धि तथा उसके उपयोग करने की शक्ति की परीक्षा।

ज्ञान-परीक्षा का साधन किसी अध्ययन किये हुए विषय का सीमित-क्षेत्र होता है। इसमें यह देखा जाता है कि अपनी बुद्धि के अनुसार विद्यार्थी किसी विषय का कहाँ तक अध्ययन कर सका है, अर्थात् ज्ञान-परीक्षा में बुद्धि तथा व्यक्ति के उसके उपयोग करने की शक्ति दोनों की परीक्षा ली जाती है।

ज्ञान-परीक्षा में भिन्न-भिन्न विषयों के पढ़ने वालों के लिये भिन्न-भिन्न प्रश्नावलियाँ होंगी। अतः बुद्धि-परीक्षा के सदृश सारे विद्यार्थी समूह के लिये वे लागू नहीं होंगी। उदाहरणार्थः विज्ञान की प्रश्नावलियाँ सबके लिये नहीं हो सकती, वे केवल विज्ञान के विद्यार्थी के लिये ही होंगी।

बुद्धि-परीक्षा के प्रश्न आयु के अनुसार निर्धारित किये जाते हैं। ज्ञान-परीक्षा

के प्रश्न अध्ययन में उन्नति के अनुसार निर्धारित किये जाते हैं। ज्ञान-परीक्षा से बुद्धि का ठीक अनुमान नहीं लगता। इससे केवल उसकी सतह का कुछ कुछ ज्ञान होता है। बुद्धि-परीक्षा में बालक के जिस ज्ञान की परीक्षा ली जाती है वह ज्ञान की परीक्षा के लिये नहीं, वरन् यह देखने के लिये कि मस्तिष्क कहाँ तक शीघ्रता और योग्यता से काम कर सकता है। ज्ञान-परीक्षा में ज्ञान की ही परीक्षा की जाती है। इसमें यह देखा जाता है कि मस्तिष्क कहाँ तक ज्ञान प्राप्त करने में सफल हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि बुद्धि-परीक्षा में ज्ञान साधन है और ज्ञान-परीक्षा में वह साध्य है। यह सत्य है कि ज्ञान बुद्धि ही के बल पर प्राप्त किया जाता है, पर वह बुद्धि से सवथा भिन्न है। यदि व्यक्ति की बुद्धि इञ्जिन की शक्ति के समान है तो उसका ज्ञान इञ्जिन के जाने की 'दूरी' के समान है।

ज्ञान परीक्षा में ज्ञान की परीक्षा, बुद्धि-परीक्षा में ज्ञान साधन, ज्ञान-परीक्षा में ज्ञान साध्य, व्यक्ति की बुद्धि इञ्जिन के समान और ज्ञान इञ्जिन के जाने की दूरी के समान।

२—ज्ञान-परीक्षा की आवश्यकता व प्रचलित परीक्षा के कुछ दोष—

बालकों के उचित पथ-प्रदर्शन के लिये केवल उनकी बुद्धि का ही ज्ञान शिक्षक के लिये पर्याप्त नहीं है। शिक्षक को यह जानना आवश्यक है कि विद्यार्थी उसके अध्यापन से कहाँ तक लाभ उठा सका है। बुद्धि-परीक्षा से ठीक ठीक अनुमान लगाना कठिन है कि बालक किस विषय में कमजोर है। प्रचलित परीक्षाओं से यह ठीक ठीक पता नहीं चलता, क्योंकि वे कई दृष्टि से दोषपूर्ण हैं। अर्द्धवार्षिक अथवा वार्षिक परीक्षा में परीक्षार्थी को बहुत विस्तृत पाठ्य-वस्तु को तैयार करना पड़ता है। फलतः परीक्षा में पूछे जाने वाले महत्वपूर्ण प्रश्नों का वह अनुमान लगाता है। इसी अनुमान के बल पर वह परीक्षा की तैयारी करता है। संयोगवश यदि उसके तैयार किये हुए प्रश्न आ गये तो वह अच्छे अङ्क पायेगा, अन्यथा सब कुछ सीखने की बुद्धि और क्षमता रखते हुए भी परीक्षा में वह बुरा करेगा। दूसरे, आजकल की परीक्षाओं में विषय-ज्ञान की परीक्षा में भाषा-ज्ञान का विशेष महत्त्व रहता है। यदि किसी को अपनी भाषा पर अधिकार है तो विषय-ज्ञान बहुत थोड़ा रखते हुए भी वह बाजी मार ले जाता है। वह दो ही तीन बातों को अपनी भाषा के बल पर इस प्रकार रख देता है कि उत्तर-पुस्तिका को देखते देखते थका हुआ परीक्षक शीघ्र मुग्ध हो जाता

विद्यार्थी की सफलता का ज्ञान शिक्षक को आवश्यक, बुद्धि-परीक्षा अथवा प्रचलित परीक्षा से यह सम्भव नहीं, विस्तृत पाठ्य-वस्तु की परीक्षा, अनुमान लगाने की प्रवृत्ति, भाषा-ज्ञान का विषय-ज्ञान से अधिक महत्व, परीक्षकों की मनोवृत्ति का प्रभाव, तीन ही घन्टे में बहुत से प्रश्नों का उत्तर देना।

है और अंक देने में अपनी उदारता का सारा परिचय दे डालता है यदि वही उत्तर किसी दूसरे परीक्षक को अंक देने के लिए दिया जाय तो अवश्य उसके अनुमान में भेद आ जायगा। यह बहुधा देखा गया है कि एक ही उत्तर में एक परीक्षक ६० प्रतिशत देता है और दूसरा ३० प्रतिशत भी देना पसन्द नहीं करता। ऐसी स्थिति में शिक्षक को अपने अध्यापन की सफलता तथा विद्यार्थी के ज्ञान का ठीक ठीक अनुमान नहीं लग सकता। तीसरे, तीन ही घन्टों में बहुत से प्रश्नों का उत्तर माँगा जाता है। यह बहुधा देखा जाता है कि विद्यार्थी सब कुछ जानते हुए भी समयाभाव के कारण उचित सफलता प्राप्त नहीं करता।

प्रश्नों की कठिनता के आधार पर उनका अंकन नहीं, फलतः विद्यार्थियों को विषय का ठीक बोध नहीं, प्रचलित परीक्षा के फल पर विद्यार्थियों को नयी कक्षा में चढ़ाना ठीक नहीं, बुद्धि परीक्षा से भी विशेष परीक्षा नहीं।

चौथे, सभी प्रश्नों की तैयारी में समान समय देने की आवश्यकता नहीं होती। सरलता अथवा कठिनता के अनुसार उनकी तैयारी में कम या अधिक समय देना पड़ता है। उदाहरणार्थः 'सिकन्दर का आक्रमण' और 'अशोक' के अध्ययन में समान समय नहीं लगेगा, पर प्रश्न-पत्र में दोनों के लिये समान ही अंक निर्धारित रहते हैं। ऐसी स्थिति से परीक्षार्थी कठिन-कठिन विषयों को यथासम्भव छोड़ देने की चेष्टा में रहता है। वह सरलतम विषयों को याद कर परीक्षा में सफलता प्राप्त करना चाहता है। अतः स्पष्ट है कि ऐसी मनोवृत्ति के कारण उसे विषय का ठीक बोध नहीं होता। इसीलिये तो परीक्षा समाप्त होने के कुछ ही दिनों बाद उसका बहुत सा विषय-ज्ञान भूल जाता है। अतः यह निर्विवाद है कि प्रचलित परीक्षाओं से बालक के ज्ञान-योग्यता की ठीक-ठीक परीक्षा नहीं हो सकती। अतः बालकों को एक कक्षा से दूसरी कक्षा में चढ़ाने के लिये प्रचलित परीक्षायें बहुत मनोवैज्ञानिक नहीं है। पर क्या बुद्धि-परीक्षा के फल से इसमें सहायता नहीं मिल सकती? अधिक नहीं, क्योंकि बहुधा देखा गया है कि समान बुद्धि-लब्धि वाले दो बालकों का ज्ञान समान नहीं होता। ज्ञानार्जन पर वातावरण का बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि बालक अच्छे स्कूल में भेजा गया है और घर पर उसे सभी प्रकार की आवश्यक सुविधायें प्राप्त हैं तो निश्चय ही वह अपनी जैसी बुद्धि-लब्धि वाले दूसरे बालक से, जिसे ये सब सुविधायें नहीं है, अच्छा करेगा। अतः स्पष्ट है कि बुद्धि-परीक्षा के आधार पर एक कक्षा से दूसरी कक्षा में नहीं चढ़ाया जा सकता। इसीलिये ज्ञान-परीक्षा की नयी विधि का आविष्कार किया गया है।

३—ज्ञान-परीक्षा के प्रश्नों के बनाने की विधि—

बुद्धि-परीक्षा में शिक्षा द्वारा अर्जित ज्ञान को बड़ी सतर्कता से अलग रखने का प्रयत्न किया जाता है, पर ज्ञान-परीक्षा में अर्जित ज्ञान की ही

परीक्षा ली जाती है। इससे यह ज्ञान पड़ता है कि ज्ञान-परीक्षा की प्रश्नावलियाँ बनाना बड़ा सरल है। वस्तुतः इन्हें कोई भी चतुर शिक्षक बना सकता है। पर उसे प्रश्न ऐसे बनाने हैं कि प्रचलित परीक्षा में पाये जाने वाले दोष इनमें न हों। प्रश्न ऐसे होने चाहिये कि परीक्षार्थी अनुमान के बल पर सफल होने की चेष्टा न कर सके। पाठ्य-वस्तु के प्रायः सभी आवश्यक अंगों का उसमें समावेश हो जाना चाहिये। प्रश्न ऐसे न हों कि उनके उत्तर की परीक्षा में परीक्षक अपनी रुचि अनुसार अंक दें, वरन् ऐसे हों कि उनके उत्तर बिलकुल स्पष्ट हों और किसी भी परीक्षक के यहाँ भेजने से उन पर समान ही अंक मिल सकें। प्रश्न ऐसे हों कि उनके उत्तर में अधिक भाषा-शक्ति की आवश्यकता न हो, अन्यथा विषय-ज्ञान के रहते हुए भी भाषा-शक्ति के अभाव में परीक्षार्थी अपने भावों को व्यक्त न कर सकेगा। उदाहरणार्थः इतिहास की परीक्षा में विशेषकर वास्तविक बातों का ही उल्लेख संक्षेप में करना चाहिये। इन सब बातों पर ध्यान देने ही से ज्ञान-परीक्षा के प्रश्न बनाये जा सकते हैं।

अनुमान लगाना सम्भव नहीं, पाठ्य-वस्तु के प्रायः सभी अंगों का समावेश, परीक्षक की मनोवृत्ति के लिये स्थान नहीं, अधिक भाषा-शक्ति की आवश्यकता न हो।

ज्ञान-परीक्षा का सम्बन्ध ज्ञान, (नॉलेज) कौशल (स्किल) अथवा रसानुभव (ऐप्रीसियेशन) से होता है। ज्ञान के क्षेत्र में गणित, भूगोल तथा इतिहास ऐसे विषय आते हैं। कौशल में, पढ़ना, लिखना अथवा चित्रकला आदि आती है। रसानुभव में कविता अथवा कठिन गद्य-खण्ड आ सकता है। इन तीनों विषयों का सम्बन्ध विभिन्न कक्षा से भिन्न भिन्न होता है। अतः प्रश्न बनाने के पहले इन सब बातों पर ठीक से ध्यान देना होगा। इनके ज्ञान के बाद विषय को विभिन्न मनोवैज्ञानिक भागों में बाटना है। उदाहरणार्थः हिन्दी की परीक्षा का विभाजन आलेख, पढ़ने, लेख, रसानुभव तथा साहित्यिक ज्ञान आदि में किया जा सकता है। किस भाग पर कक्षा में कितना ध्यान दिया गया है यह जानना आवश्यक है। इन सब बातों के अनुसार ज्ञान परीक्षा के लिये जो प्रश्न बनाये जायेंगे उनकी परीक्षा किसी मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ की सहायता से बुद्धि-परीक्षा के प्रश्नों के सदृश् कई बार विद्यार्थियों पर करनी होगी। इन परीक्षणों के आधार पर ही अन्तिम रूप से प्रश्नों को निर्धारित किया जा सकता है। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर पहले से ही छपा रहता है। उसी के अनुसार हर परीक्षार्थी को अङ्क दिये जाते हैं। कौशल सम्बन्धी प्रश्नों का नमूना पहले से ही रखा रहता है। उदाहरणार्थः सुन्दर अक्षरों अथवा किसी चित्र का नमूना पहले से ही बना रहता है। उसी की तुलना में परीक्षार्थी को अङ्क दिये जाते हैं।

ज्ञान, कौशल तथा रसानुभव पर ठीक ठीक ध्यान, बुद्धि-परीक्षा के प्रश्नों के सदृश् परीक्षण, प्रश्नों के उत्तर पहले से ही निर्धारित।

४—ज्ञान-आयु (अचीवमेण्ट एज)—

जैसे बुद्धि-परीक्षा में किसी आठ वर्ष के बालक के आठ वर्ष वाले प्रश्नों के कर लेने पर उसकी मानसिक आयु आठ मान ली जाती है, उसी प्रकार आठ वर्ष के लिये निर्धारित ज्ञान-परीक्षा में उसके सफल हो जाने पर उसकी ज्ञान-आयु आठ कही जाती है। एक विषय के कई अंग होते हैं, जैसे भाषा में आलेख पढ़ना इत्यादि। हर एक अंग की ज्ञान-आयु अलग अलग निर्धारित रहती है। विभिन्न भागों में प्राप्त ज्ञान-आयु के औसत पर बालक की ज्ञान-आयु निश्चित की जाती है। ज्ञान-आयु से बालक के ज्ञान अथवा कौशल आदि के विस्तार का पता चलता है। यदि किसी आठ वर्ष के बालक की ज्ञान-आयु दस वर्ष है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसने दस वर्ष वाले बालकों के समान ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

विषय के प्रत्येक अंग की ज्ञान-आयु अलग अलग, इनकी औसत पर विषय की ज्ञान-आयु से बालक के ज्ञान और कौशल का अनुमान।

५—ज्ञान-लब्धि (अचीवमेण्ट कोशेन्ट)—

यदि आठ वर्ष के बालक की ज्ञान-आयु आठ ही वर्ष है तो वह सामान्य कोटि का बालक कहा जायगा। पर यदि उसकी ज्ञान आयु दस वर्ष की है तो वह प्रखर बुद्धि का कहा जायगा, और इसका तात्पर्य यह भी होगा कि अपने समान मानसिक आयु वाले बालक से वह १·२५ गुना आगे है। ज्ञान-लब्धि निकालने के लिये ज्ञान-आयु में मानसिक आयु का भाग देकर सुविधावश पूर्णाङ्क प्राप्त करने के लिये भजनफल में १०० का गुणा कर दिया जाता है।

ज्ञान-आयु में मानसिक आयु का भाग देना।

$$\text{अर्थात्, ज्ञान-लब्धि (ए० क्यू०)} = \frac{\text{ज्ञान-आयु}}{\text{मानसिक आयु}} \times १००$$

इस विधि के अनुसार उपर्युक्त बालक की ज्ञान-लब्धि $\frac{१०}{८} \times १०० = १२५$ होगी।

ज्ञान-परीक्षा से यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि शिक्षक बालक की मानसिक योग्यतानुसार अपने अध्यापनकार्य में कहाँ तक सफल हुआ है। इसीलिये ज्ञान-आयु की तुलना वास्तविक आयु से न कर मानसिक आयु से की जाती है। ज्ञान-लब्धि का आविष्कार सबसे पहले बकिङ्घम और डब्लू० एस० मनरो ने किया। यदि ज्ञान-लब्धि अपेक्षित नहीं है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि विद्यार्थी अथवा शिक्षक ने यथाशक्ति परिश्रम नहीं किया। बुद्धि-लब्धि और ज्ञान-लब्धि में भेद समझ लेना

यदि ज्ञान-लब्धि अपेक्षित नहीं तो विद्यार्थी अथवा शिक्षक की असफलता बुद्धि-लब्धि और ज्ञान-लब्धि में भेद, ज्ञान-लब्धि से केवल एक संकेत, इसके आधार

पर निश्चित निर्णय ठीक नहीं।

आवश्यक है। बुद्धि-लब्धि से बालक के विषय में एक प्रकार का ऐसा निर्णय मिल जाता है जिससे हम उसे किसी निश्चित पथ की ओर अग्रसर कर सकते हैं। ज्ञान-लब्धि से हमें केवल एक विशेष संकेत मिलता है। उसके आधार पर किसी निश्चित निर्णय पर पहुँच जाना युक्तिसंगत न होगा, क्योंकि ज्ञान-लब्धि में शिक्षक तथा अन्य वातावरण का विशेष हाथ रहता है। बहुत सम्भव है कि शिक्षक अथवा वातावरण में उपयुक्त परिवर्तन कर देने से बालक की ज्ञान-लब्धि बढ़ जाय। पर मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बुद्धि-लब्धि का बढ़ना सम्भव नहीं। प्रकृति ने बालक को जितनी बुद्धि प्रदान की है उतनी ही उसके पास रहेगी।

(६) शिक्षा-लब्धि (एडूकेशनल कोशेन्ट)—

ज्ञान आयु में वास्तविक आयु का भाग देना।

कभी कभी यह जानना आवश्यक हो जाता है कि अमुक बालक यदि सामान्य बुद्धि का होता तो वह कितना ज्ञान प्राप्त कर सकता। इससे हमें यह पता चल जाता है कि वह दूसरों से किसी विषय में कितना पीछे अथवा आगे है। इसके लिये उसकी ज्ञान-आयु में वास्तविक आयु का भाग दे कर पूर्णाङ्क प्राप्त करने के लिये १०० का गुणा कर देते हैं, अर्थात्

$$\text{शिक्षा-लब्धि} = \frac{\text{ज्ञान आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times 100$$

बुद्धि-लब्धि और ज्ञान-लब्धि की तुलना से बालक की उन्नति का ठीक ठीक अनुमान।

बालक की उन्नति का ठीक ठीक पता लगाने के लिये बुद्धि-लब्धि और ज्ञान-लब्धि की तुलना की जा सकती है। यदि ११० बुद्धि-लब्धि वाले बालक की ज्ञान-लब्धि ६० है तो स्पष्ट है कि कहीं गड़बड़ी हो रही है। दोनों में इस असमानता का कारण शिक्षक अथवा बालक स्वयं हो सकता है। यदि किसी विषय में बहुत कम ज्ञान-लब्धि आने के कारण औसत ज्ञान-लब्धि में कमी आ जाती है। अतः यह पता लगाना आवश्यक है कि एक विशिष्ट विषय में बालक क्यों बुरा कर रहा है, जब कि अन्य विषयों में उसने बहुत अच्छा किया है। सम्भव है कि किसी शारीरिक अथवा मानसिक निर्बलता के कारण वह ऐसा कर रहा हो। इसके लिये किसी डाक्टर से बालक के शरीर की परीक्षा करवानी चाहिये अथवा निदानात्मक परीक्षा (डायगोनॉस्टिक टेस्ट) द्वारा यह पता लगाना चाहिये कि विषय के किस अंग में उसकी निर्बलता है।

ख—स्वभाव वा व्यक्तित्व-परीक्षा
(टेम्परामेन्ट टेस्ट्स ऑर टेस्ट्स ऑव् पर्सॉनिलिटी)
१ — आवश्यकता

कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि समान ही बुद्धि-लब्धि के दो बालक शिक्षा में समान उन्नति नहीं करते। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बुद्धि के अतिरिक्त भी कुछ ऐसी बातें हैं जिनका बालक की उन्नति पर प्रभाव पड़ा करता है। बालकों के आलसी, परिश्रमी, लज्जाशील, तथा डरपोक आदि 'प्रकार' दिखलाई पड़ते हैं। कोई अन्तर्मुखी होता है तो कोई बहिर्मुखी। व्यक्तित्व की इन सब विशेषताओं का बालक की उन्नति पर प्रभाव पड़ता है। अच्छी बुद्धि रखते हुए भी डर अथवा लज्जावश कोई बालक किसी विषय में अपनी जिज्ञासा प्रगट करने के में संकोच कर सकता है। प्रायः देखा जाता है कि उत्कृष्ट बुद्धि वाला बालक अपनी अकर्मण्यता से सदा पीछे ही रहता है, और कभी परिश्रम के बल पर मन्द बुद्धि तीव्र बुद्धि से आगे बढ़ जाता है। कहने का तात्पर्य कि बालक के व्यक्तित्व और उसका उन्नति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। बालकों के चरित्र व स्वभाव के बारे में जानना शिक्षक के लिये आवश्यक है। बिना बालक के चरित्र और स्वभाव को समझे विना शिक्षक दोषों के उचित उपचार का साधन नहीं सोच सकता। स्वभाव की परीक्षा के लिये मनोवैज्ञानिकों ने यथाशक्ति परिश्रम किया है। इसका भी नेता बिने ही था। पर अभी तक इसमें विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। अतः इनके निर्णय को बड़ी सतर्कता से मानना चाहिए।

बुद्धि के अतिरिक्त भी कुछ अन्य बातें जिनका बालक की उन्नति पर प्रभाव, व्यक्तित्व और उन्नति में घनिष्ठ सम्बन्ध, बालक के चरित्र व स्वभाव के बारे में भी जानना शिक्षक के लिए आवश्यक।

स्वभाव-परीक्षा से यह जानने की चेष्टा की जाती है कि किसी परिस्थिति विशेष में व्यक्ति किस प्रकार का व्यवहार करेगा। उदाहरणार्थ, 'प्रसन्नता' के सम्बन्ध में किसी व्यक्ति के स्वभाव (टेम्परामेन्ट) की परीक्षा लेने में यह जानने की चेष्टा की जाती है कि किसी परिस्थिति विशेष में वह प्रसन्नचित्त रहेगा या उसके चेहरे पर उदासीनता छा जायेगी। यदि मनुष्य को अकेले ही रहना होता तो उसकी प्रसन्नता और उदासीनता का प्रश्न न उठता। पर वह सामाजिक प्राणी है और उसके सामाजिक अधिकार और कर्तव्य हैं। इन अधिकारों और कर्तव्यों से उसके स्वभाव का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

परिस्थिति विशेष में व्यक्ति के व्यवहार को जानने की चेष्टा, व्यक्ति के अधिकारों और कर्तव्यों से उसके स्वभाव का घनिष्ठ सम्बन्ध, अतः स्वभाव-परीक्षा की आवश्यकता।

अतः स्वभाव-परीक्षा की युक्ति निकाल कर मनोवैज्ञानिकों ने मानवता की महान सेवा की है।

स्वभाव-परीक्षा के लिये व्यक्तियों के सभी गुणों व दोषों—जैसे लज्जाशील, डरपोक, आलसी, परिश्रमी, अव्यवस्थित, स्पष्टवादी, अस्पष्टवादी, प्रसन्नचित्त, उदासीन, क्रोधी, आदि का वर्गीकरण कर लिया जाता है। इसके बाद इनसे सम्बन्धित क्रिया अथवा लेख (वर्बल) सम्बन्धी प्रश्नों का निर्धारण किया जाता है। इन प्रश्नों के उत्तर से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में स्वभाव के गुण अथवा दोष का पता लगाया जाता है। इन प्रश्नों की सहायता से व्यक्ति के स्वभाव का कुछ साधारण अनुमान हो जाता है, पर स्वभाव के विभिन्न विशेषताओं का पता नहीं चलता। स्वभाव-परीक्षा की विधि विभिन्न प्रकार की होती है। एक ही विधि से स्वभाव के कई अंगों की परीक्षा नहीं ली जा सकती।

गुण व दोष का निर्धारण, प्रश्नों की सहायता से केवल साधारण अनुमान ही, विशेषताओं का ज्ञान नहीं।

२—स्वभाव-परीक्षा की विधियाँ

(१) व्यक्तिगत राय—

बहुधा किसी व्यक्ति को देख कर हम उसके स्वभाव के विषय में निर्णय कर लेते हैं। अति मोटे तथा दुबले व्यक्ति के चेहरे से आलस्य टपकता है। चेहरे पर झुर्रियों के दिखाई पड़ने से व्यक्ति के स्वभाव की उदासीनता टपकती है। भौंहें हर समय तनी दिखलाई पड़ने से यह प्रकट होता है कि अमुक व्यक्ति बड़ा ही कठोर है। व्यक्ति के चलने, बैठने तथा बोलने आदि के ढंग से भी उसके स्वभाव का कुछ अनुमान लगा लिया जाता है। कुछ लोग डींग भी हाँकते हैं कि वे किसी व्यक्ति के चेहरे से उसके स्वभाव व चरित्र का अनुमान लगा सकते हैं। ऐसे डींग हाँकने वालों में कुछ पुराने शिक्षकों का प्रमुख स्थान होता है। ये अपने अनुभव के गर्व में बालकों के सम्बन्ध में क्या क्या अमनोवैज्ञानिक बात नहीं कह जाते? कहना न होगा कि वैज्ञानिक दृष्टि से स्वभाव के विषय में व्यक्तिगत राय का कोई महत्त्व नहीं।

विशेष महत्त्व नहीं।

(२) साक्षात्कार (इन्टरव्यू)—

व्यक्तिगत राय से साक्षात्कार की विधि अधिक वैज्ञानिक दिखलाई पड़ती है। इस विधि के अनुसार कुछ मनोवैज्ञानिक स्वभाव पहचानने का प्रयत्न करते हैं। व्यक्ति को बुलाने के पहले ही उसके अध्यापकों, सम्बन्धियों अथवा अफसरों आदि से उसके बारे

सम्बन्धियों के राय के

आधार पर कुछ प्रश्नों का पूछा जाना, मानसिक प्रतिमाओं, कल्पना तथा स्वप्न का पता लगाना, लिखने और वर्णन की शैली से कुछ स्वभाव का अनुमान।

में कुछ बातों का पता चला लिया जाता है। इन बातों के आधार पर कुछ प्रश्न बना लिये जाते हैं। साक्षात्कार के समय इन प्रश्नों की सहायता से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से व्यक्ति की मानसिक प्रतिमाओं, कल्पना तथा स्वप्न का पता लगाया जाता है। इन सबके ज्ञान से उसके स्वभाव की कल्पना की जाती है। उसे कुछ लिखने के लिये देकर उसकी शैली का पता लगाया जाता है। कुछ चित्रों को दिखाकर उसके वर्णन के लिये कहा जाता है। इस प्रकार उसके स्वभाव का अनुमान किया जाता है।

(३) शब्दों द्वारा मनोविश्लेषण विधि (साइकोएनलिटिक मेथड ऑव् वर्ड असोसियेशन)—

कुछ शब्दों का नाम लेना और उन पर व्यक्ति को अपने विचार प्रकट करना, सामान्य व्यक्तियों की प्रतिमाओं की कुञ्जी से तुलना।

इस विधि से व्यक्ति के स्वभाव के विषय में अनुमान लगाने का प्रयत्न सबसे पहले गाल्टन ने किया। बिने ने भी इस विधि को अपनाया। पर डा० युङ्ग ने इसको अधिक मनोवैज्ञानिक बनाया। व्यक्ति के सामने कुछ शब्दों को कहा जाता है। उदाहरणार्थः उसके सामने 'सुई', 'आकाश' या 'जल' कहा जाता है। इन शब्दों से सम्बन्धित जितने विचार मन में आ सकते हैं उन्हें प्रकाशित करने के लिये व्यक्ति को उत्साहित किया जाता है। हजारों व्यक्तियों पर प्रयोग करके यह पहले ही से निर्धारित रहता है कि सामान्य व्यक्ति की किसी शब्द के प्रति क्या प्रतिक्रिया होती है। सामान्य व्यक्तियों के प्रतिक्रियाओं की एक कुञ्जी बनी रहती है। इस कुञ्जी से तुलना करके यह देखा जाता है कि व्यक्ति की प्रतिक्रिया सामान्य व्यक्ति से कितनी भिन्न होती है। इस प्रकार आन्तरिक मनोदशा का पता लगाया जाता है।

(४) कागज द्वारा परीक्षा (पेपरटेस्ट्स)—

बुद्धि और ज्ञान-परीक्षा के सदृश, रुचि अरुचि राय, नैतिक व सामाजिक गुण की परीक्षा।

यह विधि सबसे सरल है। इसका प्रयोग चतुर शिक्षक सरलता से कर सकता है। इसके निर्माण में कुछ कठिनाई अवश्य होती है, पर इसका प्रयोग बुद्धि और ज्ञान-परीक्षा के सदृश् किया जाता है। इस विधि के तीन अंग किये जा सकते हैं। कागज पर व्यक्तियों की रुचि, अरुचि, राय इत्यादि के बारे में कुछ प्रश्न छपे रहते हैं। उनका उत्तर व्यक्तियों को पेन्सिल से लिख देना होता है। इसमें डर यह है कि व्यक्ति सत्य को छिपाने के लिये गलत बातें भी

लिख सकता है। दूसरे प्रकार के अंग में व्यक्ति के नैतिक और सामाजिक गुण की परीक्षा की जाती है। कुछ प्रश्न पूछे जाते हैं और उनके उत्तर से इन गुणों की परीक्षा की जाती है। कुछ शब्द देकर उनकी परिभाषा माँगी जाती है। कुछ समस्यापूर्ण परिस्थितियों में उनका निर्णय भी पूछा जाता है। "कागज द्वारा परीक्षा" के तीसरे अंग में व्यक्ति को सचमुच एक कृतिम परिस्थिति में रख कर उसके नैतिक गुणों की परीक्षा की जाती है। उदाहरणार्थः जिन पृष्टों पर उन्हें छपे हुये प्रश्न किये जाते हैं उन्हीं की पीठ पर उत्तरों को भी छाप दिया जाता है और यह देखा जाता है कि व्यक्ति कितनी बार छपे हुए उत्तरों की नकल करता है। कुछ समस्या पर व्यक्ति के तर्क को सुनकर भी उसके स्वभाव का पता लगाया जाता है।

(५) गति-परीक्षा (मोटर टेस्ट)—

कुछ गति अथवा चाल (मूवमेण्ट) से व्यक्ति के स्वभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। इस धारणा के आधार पर गति-परीक्षा द्वारा स्वभाव का अनुमान लगाया जाता है। जब व्यक्ति किसी संवेग में रहता है तो उसके लिखने, बोलने तथा अन्य कार्य करने का ढंग कुछ बदल जाता है। गति-परीक्षा में व्यक्ति को कुछ लिखने, बनाने, करने अथवा बिन्दु लगाने के लिये दिया जाता है।

संवेग में व्यक्ति के गति में परिवर्तन, अतः गति-परीक्षा से स्वभाव का ज्ञान।

उदाहरणार्थः (१) व्यक्ति को कै; कै; कै; ३० सेकेण्ड तक लिखने के लिये दिया जाता है, इसे पूरा कर लेने पर फिर कई बार यही लिखने के लिये कहा जाता है। कुछ देर बाद फिर उसे उलटा 'क' लिखना पड़ता है।

(२) किसी कार्य के करने के लिये उसे आज्ञा दी जाती है, थोड़ा कर लेने पर झट दूसरी आज्ञा दी जाती है। इस प्रकार विभिन्न आज्ञायें देकर उसके स्वभाव में परिवर्त्तन का अध्ययन किया जाता है।

(६) प्रयोगशाला की विधि (लेबोरेटरी मेथड)—

किसी संवेग के आने पर व्यक्ति की मुद्रा अथवा शरीर में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन होते हैं। उदाहरणार्थः उसके हृदय की धड़कन नाड़ी की गति, साँस की गति अथवा शरीर की शक्ति परिस्थितिवश घट या बढ़ जाती है। इस गति के माप से व्यक्ति के स्वभाव के अध्ययन की विधि का मनोवैज्ञानिकों ने आविष्कार किया है। स्फीग्मोग्रैफ यन्त्र से नाड़ी की गति तथा इलेक्ट्रो-कार्डियोग्रैफ से हृदय की गति नापी जाती है। साइकोगैलवनोमीटर से व्यक्ति के संवेगात्मक परिवर्त्तन को उसके हाथों की प्रतिक्रिया से समझने का प्रयत्न किया जाता है।

नाड़ी और हृदय की गति की नाप से स्वभाव-परीक्षा

स्वभाव-परीक्षा की प्रश्नावालयों के निर्माण में जून डोनी, वोलकर, डा० कोल, कैटेल, थर्स्टन, उडवर्थ, केण्ट सोज़नफ़ तथा प्रेसी आदि के नाम उल्लेखनीय है।

३—आलोचना

स्वभाव-परीक्षा की प्रचलित विधियों के निर्णय पर पूर्णतः विश्वास नहीं किया जा सकता। परिस्थितियों के वश व्यक्ति के स्वभाव में परिवर्त्तन आता रहता है। 'धन' शब्द के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया थोड़े ही दिनों बाद बदल सकती है। आज वह धनी है और कल यदि दरिद्र होगया तो उसकी प्रतिक्रिया में परिवर्त्तन आ जायगा। अतः इससे उसके स्वभाव का पता लगाना ठीक नहीं। किसी अवसर पर व्यक्ति स्पष्टवादी हो सकता है और किसी पर नहीं। मनुष्य के मस्तिष्क का विश्लेषण नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसको नियन्त्रित करना बड़ा कठिन है। अतः मनोविश्लेषण विधि द्वारा स्वभाव का निर्णय ठीक से नहीं लगाया जा सकता। साइकोगैलवनोमीटर से व्यक्ति की संवेगात्मक प्रतिक्रिया की मात्रा का अनुमान ठीक ठीक नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि परिस्थितियों के वश उसके संवेग बदलते रहते हैं। स्वभाव पर वातावरण का इतना प्रभाव पड़ा करता है कि उसका प्रकृतिदत्त अंश बहुत ही छोटा होता है और उसका मापना बड़ा कठिन है। वातावरण का स्वभाव पर बहुत प्रभाव पड़ता है। अतः स्वभाव-परीक्षा द्वारा कुछ स्वाभाविक गुणों का पता लगाया जा सकता है।

परिस्थिति-वश व्यक्ति के स्वभाव में परिवर्त्तन, अतः प्रचलित विधियाँ सन्तोषजनक नहीं, पर कुछ स्वाभाविक गुणों का पता लगाना सम्भव।

ग—झुकाव-परीक्षा (एप्टीट्यूड टेस्टिङ्ग)

(१) आवश्यकता

केवल बुद्धि, ज्ञान तथा स्वभाव-परीक्षा से ही बालक की शिक्षा-समस्या हल नहीं की जा सकती। प्रायः यह देखा जाता है कि प्रखर बुद्धि का बालक भी किसी विषय में बहुत कमजोर होता है। १२० बुद्धि-लब्धि वाले बालक का गणित अच्छा हो सकता है, पर इतिहास अथवा भूगोल में वह बहुत निर्बल हो सकता है। संगीत-कला में प्रवीण बालक साहित्य अथवा गणित में निकम्मा हो सकता है। इसका क्या कारण है? जान पड़ता है कि केवल बुद्धि से ही कोई सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। बुद्धि के अतिरिक्त कोई ऐसी बात अवश्य है जो उसके कार्य पर प्रभाव डाला करती है। विभिन्न

बालक की सफलता पर 'झुकाव' का प्रभाव, 'झुकाव' के ज्ञान से उचित शिक्षा की व्यवस्था सम्भव।

विषय के लिये व्यक्ति का 'झुकाव' (ऐप्टीट्यूड) होता है। किसी बालक में गणित के लिये झुकाव हो सकता है, पर इतिहास, भूगोल अथवा भाषा के लिये नहीं। अतः शिक्षा से अधिकतम लाभ उठाने के लिये बालक के 'झुकाव' का पता लगाना आवश्यक है। बालक के 'झुकाव' का पता रहने से शिक्षक अपने अध्यापन-कार्य को उसकी आवश्यकतानुसार व्यवस्थित कर सकता है। पाश्चात्य देशों में 'झुकाव' के माप का प्रचार बड़े जोरों से हो रहा है। हमारे देश में इसका नितान्त अभाव है। 'सभी धान बाइस पसेरी' के हिसाब से सभी बालकों को समान विषय एक ही गति और क्रम से पढ़ाये जाते हैं। प्रारम्भ में 'झुकाव' का पता न लगने से उसके लिये आवश्यक अभ्यास करने का अवसर नहीं मिलता। फलतः हमारे देश के बहुत से बालकों के 'झुकाव' प्रौढ़ावस्था प्राप्त करते करते शिथिल हो जाते हैं।

२—'झुकाव' पर ध्यान न देने के दुष्परिणाम

यदि 'झुकाव' का पता लगा कर तदनुसार प्रत्येक बालक को शिक्षा देने की चेष्टा की जाती तो हमारे कालेज और विश्वविद्यालयों का मान स्टैण्डर्ड स्वतः बढ़ जाता। स्कूल-काल में 'झुकाव' का पता न लगने से बालक और अभिभावक गण कभी कभी यह निश्चय नहीं कर पाते कि हाईस्कूल अथवा इन्टरमीडियेट परीक्षा पास करने के बाद बालक क्या करे? बालक के सामने सबसे अच्छा रास्ता कालेज अथवा विश्वविद्यालय में नाम लिखाना दिखलाई पड़ता है। चाहे बी० ए० अथवा एम० ए० में पढ़ाये जाने वाले विषयों के लिये उसमें 'रुचि' भले ही न हो, पर वह नाम लिखा ही लेता है और अन्त में रट रटा कर डिग्री प्राप्त कर लेता है। विश्वविद्यालयों में योग्यताहीन विद्यार्थियों की इस भेड़ियाधसान के कारण विश्वविद्यालय का मान (स्टैण्डर्ड) भी गिरता जा रहा है। यदि माप कर उनके स्कूल-काल में ही बालकों के झुकाव का पता लगा लिया जाय और तदनुसार उनका पथ-प्रदर्शन किया जाय तो विश्वविद्यालयों का मान स्वतः धीरे धीरे बढ़ जायगा, और जो एम० ए० होगा उसका पाण्डित्य सचमुच आज के सामान्य एम० ए० से ऊँचा होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे देश के स्कूली बालकों के झुकाव के माप की बड़ी आवश्यकता है। यदि झुकाव के अनुसार प्रत्येक बालक की शिक्षा का आयोजन किया जाय तो राष्ट्र का बड़ा कल्याण होगा। 'झुकाव' के माप के सम्बन्ध में शिक्षक का क्या कर्तव्य होगा? उसके लिये प्रश्नवलियाँ बनाना शिक्षक के क्षेत्र के बाहर की वस्तु होगी। यह तो मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञों के ही वश की बात है। अतः यहाँ प्रश्नावलियों के निर्माण-विधि का उल्लेख करना अनावश्यक सा है। यहाँ केवल झुकाव के स्वरूप तथा तत्सम्बन्धी शिक्षक के कर्त्तव्य की चर्चा कर देना ही पर्याप्त दिखलाई पड़ता है।

३—झुकाव और बुद्धि

'झुकाव' से हम किसी व्यक्ति की किसी कार्य के लिये वर्तमान प्रवीणता का अनुमान लगा सकते हैं। भविष्य की सम्भावना का वर्तमान से सम्बन्ध रहता है, अतः झुकाव भविष्य की ओर भी संकेत करता है। यदि आज कोई व्यक्ति किसी कार्य में प्रवीण होगा तो यह आशा की जाती है कि भविष्य में भी वह ऐसा ही होगा, यदि वह अपने परिश्रम में ढिलाई नहीं ले आता। वैयक्तिक भिन्नता केवल बुद्धि और स्वभाव (टेम्परामेण्ट) पर ही निर्भर नहीं होती। यदि ऐसा होता तो समान बुद्धि और स्वभाव वाले व्यक्ति समान ही रुचि के दिखलाई पड़ते। अतः बुद्धि और स्वभाव के अतिरिक्त भी कोई ऐसी शक्ति है जो वैयक्तिक भिन्नता के लिए उत्तरदायी होती है। यह उनका झुकाव होता है। स्पीयरमैन के सामान्य और विशिष्ट योग्यता ('जी' ऐण्ड 'एस' फैक्टर) के सिद्धान्त से यह बात कुछ अधिक समझ में आती है कि वैयक्तिक भिन्नता 'झुकाव' पर भी निर्भर करती है। स्पीयरमैन के अनुसार 'सामान्य योग्यता' के अतिरिक्त व्यक्ति में कई प्रकार की 'विशिष्ट योग्यतायें' हो सकती हैं, अर्थात् कई विषयों की ओर उसका झुकाव हो सकता है। अतः 'सामान्य योग्यता' (जनरल ऐबिलिटी) अर्थात् बुद्धि के समान रहते हुये भी 'विशिष्ट योग्यता' (स्पेशल ऐबिलिटी) में भिन्नता होने से व्यक्तियों में भिन्नता आ जाती है। जैसे बिजली की शक्ति प्रकाश, पंखा, घण्टी तथा पानी गरम करने इत्यादि में प्रयोग की जा सकती है उसी प्रकार व्यक्ति की बुद्धि उसकी 'विशिष्ट' योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न कार्यों में प्रयोग होती है। समान बुद्धि रखने वाले दो व्यक्ति अपनी 'विशिष्ट' झुकावानुसार गणित, साहित्य, इतिहास अथवा भूगोल आदि की ओर झुक सकते हैं। इस प्रकार समान बुद्धि होने पर भी उनमें भिन्नता आ जाती है, क्योंकि एक अपनी बुद्धि गणित अथवा इतिहास की ओर लगाता है और दूसरा साहित्य अथवा भूगोल की ओर। कहना न होगा कि बुद्धि में भिन्नता होने से समान विशिष्ट झुकाव वाले व्यक्तियों में भी भिन्नता आ सकती है। उदाहरणार्थः दो बालकों का झुकाव संगीत में समान हो सकता है, पर दोनों में जिसकी बुद्धि तीव्रतर होगी वह अवश्य ही दूसरे से अच्छा करेगा। पर यह भी ध्यान देने की बात है कि केवल बुद्धि रखने से ही कोई व्यक्ति अपना जीवन सफल नहीं बना सकता। केवल बिजली शक्ति से ही हमारा कार्य नहीं सिद्ध हो सकता, वरन् उसके उपयोग के लिये, बल्ब, पंखा, घण्टी, आदि की भी आवश्यकता है। इसी प्रकार व्यक्ति की किसी विषय अथवा कार्य में सफलता के लिये तत्सम्बन्धी झुकाव होना आवश्यक है, जिससे उसके बुद्धि का सदुपयोग हो सके।

'झुकाव' से वर्तमान प्रवीणता का अनुमान, भविष्य की ओर संकेत, झुकाव भी वैयक्तिक भेद के लिये उत्तरदायी।

४—झुकाव का पता कैसे लगाया जा सकता है ?

ऊपर की बात से स्पष्ट है कि शिक्षक को बालक के झुकाव से अवगत होना आवश्यक है। पर क्या बालक के पूछ लेने से ही काम चल जायगा? बहुधा बालक कहा ही करता है कि इसमें हमारा मन लगता है और उसमें नहीं। पर बालक की राय पर हम निर्भर नहीं रह सकते, क्योंकि वातावरण के परिवर्तन में उसकी रुचि में भिन्नता आती रहती है। संगीतज्ञों के मध्य में रहने से वह संगीत के लिये अपनी रुचि प्रगट कर सकता है और चित्रकारों के साथ रहने में चित्रकला के लिये। स्वास्थ के गिरने अथवा विषय को पढ़ाने वाले शिक्षक के बदल जाने से वह अपनी रुचि के सम्बन्ध में दूसरी बातें कह सकता है; अर्थात् बालक की राय पर निर्भर रहना युक्तिसंगत न होगा। शिक्षकों, मित्रों तथा माता-पिता की राय पर भी विश्वास करना वैज्ञानिक नहीं। शिक्षक तथा मित्र बालक की बातों से अवगत नहीं हो सकते। दूसरे, माता-पिता की यह इच्छा हो सकती है कि बालक उन्हीं के व्यवसाय को अपनाये। अतः झुकाव के माप के लिये ऐसी प्रश्नावलियाँ बनानी हैं जिनसे उसका ठीक ठीक अनुमान लगाया जा सके। व्यक्ति 'क्या जानता है' और "क्या कहता है" इससे जितना उसके झुकाव का पता लगाया जा सकता है उतना "क्या कहता है" से नहीं लगाया जा सकता। व्यक्ति की जिस विषय अथवा कार्य में जितनी रुचि होती है उसे वह उतना ही जानता है और उतने ही देर तक करता रहता है, अर्थात् उसकी ज्ञान मात्रा अथवा कार्य से उसके झुकाव का पता चलाया जा सकता है। झुकाव-परीक्षा के लिये प्रश्नावलियाँ ज्ञान के परीक्षा के ही सदृश् बनाई जाती हैं। प्रत्येक झुकाव के लिये अलग अलग प्रश्नावलियाँ तैयार करना असुविधाजनक है। अतः झुकावों का विश्लेषण करके उनके सामान्य अंश समझ लिये जाते हैं और इन्हीं की परीक्षा की जाती है।

वातावरण के परिवर्त्तन से रुचि में भिन्नता, अतः बालक की राय पर निर्भर रहना उचित नहीं, दूसरों की राय पर भी निर्भर रहना वैज्ञानिक नहीं, व्यक्ति के कार्य अथवा ज्ञान-मात्रा से उसके झुकाव का पता लगाना, विभिन्न झुकावों के सामान्य अंश की परीक्षा।

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि बालक के 'झुकाव' का पता यदि स्कूल-काल में लग जाय तो शिक्षक उसके पथ-प्रदर्शन में उचित ढंग से योग दे सकता है। 'झुकाव' के ज्ञात हो जाने पर उसे कुछ विशेष विषय पढ़ाये जायेंगे जिससे आगे चल कर वह अपने जीवन को सफल बना सके। व्यवसाय चुनने में यदि व्यक्ति का ठीक प्रकार पथ-प्रदर्शन न किया

'झुकाव' का बहुत प्रारम्भ में ही पता लगाना, नियुक्तिकार व्यवसाय-पथ-

प्रदर्शन नहीं कर सकता।

गया तो मित्रों तथा अभिभावकों की राय के अनुसार वह इस कार्य से उस कार्य पर जाता रहेगा।

नियुक्तिकार महोदय (इम्प्लायर) उम्मेदवारों में यह नहीं देखते कि किस में काम करने का 'झुकाव' (ऐप्टीटयूट) है। वरन् वह यह देखते हैं कि आये हुए उम्मेदवारों में सबसे अच्छा काम कौन कर सकता है। वस्तुतः उनका ऐसा सोचना स्वाभाविक ही है। कहने का तत्पर्य यह है कि नियुक्तकार व्यक्ति का व्यवसायपथ-प्रदर्शन (वॉकेशनल गाइडेन्स) नहीं कर सकता, वह तो किसी मनोवैज्ञानिक की सहायता से व्यवसाय-चुनाव (वॉकेशनल सलेक्शन) करता है। उसे यह जानने की चिन्ता नहीं कि व्यक्ति किस कार्य के लिये विशेष 'झुकाव' (ऐप्टीट्यूड) रखता है वा नहीं। व्यवसाय चुनाव के लिये भी कुछ प्रश्नावलियाँ बनायी जाती हैं और उनकी सहायता से मनोवैज्ञानिक नियुक्तिकार को व्यक्ति को पद पर नियुक्त करने अथवा सेवा काल (ऐप्रेन्टिसशिप) में भेजने की राय देता है। ऐसी स्थिति से यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने 'झुकाव' से बहुत पहले ही अवगत हो कर उसके लिये उचित शिक्षा (ट्रेनिङ्ग) ले ले।

शिक्षक भी 'झुकाव' निर्धारण में उचित राय नहीं दे सकता, यह मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ का ही काम, पर शिक्षक को बालक का 'झुकाव' जानना आवश्यक।

शिक्षक अपने विद्यार्थी के लिये सहानुभूति रखता है और उसकी हार्दिक इच्छा होती है कि उसका शिष्य जीवन में ऊँचा से ऊँचा पद प्राप्त करे। अतः यदि उसके हाथ में शिष्य के झुकाव को माप के लिये कोई साधन होता तो वह अवश्य ही अपना कार्य और अच्छी प्रकार सम्पादित करता। यदि उसे झुकाव-परीक्षा की प्रश्नावलियाँ दे दी जायँ तो उसकी सहायता से बालक के झुकाव का पता लगा कर वह उसके शिक्षा-क्रम को अधिक मनोवैज्ञानिक ढंग पर चला सकता है। पर बहुत सम्भव है कि स्कूल-जीवन में किसी व्यवसाय के लिये बालक के झुकाव का विकास ही न हुआ हो। अतः शिक्षक किसी व्यवसाय को अपनाने के लिये बालक को अन्तिम रूप से राय नहीं दे सकता, यह तो मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञों का ही काम है। पर जैसा ऊपर कहा गया है, बालक के शिक्षा-क्रम को ठीक प्रकार संचालित करने के लिये उसे बालक के 'झुकाव' का कुछ न कुछ अनुमान अवश्य हो जाना चाहिये। इसके लिए 'झुकाव' परीक्षा के लिये मनोवैज्ञानिकों द्वारा बनाई हुई विधियों की वह सहायता ले सकता है। पर हमारे देश में ऐसी विधियों का नितान्त अभाव है। शिक्षक अपना अध्यापन-कार्य छोड़ इन विधियों के निर्माण में नहीं लग सकता, क्योंकि न उसके पास उसके लिये समय है और न झुकाव। अतः शिक्षा के कर्णधारों को उचित है कि 'झुकाव' परीक्षा के लिये उचित उपकरणों का आयोजन करें। इस आयोजन में कुछ विदेश से बनी हुई विधियों की सहायता ली जा सकती है। 'इनमें स्टेन्क्विस्ट एसेम्बली टेस्ट ऑव मेकैनीकल ऐबिलिटी', रसथ्

इलेक्ट्रिकल इन्क्लीनल टेस्ट, हल्स इन्जिन लाथ टेस्ट, सीशोर मेजर ऑव म्यूजिकल टैलेन्ट टेस्ट, लेवैरेंज़ टेस्ट्स, रोशर्स स्टेनोग्रैफ़िक ऐण्ड टाइपिङ्ग टेस्ट्स आदि उल्लेखनीय हैं।

५—स्कूल का कर्तव्य

व्यवसाय झुकाव-परीक्षा कला विशेषज्ञों का ही काम है, इससे शिक्षक को इसके प्रति उदासीन हो जाना अपेक्षित नहीं। वह अपने सीमित क्षेत्र में भी बालक झुकाव का अनुमान लगा सकता है। ऊपर बार बार कहा गया है कि इस अनुमान के बिना वह अपना अध्ययन कार्य सफलता पूर्वक सम्पादित नहीं कर सकता। अतः प्रधानाध्यपकों को चाहिये कि अपनी सीमा के अन्तर्गत बालकों की झुकाव परीक्षा का आयोजन करें। इसके लिये प्रत्येक बालक के झुकाव के बारे में उसके सम्बन्धियों अथवा मित्रों से लिखित राय माँगनी चाहिये। कहना न होगा कि अभिभावकों का भी उत्तरदायित्व यहाँ बढ़ जाता है। उन्हें यथासम्भव अपनी सच्ची सच्ची राय भेजनी चाहिये। इन लोगों की राय पर कुछ विश्वास किया जा सकता है, क्योंकि ये सभी लोग बालक के शुभचिन्तक होते हैं। इस राय को प्राप्त करने के लिये प्रधानाध्यपक को अन्य शिक्षकों की सहायता से रुचि, अरुचि, प्रिय विषय, स्वभाव, मित्रों का संग, व्यवहार इत्यादि के बारे में एक ऐसी प्रश्नावली तैयार करनी चाहिये जिसके उत्तर में बालक के सम्बन्ध की सारी बातें अभिभावकों और उनके मित्रों के यहाँ से राय के रूप में चली आवें। इस राय की सत्यता की माप बालक की स्कूल में प्राप्त सफलता अथवा असफलता से की जानी चाहिये। प्रत्येक विषय में बालक की सफलता की मात्रा तथा उसके विषय में शिक्षक की राय से बालक के झुकाव विषयक अनुमान में सहायता मिलेगी। इसके अतिरिक्त उसकी बुद्धि-लब्धि तथा ज्ञान-लब्धि पर भी दृष्टिपात करना होगा। स्वभाव-परीक्षा के फल पर भी ध्यान देना होगा। रुचि, अरुचि, आकांक्षा, सन्देह आदि के विषय में बालक से भी पूछा जाना चाहिये। यदि झुकाव-माप के लिये यन्त्र प्राप्त हों तो उनकी सहायता ले लेना आवश्यक है। इस प्रकार बालक के विषय में पूरा कच्चा चिट्ठा तैयार कर एक निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिये, अच्छा तो यह होगा कि असंदिग्ध बातों में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पहले किसी मनोवैज्ञानिक से राय ले ली जाय। इस प्रकार स्कूल में बालक की योग्यता का अनुमान लगा कर उसकी शिक्षा का उचित संचालन किया जा सकता है। इस कार्यक्रम के देखने से शिक्षकगण कदाचित् यह सोच सकते हैं कि उनके ऊपर

अपनी सीमा के अन्तर्गत प्रयत्न करना; सम्बन्धियों से लिखित राय माँगना, रुचि व अरुचि इत्यादि के सम्बन्ध में प्रश्नावलियाँ बनाना; उनके उत्तर से झुकाव का अनुमान लगाना; सफलता बुद्धि, ज्ञान और स्वभाव-परीक्षा से तुलना करना; मनोवैज्ञानिक से सहायता।

एक और अतिरिक्त काम दिया जा रहा है, जबकि वे पहले ही से कार्य-भार से दबे जा रहे हैं। वस्तुतः प्रत्येक बालक की योग्यता माप में इतनी कठिनाई न उठानी पड़ेगी, यदि पड़ी भी तो दो-एक और ऐसे अध्यापकों की नियुक्ति की जा सकती है जो कि इस कार्य में विशेष हाथ बटावें। वस्तुतः इस कार्य हेतु अध्यापकों की संख्या बढ़ाने के लिये शिक्षा के कर्णधारों को प्रेरित करना होगा।

आज कल शिक्षा का प्रचार जिस गति से हमारे देश में हो रहा है उसे देखकर यही आशा होती है कि शीघ्र ही सरकार की ओर से झुकाव-परीक्षा के लिये सभी आवश्यक उपकरणों का आयोजन किया जायगा। यह निर्विवाद है कि किसी प्रकार की झुकाव-परीक्षा बिना स्कूलों की सहायता से सफल नहीं हो सकती, क्योंकि व्यक्ति के जीवन के विभिन्न अंगों से शिक्षक और अभिभावक का परिचय रहता है। पाश्चात्य देशों में जहाँ झुकाव-परीक्षा कर व्यक्ति को एक व्यवसाय अपनाने के लिये राय दी जाती है, वहाँ स्कूलों की सहायता से ही कार्य किया जाता है। अतः झुकाव-परीक्षा से स्कूल उदासीन नहीं हो सकता। उदासीन होने से न तो वह बालक की शिक्षा का उचित संचालन ही कर सकता है, और न अन्य संस्थाओं के इस प्रयत्न में योग ही।

झुकाव-परीक्षा आन्दोलन से स्कूल उदासीन नहीं हो सकता।

सहायक पुस्तकें

१—रॉस, सी० सी०—मेज़रमेण्ट इन टुडेज़ स्कूल्स, न्यूयार्क।
२—टीग्स, ई० डब्लू०—टेस्ट ऐण्ड मेज़रमेण्ट्स इन द इम्प्रूवमेन्ट ऑव् लर्निङ्ग।
३—मैकॉल, डब्लू० ए०—मेज़रमेण्ट।
४—ब्रूम, एम० ई०—एडूकेशनल मेज़रमेण्ट्स इन द एलेमेण्टरी स्कूल।
५—जिनकॉल ऐण्ड वर्कमैन—यूज़ ऐण्ड इण्टरप्रीटेशन ऑव् हाई स्कूल टेस्ट्स।
६—रेमर्स ऐण्ड गेज़—एडूकेशनल मेज़रमेण्ट ऐण्ड इवैलुएशन।
७—केली, टी० एल०—इण्टरप्रीटेशन ऑव् एडूकेशनल मेज़रमेण्ट्स।
८—साइमॉण्ड्स, पी० एम०—मेज़रमेण्ट इन सेकेण्डरी एडूकेशन।
९—ऑलपोर्ट, एफ० एच० ऐण्ड जी० डब्लू०—पर्सनॉलिटी ट्रेट्स—देयर क्लासीफिकेशन ऐण्ड मेज़रमेण्ट, जर्नल ऑव् ऐबनॉर्मल ऐण्ड सोशल साइकॉलॉजी १९२१।
१०—डोनी, जे०—विल टेम्परामेण्ट टेस्ट।
११—ग्रीन, जी० एच०—साइकोएनलिसिस इन द क्लासरूम।
१२—लोम्बार्डी, एम० एम०—द इण्टर-ट्रेटेटिङ्ग टेक्निक।
१३—हण्ट, टी०—मेज़रमेण्ट इन साइकॉलॉजी।
१४—विघम—ऐप्टीट्यूड ऐण्ड ऐप्टीट्यूड टेस्टिङ्ग।

१५—बर्ट,सी०—ए स्टडी इन वोकेशनल गाइडेन्स।
१६—हल, सी० एल०—ऐप्टीट्यूड टेस्टिङ्ग।
१७—थॉर्नडाइक, ई० एल०, प्रिडिक्शन ऑव् वोकेशनल सक्सेस।
१८—जे० एम० स्टीफेन्स—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ८, १०, १८, २२।
१९—क्रोल ऐण्ड ब्रूस—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय १८।
२०—सरयू प्रसाद चौबे—किशोर मनोविज्ञान की भूमिका, अध्याय, ५, ६, ७।

२४

विशिष्ट बालक (द स्पेशल चाइल्ड)

> निर्धारित पाठ्य-वस्तु जिन्हें कम या अधिक होती है उनकी शिक्षा-व्यवस्था एक समस्या है

स्कूलों में सभी बालक समान नहीं मिलते। कोई कक्षा में पढ़ाई के समय सोता हुआ दिखलाई पड़ता है, तो किसी को बार बार समझाने पर भी समझ में नहीं आता, तो कोई ऊधम मचाता हुआ दिखलाई पड़ता है। स्कूल को इन सब बालकों का अध्ययन कर उनकी शिक्षा का उचित आयोजन करना चाहिये। कहना न होगा कि इस अध्ययन में मनोविज्ञान बड़ा सहायक है। सामान्य बालकों की शिक्षा में स्कूल को विशेष कठिनाई नहीं होती, क्योंकि निर्धारित पाठ्य-वस्तु उनके लिये पर्याप्त होती है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे बालक भी होते हैं जिनके लिये निर्धारित पाठ्य-वस्तु कम या अधिक होती है। ऐसे बालकों को हम क्रमशः 'प्रतिभावान्' तथा 'पिछड़ा हुआ' कह सकते हैं। ये दोनों प्रकार के बालक स्कूल के लिये कठिन बने रहते हैं। इस अध्याय में इन्हीं बालकों की समस्या पर संक्षिप्त में विचार किया जायगा।

१—प्रतिभावान् बालक (द गिफ़्टेड चाइल्ड)

> निर्धारित वस्तु को निर्धारित समय से बहुत पहले सीख लेने वाला; स्वास्थ्य, संवेगात्मक तथा सामाजिक विकास में भी बढ़ा, उदार और आत्म-आलोचना की शक्ति।

ऊपर के संकेत से स्पष्ट है कि जो बालक निर्धारित पाठ्य-वस्तु को निर्धारित समय से बहुत पहले सीख लेता है उसे प्रतिभावान् कहा जा सकता है। ऐसे बालकों की मानसिक योग्यता साधारण बालक की योग्यता से अधिक होती है। यदि इनकी शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाय तो समाज के लिये ये वरदानस्वरूप होंगे। अतः समाज के कल्याण हेतु यह आवश्यक है कि बहुत प्रारम्भ से ही उनका पता लगा कर उनकी शिक्षा का उचित आयोजन किया जाय। प्रतिभावान् बालक की शिक्षा पर विचार करने के पहले उसके स्वभाव को समझ लेना आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि उसकी विशेषताओं के अनुसार ही उसकी शिक्षा का प्रबन्ध करना होगा। बुद्धि-परीक्षा पर उनकी

प्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि प्रतिभावान् बालक केवल मानसिक योग्यता ही में बड़ा नहीं होता, वरन् उसका साधारण स्वास्थ्य तथा संवेगात्मक और सामाजिक विकास भी सामान्य बालक से अधिक व्यवस्थित होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी प्रखर-बुद्धि बालक का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है, उसकी आँखें कमजोर हैं तथा स्वभाव चिड़चिड़ा है तो उसकी उन्नति भविष्य में अवश्य रुक जायगी, अर्थात् उसकी प्रतिभा बहुत दिन तक न टिकेगी। अतः व्यक्तित्व का सुव्यस्थित विकास प्रतिभावान् बालक का एक आवश्यक गुण है। टरमैन, वाल्डविन और हेलेन-डेवीस के परीक्षणों से स्पष्ट है कि प्रतिभावान् बालकों का शारीरिक स्वास्थ्य सामान्य बालकों से बुरा नहीं, वरन् अच्छा ही होता है। हॉलिङ्गवर्थ और टेलर के अन्वेषण भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। हैरियट का कहना है कि प्रतिभावान् बालक का दृष्टिकोण बड़ा उदार होता है और उसके स्वभाव में आत्म-आलोचन करने की शक्ति के साथ हास्यरस का भी पुट रहता है।

कई प्रकार के विषयों में प्रवीणता, विटी के अन्वेषण, ध्यान की शक्ति अधिक, मौलिकता और जिज्ञासा अधिक, तर्क-शक्ति पर्याप्त, माता-पिता उसे समझने में असमर्थ।

प्रतिभावान् बालक कई प्रकार के विषयों के अध्ययन में प्रवीणता दिखला सकता है। कला, साहित्य, संगीत तथा यन्त्र-सम्बन्धी कार्यों में एक साथ ही उसकी रुचि देखी जा सकती है। उसका सामाजिक गुण भी सामान्य बालकों से कम नहीं होता। कुछ प्रतिभावान् बालकों के अध्ययन के बाद विटी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उनमें ३७ प्रतिशत साधारण रूप में, ४९ प्रतिशत सामान्य बालकों से अधिक तथा ८ प्रतिशत बहुत कम खेलना पसन्द करते हैं। उनमें ५८ प्रतिशत अपने लिये मित्र खोजने के इच्छुक तथा ३८ प्रतिशत एकदम किसी को मित्र नहीं बनाना चाहते थे। सामाजिक शिष्टता में ६० प्रतिशत प्रतिभावान् बालक सामान्य बालकों से अच्छे होते हैं। लेहमन और विल्करसन का कहना है कि 'न्यूयार्क शहर के ६००० प्राइमरी स्कूल के १३० बुद्धि-लब्धि वाले विद्यार्थी सामान्य बालकों से अधिक स्वस्थ थे। ये बालक चरित्र, व्यक्तित्व, संवेगात्मक तथा सामाजिक विकास आदि सभी दृष्टि से सामान्य बालकों की अपेक्षा अधिक सुसंगठित थे*। प्रतिभावान् बालकों में ध्यान की शक्ति अधिक होती है। यदि उनकी रुचि का कार्य मिल गया तो बहुत देर तक बिना थके हुए वे कार्य कर सकते हैं। उनमें मौलिकता और बौद्धिक जिज्ञासा अधिक होती है। यदि थोड़ा सा पथ-प्रदर्शन करके उन्हें अवसर दे दिया जाय तो आगे का मार्ग वे

* एच० सी० लेहमैन ऐण्ड डी० ए० विल्करसन—द इनफ्लूयैन्स ऑव् क्रॉनॉलॉजिकल एज वर्सेस मेण्टल एज ऑव् प्ले विहेवियर, जेनेटिक साइकॉलॉजी, १९२८, भाग ३५, पृष्ठ ३१२-३२१।

स्वयं ढूंढने में सफल हो सकते हैं। किसी विषय का निष्कर्ष निकालने में कभी कभी वे अद्भुत चतुरता का प्रदर्शन करते हैं। उनमें तर्क-शक्ति पर्याप्त होती है। थोड़ा सा संकेत पा जाने पर ही वे अपनी गलती को स्वयं सुधार सकते हैं। टरमैन ने अपने अन्वेषणों में देखा है कि प्रतिभावान् बालक साधारण की अपेक्षा अधिक ईमानदार, दयालु, नैसर्गिक और सहायक होता है। पर बहुधा यह देखा जाता है कि माता-पिता उसको भली-भाँति समझ नहीं पाते।

२—अकाल-प्रौढ़ बालक (द प्रीकोशस चाइल्ड)

समय से पहले बढ़ा हुआ, बुद्धि-परीक्षा आवश्यक, वातावरण का विशेष प्रभाव, संख्या अधिक नहीं, बौद्धिक विकास पर अनुचित दबाव नहीं।

कुछ लड़के ऐसे होते हैं जिनकी प्रतिभा का पता स्कूल-काल में नहीं लगता। अतः बहुत प्रारम्भ में ही बुद्धि-परीक्षा द्वारा उनका पता लगा लेना आवश्यक है। कभी कभी ऐसा होता है कि वातावरण के कारण कुछ बालक प्रारम्भ में बहुत कुशाग्र बुद्धि दिखलाई पड़ते हैं, पर वस्तुतः वे ऐसे होते नहीं। ऐसे बालक आगे चलकर साधारण कोटि के हो जाते हैं। यदि प्रारम्भ में ही इनकी बुद्धि-परीक्षा की जाय तो ये प्रतिभावान् की कोटि में नहीं आ सकते। ऐसे बालकों को अकाल प्रौढ़ (प्रीकोशस) बालक कहते हैं। ऐसे तीव्र बालक समय से पहले ही बढ़े हुए दिखलाई पड़ते हैं। उदाहरणार्थः सात वर्ष की अवस्था में वे नौ वर्ष के बालक के सदृश् प्रतिभा दिखला सकते हैं। उनका शारीरिक स्वास्थ्य भी अच्छा दिखलाई पड़ता है। अतः ऐसे चिन्ह बुरे नहीं हैं। पर यह निश्चय कर लेना चाहिये कि बालक की बुद्धि समय के पहले बढ़ती रही है, अथवा वह वास्तव में प्रतिभावान् है। इसका पता बुद्धि-परीक्षा से ही लग सकता है। कभी कभी ऐसा होता है कि किसी अच्छे अध्यापक, साथी, अथवा उत्साही अभिभावक की प्रेरणा से बालक बहुत सी बातें अपने समय से पहले सीखने लगता है। कुछ माता-पिता यह देखकर फूले नहीं समाते, और अपने बालक की कुशाग्रता का ढिंढोरा पीटते फिरते हैं। यदि दबाव से बालक को कुछ अधिक पढ़ाया गया तो प्रारम्भ में वह भले ही अधिक सीख ले, पर आगे चलकर उसका मस्तिष्क शिथिल पड़ जाता है। अकाल प्रौढ़ बालकों की संख्या अधिक नहीं होती। ये प्रायः उसी घरों में पाये जाते हैं जहाँ दूसरे लोग उनके पिता की चापलूसी करने आया करते हैं और इस चापलूसी का भाजन बेचारे बालक को भी बनाते हैं। यदि पिता कोई अफसर, हेडमास्टर अथवा प्रिन्सीपल हुआ तो उसके यहाँ कुछ चापलूस लोगों का आना अवश्य ही होता है। ये लोग बालकों के साथ खेलते हैं और उनकी साधारण सी साधारण बात की प्रशंसा करते थकते नहीं। बालक अपनी प्रशंसा सुनता है। वह और भी अधिक प्रशंसा पाने के लिये इधर उधर की बातें सीख लेता है। प्रारम्भिक प्रेरणा से वह पढ़ने में भी मन लगाता है और कुछ ऐसी

बातें सीख कर दूसरे को सुनाना चाहता है जिससे लोग उसकी और भी प्रशंसा करें। फलतः स्कूल में भी वह अच्छा नाम पाता है। स्कूल के कुछ अध्यापक अफसरों तथा अपने हेडमास्टर अथवा प्रिन्सीपल के बालकों पर कक्षा में भी कुछ विशेष ध्यान देते हैं। इस प्रकार प्रारम्भ में ऐसा बालक अपनी प्रतिभा दिखलाने में सफल होता है, पर उसका प्रयत्न बहुत अधिक दिनों तक नहीं चलता। जब उसकी अवस्था बढ़ जाती है अर्थात् जब वह तेरह-चौदह वर्ष का हो जाता है, तो लोग उसकी 'अनायास प्रशंसा' कम करते हैं, क्योंकि तब वह पहले के सदृश् आगन्तुकों के सम्पर्क में नहीं आता और पिता भी उसको कुछ स्वतन्त्रता देने लगता है। फलतः वह अपनी साधारण कोटि में आ जाता है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि अकाल-प्रौढ़ता का कारण वंशानुक्रम और वातावरण दोनों हैं। पर जो वातावरण पर अधिक जोर देते हैं उनका कहना है कि अकाल-प्रौढ़ बालक भी शिक्षक के लिये आगे चलकर एक समस्या ही उपस्थित करते हैं। इसका एकमात्र उपाय यही है कि स्कूल-जीवन के प्रारम्भ में ही बालक की बुद्धि-परीक्षा कर ली जाय और यथासम्भव प्रतिवर्ष यह परीक्षा होती रहे। यदि बालक पर बौद्धिक विकास (इन्टेलेक्चुअल डेवलपमेण्ट) के लिये अनुचित दबाव न डाला गया तो अकाल-प्रौढ़ता उसमें आवेगी ही नहीं। अतः अभिभावकों और शिक्षकों को इस विषय में बड़ा सतर्क रहना चाहिये।

३—प्रतिभावान् बालिका

लोगों की यह धारणा है कि बालिकायें बालकों से मानसिक विकास में पीछे रहती हैं। मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से यह धारणा गलत सिद्ध कर दी गई है। किन्तु जो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से परिचित नहीं, उनकी ऐसी धारणा अब तक वर्तमान है। पुराने शिक्षक जो कि मनोविज्ञान में कम रुचि रखते हैं वे अब भी नहीं जानते कि बालिका की बुद्धि बालिका होने के नाते बालक से कम नहीं होती। बुद्धि, व्यक्तित्व, शारीरिक व सामाजिक गुण, तथा रुचि में प्रतिभावान् बालिका प्रतिभावान् बालक से नीचे नहीं होतीं। इन सब बातों में साधारण बालिका साधारण बालक से कम नहीं होती। टरमैन का कहना है कि तेरह वर्ष तक बालिकायें बालकों से बुद्धि में कुछ अधिक बढ़ती हैं। चौदहवें वर्ष से उनकी बाढ़ कुछ रुक जाती है। अन्वेषण के आधार पर यह पाया गया है कि अंकगणित तथा साधारण ज्ञान में प्रतिभावान् बालक प्रतिभावान् बालिका से अच्छा होता है। लगभग ग्यारह वर्ष तक बालिका की भाषा-शक्ति बालक से अधिक होती है। यह देखा गया है कि प्रतिभावान् बच्चे साधारण बच्चों की अपेक्षा शीघ्र बातचीत करना और चलना सीख लेते हैं। लड़कियाँ लड़कों से कला, संगीत तथा नाटक आदि

बालिका का मानसिक विकास बालक से पीछे नहीं, दोनों की तुलना।

में अच्छी होती हैं। उनकी रुचियाँ लड़कों से कुछ भिन्न होती हैं। संवेगात्मक बातों से भरी हुई पुस्तकों को पढ़ना वे अधिक पसन्द करती हैं। वीररस कहानियाँ उन्हें मनोरंजक नहीं लगती। लड़कियों की स्कूल से अनुपस्थिति का प्रतिशत लड़कों से कम होता है।

४—प्रतिभावान् की शिक्षा-व्यवस्था

"वैयक्तिक भेद और शिक्षा में उसकी व्यवस्था" नामक अध्याय में प्रतिभावान् तथा मन्द बालकों की शिक्षा-व्यवस्था पर कुछ प्रकाश डाला गया है। पर प्रसंगवश उन्हीं बातों को कुछ और विस्तार से यहाँ दोहरा देना आवश्यक जान पड़ता है। प्रतिभावान् बालकों की शिक्षा का मन्द-बुद्धि बालकों की अपेक्षा अधिक अवहेलना की गई है, क्योंकि वे स्कूल के लिये उतनी विकट समस्या नहीं दिखलाई पड़ते। पर इन बालकों की शिक्षा-व्यवस्था में विशेष कठिनाई नहीं दिखलाई पड़ती। पाठ्य वस्तु में उचित परिवर्तन से ही इनकी समस्या हल हो सकती है। अतः सबसे पहले इनके झुकाव (ऐप्टीट्यूड) की परीक्षा करनी चाहिये। इनके झुकाव का पता लग जाने पर शिक्षा के आवश्यक साधनों का आयोजन करना कठिन न होगा। आयु-वृद्धि के साथ प्रतिभावान् बालकों में स्वतन्त्रता का अधिक विकास हो जाता है। अतः किशोरावस्था के मध्य में पहुँच जाने पर इन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि अपने पथ का निर्धारण वे स्वयं कर लेने में सफल हो जाते हैं। स्कूल-जीवन में उनके लिये ऐसा प्रयत्न करना है कि वे अधिक से अधिक सीख सकें। उनका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य साधारण बालकों की अपेक्षा उत्कृष्टता होता है। अतः उनका पथ-प्रदर्शन इस प्रकार करना है कि वे भविष्य में समाज का नेतृत्व कर सकें। उनमें विचार-शक्ति की वृद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिये जिससे वे अमूर्त (ऐब्स्ट्रैक्ट) वस्तु के विषय में भी कल्पना कर सकें। इसके लिये उन्हें साहित्य, कला तथा विज्ञान आदि विषयों के रहस्यों को समझने के लिये उत्साहित करना चाहिये। यदि स्कूल-जीवन में इन सब विषयों के लिये उनमें रुचि उत्पन्न हो गई तो भविष्य में वे उनमें स्थायी कार्य कर सकेंगे। पाठ्य-वस्तु में ज्ञान, कौशल तथा आदर्शों की प्रचुरता से ही वे नेता के गुणों को प्राप्त कर समाज का नेतृत्व करने में सफल हो सकेंगे।

प्रतिभावान् बालकों की अधिक अवहेलना; व्यवस्था में विशेष कठिनाई नहीं; पाठ्य-वस्तु में परिवर्तन, अधिक से अधिक सिखाना, विचार-शक्ति की वृद्धि के लिये परिवर्तन करना, ज्ञान, कौशल तथा आदर्श की प्रचुरता।

प्रतिभावान् बालकों की शिक्षा के लिये चार प्रकार की व्यवस्था का उल्लेख किया जा सकता है—

(१) एक कक्षा से दूसरी कक्षा में शीघ्र चढ़ा देना।
(२) पाठ्य-वस्तु को विस्तृत करना।
(३) वैयक्तिक विधि से शिक्षा देना।
(४) वर्गीकरण करके पढ़ाना।
नीचे हम प्रत्येक की ओर अति संक्षेप में संकेत करेंगे।

(१) एक कक्षा से दूसरी कक्षा में शीघ्र पहुँचा देने से बालक को उत्साह मिल जाता है। इससे समय की बचत होती है। योग्य बालक अपने मानसिक विकास के लिये इस प्रकार पूर्ण अवसर प्राप्त करता है। छोटी कक्षाओं को शीघ्र पार कर लेने पर भविष्य में उन्हें बड़ी सुविधा रहती है। परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण से कक्षा में शीघ्र चढ़ा देने की प्रणाली की आलोचना की गई है। कुछ विशेषज्ञों का कहना है कि इससे प्रतिभावान् बालकों को अपने से बहुत बड़े उम्र के बालकों के साथ पढ़ना पड़ता है, और इसका प्रभाव ठीक नहीं पड़ता। छोटे लड़के बड़ों से मिलना पसन्द नहीं करते। फलतः बड़े लड़कों के साथ पढ़ने से उन्हें सामाजिक भावना के विकास के लिये उपयुक्त अवसर न मिलने का डर रहता है। एक कक्षा से दूसरी कक्षा में शीघ्र चढ़ा देने से कुछ विषयों का अध्ययन छूट जाता है और इनकी पूर्ति कभी नहीं होती।

उत्साह, समय की बचत, सामाजिक दृष्टिकोण से यह अमनोवैज्ञानिक।

(२) पाठ्य-वस्तु को विस्तृत कर देना अधिक मनोवैज्ञानिक प्रतीत होता है। पाठ्य-वस्तु को विस्तृत करने का तात्पर्य यह है:—कल्पना कीजिये, कक्षा में शिवाजी का चरित्र पढ़ाया जा रहा है। पाठ्य-पुस्तक में शिवाजी पर आया हुआ पाठ प्रतिभावान् बालक के लिये बहुत छोटा है और उसका वह शीघ्र अध्ययन कर लेता है। ऐसी दशा में शिक्षक को चाहिये कि शिवाजी पर कोई बड़ी पुस्तक पढ़ने के लिये प्रतिभावान् बालक को उत्साहित करे। इसी प्रकार अन्य पाठों के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है। पाठ्य-वस्तु को विस्तृत करने के अतिरिक्त शिक्षक को अपनी विधि में भी कुछ परिवर्त्तन करना होगा। प्रतिभावान् बालकों से एक ही वस्तु को बार बार दोहराने के लिये नहीं कहना चाहिये। किसी विषय को सीख लेने पर उसे बार बार दोहराना उन्हें बड़ा बुरा लगता है। प्रतिभावान् बालकों को साधारण बालकों की अपेक्षा कठिन अभ्यास देना चाहिये। उदाहरणार्थः यदि साधारण बालक को चार अंकगणित के प्रश्न दिये गये हैं तो प्रतिभावान् बालक को दस या अधिक कठिन प्रश्नों को देना चाहिये। कभी कभी उन्हें दूसरों की सहायता करने के लिये भी उत्साहित किया जा सकता है।

पाठ्य-वस्तु वितृत करना अधिक मनोवैज्ञानिक, शिक्षणविधि में भी परिवर्त्तन, कठिन अभ्यास देना, दूसरों को सहायता देने के लिये उत्साहित करना।

(३) वैयक्तिक विधि से प्रतिभावान् बालकों की शिक्षा-व्यवस्था में उनकी उन्नति के लिये प्रायः उन्हीं को उत्तरदायी बना दिया जाता है और कक्षा की शिक्षा पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। वैयक्तिक कार्य पर ही सबसे अधिक बल दिया जाता है। निश्चित अवधि के लिये पूरा काम दे दिया जाता है। अन्त में शिक्षक निरीक्षण करता है कि बालक ने कहाँ तक उसे किया है। पर यह सदा ध्यान रखा जाता है कि एक विषय को बिना भली-भाँति पढ़े वह आगे न बढ़े और प्रत्येक कार्य-क्रम के सम्पादन के पश्चात् उसकी योग्यता का ठीक ठीक अनुमान लग जाय।

उनकी उन्नति के लिये उन्हीं को उत्तरदायी बनाना, निश्चित अवधि के लिये पूरा काम, शिक्षक द्वारा निरीक्षण।

(४) प्रतिभावान् बालकों का पृथक वर्गीकरण करके पढ़ाना अधिक मनोवैज्ञानिक नहीं लगता। ऐसा करने से उनमें गर्व आ सकता है और निर्बल और असहाय लोगों के प्रति उनमें सहानुभूति का अभाव हो सकता है। इस दोष से बचने के लिये उन्हें ऐसा कठिन कार्य देना चाहिए जिसे करने में उन्हें अपनी सारी शक्ति लगा देनी हो।

पृथक वर्गीकरण से दम्भी हो जाने का डर।

५—पिछड़े हुए बालक (द बैकवर्ड चिल्ड्रेन)

कक्षा में पिछड़े हुये बालकों की उपस्थिति साधारण तथा प्रतिभावान् दोनों प्रकार के बालकों के लिये हानिकर होती है। और इससे पिछड़े हुए बालक में भी आत्महीनता का भाव आ जाता है और उनकी भी उन्नति रुक जाती है। शिक्षक किसी विषय को उन्हें समझाने के प्रयत्न में अपना अध्यापन-कार्य दूसरे बालकों के लिये अरुचि कर बना देता है। सबसे पहले बुद्धि-परीक्षा द्वारा पिछड़े हुए बालकों का पता लगाना चाहिये। वास्तव में यथासम्भव बुद्धि-परीक्षा के बाद ही पढ़ाई के लिए बालकों का वर्गीकरण करना चाहिये।

कक्षा में उनकी उपस्थिति हानिकर, वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षा द्वारा उनका पता लगाना, पिछड़ने के आन्तरिक और वाह्य दो कारण, दोनों कारणों का पता लगाना आवश्यक।

बालकों की बुद्धि-परीक्षा वैयक्तिक विधि से करनी चाहिये। सामूहिक बुद्धि-परीक्षा से ठीक ठीक पता नहीं चल सकता। यदि बालक ने कुछ दिन तक स्कूल में शिक्षा प्राप्त कर ली है तो उसकी ज्ञान-परीक्षा भी लेनी चाहिये, क्योंकि कक्षा में मन्द दिखलाई पड़ने से ही किसी बालक को मन्द-बुद्धि मान लेना न्यायपूर्ण न होगा। कक्षा में पिछड़े होने के आन्तरिक और वाह्य दो कारण होते हैं। आन्तरिक कारण में बुद्धि

की हीनता तथा कुछ ज्ञानेन्द्रियों की निर्बलता आ सकती है। प्राकृतिक निर्बलता पर हमारा अधिकार नहीं। हमें बालक के साथ एक सीमित वातावरण में ही काम करना होगा। वाह्य कारण में बालक की पारिवारिक परिस्थिति तथा उसकी मित्र-मण्डली आ सकती है। कभी कभी बालक बुरी पारिवारिक स्थिति के कारण किसी प्रकार की आवश्यक सुविधा पाने में असमर्थ रहता है। ऐसी सुविधा के अभाव में साधारण बुद्धि का होते हुये भी वह कक्षा में पिछड़ा रहता है। कभी कभी सारी सुविधा पाने पर भी बुरे साथियों में पड़ जाने से उसकी अवनति हो जाती है। अतः बालक के वाह्य और आन्तरिक दोनों कारणों का पता लगाना आवश्यक है। वाह्य कारण का पता लगाने के लिये हमें बालक के कुटुम्ब का सूक्ष्म अध्ययन करना होगा। किसी ज्ञानेन्द्रिय की निर्बलता के बारे में भी जानने के लिये यह अध्ययन सहायक होगा। इससे यह पता लग जायगा कि उसकी निर्बलता वंशानुक्रमीय है अथवा वातावरण के प्रभाव से। उदाहरणार्थः कोई बालक जन्म से ही बहरा उत्पन्न हो सकता है और कोई जन्म के बाद अवैज्ञानिक पालन-पोषण की विधि से भी ऐसा हो सकता है। इन सब बातों के पता से उसकी शिक्षा के उपकरणों का आयोजन करना कुछ सरल हो जाता है। पिछड़े हुये बालकों का हम निम्नलिखित भेद कर सकते हैं:—

१—जो पारवारिक परिस्थिति अथवा वातावरण आदि के कारण पीछे (बैकवर्ड) हों।
२—मन्द-बुद्धि वाला (मेण्टली रिटार्डेड)।
३—किसी ज्ञानेन्द्रियों के निर्बल होने के कारण; जैसे, दृष्टि और श्रवण दोष इत्यादि (विज़ीअल ऐण्ड ऑडीटरी डिफेक्ट्स)।
४—शारीरिक दोषयुक्त (फ़िज़ीकली हैण्डीकैप्ड)।
५—हकलाने वाला बालक (स्टैमरर)।

हम प्रत्येक पर नीचे सक्षेप में विचार करेंगे।

(१) वातावरण के कारण पिछड़े हुये बालक की शिक्षा—

इस प्रकार के बालकों की शिक्षा-व्यवस्था में कोई विशेष कठिनाई नहीं। उनके लिये केवल आवश्यक साधनों का आयोजन कर देना है। पुस्तकों के अभाव में उनके लिये उनका प्रबन्ध कर देना चाहिये।

आवश्यक साधनों का आयोजन, अभिभावकों से सम्पर्क।

यदि ठीक से भोजन न मिलने के कारण उनका स्वास्थ्य अच्छा न हो तो स्कूल-समय में उनके लिये कुछ पुष्टकर खाद्य वस्तु का प्रबन्ध आवश्यक है। प्रधानाध्यक को उचित है कि वह बालक के पिता अथवा अभिभावक से बालक के विषय में भली भाँति बात करे और उन्हें

यह समझा दे कि यथासम्भव घरेलू कार्यों के कारण बालक की पढ़ाई में विशेष विघ्न न पड़े। कभी कभी कुछ माता-पिता बालकों की पढ़ाई से उदासीन हो कर अपने काम में उनसे सहायता लेते हैं। बालक की पढ़ाई के हित में यह हानिकर है। अतः अभिभावकों को उचित है कि बालक के पढ़ाई में यथासम्भव इस प्रकार का विघ्न न डालें।

(२) मन्द-बुद्धि बालक की शिक्षा—

मन्द-बुद्धि बालकों की शिक्षा-व्यवस्था में अवश्य कठिनाई होती है। इनपर विशेष ध्यान देना आवश्यक होगा। सबसे अच्छा तो यह होगा कि इनके लिये 'विशेष कक्षा' का आयोजन हो। अन्य बालकों के लिये बनाई ही पाठ्य-वस्तु इनके लिये हितकर नहीं हो सकती, क्योंकि इनकी बुद्धि निर्धारित विषयों के समझने में समर्थ नहीं होती। बहुधा देखा जाता है कि ऐसे बालक बौद्धिक कार्य में तो साधारण बालकों से अवश्य पीछे होते हैं, पर शारीरिक अथवा क्रियात्मक कार्यों में वे पीछे नहीं होते, वरन् इनमें वे उनसे कहीं आगे होते हैं। अतः इन्हें विशेष-कर व्यवहारिक विषयों को ही पढ़ाना लाभप्रद होगा। जिन विषयों का वे अपने जीवन में उपयोग नहीं कर सकते उन्हें इन्हें न पढ़ाना चाहिये। उदाहरणार्थः अंकगणित का व्यापारिक अंग ही इन्हें पढ़ाना ठीक होगा। भाषा-शक्ति पर कुछ विशेष ध्यान देना होगा, जिससे वे अपने विचारों को सरल शब्दों में व्यक्त कर सकें। गिनना तथा नापना सीखना इनके लिये उपयोगी होगा। कुछ साधारण विषयों के अतिरिक्त इन्हें कौशल सम्बन्धी विषय भी पढ़ाना लाभप्रद सिद्ध होगा।

विशेष कक्षा का आयोजन, सामान्य पाठ्य-वस्तु उपयोगी नहीं, शारीरिक कार्यों में आगे, व्यावहारिक विषयों को पढ़ाना अधिक लाभप्रद, भाषा-शक्ति पर विशेषध्यान, कौशल सम्बन्धी विषय भी।

हमारे देश में मन्द-बुद्धि के लिये स्कूलों का नितान्त अभाव है। क्या बिना अलग स्कूल खोले मन्द-बुद्धि बालकों की शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं हो सकती? इनकी शिक्षा के लिये साधारण स्कूल में ही एक विशेष कक्षा खोली जा सकती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह ठीक नहीं जान पड़ता। ऐसी व्यवस्था से मन्द-बुद्धि बालकों का भला तो होगा, पर उनमें आत्म-हीनता की भावना आ सकती है। दूसरे बालक "मूर्ख" कह कर इनकी ओर संकेत कर सकते हैं। अतः अच्छा तो यही होगा कि मन्द-बुद्धि बालकों का एक अलग ही स्कूल खोला जायगा। पर इसकी भी आलोचना की जाती है। यदि सभी मन्द-बुद्धि बालक एक स्थान पर केन्द्रित कर दिये जाँय

एक घंटे में हर कक्षा में एक ही विषय का पढ़ाया जाना।

तो उनके उत्साह में कमी आ जायगी और सामाजिक भावना का विकास उनमें कम होगा। उनका क्षेत्र बड़ा संकुचित हो जायगा। साधारण बालकों के साथ पढ़ने में उनके सामने हर समय एक अच्छा आदर्श उपस्थित रहता है। ऐसी कठिनाई के निराकरण में यदि विषय के अनुसार कक्षा की व्यवस्था की जाय तो अच्छा होगा, अर्थात् एक घण्टे में हर कक्षा में एक ही विषय पढ़ाया जाय, और बालक अपनी योग्यतानुसार विभिन्न कक्षा में पढ़ने बैठेगा। अमेरिका में इस सिद्धान्त पर कुछ प्रयोग किया गया है और इसमें कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है।

(३) ज्ञानेन्द्रियों की निर्बलता के कारण पिछड़ा हुआ बालक—

कक्षा में कुछ विशेष ध्यान, डाक्टरी परीक्षा, शिक्षक के लिए भी स्वयं पता लगाना सम्भव, बुद्धि साधारण हो तो सबके साथ ही शिक्षा की व्यवस्था, शिक्षक का विशेष ध्यान, श्रवण-शक्ति दोष-युक्त बालक को शिक्षक की सहायता।

गूंगे, अन्धे तथा बहरे आदि दोष वाले बालकों की शिक्षा की व्यवस्था तो इनके लिये बने हुये विशेष स्कूलों ही द्वारा की जा सकती है। इनकी यहाँ चर्चा करना हमारी परिधि के बाहर है। पर जिनकी ज्ञानेन्द्रियाँ कुछ निर्बल हैं उनकी ओर कक्षा में कुछ विशेष ध्यान दिया जा सकता है। जिन बालकों की दृष्टि और श्रवण शक्ति कमजोर है उनकी ओर कक्षा ही में शिक्षक कुछ विशेष ध्यान दे सकता है। ऐसे बालकों की डाक्टरी परीक्षा होनी चाहिये। पर शिक्षक भी इन दोषों का पता सरलता से लगा सकता है। आँख से पुस्तक की दूरी, सिर की स्थिति, श्यामपट्ट, दिवाल-चित्र आदि की ओर देखने में उसकी मुद्रा, आँखों का रगड़ना, कुछ पढ़ते समय भौंहों का सिकोड़ लेना, आदि के देखने से दृष्टि-दोष का अनुमान लगाया जा सकता है। श्रवण-दोष का पता लगाना कठिन नहीं। कोई बात सुनने के प्रयत्न में बालक थोड़ा आगे को सिर बढ़ा देता है अथवा एक हाथ कान के यहाँ लगा देता है। दृष्टि अथवा श्रवण-शक्ति दोष वाले बालकों की बुद्धि यदि साधारण हो तो उन्हें साधारण बालकों के साथ पढ़ाया जा सकता है। इन बालकों को कक्षा में सबसे आगे बैठाना चाहिये। दृष्टि-दोष युक्त बालक पर सदा ध्यान रखना चाहिये जिससे उसकी आँख पर बल न पड़ने पावे। श्रवण-शक्ति के दोष युक्त बालक को शिक्षक तथा अन्य बालकों के बातचीत करते समय उनके मुँह की ओर देखने के लिये उत्साहित करना चाहिये। बातचीत करते समय दूसरों के होंठ के अध्ययन करने के लिये उन्हें सदा कहते रहना चाहिये। घर पर भी दर्पण के सामने उन्हें सस्वर पढ़ने के लिये कहना चाहिये। ऐसा करने से उन्हें अनुमान होने लगेगा कि किसी ध्वनि के निकालने पर होठों का आकार कैसे बनता है। इस प्रकार कभी कभी ध्वनि को ठीक न सुनने पर भी होठों के आकार को देख कर ठीक शब्द का वे अनुमान लगा लेंगे।

(४) अपंग बालक—

किसी बीमारी अथवा दुर्घटनावश अपंग हो जाने वाले बालक की भी शिक्षा पर ध्यान देना आवश्यक है। कदाचित् बुद्धि-परीक्षा से ज्ञात होगा कि ऐसे बालक मन्द-बुद्धि नहीं होते। अतः इनकी बुद्धि-परीक्षा कर लेनी चाहिये और तदनुसार उनकी शिक्षा देने की व्यवस्था करनी चाहिये। ऐसे बालकों को संगीत, चित्रकला, तथा किसी उचित व्यावसायिक कौशल में शिक्षा देनी चाहिए। अपंग व्यक्ति को सदा सहानुभूति की दृष्टि से देखना चाहिये। उनका उपहास करना मानवोचित नहीं। पर उन्हें यह सिखला देना चाहिये कि उन्हें सभी नैतिक और सामाजिक बन्धक मानने होंगे, जिससे अपनी अपंगता का वे अनुचित लाभ उठाने की कामना न करें।

बुद्धि-परीक्षा आवश्यक, व्यावसायिक कौशल सम्बन्धी ज्ञान, उपहास नहीं।

(५) हकलाने वाला बालक—

हकलाने वाला बालक भी शिक्षकों के ध्यान न देने से पिछड़ा हुआ हो जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने अपने अन्वेषण से यह सिद्ध कर दिया है कि हकलाना, तुतलाना तथा अन्य वाक्-दोष संवेगात्मक अस्थिरता (इमोशनल इनस्टेबिलिटी) के ही कारण होते हैं। भावना-ग्रन्थियों के उल्लेख में हम इस पर प्रकाश डाल चुके हैं। यदि इन सब दोषों के अन्तर्निहित कारणों को समझ लिया जाय तो उन्हें दूर करना कठिन न होगा। कई लोगों के विषय में देखा गया है कि इनके कारण का ज्ञान लेना ही इन दोषों के दूर करने का सबसे बड़ा उपाय सिद्ध होता है। हकलाना दूर करने के लिये आत्म-विश्वास शक्ति की बड़ी आवश्यकता है। अतः शिक्षक को चाहिये कि बालक में आत्म-विश्वास की शक्ति भर दे। सामूहिक कार्यों में भाग लेने की रुचि भी बालक में उत्पन्न कर देनी चाहिये। संगीत, नाटक तथा भाषण इत्यादि में भाग लेने के लिये बालक को सदा उत्साहित करते रहना चाहिये। बालक के साथ ऐसा व्यवहार हो कि कक्षा में वह सुख का अनुभव करे। शिक्षक को चाहिये कि उसे अपने निकट बैठावे, जिससे उसका भय धीरे धीरे निकल जावे। जिन कार्यों में बोलने की आवश्यकता नहीं होती उनमें सर्वश्रेष्ठ होने के लिये बालक को सदा उत्साहित करना चाहिये। हकलाने वाला बालक अपने को अयोग्य मान लेता है। यह मनोवृत्ति उसमें से निकाल देनी चाहिये।

ध्यान न देने से पिछड़ा हुआ, संवेगात्मक अस्थिरता के ही कारण, अन्तर्निहित कारणों को समझना, आत्म-विश्वास की आवश्यकता, सामूहिक कार्यों में भाग लेने के लिये उत्साहित करना, भय दूर करना, पूर्ण वाक्य बोलने के लिये विवश न करना, प्रोत्साहन देना।

किसी प्रश्न के उत्तर में उसे पूर्ण वाक्य बोलने के लिये विवश न करना चाहिये। 'एक शब्द का' ही उत्तर यदि ठीक हो, तो स्वीकार कर लेना उचित है। शिक्षक को देखना चाहिये कि उसके बोलने पर दूसरा बालक हँसता नहीं, वरन् चुपचाप सुनता है। जिस सामाजिक सेवा में बोलने की आवश्यकता नहीं होती उसे सदा हकलाने वाले बालक से ही करवानी चाहिये, इससे उसमें कुछ आत्म-शक्ति की वृद्धि होगी।

सहायक पुस्तकें

१—हेक, ए० ओ०—द एडूकेशन ऑव् एक्सेप्शनल चिल्ड्रेन।
२—बेण्टेली—द सुपीरियर चाइल्ड।
३—फ़ीदरस्टोन, डब्लू० बी०—द करीक्यूलम ऑव् द स्पेशल क्लास।
४—बेकर, हैरी, जे०, इन्ट्रोडक्शन टु एक्सेप्शनल चिल्ड्रेन।
५—चाइल्ड रिसर्च क्लिनिक ऑव् द वड्स स्कूलस्, लैङ्गहॉर्न, पा०, न्यू कण्ट्रीब्यूशन्स ऑव् साइण्स टु द एक्सेप्शनल चाइल्ड (१९३५)।
६—शीडमैन, नॉर्म० वी०—द साइकॉलॉजी ऑव् द एक्सेप्शनल चिल्ड्रेन।
७—इनग्रैन, सी० पी०—एडूकेशन ऑव् द स्लो लर्निङ्ग चाइल्ड।
८—अनश्विग, शिली—परसनॉलिटी स्टडी ऑव् डेफ़ चिल्ड्रेन।
९—केनेडी-फ्रेसर—एडूकेशन ऑव् द बैकवर्ड चाइल्ड।
१०—कैलीफ़ोर्निया स्टेट डिपार्टमेन्ट ऑव् एडूकेशन-एडूकेशन ऑव् द फ़िज़ीकली हैण्डीकैप्ड चिल्ड्रेन, १९४१, बुलेटीन, भाग १०, नम्बर १२।
११—विटी, पी० ए० ऐण्ड थोर्प—परसनॉलिटी डेवलपमेण्ट इन द प्रौबिलमाइण्डेड ऐण्ड द गिफ़्टेट।
१२—सरयूप्रसाद चौबे, बाल मनोविज्ञान।
१३— ,, ,, किशोर मनोविज्ञान की भूमिका।

अंग्रेज़ी से हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों की सूची

(List of Technical Terms from English to Hindi.)

अपनी प्यारी पत्नी को समर्पित :

अंग्रेजी से हिन्दी पारिभाषिक शब्दों की सूची

A

Abnormal–असाधारण।
Accidental–आकस्मिक।
Acquisitive Instinct–संचय या संग्रह मूलप्रवृत्ति।
Active–सक्रिय।
Adolescence–कैशोर, किशोरावस्था।
Achievement Age–ज्ञान-आयु।
Achievement Quotient–ज्ञान-लब्धि।
Achievement Test–ज्ञान-परीक्षा।
Adjustment–अनुकूलन।
Aesthetic–रसात्मक।
Aesthetics सौन्दर्य-विज्ञान।
Affective–भावात्मक।
Alfa–अलफ़ा।
Ambivert–मध्यमुख।
Amusement–आमोद।
Analytic–विश्लेषणात्मक।
Anger–क्रोध।
Animal Psychology–पशु मनोविज्ञान।
Anticipatory–पूर्वाभिनय।
Appeal–शरणागति।
Apperception–पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्षज्ञान।
Appetite–भूख।
Appetitive–रुच्यात्मक।
Appreciation–रसानुभव।
Appreciation Lesson–रसानुभूति पाठ।
Apprenticeship–सेवाकाल।
Aptitude–झुकाव।
Arithmetical Ability–अंकगणितशक्ति।
Association of Ideas–विचारों अथवा प्रत्ययों का परस्पर सम्बन्ध।
Association Reflex–सम्बद्ध सहजक्रिया।
Astronomy–खगोल।
Attention–अवधान, ध्यान।
Auditory–श्रवण सम्बन्धी।
Auto-suggestion–आत्मनिर्देश।
Average–साधारण, सामान्य, माध्यमिक।

B

Backward Child–पिछड़ा हुआ बालक।
Behaviourism–व्यवहारवाद।
Biology–जीव-विद्या या प्राणि-विज्ञान।
Brain–मस्तिष्क।

C

Carriers of Heredity–वंशानुक्रमता के वाहक।

Cathartic Theory–रेचक सिद्धान्त।
Cell–कोष-सूत्र।
Censor–प्रतिहारी।
Change–परिवर्तन।
Character–चरित्र।
Characteristics–विशिष्ट गुण, विशेषतायें, विलक्षणतायें।
Childhood–बाल्यकाल।
Cohesion–सम्बद्धता।
Chromosome-वंश सूत्र।
Circumstancial–परिस्थित्यात्मक।
Classification–वर्गीकरण।
Club–गोष्ठी।
Cognition–ज्ञान।
Cognitive–ज्ञानात्मक।
Collection–संग्रह।
Combat–युयुत्सा।
Combination of Responses–प्रतिक्रियाओं का मिश्रण।
Complex–भावना-ग्रन्थि।
Complex Reflex Action–विषम सहज क्रिया।
Conation–चेष्टा।
Concept—प्रत्यय।
Conception–प्रत्यय ज्ञान।
Conceptual–प्रत्ययात्मक।
Concrete–मूर्त।
Conditioned Reflexes-अभिसंधानित या सम्बद्ध प्रत्यावर्तित सहज-क्रिया।
Conditioned Responses–सम्बद्ध, प्रत्यावर्तित अथवा अभिसंधानित प्रतिक्रिया।
Conflict–द्वन्द्व।
Conscious–चेतनमन।
Conciousness–चेतनता।
Consolidation–पचाना, एकीकरण।
Constructive–रचनात्मक, विधयात्मक।
Contiguity–सहचारिता।
Continuity of germ-plasm–बीज-कोष की सनातनता।
Contrast–वैपरीत्य।
Contra-suggesion–विरुद्ध-निर्देश।
Correlation–अन्योन्य सम्बन्ध, परस्पर सम्बन्ध।
Creative–सृजनात्मक।
Creativeness (feeling of)–कृति-भाव।
Crowd–भीड़।
Culture Epoch Theory–संस्कृति-युग सिद्धान्त।
Curiosity–जिज्ञासा।

D

Data–प्रदत्त।
Day-dreaming–दिवास्वप्न।
Deductive–सिद्धान्तात्मक।
Defect-दोष
Degree–मात्रा।
Depth Psychology–अन्तश्चेतना मनोविज्ञान।
Destructive–ध्वंसात्मक।
Diagnostic Test–निदानात्मक परीक्षा।
Didactic Apparatus–शिक्षोपकरण
Discipline–विनय।
Discontinuous Variation or Mutation–अक्रमिक परिवर्त्तन।
Disgust–घृणा।
Distraction–विघ्न, विचलन।
Distribution–विभाजन।

Distress–करुणा, दुख।
Division–विभाजन।
Dominance–प्रभुत्व।
Dominant–व्यक्त।
Doubt–संशय।
Dramatic Method–नाट्य प्रणाली।
Dream–स्वप्न।
Drives–चेष्टायें।
Dull–मन्द।
Dynamic Theory of Instincts–मूलप्रत्यात्मक क्रियाशीलता का सिद्धान्त।

E

Eduction of Correlats–सम्बन्धी ज्ञान।
Educational Quotient–शिक्षा-लब्धि।
Effect, the law of–प्रभाव का नियम।
Elan Vital–जीवनी शक्ति।
Elementary–मौलिक, प्राथमिक।
Elemination of wrong responses–व्यर्थ प्रतिक्रिया की अवहेलना
Emotion–संवेग।
Emotional–संवेगात्मक।
Employer–नियुक्तिकार।
Environment–वातावरण।
Environmentalist–वातावरण-वादी।
Escape–पलायन।
Ethics–आचार-शास्त्र।
Exercise, the law of–अभ्यास का नियम।
Existentialism–सत्तावाद।
Experiment–परीक्षण।
Experimental Psychology–प्रयोगात्मक मनोविज्ञान।
Extrovert–बहिर्मुखी।

F

Factor Analysis–तत्व विश्लेषण।
Faculties–मानसिक शक्तियाँ।
Fantastic Imagination तरंगमयी या तारंगिक कल्पना।
Fatigue–थकान।
Fear–भय।
Feeble-minded–हीन-बुद्धि।
Feeling–राग, भाव।
Fluctuation–विचलन।
Forgetting–विस्मृति।
Free-Association Test–स्वतन्त्र साहचर्य-माप।

G

Gemmules–ज्येमूल्स।
General Ability–सामान्य योग्यता
Genes–जीन्स।
Genius–प्रतिभाशाली।
Genetic Psychology–उत्पत्तिमूलक मनोविज्ञान।
Gifted Child–प्रतिभावान् बालक।
Germ Cell–बीज-कोष।
Gestalt Psychology–अवयवीवाद।
Glands–गिल्टियाँ, ग्रन्थियाँ।
Gregariousness–सामूहिकता।
Group–समूह।
Group Mind–समूहमन।
Group Psychology – समूह मनोविज्ञान।
Group Test–सामूहिक परीक्षा।
Guardian–अभिभावक

H

Habit–आदत।
Habit Memory–आदतजन्य स्मृति।
Hallucination–विभ्रम।
Hatred–घृणा।
Health Chart–स्वास्थ्य का विवरण-पत्र।
Herd Instinct–सामूहिक जीवन की प्रवृत्ति।
Heredity–वंशानुक्रम।
Hereditarian वंशानुक्रमवादी।
Hetero-sexuality–भिन्न लिङ्गीय प्रेम।
Heuristic Method–ह्यूरिस्टिक पद्धति
Horme–सप्रयोजनता।
Homosexuality–स्वलिङ्गीय प्रेम।
Hormic Theory–प्रयोजनवाद।
Human Being–मानव
Hypnosis–मोह-निद्रा।
Hypnotism–सम्मोहन-क्रिया।

I

Idealist–आदर्शवादी।
Ideo-motor-type–विचार-जन्य-गति
Idiot–जड़।
Image–प्रतिमा।
Image Memory–प्रतिमायुक्त या वास्तविक स्मृति।
Imagination–कल्पना।
Imbecile–मूढ़।
Imitation–अनुकरण।
Incentive–प्रेरक।
Individual Difference–वैयक्तिक भिन्नता।
Individuality–व्यक्तित्व।
Inductive–परिणामात्मक।
Industrial Psychology–व्यावसायिक मनोविज्ञान।
Infancy–शैशव।
Inferiority–आत्महीनता या दैन्य।
Inhibition–विलयन।
Innate–जन्मजात।
Insight–अन्तर्दृष्टि, सूझ।
Instability–अस्थिरता।
Instinct–मूलप्रवृत्ति।
Instinctive–मूलप्रवृत्यात्मक।
Intelligence–बुद्धि।
Intelligence Quotient–बुद्धि-लब्धि।
Insane–विक्षिप्त।
Intensity–तीव्रता।
Interest–रुचि, रोचकता।
Interveiw–साक्षात्।
Introspection–अन्तः प्रेक्षण।
Introvert–अन्तर्मुख।
Intuitive Type–अन्तर्दृष्टि प्रधान।
Inventive–आविष्कारात्मक।

J

Judgment–निर्णय।

K

Kind–प्रकार।
Knowledge–ज्ञान।

L

Language–भाषा।
Laughter–हास।
Law of Effect–परिणाम का नियम।
Law of Exercise–अभ्यास का नियम।

Law of Readiness–तत्परता का नियम।
Law of Variation–भिन्नता का नियम।
Leader–नेता।
Learning–सीखना।
Libido–कामप्रवृत्ति।
Living Cell–जीव कोष।
Loneliness–एकाकीपन।
Love–प्रेम।
Lust–कामुकता।

M

Mass Suggestion–समूह निर्देश।
Master Sentiment–स्थायीभाव।
Mathematics–गणित।
Maturation–विवृद्धि।
Maturity–परिपक्वावस्था, प्रौढ़ावस्था।
Measurement–नाप, माप।
Mechanical–यान्त्रिक।
Memory–स्मृति।
Mendelism–मेण्डलवाद।
Mental–मानसिक।
Mental Measurement–बुद्धि माप।
Method–विधि।
Mind–मस्तिष्क।
Mneme–संचय।
Mood–उमंग।
Moron–मूर्ख।
Motivation–उत्साह, प्रेरणा।
Motive–प्रेरणा, उद्देश्य।
Motor–गतियुक्त, गतिवादी।
Motor Reflexes–पेशीय सहज क्रियायें।
Motor Test–गति परीक्षा।
Muscle–पेशी।

N

Narcissism–स्वात्म-प्रेम।
Naturalism–प्रकृतिवाद।
Natural Selection–प्राकृतिक चुनाव।
Negative–अभावात्मक, निषेधात्मक।
Nervous System–नाड़ी मण्डल।
Neurosis–स्नायु-रोग।
Newnessनवीनता।
Non-Voluntary–अनैच्छिक, अनायास।
Normal–साधारण, स्वाभाविक।
Nursery–शिशु-पाठशाला।

O

Observation–निरीक्षण।
Organism–जीव।
Organic–जैव।
Ownership Feeling–अधिकार भावना।

P

Paper Test–कागज परीक्षा।
Parental Instinct–पुत्रकामना मूलप्रवृत्ति।
Part method–खण्डश: विधि।
Passive–निष्क्रिय।
Perception–सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रत्यक्षीकरण।
Perceptual–प्रत्यक्षात्मक।
Preformance Test–क्रिया प्रश्न, क्रिया माप।
Personality–व्यक्तित्व।
Philosophy–दर्शन-शास्त्र।
Phrenology–मस्तिष्क-विज्ञान।

Physical-शारीरिक।
Physically Handicapped-शारीरिक दोषयुक्त।
Physics-भौतिक-शास्त्र।
Physiognomy-आकृति सामुद्रिक।
Physiology-शरीर-विज्ञान।
Plateau of Learning-सीखने का पठार।
Play-खेल।
Pleasure Principle-आनन्द सिद्धान्त।
Pragmatic-कार्यसाधक।
Precocious Child-अकाल प्रौढ़ बालक।
Presentative-उपास्थक।
Prestige Suggestion-आप्त निर्देश।
Profile Test-पार्श्व दृश्य परीक्षा।
Progressive School-प्रगतिशील समुदाय।
Prompting Method-उकसाने की रीति।
Psycho-Analytic School-मनोविश्लेषणवाद।
Psycho-Analytic Method-मनोविश्लेषण विधि।
Punishment-दण्ड।
Purposeful-साभिप्राय।
Purposive-प्रयोजनात्मक।
Purposiveness-प्रयोजनता।
Purposivism-प्रयोजनवाद।

R

Race Preservation-जाति रक्षा।
Random Response-अनायास प्रतिक्रिया।
Rational-विवेकयुक्त।
Reactive-प्रतिकारात्मक।
Readiness, the Law of-तत्परता का नियम।
Realist-यथार्थवादी।
Reality Principle-वास्तविकता का सिद्धान्त।
Reasoning-तर्क-शक्ति।
Recall-पुनर्स्मरण।
Recapitulation-पुनरावृत्ति।
Recency-नवीनता।
Receptive-आदानात्मक।
Recessive-सुप्त।
Recognition-पहचान।
Recreative Theory-पुनर्प्राप्ति का सिद्धान्त।
Redirection-मार्गान्तरीकरण।
Reflex-सहज-क्रिया।
Regression-प्रत्यागमन।
Relational-सम्बन्ध पद।
Representative-प्रतिनिध्यात्मक।
Repression-अवदमन।
Reproductive Organ-जननेन्द्रिय
Repulsion-निवृत्ति।
Response-प्रतिक्रिया।
Retention-धारणा।
Reward-पुरस्कार।
Routine Tendency-आवर्तन प्रवृत्ति।

S

Saving Method-बचाने की रीति।
Scouting-बालचर पद्धति।
Self Assertion-आत्मप्रदर्शन।
Self-preservation-आत्म रक्षा।
Sensation-निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, संवेदना

Sensation type–संवेदना (प्रकार) प्रधान ।
Sense Training–इन्द्रिय या ज्ञानेन्द्रिय शिक्षा ।
Sentiment–स्थायीभाव ।
Sex–काम-भावना या काम-प्रवृत्ति ।
Shifting–अस्थिरता ।
Shifting Response–स्थानापन्न प्रतिक्रिया ।
Shifting Stimulus–स्थानापन्न उद्दीपक ।
Similarity–समानता ।
Skill–कौशल ।
Sociology–समाज-शास्त्र ।
Social Psychology–समाज मनोविज्ञान ।
Somnumbalism–निद्रावस्था में चलन
Spaced Learning–समय विभाग द्वारा याद करना ।
Span–विस्तार ।
Special Ability–विशिष्ट योग्यता ।
Spriitualism–अध्यात्मवाद ।
Spontaneons–सहज ।
Stammerer–हकलाने वाला ।
Statistics–परिगणन-विद्या ।
Stimulus–उद्दीपक ।
Stimulus Response Theory–उत्तेजना वा उद्दीपक प्रतिक्रियावाद ।
Structural Phychology–चेतना-रचनावाद ।
Sublimation–शोधन ।
Submissiveness–दैन्य ।
Suggestion–निर्देश ।
Superiority Complex–आत्मभिमान की ग्रन्थि ।
Surplus Energy Theory–प्रवृद्ध शक्ति का सिद्धान्त ।
Substitute Response–स्थानापन्न प्रतिक्रिया ।
Substitute Stimulus–स्थानापन्न उद्दीपक ।
Symbol–प्रतिरूप ।
Sympathy–सहानुभूति ।
Synthetic–संश्लेषणात्मक ।

T

Teasing–चिढ़ाना ।
Temperament–स्वभाव ।
Temperament Test–स्वभाव परीक्षा ।
Tender Emotion–वात्सल्यरस, स्नेह ।
Thinking–चिन्तन ।
Thinking Type–विचार (प्रकार) प्रधान ।
Trait–गुण ।
Training–शिक्षा ।
Transfer of Training–शिक्षा का स्थानान्तरीकरण ।
Transitoriness of Instincts–मूलप्रवृत्ति का अस्थायीपन ।
Trial and Error–प्रयास एवं त्रुटि ।
Twins– जुड़ुवे, यमजों ।

U

Unconscious Self–अज्ञात चेतना ।

V

Verbal Ability–शाब्दिक शक्ति ।
Visual–दृष्टि सम्बन्धी ।
Vividness–प्रबलता ।
Vocational Guidance–व्यावसायिक पथ-प्रदर्शन ।
Vocational Selection–व्यावसायिक चुनाव ।

Volition-संकल्प।
Voluntary-ऐच्छिक।

W

Will-संकल्प शक्ति।
Whole Method-समग्र विधि।
Wonder-आश्चर्य।

Z

Zygotes-भ्रूण-कोष।

अनुक्रमणिका

(विषयों और लेखकों की)

(Subjects' and Authors' Index)

अनुक्रमणिका

(अ)

(आ)

(ऐ)

(ओ)

(अं)

(क)

(ख)

(ग)

(घ)

(च)

(ज)

(फ)

(व)

(भ)